

Year-63, Volume-1
January - March 2010

RNI No. 10591/62
ISSN 0974-8768

अनेकान्त

(जैनविद्या एवं प्राकृत भाषाओं की त्रैमासिक शोध पत्रिका)

ANEKĀNTA

(A Quarterly Research Journal for Jainology & Prakrit Languages)

सम्पादक

डॉ. जयकुमार जैन, मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)

Editor

Dr. Jaikumar Jain, Muzaffarnagar (U.P.)

Mobile : 09760002389

वीर सेवा मन्दिर, नई दिल्ली-110 002

Vir Sewa Mandir, New Delhi-110 002

अनेकान्त

ANEKĀNTA

(जैनविद्या एवं प्राकृत भाषाओं की त्रैमासिक शोध पत्रिका) (A Quarterly Research Journal for Jainology & Prakrit Languages)

संस्थापक

Founder

आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

Acharya Jugalkishor Mukhtar 'Yugveer'

सम्पादक मण्डल

Editor

प्रो. फूलचन्द जैन 'प्रेमी', वाराणसी

Prof. Phoolchand Jain 'Premi', Varanasi,

प्रो. कमलेश कुमार जैन, वाराणसी,

Prof. Kamlesh Kumar Jain, Varanasi,

प्रो. उदयचन्द जैन, उदयपुर

Prof. Udaychand Jain, Udaipur,

डॉ. हुकुमचन्द जैन, दिल्ली

Dr. Hukumchand Jain, Delhi,

प्रो. एम.एल. जैन, नई दिल्ली

Prof. M.L. Jain, New Delhi

सदस्यता शुल्क/ Subscription

एक अंक-रुपये 20/- वार्षिक - रु. 80/-

This issue - Rs. 20/- Yearly - Rs. 80/-

सभी पत्राचार पत्रिका एवं सम्पादकीय हेतु पता -

All correspondence for the journal & editorial on-

वीर सेवा मंदिर (जैन दर्शन शोध संस्थान)

Vir Sewa Mandir (A Research Institute for Jainology)

21, अंसारी रोड दरियागंज, नई दिल्ली-110 002-06

21, Ansari Road, Daryaganj, New Delhi-110002-06

फोन नं. 011-30120522, 23250522, 09311050522

e-mail-virsewa@gmail.com

विद्वान लेखकों के विचारों से सम्पादक मंडल का सहमत होना आवश्यक नहीं है। लेखों में दिये गये तथ्यों और सन्दर्भों की प्रामाणिकता के संबंध में लेखक स्वयं उत्तरदायी हैं सभी प्रकार के विवादों का निपटारा दिल्ली न्यायालय के अधीन होगा।

अध्यात्म पद

जीव तू मूढपना कित पायो ?

जीवे तू मूढपना कित पायो ?
सब जग स्वार्थ को चाहत है,
स्वार्थ तोहि न भायो । जीव तू॥

अशुचि अचेत दुष्ट तन माहीं,
कहा जान विरमायो ?
परम अतिन्द्री निज सुख हरकै,
विषय रोग लिपटायो । जीव तू॥

चेतन नाम भयो जड़,
काहे अपनो नाम गवायो,
तीन लोक को राज छाँडिकै,
भीख मांग न लजायो । जीव तू॥

मूढपना मिथ्या जब छूटै,
तब तू संत कहायो,
“द्यानत” सुख अनन्त शिव बिलसो,
यो सतगुरू बतायो । जीव तू॥

- कविवर दयानाराय जी

विषयानुक्रमिका

विषय	लेखक का नाम	पृष्ठ संख्या
अध्यात्म पद	द्यानतराय जी	3
विषयानुक्रमिका		4
सम्पादकीय	- डॉ. जयकुमार जैन	5
1. पं. टोडरमलजी की दृष्टि में: क्षेत्रपाल पद्मावती की पूजनीयता	-डॉ. राजेन्द्र कुमार बंसल	6
2. विंध्य क्षेत्र के जैन ग्रंथ भंडारों में संग्रहीत विशिष्ट पाण्डुलिपियाँ	- डॉ. अनुपम जैन एवं डॉ. सुरेखा मिश्रा	12
3. वीरेन्द्रशर्माभ्युदय महाकाव्य में पशु-पक्षी एवं अन्य जीव जन्तु	-विनय कुमार सिंह	22
5. जैन दर्शन में मन- एक तुलनात्मक अध्ययन	- डॉ. नेमिचन्द्र जैन	31
6. अस्संजदं ण बंदे	-मूलचन्द लुहाड़िया	36
7. पातञ्जलयोग एवं जैनयोग समीक्षा	-डॉ. अरुणिमा	40
8. Relevance of Anekant in Modern Times	- Prof. Ramji Singh	46
9. 'समणसुत्त' में जीवन दिशादर्शन	- शानू जैन	54
10. अनेकान्तवाद	- साध्वी प्रियस्नेहांजनाश्री	60
11. पर्यावरण संरक्षण में आध्यात्मिक सिद्धान्तों की भूमिका	-सुरेश जैन, आई.ए.एस.	73
12. सर्वोदय तीर्थ मिदं तवैव आचार्य समंतभद्र एवं महात्मा गाँधी: एक तुलनात्मक दृष्टि	- डॉ. रामजी सिंह	78
13. पुस्तक समीक्षा : (अ)श्रावकाचार-संहिता (ब) मूलाचार वसुनन्दि पारिभाषिक कोश,		82
14. जैन विद्याओं के विकास में आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार का योगदान	-डॉ. कमलेश कुमार जैन	86
15. आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार स्मृति व्याख्यानमाला एक रिपोर्ट		94

सम्पादकीय

जैन दर्शन का उच्च प्रासाद 'अनेकान्तवाद' की भूमिका पर आधृत है। स्याद्वादमंजरी के अनुसार वस्तु में विविध धर्मों की स्वीकृति ही अनेकान्तवाद है, और अनेकान्त के इस सिद्धांत को कथनों के रूप में प्रकट करना ही स्याद्वाद है। सुप्रसिद्ध आधुनिक चिन्तक प्रो. प्रभुदयाल अग्निहोत्री ने लिखा है कि 'अनेकान्तवाद के तत्त्व को न समझ पाने के कारण ही बड़े-बड़े वितण्डावाद होते हैं। हमारे देश में राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक अन्धता इस तत्त्व को न समझ पाने के कारण उत्पन्न हुई है। समस्याओं को सुलझाने के लिए यह रामबाण औषधि है। (स्याद्वाद का व्यावहारिक पक्ष लेख)

आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित तीर्थ की स्तुति करते हुए उसे सर्वोदय तीर्थ कहा है। उनकी दृष्टि में 'अनेकान्त' वस्तु में अनेक धर्मात्मक स्वरूप का साधक है, किन्तु दृष्टि निरपेक्ष हो जाने पर वही वस्तु, सर्वधर्मरहित शून्यता की प्रापक बन जाती है। यतः अनेक धर्मात्मक वस्तु की सिद्धि सापेक्ष दृष्टि से ही होती है, अतः अनेकान्तवाद सभी आपत्तियों का विनाशक स्वयं अन्तहीन (अविनाशी) सर्वोदय-प्राणीमात्र का हितकारी तीर्थ है-

‘सर्वान्तवत्तद्गुणमुख्यकल्पं
सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम्।
सर्वापदामन्तकरं निरन्तं
सर्वोदय तीर्थमिदं तवैव॥’ - युक्त्यनुशासन, 61.

जैन दर्शन शोध संस्था वीर सेवा मंदिर दरियागंज नई दिल्ली के पदाधिकारियों की यह भावना रही कि अनेकान्त और महावीर के सर्वोदय तीर्थ का जन-जन में प्रचार-प्रसार हो, ताकि समस्त विश्व में शान्ति स्थापित हो तथा “वसुधैव कुटुम्बकम्” के रूप में भारतीय संस्कृति की पुनः प्रतिष्ठापना हो। इसी पवित्र भावना को ध्यान में रखकर संस्थान में प्रतिवर्ष वीर सेवा मंदिर के संस्थापक वाङ्मयाचार्य पं. जुगलकिशोर मुख्तार की स्मृति में एक व्याख्यानमाला का आयोजन होता है। इस बार 27 दिसम्बर, 2009 को, सुप्रसिद्ध गाँधीवादी चिन्तक, पूर्व सांसद एवं पूर्व कुलपति जैन विश्व भारती, लाडनू तथा सर्वोदय सिद्धांत के प्रचारक प्रो. रामजी सिंह भागलपुर और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में जैन-बौद्ध दर्शन विभाग के प्रोफेसर एवं अध्यक्ष डॉ. कमलेश कुमार जैन को व्याख्यानमाला में व्याख्यान के लिए तथा अनेक विद्वानों को चर्चा के लिए आमंत्रित किया गया था। इस अंक में प्रकाशित प्रो. रामजी सिंह के दो आलेख तथा प्रो. कमलेश कुमार जैन का आलेख उनके व्याख्यानों का लिपिबद्ध रूप है। हमें विश्वास है कि पाठक उनके विचारों से अवश्य लाभान्वित होंगे।

इस अंक में सम्यक् श्रद्धान्, सम्यक्ज्ञान एवं सम्यक् चरित्र में साधनभूत तथा प्रासंगिक लोकोपकारी अनेक अन्य आलेखों को भी समादिष्ट किया गया है। हमारा प्रयास है कि 'अनेकान्त' के अंक उत्तरोत्तर महत्तर बनें। इस निमित्त हम सुधी लेखकों की अपेक्षा के भी आकांक्षी हैं। हमें विश्वास है कि सुधी पाठक हमें अपने विचारों से अवगत कराते रहेंगे ताकि 'अनेकान्त' को हम और बेहतर बना सकें।

-जयकुमार जैन

पं. टोडरमलजी की दृष्टि में क्षेत्रपाल पद्मावती

—डॉ. राजेन्द्र कुमार बंसल

पं. श्री टोडरमलजी के मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ-10 में उल्लिखित “जिनशासन के भक्त देवादिक हैं ते सिद्धभक्त पुरुष के अनेक इन्द्रिय सुख को कारण भूत सामग्रीनिका संयोग करावे है; दुख को कारणभूत सामग्री को दूर करि है,” का संदर्भ दिया; अतः उत्सुकता के समाधान हेतु ‘मोक्षमार्ग प्रकाशक’ में जहाँ-जहाँ देवादिक का वर्णन आया है, उसका विवरण पाठकों के समक्ष विचारार्थ प्रस्तुत है—

(1) अरहंतादिक से प्रयोजन की सिद्धि

मोक्षमार्गप्रकाशक के पृष्ठ 6-7 में श्री पं. टोडरमलजी ने अरहंतादिक के स्तवन आदि से प्रयोजन की सिद्धि का उल्लेख कर लिखा है कि— इसमें अरहंतादिक की भक्ति स्तवनादि से परिणाम विशुद्ध होते हैं। पुनश्च समस्त कषाय मिटाने का साधन है, इसलिये शुद्ध परिणाम का कारण है; सो ऐसे परिणामों से अपने घातिकर्म की हीनता होने से सहज ही वीतराग-विशेष ज्ञान प्रगट होता है। जितने अंशों में वह हीन हो उतने अंशों में यह प्रगट होता है।

इन्द्रियजनित सुख और दुख का विनाश भी अरहंतादिक की मनोकामना रहित भक्ति के विशुद्ध परिणामों से होता है। यह कार्य अघातिया कर्मों को साताकर्म प्रकृतियों के बंध, असाता आदि पाप प्रकृतियों के संक्रमण, उत्कर्षण-अपकर्षण से होता है। इससे अर्थात् अरहंतादिक की भक्ति से जिनशासन के भक्त देवादिक इन्द्रिय सुख की सामग्रियों का संयोग कराते हैं और दुःख की कारणभूत सामग्रियों को दूर करते हैं। इस कथन के साथ पं. टोडरमलजी का निम्न कथन महत्वपूर्ण है— ‘परन्तु इस प्रयोजन से कुछ भी अपना हित नहीं होता; क्योंकि यह आत्मा कषाय भावों से बाह्य सामग्रियों में इष्ट-अनिष्टपना मानकर स्वयं ही सुख-दुःख की कल्पना करता है। कषाय के बिना बाह्य सामग्री कुछ सुख-दुख की दाता नहीं है तथा कषाय है सो सर्व आकुलतामय है, इसलिये इन्द्रियजनित सुख की इच्छा करना और दुख से डरना यह भ्रम है।

“पुनश्च इस प्रयोजन हेतु अरहंतादिक की भक्ति करने से भी तीव्र कषाय होने के कारण पापबंध ही होता है, इसलिये (लौकिक कामना हेतु) अपने को इस प्रयोजन का अर्थी होना योग्य नहीं है। अरहंतादि की भक्ति के करने से ऐसे प्रयोजन तो स्वतः सिद्ध होते हैं। (मोक्षमार्गप्रकाशक पृ.6-7)

पं. टोडरमलजी ने शासन देवताओं की भक्ति को मिथ्यात्व प्रेरक कषायजन्य मानकर उसका निषेध किया है। अरहंतादिक की मनोकामनापूर्ण भक्ति भी तीव्रकषाय का परिणाम होने से पापरूप है। अतः दोनों स्थितियाँ आत्महितकारक नहीं हैं।

(2) जिनशासन सभी का हित क्यों नहीं करते

शिष्य प्रश्न करता है कि जिनशासन के भक्त देव मंगल करने वालों की सहायता क्यों नहीं करते और मंगल न करने वालों को दण्ड क्यों नहीं देते ? इस प्रश्न का समाधान दिशाबोधक है जो इस प्रकार है-

“जीवों को सुख-दुःख होने के प्रबल कारण अपना कर्म का उदय है, उस ही के अनुसार बाह्य निमित्त बनते हैं, इसीलिये जिसके पाप का उदय हो उसको सहाय का निमित्त नहीं बनता और जिसके पुण्य का उदय हो उसको दण्ड का निमित्त नहीं बनता।” (पृष्ठ-9)

निमित्त न बनने का कारण

“जो देवादिक हैं वे क्षयोपशमज्ञान से सबको युगपत् नहीं जान सकते। इसलिये मंगल करने वाले और नहीं करने वाले का जानपना किसी देवादिक को किसी काल में होता है। इसलिये यदि उसका जानपना न हो तो कैसे सहाय करें अथवा दण्ड दें। और जानपना हो तब स्वयं को जो अतिमंदकषाय हो तो सहाय करने या दण्ड देने के परिणाम ही नहीं होते, तथा तीव्र कषाय हो तो धर्मानुराग नहीं हो सकता तथा मध्यमकषाय रूप वह कार्य करने के परिणाम हुए और अपनी शक्ति न हो तो क्या करें ? इस कारण सहाय करने या दण्ड देने का निमित्त नहीं बनता।”

“यदि अपनी शक्ति हो और अपने को धर्मानुरागरूप मध्यम कषाय का उदय होने से वैसे ही परिणाम हों, तथा उस समय अन्य जीव का धर्म-अधर्मरूप कर्तव्य जाने; तब कोई देवादिक किसी धर्मात्मा की सहायता करते हैं अथवा किसी साधर्मी को सदुपदेश देते हैं। इस प्रकार कार्य होने का कुछ नियम तो है नहीं।”

अंत में पण्डितजी ने कहा कि दुःख-सुख सहायता-असहायता आदि की इच्छाएँ कषायमय हैं, दुःखदायक हैं; अतः सर्व इच्छा त्याग का एक वीतराग-विशेष ज्ञान होने की अर्थी होकर जो अरहंतादिक को नमस्कारदादिरूप मंगल किया है। इस प्रकार यहाँ लौकिक देवों की भक्ति आदि को मिथ्यात्वमूलक अनिश्चित फल या दण्डदायी मानकर निषेध किया है। (मोक्षमार्गप्रकाशक; अध्याय-1 पृ. 9)।

(3) देवगति के दुःख

अध्याय तीन में चारों गतियों के दुःख के साथ देवगति के दुःख का वर्णन है। इसके अनुसार भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्कों के कषाय बहुत मन्द नहीं है और उपयोग चंचल बहुत हैं तथा कुछ शक्ति भी है सो कषायों के कार्यों में प्रवर्तते हैं; कौतूहल, विषयादि कार्यों में लग रहे हैं और उस आकुलता से दुःखी ही हैं। वैमानिकों के ऊपर-ऊपर विशेष मन्दकषाय है और शक्ति विशेष है।

वेदनीय में साता का उदय बहुत है। वहाँ भवनत्रिक को थोड़ा है, वैमानिकों के ऊपर-ऊपर विशेष है। जघन्य आयु दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट इकतीस सागर है। संसार में सर्वत्र दुःख ही दुःख है। (अध्याय-3, पृष्ठ-68-69)

(4) कुदेवों का प्रतिषेध

अध्याय छह में कुदेव; कुगुरु और कुधर्म का प्रतिषेध किया है। अध्याय 6 के पृष्ठ 169-173 में वर्णित विषय का सार इस प्रकार है कि बहुत से जीव इस पर्याय संबन्धी शत्रुनाशादिक व रोग मिटाने, धन-पुत्रादिक की प्राप्ति, आदि अनेक प्रयोजनों सहित कुदेवादिक का सेवन करते हैं; हनुमानादिक को पूजते हैं, देवियों को पूजते हैं, भूतप्रेत, पितर, व्यन्तरादिक को पूजते हैं; सूर्य -चन्द्रमा, शनिश्चरादि ज्योतिषियों को पूजते हैं। सो इस प्रकार कुदेवादिक का सेवन मिथ्यादृष्टियों से होता है; क्योंकि प्रथम तो उनमें कितने ही कल्पनामात्र देव हैं तथा व्यन्तरादिक किसी का भला-बुरा करने को समर्थ नहीं है। समर्थता में कर्त्तापना होता है। किसी का भला बुरा नहीं होता दिखलाई देता है। सब कुछ पाप और पुण्य के उदय से होता है। व्यन्तरादिक कुछ करने में समर्थ नहीं है, उनके मानने-पूजने से अलग रोग लगता है, कुछ कार्य की सिद्धि नहीं होती। कभी कोई व्यन्तरलोक में उनको सेवन करने की प्रवृत्ति से चमत्कार दिखाते हैं। उससे भोला जगत भ्रमित हो जाता है। जिन प्रतिमाओं के अतिशय जिनकृत न होकर जैनी व्यन्तरदेव कृत होते हैं।

व्यन्तरों में प्रभुत्व की हीनता अधिकता तो है किन्तु कुतूहल से कुस्थान में निवासादिक बताकर हीनता दिखाते हैं। व्यन्तर बालक की भांति कुतूहल करते रहते हैं। मंत्रादिक की अचिन्त्य शक्ति है। किसी सच्चे मंत्र के निमित्त-नैमित्तिक संबन्ध से किंचित् गमनादि नहीं हो सकते व किंचित् दुख उत्पन्न होता है..... इसमें जलाना नहीं होता। क्योंकि वैक्रियिक शरीर का जलाना संभव नहीं होता।

व्यन्तरों के अवधिज्ञान किसी को अल्प क्षेत्रकाल जानने का है, किसी को बहुत है। उसी अनुसार जवाब देते हैं। वे अपने शरीर व अन्य पुद्गल स्कन्धों को जितनी शक्ति हो उतने ही परिणमित कर सकते हैं, अन्य जीव में शरीर का पुण्यपापानुसार परिणमित कर सकते हैं।

व्यन्तरों को पूजने से पुण्यबन्ध नहीं होता, रागादिक की वृद्धि होने से पाप ही होता है। इसीलिये उनका मानना पूजना कार्यकारी नहीं है। सूर्य-चन्द्र ग्रहादिक स्वयमेव गमनादिक करते हैं, और प्राणी के यथासंभव योग को प्राप्त होने पर सुख-दुख होने के आगामी ज्ञान के कारण होते हैं, कुछ सुख-दुःख देने को समर्थ नहीं है। इनके पूजने से इष्ट नहीं होता और कोई नहीं पूजता उसका भी इष्ट होता है; इसीलिये उनका पूजनादि करना मिथ्याभाव है।

(5) क्षेत्रपाल, पद्मावती आदि की पूजन का निषेध

क्षेत्रपाल, पद्मावती, यक्ष-यक्षिणी आदि जो जिनमत का अनुसरण करते हैं उनका पूजना योग्य नहीं है। जिनमत में संयम धारण करने से पूज्यपना होता है और देवों के संयम होता ही नहीं। तथा इनको सम्यक्त्वी मानकर पूजते हैं सो भवनत्रिक में सम्यक्त्व की भी मुख्यता नहीं है। यदि सम्यक्त्व से ही पूजते हैं तो सर्वार्थसिद्धि से देव, लोकान्तिक देव उन्हें ही

क्यों न पूजें। जिनभक्ति की विशेषता सौधर्म इन्द्र को भी है, वह सम्यग्दृष्टि भी है, इसे छोड़कर इन्हें किसलिए पूजें। तीर्थंकर के दार्शनिक भक्तिवान पुरुष ही करता है। तीर्थंकर के दर्शनादिक में क्षेत्रपालादि बाधक नहीं जो उन्हें पूजें। जिनमत में रौद्र रूप पूज्य नहीं। तीव्र मिथ्यात्वभाव सो ही रौद्ररूप को पूजने का भाव होता है। पं. जी कहते हैं कि 'देखो मिथ्यात्व की महिमा। लोक में तो अपने से नीचे को नमन करने में अपने को निंद्य मानते हैं और मोहित होकर रोड़ों तक को पूजते हुए भी निंद्यपना नहीं मानते' (पृ.174)।

क्षेत्रपालादिक को पूजने से दो हानियाँ हैं- मिथ्यात्वादि दृढ़ होने से मोक्षमार्ग दुर्लभ हो जाता है और दूसरे पापबंध होने से आगामी दुःख पाते हैं। कुदेवादिक को मानने से इष्ट-अनिष्ट बुद्धि में वृद्धि होती है और पुण्यबंध के स्थान पर पापबंध होता है। भ्रमबुद्धि, जीवादि तत्त्वों के श्रद्धान-ज्ञान का पूर्ण अभाव और राग-द्वेष की अति तीव्रता में ही कुदेवादिक की मान्यता होती है। (अध्याय 6, पृष्ठ-173-175)।

(6) कुदेवादिक की पूजन से पापबंध एवं निःकांक्षित गुण का अभाव

अष्टम अध्याय में प्रथमानुयोग के उपदेश के स्वरूप पर चर्चा करते हुए पण्डितजी ने लिखा है 'कितने ही पुरुषों ने पुत्रादिक की प्राप्ति के अर्थ अथवा रोगकष्टादि दूर करने के अर्थ चैत्यालय पूजनादि कार्य किये, स्तोत्रादि किये, नमस्कार मंत्र स्मरण किया; परन्तु ऐसा करने से तो निःकांक्षित गुण का अभाव होता है। निदानबंध नामक आर्तध्यान होता है, पाप ही का अयोजन अंतरंग है इसलिये पाप का बंध होता है; परन्तु मोहित होकर भी बहुत पापबंध का कारण कुदेवादिक तो पूजनादिक नहीं किया; इतना उसका गुणग्रहण करके उसकी प्रशंसा करते हैं। इस छल से औरों को लौकिक कार्यों के अर्थ धर्म करना युक्त नहीं है।' (अध्याय-8 पृ. 274)।

(7) मन्दकषायी-तीव्र कषायी का भेद उद्धरण

अष्टम अध्याय में चार अनुयोगों में उपदेश के स्वरूप का वर्णन है। करणानुयोग के व्याख्यान के विधान में अंतरंग कषाय शक्ति के अनुसार मंदकषायी और तीव्रकषायी का अन्तर दर्शाया है और उदाहरण में कहा है कि "व्यन्तरादिक देव कषायों से नगर नाशादि कार्य करते हैं, तथापि उनके थोड़ी कषाय शक्ति से पीत लेश्या कही है और एकेन्द्रियादिक जीव कषाय कार्य करते दिखाई नहीं देते, तथापि उनके बहुत कषाय शक्ति से कृष्णादि लेश्या कही है तथा सर्वार्थसिद्धि के देव कषाय रूप थोड़े प्रवर्तते हैं, उनके बहुत कषाय शक्ति से असंयम कहा है। पंचमगुण स्थानी व्यापार अब्रह्मादि कषाय कार्यरूप बहुत प्रवर्तते हैं, उनके मन्दकषाय शक्ति से देशसंयम कहा है।" (अध्याय-8, पं.276)।

(8) तत्त्वों के यथार्थश्रद्धान से देव-कुदेव का विवेक जागरण

अष्टम अध्याय के चरणानुयोग व्याख्यान विधान में 'निश्चय सहित व्यवहार के उपदेश' में यथार्थ तत्त्वों के श्रद्धान से सहजपरिणति वर्णन है, यथा- 'ऐसे श्रद्धान सहित व स्व-पर के भेदज्ञान द्वारा परद्रव्य में रागादि छोड़ने के प्रयोजन सहित उन तत्त्वों का श्रद्धान करने का

उपदेश देते हैं। ऐसे तत्त्वादि के श्रद्धान से अरहंतादि के सिवा अन्य देवादिक झूठ भासित हों तब स्वयंमेव उनका मानना छूट जाता है, उसका भी निरूपण करते हैं।' (वही पृष्ठ-279)।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि वीतराग श्रमण परंपरा में क्षेत्रपाल, पद्मावती, लक्ष्मी और सरस्वती और सूर्य-चंद्रमा जैसे ज्ञापक ग्रहों की शांति हेतु उनकी पूजा-भक्ति का कोई विधान नहीं है। यह तीव्र कषायजन्य गृहीत मिथ्यात्व का पोषक और पापरूप है। अरहंतादिक की निष्काम भक्ति से कभी कोई देवता-अति अनुकूल परिस्थितियों एवं पुण्य के उदय से कुछ उपकार करे तो करे, इसको कोई नियम नहीं। परन्तु अरहंतदेव को कुदेव न बनाए और कुदेव को देव न बनाए।

(9) प्रथमानुयोग के पर-उपकारक उद्धरण

प्रथमानुयोग के शास्त्रों में उपकारी के उपकार के प्रति कृतज्ञता के अनेक उदाहरण आये हैं। कृतज्ञता सहज मानवीय गुण है। धार्मिकजन और विशेषकर सम्यग्दृष्टि नियम से उपकारी के प्रति कृतज्ञ रहते हैं और आवश्यकता या अन्यथा भी उपकार का ऋण उतारते हैं। यही उत्कृष्ट परंपरा है।

भगवान शान्तिनाथजी के पूर्व भवों में, 7वें भवपूर्व स्मितसागर वत्सकावती नगरी के राजा के दो पुत्र अपराजित बलभद्र और अनन्तवीर्य वासुदेव हुये। अपराजित शान्तिनाथ का जीव था और अनन्तवीर्य उनके भाई का जीव था जो नरक गया। स्मितसागर का जीव धरणेन्द्र हुआ। धरणेन्द्र के जीव ने नरक जाकर अपने पूर्व पुत्र के जीव को संबोधित किया और उसके सम्यक्त्व का निमित्त बना। नरक से निकलकर अनन्तवीर्य का जीव भरतक्षेत्र में मेघनाद हुआ, मेघनाद ने मुनिदीक्षा ली। ध्यानरत मुनि पर सुकण्ठ असुरकुमार ने उपसर्ग किया, जिसका निवारण धरणेन्द्र ने किया। इस प्रकार स्मितसागर के जीव ने अनन्तवीर्य का दो बार उपकार किया।

तीसरे भव पूर्व भगवान शान्तिनाथ का जीव मेघरथ कुमार था और उसके भाई का जीव दृढ़रथ कुमार था। वे धनरथ तीर्थंकर के पुत्र थे। एक बार तो कुक्कटों को लड़ते देख मेघरथ कुमार ने अपने अवधिज्ञान से उनके पूर्वभवों को देखा। वे दोनों भाई थे और एक बैल के विवाद पर लड़ मरे। अनेक भवों तक ऐसा करते रहे। मेघरथ ने दोनों कुक्कटों को मृदु संबोधन से समझाया। दोनों शांत हुए, बैरभाव गला और वे मर कर भूत जातीय व्यंतर देव हुए। इन देवों ने उपकार के कृतज्ञ भाव से मेघरथ की पूजा की और अपने विमान में दोनों भाईयों को बैठाकर ढाईद्वीप की यात्रा कराई और स्वर्गलोक चले गये। इस प्रकार अपने उपकारी के उपकार का सम्मान/ कृतज्ञता व्यक्त कर बहुमान किया।

तुलसी रामायण के अनुसार मांस भक्षी जटायु ने करुणा भाव से सीता की रक्षा हेतु अपने प्राण न्यौछावर कर दिये। मृत्युपाश में जटायु राम की गोदी में था। राम ने जीवन देने की भावना भायी और पितृवत् सम्मान दिया। किन्तु जटायु को राम के हाथों में ही मरना स्वीकार था। जटायु को परमधाम मिला, यह उसकी भक्ति का प्रसाद था। समस्त वैदिक समाज जटायु के बलिदान को श्रद्धा-सम्मान की दृष्टि से देखता है; किन्तु कभी भी जटायु

का मंदिर नहीं बना और न उसके जीव की पूजा होती है। सम्मान और पूज्यत्व के अन्तर को वैदिक समाज ने विवेकपूर्ण समझा और अनुभूत किया, ऐसा प्रतीत होता है।

राजकुमार पार्श्व के जीव ने जलते-जलते नाग-युगल के जीव को णमोकार मंत्र रूप सम्यक् भाव-बोध कराया, जिसके फलस्वरूप वे धरणेन्द्र-पद्मावती (पति-पत्नी रूप) देव-देवी हुए और अभी भी हैं। कमठ के उपसर्ग के निवारण हेतु धरणेन्द्र-पद्मावती के जीव ने ध्यानस्थ मुनि पार्श्वनाथ के ऊपर फण फैलाया। उनकी उदात्त भावनाएं अद्भुत थीं। मुनि पार्श्व आत्मध्यान में मग्न थे और उसी अवस्था में उन्हें केवलज्ञान हुआ। मोह-राग-द्वेष से मुक्त हुए। उपकार के ज्ञाता बन गये। लोक जीवन में यही होता है। सभी एक दूसरे का उपकार करते हैं। दूसरे उनके उपकार के ज्ञाता होते हैं जबकि उपकार से लाभान्वित व्यक्ति उपकारी के प्रति कृतज्ञता का भाव बनाए रखता है। उक्त कथानक यही शिक्षा देते हैं कि “कृतघ्न न बनो, कृतज्ञ बनो; किन्तु अनंतभव-वर्धक मिथ्यात्व ग्रहण नहीं करो।” किसी के अन्य व्यक्ति के उपकारी जीव का दूसरे जन पूजा करेंगे तो वह अंध श्रद्धा होगी और शक्ति का अपव्यय होगा, यह बात हमें तत्त्वज्ञान एवं श्रद्धान से ज्ञात होती है।

(10) पर-उपकारी को सम्मानित करें, दण्डित न करें

वर्तमान पर्याय में भद्र परिणामी धरणेन्द्र और पद्मावती दंपति (देव-देवी) के रूप में जीवन यापन कर रहे हैं। पद्मावती के भक्तों की गतिविधियों को भी वे देखते हैं। पद्मावती का अभिषेक, पूजा और वस्त्र परिवर्तन-श्रृंगार आदि की क्रिया देखकर धरणेन्द्र अवश्य शर्माता (लज्जित) होता होगा। उसके जीते जी उसकी पत्नी को दूसरे जन छूएँ, यह कितना अनुचित है। क्या कोई अपनी पत्नी को इस रूप में देख सकता है ? विचारणीय है। हम अपनी भक्ति-पूजा के भाव को आरोपित करने में स्वतंत्र हैं; परन्तु हमें दूसरों की भाव हिंसा से भी बचना चाहिए। सम्यक्त्व-मिथ्यात्व की उपेक्षा भी कर दे तो कम-से-कम सभ्य जगत् के लोकाचार की मर्यादा का उल्लंघन न हो तो उत्तम है।

सत् स्वरूप को जीवन में प्रतिष्ठित करें। अपने उपकारी के प्रति विश्वासघात न करें, उसके प्रति कृतज्ञ ही रहें। विश्वासघात मिथ्यात्व जैसा महापाप है। पर-के-उपकारी को सम्मानित करें, दण्डित या लज्जित न करें। विवेकी मानव समाज का यह श्रेष्ठ गुण स्वस्थ मानव संबंधों के विकास में सहयोगी होगा। अशुभाचार से निवृत्ति होगी। सुधीजन विचार करें।

उक्त प्रकरण में आचार्य श्री विद्यासागर जी से चर्चा की तो उन्होंने कहा कि जैनधर्म में 18 दोषरहित देव को ही अष्टद्रव्य से पूज्य माना है। देवगति के देव और दोष-रहित (वीतरागी) देव पूज्यत्व की दृष्टि से एक समान नहीं हैं। पद्मावती आदि की पूजन अष्टद्रव्य से नहीं की जा सकती। सामाजिक एकता ही दृष्टि की यह अवश्य है कि जहाँ उनकी मूर्तियाँ पहले से ही विराजमान हैं, वहाँ विस्वाद नहीं किया जावे और न ही उनका अपमान किया जाये।

- बी-369, ओ.पी.एम. कालोनी
अमलाई पेपर मिल्स,
जिला-शहडोल (म.प्र.)-484117

विंध्य क्षेत्र के जैन ग्रंथ भंडारों में संग्रहीत विशिष्ट पाण्डुलिपियाँ

- डॉ. अनुपम जैन एवं सुरेखा मिश्रा

जैन धर्म के अनुयायी जिन्हें श्रावक की संज्ञा दी जाती है, के दैनिक षट्कर्मों में आराध्य देव तीर्थंकरों की पूजा, निर्ग्रन्थ दिगम्बर गुरुओं की उपासना, स्वाध्याय, तपश्चरण एवं दान सम्मिलित है। इन षट्कर्मों में स्वाध्याय सम्मिलित होने के कारण श्रावकों की प्राथमिक आवश्यकताओं में परंपराचार्यों द्वारा प्रणीत शास्त्र सम्मिलित हैं। स्वाध्याय का अर्थ परंपराचार्यों द्वारा प्रणीत ग्रंथों का नियमित अध्ययन है, फलतः जैन उपासना स्थलों (जिन मंदिरों) के साथ स्वाध्याय के लिए आवश्यक शास्त्रों का संकलन एक अनिवार्य आवश्यकता बन गई। प्राचीन काल में मुद्रण की सुविधा उपलब्ध न होने के कारण श्रावक प्रतिलिपिकार विद्वानों की मदद से शास्त्रों की प्रतिलिपियाँ कराकर मंदिरों में विराजमान कराते थे। जैन ग्रंथों में उपलब्ध कथानकों में ऐसे अनेक प्रसंग उपलब्ध हैं जिनमें व्रतादिक अनुष्ठानों की समाप्ति पर मंदिरजी में शास्त्र विराजमान कराने अथवा भेंट में देने का उल्लेख मिलता है। विशिष्ट प्रतिभा संपन्न पंडितों को उनके अध्ययन में सहयोग देने हेतु श्रेष्ठियों द्वारा सुदूरवर्ती स्थानों से शास्त्रों की प्रतिलिपियाँ मंगवाकर देने अथवा किसी शास्त्र विशेष की अनेक प्रतिलिपियाँ कराकर तीर्थयात्राओं के मध्य विभिन्न स्थानों पर भेंट स्वरूप देने के भी उल्लेख विद्यमान हैं।

जैन परंपरा में प्रचलित इस पद्धति के कारण अनेक मंदिरों के साथ अत्यन्त समृद्ध शास्त्र भंडार भी विकसित हुए। ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी जिसे श्रुत पंचमी की संज्ञा प्रदान की जाती है, के दिन इन शास्त्रों की पूजन, साज-संभाल की परंपरा है।² अतः शास्त्र के पन्नों को क्रमबद्ध करना, नये वेष्टन लगाना, उन्हें धूप दिखाना आदि सदृश परंपराएं शास्त्र भण्डारों के संरक्षण में सहायक रहीं। यही कारण है कि मध्यकाल के धार्मिक विद्वेष के झंझावातों एवं जैन ग्रंथों को समूल रूप से नष्ट किए जाने के कई लोमहर्षक प्रयासों के बावजूद आज कर्नाटक, तमिलनाडू, महाराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान, मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश, दिल्ली, हरियाणा, पंजाब, बंगाल, बिहार आदि के अनेक मठों, मंदिरों में दुर्लभ पाण्डुलिपियों को समाहित करने वाले सहस्राधिक शास्त्र भंडार उपलब्ध हैं।³ जैन आचार्यों एवं प्रबुद्ध श्रावकों की साधना का प्रमुख लक्ष्य आत्मसाधना रहा है। यद्यपि जैन परंपरा स्वयं के तपश्चरण के माध्यम से कर्मों की निर्जरा कर आत्मा से परमात्मा बनने में विश्वास करती है, तथापि आत्मसाधना से बचे हुए समय में जन कल्याण की पुनीत भावना अथवा श्रावकों के प्रति वात्सल्य भाव से अनुप्राणित होकर जैनाचार्यों ने लोक-हित के अनेक विषयों पर विपुल ग्रंथ राशि का सृजन भी किया है।

हम यहाँ विंध्य क्षेत्र में उपलब्ध जैन ग्रंथ भंडारों एवं उनमें संग्रहीत विशिष्ट पाण्डुलिपियों की जानकारी प्रस्तुत कर रहे हैं।

विंध्य क्षेत्र का नामकरण श्रुत विंध्य पर्वत के नाम पर हुआ। इस पर्वत की श्रेणियाँ पूरे क्षेत्र में फैली हुई हैं। स्वतंत्रता के पूर्व इस क्षेत्र का प्रचलित नाम बुंदेलखण्ड और बघेलखंड था। बुंदेलखंड में छोटी-छोटी 34 रियासतें थीं। बघेलखंड में इसी नाम की केवल एक रियासत थी, जिस पर बघेलवंशीय शासकों का शासन था। 4 अप्रैल 1948 ईस्वी को बुंदेलखंड और बघेलखंड के भू-भाग को संघ में विलीन कर दिया गया। इस नए प्रदेश का नाम विंध्यप्रदेश हुआ। इस प्रदेश में दतिया, टीकमगढ़, छतरपुर, पन्ना, सतना, रीवा, सीधी और शहडोल जिले सम्मिलित थे। एक अप्रैल सन् 1957 को वृहत मध्यप्रदेश का निर्माण हुआ और विंध्यप्रदेश उसमें समाहित कर दिया गया। इसमें सागर, टीकमगढ़, दमोह, छतरपुर, पन्ना, सतना, रीवा, शहडोल एवं सीधी लिये गये एवं इन नौ जिलों को विंध्यक्षेत्र की संज्ञा दी गई।¹ इस क्षेत्र में पपौरा, अहार, बंधा, खजुराहो, द्रोणगिरि, रेशन्दीगिरि, नैनागिरि, पजनारी, बीना-बारहा, पटनागंज एवं कुण्डलपुर, खजुराहों, मऊ-सहानिया, आदि अनेक तीर्थ हैं।

विंध्य क्षेत्र के जैन ग्रंथ भण्डारों में संगृहीत विशिष्ट पाण्डुलिपियाँ

इस वर्ग में हम सर्वप्रथम क्रमांक, ग्रंथ का नाम, लेखक/ टीकाकार, पत्र संख्या, प्राप्ति स्थल एवं पाण्डुलिपि क्रमांक दे रहे हैं।

सागर जिले के ग्रंथ भण्डारों में संगृहीत विशिष्ट पाण्डुलिपियाँ-

1. सारंग वैदिक संहिता (संस्कृत/आयुर्वेद) सारंगधर वैद्य, 40, श्री दिग. जैन मंदिर, अतिशयक्षेत्र, पिडरुआ, 25
2. समाधि तंत्र भाषा वचनिका, पर्वत धर्मार्थी 109, श्री दि. जैन मंदिर, पिडरुआ, 75
3. धर्मसार भाषा मूल सकलकीर्ति भट्टारक, पं. शिरोमणिदास, 56, श्री दि. जैन मंदिर, बांदरी, 11
4. धर्माभूतसार (हिन्दी), आ. गुणकीर्ति, 115, श्री दि. जैन मंदिर, बांदरी, सागर, 40
5. हरिवंश पुराण (हिन्दी), ब्रह्म जिनदास/पं. खुशालचंद, 538, श्री अभिनंदननाथ दि. जैन मंदिर, इटावा बीना, 69
6. हरिवंश पुराणा (हिंदी), ब्रह्म जिनदास/पं. खुशालचंद, 538, श्री अभिनंदननाथ दि. जैन मंदिर, इटावा बीना, 73
7. अक्कलसार (हिन्दी), पं. खूबचंद, 129, श्री अभिनंदननाथ दि. जैन मंदिर, इटावा बीना, 109
8. समाधितंत्र भाषा, पर्वत धर्मार्थी, 138, श्री अभिनंदननाथ दि. जैन मंदिर, इटावा बीना, 117
9. सार समुच्चय, कुलभद्र, 15, श्री अभिनंदननाथ दि. जैन मंदिर, इटावा बीना, 162
10. हरिवंशपुराण भाषा वचनिका, ब्रह्म जिनदास/पं. खुशालचंद, 189, श्री अनेकान्त

वाचनालय, पठारी सागर, 38

11. धर्मसार भाषा, सकलकीर्ति भट्टारक/पं. शिरोमणिदास, 30, श्री अनेकांत वाचनालय, पठारी-सागर, 66
12. पासाकेवली (हिन्दी ज्योतिष), 10, श्री अनेकांत वाचनालय, पठारी-सागर, 72
13. धम्म रसायण (प्राकृत), आ.पद्मनंदी, 24, प्राचीन दि. जैन मंदिर शास्त्र भण्डार, बड़ा बाजार, खिमलासा, 173
14. संबोध पंचासिका (प्राकृत), 5, प्राचीन दि. जैन मंदिर शास्त्र भण्डार, बड़ा बाजार, खिमलासा, 229
15. त्रिलोक प्रज्ञप्ति सटीक, मूल जिनचंद सूरि, टीका पं. मेधावी, 224, श्री दि. जैन बुद्धधुव्या का मंदिर, चकराघाट, सागर, 24
16. धर्मसार भाषा मूल सकलकीर्ति भट्टारक, पं. शिरोमणिदास, 71, श्री दि. जैन बुद्धधुव्या का मंदिर, चकराघाट, सागर, 8
17. अकलंकाष्टक भाषा वचनिका, पं. सदासुखदास, 17, श्री दि. जैन बुद्धधुव्या का मंदिर, चकराघाट, सागर, 10
18. अकलंकाष्टक भाषा वचनिका, पं. सदासुखदास, 10, श्री दि. जैन बुद्धधुव्या का मंदिर, चकराघाट, सागर, 150
19. नवरस विलास (हिन्दी), 12, श्री दि. जैन चौधरी मंदिर, गढ़ाकोटा, सागर, 4
20. सोलकारण उद्यापन पूजा, (संस्कृत), सुमतिसागर, 65, श्री दि. जैन चौधरी मंदिर, गढ़ाकोटा, सागर, 110
21. वृषभनाथ चरित्र (संस्कृत), सकलकीर्ति भट्टारक, 114, श्री पार्श्वनाथ दि. जैन मंदिर, चकराघाट, सागर, 67
22. कली चतुर्दशी कथा (हिन्दी) 32, श्री पार्श्वनाथ दि. जैन मंदिर, चकराघाट, सागर, 92
23. धर्मसार भाषा, सकलकीर्ति भट्टारक/पं. शिरोमणिदास, 67, श्री सन्मति साहित्य सदनवर्णी भवन, मोराजी, सागर, 294
24. धर्मसार भाषा, सकलकीर्ति भट्टारक/पं. शिरोमणिदास, 62, श्री सन्मति साहित्य सदनवर्णी भवन, मोराजी, सागर, 435
25. शकुनावली (संस्कृत, ज्योतिष), 7, श्री सन्मति साहित्य सदनवर्णी भवन, मोराजी, सागर, 369
26. सामुदिक शास्त्र (हिन्दी, ज्योतिष), 5, श्री सन्मति साहित्य, सदनवर्णी भवन, मोराजी, सागर, 370

27. धर्म रसायन (प्राकृत), आ. पद्मनन्दी, 12, श्री सन्मति साहित्य, सदनवर्णी भवन, मोराजी, सागर, 376
28. हनुमान चरित्र (संस्कृत), ब्रह्म अजित, 89, श्री सन्मति साहित्य सदनवर्णी भवन, मोराजी, सागर, 377
29. प्रमाण सामान्य लक्षण (संस्कृत), प्रभाचन्द्र, 262, श्री सन्मति साहित्य सदनवर्णी भवन, मोराजी, सागर, 382
30. इन्द्र ध्वज पूजा विधान (संस्कृत), विशालकीर्ति, 164, श्री सन्मति साहित्य सदनवर्णी भवन, मोराजी, सागर, 382
31. अक्कलसार (हिन्दी), खूबचंद, 97, श्री सन्मति साहित्य सदनवर्णी भवन, मोराजी, सागर, 120
32. अक्कलसार (हिन्दी), खूबचंद, 105, श्री सन्मति साहित्य सदनवर्णी भवन, मोराजी, सागर, 125
33. धर्म रसायन (प्राकृत), आ. पद्मनन्दी, 19, श्री सन्मति साहित्य सदनवर्णी भवन, मोराजी, सागर, 166
34. धर्म रसायन (प्राकृत), आ. पद्मनन्दी, 10, श्री सन्मति साहित्य सदनवर्णी भवन, मोराजी, सागर, 226
35. रामायण (हिन्दी), ब्रह्म जिनदास, 285, श्री सन्मति साहित्य सदनवर्णी भवन, मोराजी, सागर, 170
36. प्रमेय रत्नाकार(संस्कृत), चन्द्रप्रभ सूरि, 18, श्री सन्मति साहित्य सदनवर्णी भवन, मोराजी, सागर, 229
37. सोलहकारण उद्यापन (संस्कृत), गंगादास, 44, श्री पार्श्वनाथ दि. जैन चौधराइनबाई मंदिर, बड़ा बाजार, सागर, 8
38. धर्मसार भाषा मूल सकलकीर्ति भट्टारक/पं. शिरोमणिदास, 61, श्री पार्श्वनाथ दि. जैन चौधराइनबाई मंदिर, बड़ा बाजार, सागर, 18
39. धर्मसार भाषा मूल सकलकीर्ति भट्टारक/पं. शिरोमणिदास, 40, श्री पार्श्वनाथ दि. जैन चौधराइनबाई मंदिर, बड़ा बाजार, सागर, 28
40. धर्मसार भाषा मूल सकलकीर्ति भट्टारक/पं. शिरोमणिदास, 64, श्री पार्श्वनाथ दि. जैन चौधराइनबाई मंदिर, बड़ा बाजार, सागर, 31
41. समाधि तंत्र बालबोध भाषा, पर्वत धर्मार्थी, 147, श्री पार्श्वनाथ दि. जैन चौधराइनबाई मंदिर, बड़ा बाजार, सागर, 70
- 42.. उत्तर पुराण बच, नं. खुशालचंद, 327, अनेकांत ज्ञान मंदिर, बीना, 3845
43. धर्म बुद्धि मंत्री कथा, वखतराय, 15, अनेकांत ज्ञान मंदिर, बीना, 4654

44. सम्मेदाचल मार्गगमन कथा, पं. गिरधारीलाल, 61, अनेकांत ज्ञान मंदिर, बीना, 4362
45. कर्म विपाक संग्रह, भट्टारक सकलकीर्ति, 28, अनेकांत ज्ञान मंदिर, बीना 3538
46. जिन मुखावलोकन, 241, अनेकांत ज्ञान मंदिर, बीना, 4249
47. जैन तत्त्वादर्श, 15, अनेकांत ज्ञान मंदिर, बीना, 3661
48. जैन लोकाद्वारक तत्त्व दीपक वाक्य संग्रह, पं. चिमनलाल, 19, अनेकांत ज्ञान मंदिर, बीना, 3727
49. जैनाचार शुद्धप्रताप प्रक्रिया, पं. दुलीचंद, 72, अनेकांत ज्ञान मंदिर, बीना 3854
50. प्रायश्चित्त समुच्चय प्रक्रिया, नंदिगुरु, 51, अनेकांत ज्ञान मंदिर, बीना 3508
51. सिंहासन द्वात्रिंशतिका, 53, अनेकांत ज्ञान मंदिर, बीना, 3605
52. सिद्धांत चन्द्रिका, 144, अनेकांत ज्ञान मंदिर, बीना, 4254
53. कवलचन्द्रायण व्रत उद्यापन, भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति, 4, अनेकांत ज्ञान मंदिर, बीना 4390
54. पारस विलास, पारसदास, 176, अनेकांत ज्ञान मंदिर, बीना,, 4001
55. भाषिणी विलास, प. जगन्नाथ, 11, अनेकांत ज्ञान मंदिर, बीना, 3541
56. भरकर विलास, भरकत कवि, 205, अनेकांत ज्ञान मंदिर, बीना, 4082
57. ज्ञान सूर्योदय नाटक, पार्श्वदास निगोत्व, 47, अनेकांत ज्ञान मंदिर, बीना, 3654
58. चन्द्रोन्मीलन, 48, अनेकांत ज्ञान मंदिर, बीना 3694
59. विद्यानुशासन, 312, अनेकांत ज्ञान मंदिर, बीना, 3518
60. बाजीकरण अधिकार, आ. शुभचन्द्र, 10, अनेकांत ज्ञान मंदिर, बीना, 3540
61. एक सन्धिकृत जिनसंहिता, 16, अनेकांत ज्ञान मंदिर, बीना, 60
62. कर्माष्टक वर्णन, 17, अनेकांत ज्ञान मंदिर, बीना, 1225
63. भाव त्रिभंगी, 60, अनेकांत ज्ञान मंदिर, बीना, 1229
64. जैन मार्तण्ड कर्म विपाक पुराण, 14, अनेकांत ज्ञान मंदिर, बीना, 1876
65. ज्ञानश्रोदक, चरणदास, 05, अनेकांत ज्ञान मंदिर, बीना, 2155
66. चन्द्रप्रभ रास, पं. मेघराज, 346, अनेकांत ज्ञान मंदिर, बीना, 2748
67. हनुवंत रास, ब्र. जिनदास, 54, अनेकांत ज्ञान मंदिर, बीना, 1874
68. योग चिंतामणि, हर्षकीर्ति सूरि, 14, अनेकांत ज्ञान मंदिर, बीना, 5566
69. शिक्षवचन दोहे, शाह भीष्मसुत, 27, अनेकांत ज्ञान मंदिर, बीना, 5872
70. सीताशील विलास, भट्टारक धर्मचन्द्र, 150, अनेकांत ज्ञान मंदिर, बीना, 179

71. रस मंजरी, भानुदत्त, 22, अनेकांत ज्ञान मंदिर, बीना, 2450
72. वैद्य महोत्सव, पं. कैशवदास, 03, अनेकांत ज्ञान मंदिर, बीना, 5677
73. सिद्धचक्राष्टक टीका, श्रुतसागर सूरि, 17, अनेकांत ज्ञान मंदिर, बीना, 2010
74. वैद्य जीवन, 49, अनेकांत ज्ञान मंदिर, बीना, 3038

टीकमगढ़ जिले के ग्रंथ भण्डारों में संग्रहीत विशिष्ट पाण्डुलिपियाँ

75. रविव्रत उद्यापन विधान (संस्कृत), देवेन्द्रकीर्ति, 47, श्री दि. जैन मंदिर मलगुँवा, टीकमगढ़, 8
76. समोशरण विधान (संस्कृत), कमलकीर्ति, 66, श्री दि. जैन मंदिर, मलगुँवा, टीकमगढ़, 9
77. समोवशरण विधान (संस्कृत), रत्नकीर्ति, 47, श्री दि. जैन मंदिर, खरगापुर, टीकमगढ़, 55
78. धर्मसार भाषा मूल सकलकीर्ति भट्टारक/पं. शिरोमणिदास, 64, श्री दि. जैन चन्द्राप्रभु बड़ा मंदिर, पृथ्वीपुर, टीकमगढ़, 31
79. नेमिपुराण (हिन्दी), सिंहनन्दी, 250, श्री दि. जैन चन्द्राप्रभु बड़ा मंदिर, पृथ्वीपुर, टीकमगढ़, 73
80. धर्मसार भाषा, मूल सकलकीर्ति भट्टारक/पं. शिरोमणि दास, 60, श्री दि. जैन मझार का मंदिर, टीकमगढ़, 38
81. पासाकेवली (हिन्दी/ज्योतिष), 12, श्री दि. जैन मझार का मंदिर, टीकमगढ़, 27ए
82. समाधितंत्र, भाषा वचनिका, पर्वत धमार्थी, 163, श्री दि. जैन मझार का मंदिर, टीकमगढ़, 85
83. समाधितंत्र, भाषा वचनिका, पर्वत धमार्थी, 98, श्री दि. जैन मझार का मंदिर, टीकमगढ़, 131
84. हनुमान चरित्र (हिन्दी), जिनदास, 99, श्री दि. जैन मझार का मंदिर, टीकमगढ़, 100
85. नवतत्त्व चूलिका (संस्कृत), 12, श्री दि. जैन मझार का मंदिर, टीकमगढ़, 106
86. षट्कर्म प्रकाशिका (संस्कृत), भट्टारक सकलकीर्ति, 105, श्री दि. जैन मझार का मंदिर, टीकमगढ़, 112
87. हनुमान चरित्र (हिन्दी), अनन्तकीर्ति, 46, श्री दि. जैन मझार का मंदिर, टीकमगढ़, 151
88. विश्वतत्त्व प्रकाश (संस्कृत), भावसेन त्रैविद्य, 108, श्री दि. जैन मझार का मंदिर, टीकमगढ़, 156

89. त्रिलोकसार (हिन्दी), विशालकीर्ति, 69, श्री दि. जैन मंदिर, बम्होरी, टीकमगढ़, 4
 90. धर्मसार भाषा मूल सकलकीर्ति भट्टारक/पं. शिरोमणिदास, 40, श्री दि. जैन मंदिर, बम्होरी, टीकमगढ़, 2
 91. धर्मसार भाषा मूल सकलकीर्ति भट्टारक/पं. शिरोमणिदास, 53, श्री दि. जैन मंदिर, बम्होरी, टीकमगढ़, 15
 92. वैद्य विलास (हिन्दी/आयुर्वेद), राज देवीसिंह जूदेव, 65, श्रीकमल कुमार जैन बड़ागांव, टीकमगढ़, 1
 93. वैद्य विलास (हिन्दी/ आयुर्वेद), 49, श्री कमल कुमार जैन बड़ागांव, टीकमगढ़, 2
 94. रोग निदान शास्त्र (हिन्दी/आयुर्वेद), 20, श्री कमल कुमार जैन बड़ागांव, टीकमगढ़, 3
 95. राम विनोद (हिन्दी/आयुर्वेद), 85, श्री कमल कुमार जैन बड़ागांव, टीकमगढ़, 4
 96. चिकित्सा शास्त्र (संस्कृत/आयुर्वेद), 13, श्री कमल कुमार जैन बड़ागांव, टीकमगढ़, 5क
 97. षट्कर्मोपदेश (संस्कृत), भट्टारक सकलभूषण, 174, श्री दि. जैन बड़ा मंदिर, टीकमगढ़, 56
 98. रामहनुकथा (संस्कृत), 158, श्री दि. जैन बड़ा मंदिर, टीकमगढ़, 55
 99. जैन प्रबोध श्रावकाचार (हिन्दी), केसरीलाल, 84, श्री पार्श्वनाथ दि. जैन मंदिर सिमराखुर्द, 30
 100. त्रैलोक्य दर्पण (हिन्दी) 108, श्री पार्श्वनाथ दि. जैन मंदिर, सिमरा खुर्द, 32
 101. वैद्य तत्त्व (संस्कृत/आयुर्वेद), 10, श्री कोमलचंद जी पठा, टीकमगढ़, 8
- दमोह जिले के ग्रंथ भण्डारों में संग्रहीत विशिष्ट पाण्डुलिपियाँ-**
102. चौबीस तीर्थकर पूजा (हिन्दी), पं. देवीदास, 138, श्री दि. जैन सेठ मंदिर, दमोह, 5
 103. इन्द्रध्वज विधान (संस्कृत), भट्टारक विशालकीर्ति, 108, श्री दि. जैन सेठ मंदिर, दमोह, 7
 104. अन्यमतसार (हिन्दी), पं. नैनीचन्द्र, 74, श्री दि. जैन सेठ मंदिर, दमोह, 33
 105. श्री व्रतकथा संग्रह (हिन्दी), सुरेन्द्रकीर्ति, 27, श्री पार्श्वनाथ दि. जैन सिंघई मंदिर, पटेरा, 31

छतरपुर जिले के ग्रंथ भण्डारों में संग्रहीत विशिष्ट पाण्डुलिपियाँ-

106. श्रेणिक पुराण भाषा सहित, मूल आ. सकलकीर्ति, 134, दि. जैन नया मंदिर,

छतरपुर, 24

107. नयचक्र भाव प्रकासनी (हिन्दी), 86, दि. जैन सरई मंदिर, छतरपुर, 1
108. उपदेश सिद्धांत रत्नमाला भाषा सहित, भट्टारक सकलकीर्ति, 40, दि. जैन सरई मंदिर, छतरपुर, 24
109. आदिपुराण भाषा सहित (हिन्दी/संस्कृत) मूल आ. सकलकीर्ति, 175, दि. जैन बड़ा मंदिर, छतरपुर, 168
110. शरीर संहिता (आयुर्वेद/हिन्दी), पं. दामोदर, 69, दि. जैन बड़ा मंदिर, छतरपुर, 39
111. समाधि तंत्र भाषा वचनिका, पर्वत धर्मार्थी, 161, दि. जैन बड़ा मंदिर, छतरपुर, 50
112. समाधि तंत्र भाषा वचनिका, पर्वत धर्मार्थी, 52, दि. जैन बड़ा मंदिर, छतरपुर, 101
113. नक्षत्रमाला (ज्योतिष/हिन्दी-संस्कृत), 7, दि. जैन बड़ा मंदिर, छतरपुर, 52
114. हरिवंश पुराण (हिन्दी), ब्र. जिनदास, 266, दि. जैन बड़ा मंदिर, छतरपुर, 53
115. निर्भय निरंजन श्रावकाचार, आ. भूषण, 23, दि. जैन बड़ा मंदिर, छतरपुर, 70
116. त्रैलोक्यसार गाथा (अपभ्रंश), 5, दि. जैन बड़ा मंदिर, छतरपुर, 105
117. पद्मपुराण (हिन्दी) आ. धर्मकीर्ति, 363, दि. जैन बड़ा मंदिर, छतरपुर, 111
118. सिद्धिप्रिय स्तोत्र (संस्कृत)आ. पूज्यपाद, 15, आ. कुन्दकुन्द हस्तलिखित श्रुत भण्डार, खजुराहो, 339
119. त्रिलोक दर्पण (हिन्दी) खड्गसेन, 119, आ. कुन्दकुन्द हस्तलिखित श्रुत भण्डार, खजुराहो, 204
120. जिनदत्त चरित्र (संस्कृत), आ. गुणभद्र, 49, कुन्दकुन्द हस्तलिखित श्रुत भण्डार, खजुराहो, 1376
121. ज्योतिष गणित, 13, आ. कुन्दकुन्द हस्तलिखित श्रुत भण्डार, खजुराहो, 1377
122. अंक ज्योतिष, 150, आ. कुन्दकुन्द हस्तलिखित श्रुत भण्डार, खजुराहो, 445
123. पासाकेवली, (संस्कृत/ज्योतिष), 35, आ. कुन्दकुन्द हस्तलिखित श्रुत भण्डार, खजुराहो, 818
124. त्रिलोक दर्पण (हिन्दी), खड्गसेन, 128, आ. कुन्दकुन्द हस्तलिखित श्रुत भण्डार, खजुराहो, 1073
125. मिथ्यात्व खण्डन, बख्तावरराम, 34, आ. कुन्दकुन्द हस्तलिखित श्रुत भण्डार, खजुराहो, 445
126. रस रतन काव्य (हिन्दी), 213, आ. कुन्दकुन्द हस्तलिखित श्रुत भण्डार, खजुराहो, 206

127. सम्यक्त्व कौमुदी कथा (संस्कृत), आ. धर्मकीर्ति, 75, आ. कुन्दकुन्द हस्तलिखित श्रुत भण्डार, खजुराहो, 393
128. मिथ्यात्व मत खण्ड, बख्तावरराम, 48, आ.कुन्दकुन्द हस्तलिखित श्रुत भण्डार, खजुराहो, 613
129. पद्मपुराण भाषा वचनिका, रायमल्ल, 550, आ.कुन्दकुन्द हस्तलिखित श्रुत भण्डार, खजुराहो, 615
130. कर्मदहन विधान (संस्कृत), आ. सोमदेव, 29, आ.कुन्दकुन्द हस्तलिखित श्रुत भण्डार, खजुराहो, 758
131. सुभाषितावली भाषा सहित (संस्कृत/हिन्दी), आ. शुभचन्द्र, 12, आ.कुन्दकुन्द हस्तलिखित श्रुत भण्डार, खजुराहो, 26
132. जीव विचार प्रकरण भाषा सहित, मूल अभयचन्द्र सूरि, 71, आ.कुन्दकुन्द हस्तलिखित श्रुत भण्डार, खजुराहो, 27
133. सम्यक्त्व कौमुदी कथा, (हिन्दी), भट्टारक यशकीर्ति, 60, आ.कुन्दकुन्द हस्तलिखित श्रुत भण्डार, खजुराहो, 101
134. शांतिनाथ स्त्रोत, आ. पद्मनन्दी, 8, आ.कुन्दकुन्द हस्तलिखित श्रुत भण्डार, खजुराहो, 101
135. नेमि चन्द्रिका, 41, आ.कुन्दकुन्द हस्तलिखित श्रुत भण्डार, खजुराहो, 141
136. नेमि चन्द्रिका, 27, आ.कुन्दकुन्द हस्तलिखित श्रुत भण्डार, खजुराहो, 158
137. साठ संवत्सर (हिन्दी/ज्योतिष), हरिहरदास, 16, आ.कुन्दकुन्द हस्तलिखित श्रुत भण्डार, खजुराहो, 6
138. चन्द्रलोक (संस्कृत), जयदेव सुकवि, 10, आ.कुन्दकुन्द हस्तलिखित श्रुत भण्डार, खजुराहो, 18
139. सामुद्रिक पोथी (हिन्दी/संस्कृत), 60, आ.कुन्दकुन्द हस्तलिखित श्रुत भण्डार, खजुराहो, 27
140. नेमि चन्द्रिका, (ज्योतिष/हिन्दी), 56, आ.कुन्दकुन्द हस्तलिखित श्रुत भण्डार, खजुराहो, 73
141. पासा केवली (हिन्दी/ज्योतिष), पं. वृंदावन, 10, आ.कुन्दकुन्द हस्तलिखित श्रुत भण्डार, खजुराहो, 110
142. सम्यक्त्व कौमुदी (संस्कृत), भट्टारक शुभचन्द्र, 96, आ.कुन्दकुन्द हस्तलिखित श्रुत भण्डार, खजुराहो, 130
143. सप्तऋषि विधान (संस्कृत), भट्टारक सोमसेन, 11, आ.कुन्दकुन्द हस्तलिखित श्रुत भण्डार, खजुराहो, 160

144. दशलक्षण उद्यापन (संस्कृत), समुतिसागर, 39, आ.कुन्दकुन्द हस्तलिखित श्रुत भण्डार, खजुराहो, 166
145. धर्मसार भाषा, मूल भट्टारक सकलकीर्ति/पं. शिरोमणिदास, आ. कुन्दकुन्द हस्तलिखित श्रुत भण्डार, खजुराहो, 631
146. नेमिनाथ पुराण (हिन्दी), आ. गुणभूषण, 228, श्री दि. जैन स्वाध्याय एवं शोध संस्था नैनागिर, छतरपुर, 1
147. सम्मेशिखर महात्म्य भाषा, लालचन्द, 81, श्री दि. जैन स्वाध्याय एवं शोध संस्थान, नैनागिर, छतरपुर, 11
148. सम्मेशिखर महात्म्य भाषा, लालचन्द, 61, श्री दि. जैन स्वाध्याय एवं शोध संस्थान, नैनागिर, छतरपुर, 36
149. सिद्धांत चन्द्रिका (संस्कृत), आ. वाग्भट्ट, 11, श्री अजितनाथ दि. जैन जिनालय, छतरपुर, 33
150. कालज्ञान (संस्कृत/ज्योतिष), 10, श्री अजितनाथ दि. जैन जिनालय, छतरपुर, 42
151. चन्द्रोदय वैद्य (संस्कृत/आयुर्वेद), 9, श्री अजितनाथ दि. जैन जिनालय, छतरपुर, 43
152. सिद्धांत चन्द्रिका (संस्कृत), 120, श्री अजितनाथ दि. जैन जिनालय, छतरपुर, 46

पन्ना, सतना एवं रीवा जिले के ग्रंथ भण्डारों में कोई विशिष्ट पाण्डुलिपियाँ प्राप्त नहीं हुई हैं।

संदर्भ स्थल:

1. पद्ममनोद पंचविंशतिका, आ. पद्मनोद, हिन्दी टीका- पं. गजाधरलाल न्यायतीर्थ, प्रकाशक-कुन्दकुन्द दि. जैन स्वाध्याय मंडल, नागपुर-1996 गा. 403, पृ. 157
2. राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारों की ग्रंथ सूची, भाग-2, कस्तूरचंद कासलीवाल, श्री दि. जैन अतिशय क्षेत्र, श्री महावीरजी, 1954
3. Kastoorchand Kasliwal, Jain Granth Bhandars in Rajasthan, Vol.-1, Shri Dig. Jain Atishaya Kshetra, Shri- Mahavirji] 1967
4. अग्रवाल कन्हैयालाल विंध्य क्षेत्र का ऐतिहासिक भूगोल, पृ.-22

*-प्राध्यापक, गणित, शास. होलकर विज्ञान महाविद्यालय,
ए. बी. रोड, इंदौर-452017

** - पुस्तकालयाध्यक्ष, कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ,
584, एम.जी. रोड, इंदौर-452001

“वीरेन्द्रशर्माभ्युदय” महाकाव्य में पशु-पक्षी एवं अन्य जीव जन्तु

-विनय कुमार सिंह

संस्कृत साहित्य का विश्व के समस्त साहित्यों में विशिष्ट स्थान है। यह साहित्य केवल एक धर्म संप्रदाय विशेष का न होकर “सर्वधर्म” विशेष हो चुका है। संस्कृत साहित्य के विकास में जैनाचार्यों का अप्रतिम योगदान रहा है। महाकवि कालिदास, बाणभट्टादि कवियों ने अपने ग्रंथों की रचना इसी भाषा में करके इसे महिमाशालिनी बनाया है। बीसवीं शताब्दी के सुविख्यात, निष्काम योगी एवं दिगम्बर जैनाचार्यों के श्रेष्ठ आचार्यत्व को सुशोभित करने वाले बालब्रह्मचारी श्री भूरामलशास्त्री (आचार्य श्री ज्ञानसागर जी महाराज) के पवित्र नाम एवं उनकी कृतियों से ‘भारतवर्ष’ का कौन ऐसा प्राणी है, जो परिचित न होगा। दिगम्बराचार्य श्री ज्ञानसागर जी ने भी अपनी काव्यकला समाज में प्रस्तुत करने हेतु इसी संस्कृत भाषा का आश्रय लिया और **जयोदय, वीरोदय, सुदर्शनोदय, वीरेन्द्रशर्माभ्युदय, भद्रोदय, (समुद्रदत्त चरित्र) दयोदय चम्पू** जैसे महाकाव्यों एवं चम्पू काव्य का प्रणयन किया।

आचार्य ज्ञानसागर जी आधुनिक युग के संस्कृत महाकवियों में श्रेष्ठ कवि माने जा सकते हैं। “वीरेन्द्रशर्माभ्युदय” नामक महाकाव्य जो कि भगवान ‘महावीर’ के जन्मोत्सव का वर्णन करने वाला महाकाव्य है। जो आचार्य श्री ज्ञानसागर के कल्पना शक्ति एवं विशद ज्ञान का परिचायक है। कवि के अन्य महाकाव्यों की भाँति इस महाकाव्य को विशेष ख्याति नहीं मिल पायी उसका विशेष कारण इसका प्रकाशन न होना है। प्रकाशन न होना भी यह स्पष्ट करता है कि, यह कृति अपूर्णत्व के कारण ही विद्वत्समाज से अछूती रही। किन्तु आचार्य श्री की संस्कृत रचनाओं में ‘वीरेन्द्रशर्माभ्युदय’ का भी नाम आता है। जिसका वर्णन डा० अशोक कुमार जैन ने अपने ‘वीरेन्द्रशर्माभ्युदय’ में दिया है किन्तु इस समय यह “वीरेन्द्रशर्माभ्युदय” महाकाव्य के नाम से डा० पं० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य, सागर द्वारा हिन्दी टीकानुवाद सहित जयन्तीलाल केदार लाल शाह रायदेश (ईडर) द्वारा प्रकाशित है। किन्तु अब भी इसमें केवल 6 सर्ग ही प्रकाशित है। कवि की इस कृति का वर्णन मैने भी अपने शोध प्रबन्ध जिसका शीर्षक “**आचार्य ज्ञानसागर के संस्कृत काव्य ग्रंथों का काव्यशास्त्रीय अनुशीलन**” के अन्तर्गत काव्यशास्त्रीयता के आधार पर किया है। आचार्य श्री ज्ञानसागर का यह महाकाव्य मुझे सागर से मुनि श्री अभय सागर जी महाराज की कृपा से प्राप्त हुआ था।

आचार्य श्री ने अपने अन्य महाकाव्यों की भाँति ही इस महाकाव्य को भी काव्यशास्त्र के आधार पर महाकाव्य के लक्षणों से संयुक्त किया है। अन्य वर्णनों के साथ साथ कवि ज्ञानसागर ने अपने इस महाकाव्य में प्रकृति के साथ उसके अन्य सहायकों का भी चित्रण किया है। प्रकृति प्राचीन काल से ही मानव की सहचारिणी रही है। उसके सुरम्य आँचल

में महकते पुष्प, क्रीड़ा करते पशु, मधुर गान एवं कलरव को प्रस्तुत करते पक्षी एवं अन्य जीव समूह किसके मन को आकर्षित नहीं करते हैं। आचार्य श्री की बहुमुखी प्रतिभा का समग्र उल्लेख करना तो मुझ में संभव नहीं है, फिर भी उनके द्वारा **वीरेन्द्रशर्माभ्युदय** महाकाव्य में जा पशु पक्षियों से संबन्धित तथ्य है, उनको चित्रण करने का प्रयास मैं अवश्य ही करूँगा। मेरे सामने आचार्य श्री के समस्त ग्रंथ हैं, फिर भी अन्य सभी ग्रंथों में सिवाय 'वीरेन्द्रशर्माभ्युदय' के काफी चर्चा हो चुकी है। इसलिए मैं उसी आधार पर पशु-पक्षियों के अध्ययन को शोध-पत्र का विषय बनाया है। जिसका वर्णन क्रमशः इस प्रकार है।

पशु जगत्

(क) सिंह

सिंह जंगल का सम्राट माना गया है। साथ ही साथ वह अत्यन्त स्वाभिमानी एवं पराक्रमी है। सर्वप्रथम सिंह का वर्णन आचार्य श्री ज्ञानसागर ने इस महाकाव्य में राजा सिद्धार्थ के वर्णन में किया है। उन्होंने लिखा है कि, जिस प्रकार सिंह के विद्यमान रहते हुए गजराज सुशोभित नहीं होता है उसी प्रकार राजा सिद्धार्थ के रहते हुए विजयार्धपर्वत पर कोई भी सुशोभित नहीं था।

“न राजिते कश्चन् राजिते पतौ न राजते कश्चन राजते गिरौ।

वनावनौ सिन्धुवनावनौ नरः मृगेन्द्रके वापि मृगेन्द्रकेश्वरः॥”

सिंह वर्णन का द्वितीय स्थल वह है जहाँ माता त्रिशला तृतीय स्वप्न देखती है। तृतीय स्वप्न में माता ने ऐसा सिंह देखा जिसने मदस्रावि हस्तियों के कपोलचक्र गण्डस्थल को विदीर्ण कर दिया था तथा चन्द्रमा में स्थित मृग को प्राप्त करने की इच्छा से मानो आकाश में छलाँग भरी थी।

“विदारिताशेषकपोलचक्र - विनिर्गलद्दानसमूहसिन्धुम् ।

सितांशुसारङ्गविलित्सयापि कृतक्रमं पुष्कर एणनाथम्॥”²

सिंह वर्णन का तृतीय स्थल वह जहाँ राजा सिद्धार्थ रानी के स्वप्नों का हल बताते हैं। उन्होंने रानी के पुत्र को सिंह के समान बताया है।³

इस प्रकार मेरु पर्वत पर काले-काले मेघों को गरजते हुए हाथी समझ कर सिंह बार-बार उन पर आक्रमण करते हैं।⁴

(ख) गज (हाथी)

समस्त संस्कृत काव्यों में गज का महत्वपूर्ण स्थान है। काव्यों के अतिरिक्त 'गज' जन सामान्य के लिए भी प्रिय माना जाता रहा है। वैवाहिक कार्यक्रमों में 'गज' के बिना सर्वत्र शून्यता दिखाई देती है। जैन परंपरा में ऐरावत नामक गज का विशेष उल्लेख हुआ है। जिसका प्रयोग तीर्थंकरों के जन्माभिषेक के समय विशेष रूप से हुआ है। जबकि 'ऐरावत' को 'इन्द्र' के वाहन के रूप में जाना जाता है। कालिदास ने इसे समुद्र से उत्पन्न माना है।⁵ आचार्य ज्ञानसागर ने भी 'ऐरावत' गज को विशेष रूप से अपने इस महाकाव्य में वर्णित किया है। गज सिंह की अपेक्षा एक शाकाहारी प्राणी है। वह बरगद एवं पीपल की नवीन कोपलों एवं इक्षु (ईख) का विशेष प्रेमी बताया गया है। काव्यों में गज की 'वप्र क्रीड़ा'

का वर्णन प्रायः सभी कवियों ने किया है। पानी से उसे अत्यन्त प्रेम है। आचार्य श्री ने लिखा है कि, प्रथम स्वप्न में रानी त्रिशला ने ऐसे गंधहस्ती-मन्दोन्मत्त हाथी को देखा, जिसने चलते हुए अत्यन्त स्थूल चरणों के अग्रभाग से कमठ के पृष्ठ भाग को विदीर्ण कर दिया था, जो बहुत भारी गन्ध से युक्त दान-मदजल से सहित था और सुमेरु पर्वत के समान ऊँचा था-

‘सुसञ्चरत्स्थूलतरक्रमाग्र - प्रभिन्नपारीरणपृष्ठभागम्।

अनल्पगन्धोल्बणदाननाथं सुवर्णशैलोन्नतगन्धपीलुम्।’⁶

आचार्य श्री अपने इस महाकाव्य में ऐरावत⁷ तथा वामन⁸ हाथियों का वर्णन किया है। जहाँ उन्होंने लिखा है कि शुक्ल वर्ण वाले ‘ऐरावत’ हाथी से सुवर्णमय पीला सुमेरु पर्वत ऐसा सुशोभित हो रहा था जैसे शुक्ल वस्त्रधारी नारद से पीताम्बर वस्त्रधारी कृष्ण सुशोभित होते थे-

शुण्डां तथा नादयता सुवीणां सुवर्णपीतेन सुवाससेव।

कुचेन युक्तेन गजेश्वरेण मुक्ताजटापूरतिमस्तकेन।

पीताम्बरं स्पष्टविराजमानं स नारदेनेव मुरारिरेव।

ऐरावणेनात्र सुवर्णशैलो मनोजभिरामः परमा बभौ वा॥

इसी प्रकार ‘वामन’ आदि दिग्गजों के द्वारा तीनों जगत धारण करने का वर्णन भी आचार्य श्री ने किया है। इसके अतिरिक्त हाथियों के समूह क्रीडा⁹ का वर्णन भी वीरेन्द्रशर्माभ्युदय महाकाव्य में हुआ है।

(ग) महिष (भैंसा)

महिष का प्रयोग भारतीय कृषक कृषि कार्य हेतु करते हैं। भार वाहन एवं कृषि कर्षण कार्य (जुताई) के लिए महिष का प्रयोग प्राचीन काल से आज तक होता आ रहा है। जहाँ पर वृषभों की कमी दिखाई देती है, वहाँ पर महिष उसके कार्य को पूर्णता प्रदान करता है। जो स्वभाव से कठोर एवं आलसी होता है। माँ के उदर से उत्पन्न होने के साथ ही उसके साथ उपेक्षा का भाव जन मानस में दिखाई देता है। वीरेन्द्रशर्माभ्युदय महाकाव्य में सिद्धार्थ के वर्णन में कवि का कथन है कि, राजा सिद्धार्थ के शत्रुओं के घर उनके अभाव में उत्तम कांचली वाले सांपों से सहित धतूरो के समूह से सुन्दर और महिष-भैंसा से सहित हो गये थे अर्थात् शत्रुओं के भाग जाने से उनके घरों में लोग भैंसा बाँधने लगे थे।

“सकञ्चुकैः कुण्डलिभिः सनाथा अनल्पसत्काञ्चनचक्रकान्ताः।

चित्रं बभूवुर्महिषीविभूषा अमित्रगेहास्तदसत्त्व एवम्॥”¹⁰

इस प्रकार आचार्य श्री ने वन्यादि पशुओं के साथ-साथ घरेलू पशुओं का भी चित्रण अपने इस महाकाव्य में किया है।

(घ) मृग

स्वभाव से अत्यन्त मृदु एवं सबको अपनी ओर आकर्षित करने में चतुर मृग के विषय में सभी परिचित होंगे। अपनी चञ्चल आँखों, किलोलें भरती उछाल से आनन्दित करने वाला शुद्ध शाकाहारी पशु का वर्णन आचार्य श्री ने वीरेन्द्रशर्माभ्युदय काव्य में किया है। उन्होंने इसका वर्णन रानी त्रिशला के वर्णन करते हुए कहते हैं। कि, मृग के समान नेत्रों वाली प्रियकारिणी राजा सिद्धार्थ की कामेच्छा पूर्ति के लिए वेश्या के समान थी।

“सिद्धार्थसत्कामहिताय वेश्या तथार्थितृप्त्यै खलु कामधेनुः।
सुधर्मकार्यं प्रतिसेविकेव बभूव सारङ्गविलोचना सा॥”¹¹

(ड) वृषभ (बैल)

वैष्णव एवं शैव संप्रदाय में वृषभ को भगवान शंकर का वाहन माना गया है। जिसे “नंदी” के नाम से पुकारा जाता है। इसलिए हिन्दू धर्म में वृषभ की पूजा होती है। समस्त जैन तीर्थंकरों की माताओं ने भी अपने स्वप्नों में पशु के दर्शन किए और बाद में इसी के समान श्रेष्ठ पुत्रों की प्राप्ति किया। इस महाकाव्य में भी रानी त्रिशला ने द्वितीय स्वप्न में बैल के दर्शन किए जैसा कि आचार्य श्री ने लिखा है- द्वितीय स्वप्न में रानी ने ऐसा बैल देखा जो चाँदी के पर्वत के समान ऊँचा, चार पैर वाले पशुओं का नाथ, सींगों से युक्त, शुक्ल वर्ण वाला था।

“समुन्नतं पादचतुष्कनाथं समुज्ज्वलं शृंग विशेषशोभम्।”¹²

बैल के विषय में कहावत है कि डूँड़ा (बिना सींगों वाला) बैल से अनिष्ट एवं सींग युक्त (सींगों वाला) बैल से शुभ होता है। कृषक भी ऊँची सींगों वाले एवं श्वेत रंग वाले बैल को पालने हेतु अधिक रुचि लेते हैं। जो समृद्धि का विशेष द्योतक माना जाता है।

(च) वानर (बन्दर)

हरि, मर्कट आदि शब्द वानर के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। वानर अत्यन्त ही उद्दण्ड स्वभाव का पशु है। वह चञ्चल चित्त वाला होता है। वैष्णव मतानुसार ‘वानर’ को श्रेष्ठ माना जाता है और उसे अवध्य बताया गया है। ऐसी प्रसिद्धि है, कि यदि वानर का वध होता है तो, वह विभिन्न विघ्नों का कारण होता है। नारद मोह के समय भगवान विष्णु ने नारद को सांसारिकता से मुक्त करने हेतु नारद को वरदान स्वरूप ‘हरि’ (बन्दर) का रूप प्रदान किया था। रामायण एवं रामचरितमानस जैसे महाकाव्यों में ‘वानर’ का विशेष उल्लेख हुआ है। वैष्णव परम्परानुसार ‘हनुमान’ भी वानर ही थे। जिनकी पूजा प्रत्येक वैष्णवमतानुयायी करते हैं। इसलिए आचार्य श्री ने भी इसका प्रयोग इस महाकाव्य में पाँचवें सर्ग में सुमेरु पर्वत के वर्णन में किया है। वहाँ उन्होंने लिखा है, कि हरि-वानर वृक्षों को तोड़-फोड़ कर उन्हें पीड़ा पहुँचा रहे हैं-

“समानसंज्ञा ग्रहराजकस्य मुहुर्मुहुस्तान् हरयः समस्ताः।

तुदन्ति नानाविधिविक्रियाभिः स्वसंज्ञपक्षा न हि के पृथिव्याम् ॥¹³”

(छ) अश्व (घोड़ा)

‘अश्व’ उत्तम सवारी एवं युद्ध के लिए सर्वोत्तम माना गया है। आंग्लभाषा के लेखक के अनुसार घोड़े का निर्माण विधाता (ब्रह्मा) ने सब जीवों के अंत में किया।¹⁴ जिसे वायु निर्माण आदि के अवशेष पदार्थ से बनाने के कारण हवा में दौड़ना अतीव रुचिकर होता है। घोड़े की हिनहिनाहट एवं टापों की आवाज से युद्ध की सूचना भी प्राप्त होती है। यह शुद्ध शाकाहारी पशु है। राजाओं के यहाँ इनकी संख्या अधिक होती थी। सुमेरु पर्वत के वर्णन में आचार्य श्री ने लिखा है कि, सुमेरु को घोड़े अपने मुख से निकले सफेद फेनों से जिनेन्द्र रूप चन्द्रमा के आगे नक्षत्र समूह की शोभा से युक्त आकाश के समान बनाते

हुए जा रहे हैं।¹⁵ तथा उत्तम घोड़े खुर एवं टाँकियों के निपात से मानो श्री महावीर स्वामी की यशः प्रशस्ति ही लिख रहे थे।¹⁶ उत्तम गति वाला घोड़ा हिनहिनाहट शब्द करते हुए अपनी प्रियभूमि को बार-बार अपने स्वेद जल की सूचना दे रहा था। यहीं पर क्रीड़ा करते हुए अश्व समूहों का भी वर्णन आचार्य श्री ने किया है।¹⁷

“विलासवत्यां सहसा पृथिव्यां संवेल्लनायाश्वगणः प्रयातः।

तथा परं हर्षतरं जगाम ह्ययाभीष्टलाभेन न कस्य हर्षः।”¹⁸

यहीं पर घोड़ों के लोटने आदि क्रिया का भी वर्णन है।¹⁹

इसी प्रकार यत्र-तत्र कामधेनु गाय आदि का भी वर्णन इस महाकाव्य में हुआ है।

पक्षी-जगत्

(क) मयूर

मयूर का नाम राष्ट्रीय पक्षी के रूप में लिया जाता है। संस्कृत साहित्य के प्रत्येक कवि ने मयूर को काफी महत्त्व दिया है। राजस्थान में यह पक्षी विशेष लोकप्रिय है। मयूर पंख की सुरम्य छटा के कारण ही कृषक बाल उन्हें विशेष रूप से सावन के महीने में ढूँढ़ते फिरते हैं। बादलों की गड़गड़ाहट के समय मयूर अति आनन्द का अनुभव कर नृत्य करने लगता है। मयूर की केका ध्वनि सुनकर मोरनी समागम हेतु उसके समीप आती है। इतना ही नहीं, जैनधर्मानुयायी दिगम्बर साधु समाज इसी मयूर पंखों की पिच्छी ग्रहण करते हैं और इसका उपयोग अहिंसा उपासना एवं त्रस जीवों की हिंसा से बचने के लिए करते हैं। महाकवि बाणभट्ट ने भी कादम्बरी में जैन साधुओं द्वारा मयूर पंख धारण की बात कही है।²⁰ आचार्य श्री ने इस महाकाव्य में मयूर को कुछ इस प्रकार से वर्णित किया है। जिसके शरीर की कान्ति ही चन्द्रिका है ऐसा मानकर झरते हुए चन्द्रकान्त मणियों को मेघ समझकर मयूर असमय में ही नृत्य करने लगते हैं-

“देवस्य यस्यात्र शरीरकान्तिर्योत्स्नेति मत्त्वा द्रवदिन्दुकान्तान्।

घनाघनान्वीक्ष्य शिखण्डिनी हि नृत्यन्त्यकाण्डेऽपि नमामि चन्द्रम्॥”²¹

(ख) राजहंस-

हंस को ‘विज्ञ’ माना गया है जिसमें नीर-क्षीर को अलग-अलग करने की अद्भुत क्षमता पायी जाती है। हंस मानसरोवर में निवास करता है एवं हमेशा मोती का भक्षण करता है। ‘हंस’ को विद्या देवी सरस्वती का वाहन माना गया है। वह उज्ज्वल होता है। आचार्य श्री ने भी हंस के नीर-क्षीर विवेक की बात को कहा है।

“महाविशुद्धः किल रज्जकोऽसौ महामनाः शुद्धमतिर्विभाति।

नीरं विना क्षीरहरः सुहंसो दोषानृते ग्रंथगुणानुरागी॥”²²

अर्थात् जिस प्रकार अत्यन्त उज्ज्वल तथा गुणों का अनुरागी राजहंस पानी को छोड़कर दूध को ग्रहण करता है इसी प्रकार साधु दोषों को छोड़कर गुणों को ग्रहण करता है। दुर्जन एवं सज्जन के वर्णन में भी आचार्य श्री ने दुर्जन को कौआ एवं सज्जन को हंस कहा है।²³ आचार्यश्री ने हंस को मुक्ताफल भोजी भी बताया है। इसलिए उन्होंने कहा है कि कौआ भले ही मुक्ताफल भोजी हो जाए, किन्तु वह हंस नहीं हो सकता है।

“कथञ्चिदुच्चं कृतवान् ह कार्यमुच्चो न यन्नीचजनो नृलोके।

न मानसौका भवितुं समर्थः सुसूचकोऽसावपि मौक्तिकाशः॥²⁴

हंस की चाल को सर्वोत्तम माना गया है जिसका वर्णन आचार्य श्री ने इस प्रकार किया है कि, त्रिशला रानी की गति हंस की गति से अधिक सुन्दर थी।²⁵ रानी त्रिशला हंस के समान सुन्दर थी।²⁶ हंस वर्णन का अन्य स्थल वह है, जहाँ महावीर स्वामी ने विभिन्न गुणों को स्वभावतः ही प्राप्त किया। कवि का कथन है कि, जिस प्रकार हंस के बालक को सुन्दर गति सिखाने में कोई गुरु नहीं होता, उसी प्रकार महावीर को शिक्षा देने के लिए गुरु की आवश्यकता नहीं थी-

“नैसर्गिकज्ञाननिधेर्जनस्य शिक्षासु को नाम गुरुर्बभूव।

मरालबालस्य विचित्रयाने न कः पिकस्यापि विशुद्धगाने॥²⁷

(ग) उल्लूक

उल्लू पक्षी को दिन में नहीं दिखाई देता है। ‘उल्लू’ की समानता मूर्ख मनुष्य से ही की गई है। इसलिए आचार्य श्री ने स्पष्ट कहा कि, दुर्जन मनुष्य श्रवण करने योग्य उत्तम काव्य में भी हर्ष को प्राप्त नहीं होता। उल्लू निर्मल दिन का उदय होने पर भी प्रगाढ़ अंधकार को देखता है।

“श्रमणप्रबन्धेऽपि न याति हर्षं, सुखुल्लकोकस्य च मन्तुकोऽत्र॥

सुपेचकोऽसौ किल पश्यतीव महत्तमः शुभ्रदिनोदयेऽपि॥²⁸

इस प्रकार कवि दुर्जन को उल्लू के समान बताया है।²⁹

(घ) काक (कौआ)

हिन्दू धर्मशास्त्रों में कौआ को सम्माननीय स्थान प्राप्त है। विशेष रूप से श्राद्ध पक्ष (पितर पक्ष) में कौए को ‘पुरखो’ की संज्ञा देकर उन्हें मिष्टान्न दिया जाता है। रामचरितमानस में तुलसीदास ने ‘काकभुसुण्डि’ का वर्णन किया है। काले रंग वाला कौआ देखने में सुन्दर तो दिखाई देता है किन्तु उसकी वाणी अत्यन्त कर्कश होती है। अपनी काँव-काँव की आवाज के द्वारा वह लोगों के लिए उपेक्षणीय हो जाता है। आचार्य श्री ने कौए की तुलना नीच पुरुष से की है और उन्होंने कहा है कि कौआ किसी तरह मुक्ताफल भोजी भी हो जावे परन्तु वह हंस नहीं हो सकता।³⁰

(ङ) गरुण एवं गरुणी

‘गरुण’ पक्षी भगवान ‘विष्णु’ का वाहन बताया गया है। वह श्येन (बाज़) परिवार का सदस्य है। वह अत्यन्त भयंकर होता है। गरुण एवं सर्प एक दूसरे के परस्पर बैरी हैं। यही कारण था कि राम एवं लक्ष्मण को नागपाश से मुक्त करने के लिए स्वयं गरुण पक्षी ने ही भूतल पर पदार्पण किया। संस्कृत काव्यकारों ने इसका सुन्दर वर्णन किया है। आचार्य श्री ने इसका उपयोग रानी त्रिशला द्वारा किये गये दसवें स्वप्न में किया है रानी त्रिशला ने जो सरोवर देखा वह असंख्य गरुण पक्षियों की क्रीड़ा से युक्त था।

‘पद्मालयं कोकनिवासरम्यमसंख्यहेमांग विलासगम्यम्।

अनल्पशुभ्रमृतपूरपूर्ण स्वर्लोकवद्धा परमं तडागम्॥³¹

‘गरुणी’ गरुण की पत्नी है। गरुणी का वर्णन आचार्य श्री ने अपनी कल्पना शक्ति से त्रिशला रानी के वर्णन में कहा है कि, मृगनयनी त्रिशला के मुखकमल की दूर-दूर तक फैलने वाली प्रसिद्ध ग्रंथ को शीघ्र ही ग्रहण करने के लिए अतिशय काली रोमराजी रूपी गरुणी को देखकर वह भय से शरीर को संकुचित कर स्तनों के नीचे छिप गई।³²

(च) कोकिल (कोयल)

वसन्त ऋतु में आम्रमञ्जरी के मध्य बैठी कोयल अपनी मधुर तान से किसको अपनी ओर आकर्षित नहीं करती है। कोयल का निकुञ्जों के मध्य कुञ्जन करना सर्वत्र प्रसिद्ध है। काली कलूटी होने पर भी कोयल की कूक सुनने के लिए सभी आतुर रहते हैं। कोयल की प्रथम कूक पर कृषक परिवार मिष्टान्न युक्त भोजन (खीर) बनाते हैं। कोयल की सबसे बड़ी चतुरता यह है, कि यह अपने अण्डे कौवे के घोंसलों में देकर उनका पालन पोषण स्वयं न कर उसी से करवाती है। ऐसी मान्यता कृषकों की है। कोयल की कूक सुन विरही उत्तेजित हो जाता है। आचार्य श्री ने इसका वर्णन त्रिशला के गर्भावस्था में सेवा के समय किया है। जहाँ उन्होंने कहा है कि मृग समान नेत्रों वाली किसी देवी ने वीणा और कोयल से श्री श्रेष्ठ वाणी के द्वारा गायन किया-

‘जगौ यदप्येणविलोचना का वीणा पिकीश्रेष्ठ गिरा कथञ्चित्।

तथापि तस्याः शिवपूर्णकल्या विगायिकाया न मनो जहारा।’³³

कोयल के विषय में कवि का कथन है कि, उसके मृदु एवं सुरीले गान को सिखाने के लिए गुरु की आवश्यकता नहीं होती वह तो स्वभावतः मृदु गीत गाती है।³⁴

अन्य जीव-जन्तु जगत

(क) मत्स्य (मछली)

मछली जलीय प्राणी है। जल से इसका गहरा संबंध है। क्षणभर के लिए भी जल से अलग कर देने पर मत्स्य जीवित नहीं रह पाती है। प्रेम के संबंध में समाज मत्स्य का उदाहरण देते हैं कि, जिस प्रकार मछली पानी के बिना जीवित नहीं होती है। वैसे प्रेमी युगल के प्रति भी होना चाहिए। यही बात आचार्य श्री ने भी इस महाकाव्य में कहा है।

‘‘को न अधुना पण्डितराजएव निर्गन्धिवाणीं ग्रथितुं समर्थः।

यन्मत्स्य मात्रोऽपि सुयत्नशीलो गन्तुं न शक्नोति वनं विहाय।’³⁵

अर्थात् इस समय कौन मनुष्य पण्डितराज होने पर भी निर्दोष वाणी की रचना करने में समर्थ है ? अर्थात् कोई नहीं क्योंकि कोई भी मत्स्य यत्नशील होने पर भी जल को छोड़कर चलने में समर्थ नहीं है। इसी प्रकार त्रिशला रानी के नेत्रों की लम्बाई मत्स्य से भी लम्बी आचार्य श्री ने बताया है।³⁶ आठवें स्वप्न में रानी ने मीनयुगल के दर्शन किये।³⁷

(ख) कच्छप (कछुआ)

‘कच्छप’ की गणना भगवान् विष्णु के अवतारों में की जाती है। जिसे ‘कूर्म अवतार’ कहा जाता है। कच्छप की ऊपरी सतह पृष्ठभाग कठोर होती है। जिसका प्रयोग भारतीय कृषक अपने पशुओं को जादू-टोने से बचाने के लिए करते हैं। जितेन्द्रिय प्राणी को कछुए के समान ही रहना चाहिए। हिन्दू पुराणों के अनुसार यह सर्वविदित है कि पृथ्वी के भारत

को कच्छप ने अपने ऊपर धारण कर रखा है। यही बात आचार्य श्री ने भी कहा है कि उत्कृष्ट सज्जन विमुख होने पर भी परोपकार के कार्य में समर्थ रहता है, क्योंकि पीठ देने वाला कूर्म (कच्छप) क्या गुरुतर पृथिवी के उद्धार रूप कार्य को करने में समर्थ नहीं है ?

‘पराङ्मुखोऽप्येषु परःपरमात्मा परोपकारव्यवहारदक्षः।

किं दत्तपृष्ठो हि गरिठगोत्रा-प्रोद्धारधर्मप्रवणो न कूर्मः॥³⁸

(ग) सर्प

सर्प का वर्णन आचार्य श्री ने कृतघ्नता के अर्थ में किया है। जैसा कि आपने लिखा है कि, अत्यन्त नीच मनुष्य का उपकार करना दोष प्राप्ति की संभावना को पूर्ण करने के लिए होता है। जैसे कि पृथ्वी तल पर श्रेष्ठ सर्पों के पूज्य नागराज को दूध पिलाना विष बढ़ाने के लिए होता है।

“सुरंगेकस्य कृतोपराकारो दोषागमाशंसनपूरणाय।

न नागनागेशपयः प्रपानं भवेत्कुभारे विषवर्द्धनाय।³⁹

कुलीन राजा का वर्णन करते हुए आचार्य श्री ने लिखा है कि, जिस प्रकार अच्छी बीन से सहित सपेरा सांपों को पकड़ लेता है⁴⁰ उसी प्रकार कुलीन राजा व्याभिचारियों के समूह को पकड़ लेता है। इसी प्रकार शेषनाग के कान (2/67) आदि तथा सर्पिणी (3/74) का भी वर्णन आचार्य श्री ने किया है।

(घ) मूषक

मूषक प्रथम वन्दनीय देवता श्री गणेश का वाहन है। किन्तु अत्यन्त दुष्ट प्रकृति का जीव है। यह कृषक परिवार को काफी नुकसान पहुँचाता है। आचार्य श्री पिशुन के अर्थ में इसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि, जिस प्रकार पिशुन-(दुर्जन) अत्यन्त दोष को उत्पन्न करने वाला होता है, उसी प्रकार मूषक (चूहा) भी सुदूषक है।

‘रन्धानुरागी पिशुनो विभाति हि वात्यन्तकालो बहुधान्यघातकः।

द्रोही तथ निष्कपटस्य विष्टपे सुदूषकोऽसौ तु यथा सुमूषकः॥⁴¹

(क) मगरमच्छ

लम्बी दाढ़ों वाला मगरमच्छ जलीय प्राणी है। आचार्य श्री इसका वर्णन ‘जिनेन्द्र’ भगवान के आगमन के समय करते हुए कहते हैं कि, जिनेन्द्र के आने पर समुद्र के भीतर मगरमच्छ आदि पराक्रमपूर्वक नृत्य करने लगे।

“जिनेन्द्रदेवस्य समागतस्य प्रमोदतो वा किल मत्स्यकाद्याः।

नृत्यन्ति सर्वेऽपि मुहुर्महुश्च समुद्रमध्येऽपि पराक्रमेण॥⁴²

(ड) भ्रमर

नवीन कलियों के सर्वस्व का पान करने वाला भ्रमर संस्कृत साहित्य के कवियों के लिए अछूता नहीं रहा है। कालिदास आदि समस्त कवियों ने भ्रमर को अपने काव्यों का विषय बनाया है। कालिदास का दुष्यन्त तो भ्रमर के साथ ईर्ष्या भाव स्थापित करते हुए शकुन्तला विरह से व्यथित होकर भ्रमर को ‘धन्य’ मानता है। रानी त्रिशला के हस्त कमलों

के संदर्भ में भ्रमर पंक्तियों का वर्णन आचार्य श्री ने किया है।⁴³ सुगन्ध के लोभी भ्रमर (3/50), भ्रमरों की चञ्चल शोभा (3/64) तथा हाथी के गडस्थल से उड़ी भ्रमर पंक्ति (6/68) का सुन्दर वर्णन आचार्य श्री ने इस महाकाव्य में किया है।

इस प्रकार आचार्य श्री ज्ञानसागर ने अपने इस महाकाव्य में प्रकृति के प्रत्येक अंग के वर्णन के साथ-साथ पशु-पक्षी एवं जीव-जन्तु का सम्यक् वर्णन कर अपने जीव प्रेम एवं प्रकृति प्रेम का अनोखा विवरण प्रस्तुत किया है।

संदर्भ :

1. आचार्य श्री ज्ञानसागर - वीरेन्द्रशर्माभ्युदय - 2/53
2. वही - वही - 4/74
3. वही - वही - 4/98
4. वही - वही - 5/22
5. कालिदास - रघुवंश महाकाव्य 1/36
6. आचार्य ज्ञानसागर - वीरेन्द्रशर्माभ्युदय महाकाव्य 4/72
7. आचार्य ज्ञानसागर - वीरेन्द्रशर्माभ्युदय - 5/28-29
8. वही - वही - 5/30/32
9. वही - वही - 5/38-43
10. वही - वही - 2/57
11. वही - वही - 3/3
12. आचार्य ज्ञानसागर - वीरेन्द्रशर्माभ्युदय महाकाव्य 4/73
13. वही - वही - 5/25-26
14. रवीन्द्रनाथ टैगोर - द हार्स
15. आचार्य ज्ञानसागर - वीरेन्द्रशर्माभ्युदय 5/33
16. वही - वही - 5/33
17. वही - वही - 5/44
18. वही - वही - 5/45
19. वही - वही - 5/46
20. बाणभट्ट - कादम्बरी - पृ. 94
21. आचार्य ज्ञानसागर - वीरेन्द्रशर्माभ्युदय 1/3
22. वही - वही - 1/35
23. वही - वही - 1/52
24. वही - वही - 1/53
25. वही - वही - 3/13
26. वही - वही - 4/68
27. वही - वही - 4/46
28. वही - वही - 1/44
29. वही - वही - 1/46
30. वही - वही - 1/52-53
31. वही - वही - 4/81
32. वही - वही - 3/26-27
33. वही - वही - 4/67
34. वही - वही - 6/46
35. वही - वही - 1/24
36. वही - वही - 3/62
37. वही - वही - 4/79
38. वही - वही - 1/41
39. वही - वही - 2/49
40. वही - वही - 1/55
41. वही - वही - 5/70
42. वही - वही - 5/70
43. वीरेन्द्रशर्माभ्युदय - आचार्यज्ञानसागर - 3/42

-परसिद्धपुर, धाता,
फतेहपुर (उ.प.)

जैन दर्शन में मन- एक तुलनात्मक अध्ययन

डॉ. नेमिचन्द्र जैन (सेवानिवृत्त प्राचार्य)

संसार में रहने वाला प्राणी शरीर ओर आत्मा सहित होता है। प्राणी उसे कहते हैं, जिसके प्राण होते हैं। जैन दर्शन में आचार्यों ने मूलतः चार प्राण माने हैं परन्तु भेद करने पर दश प्राण माने गये यथा -

तिक्कालेचदुपाणा इन्द्रिय बलमाउआणपाणो य

ववहारो सो जीवो णिच्चयणयदो दु चेतणा जस्स। द्रव्य संग्रह, गा.3

मूलतः इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये चार प्राण हैं जिसके ये प्राण होते हैं उसे व्यवहार नय से प्राणी या जीव कहते हैं। निश्चय नय से जिसमें चेतना होती है वह जीव है। इन्द्रियां पांच- मनबल, वचनबल, काय(शरीर) बल, आयु और श्वासोच्छ्वास कुल दस प्राण माने गये हैं। जिनके इनमें से कोई भी प्राण एवं आत्मा होती है तो उसे जीवित प्राणी कहा जाता है। प्राण का संबंध शरीर से होता है अतः वे सब जड़ तत्व के अन्तर्गत आते हैं। चेतना सहित प्राण धारण करने वाले को प्राणी कहा जाता है और जीवित माना जाता है। जिनका -अपना स्वतंत्र अस्तित्व एवं कार्य होता है उसे इन्द्रिय कहते हैं। आचार्य उमा स्वामी ने तत्त्वार्थ सूत्र में लिखा है-

पञ्चेन्द्रियाणि - सूत्र 15 अ.2

स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुश्रोत्राणि, सूत्र 19 अ.2

जैन दर्शन में संसारी जीव दो प्रकार के माने गये हैं। त्रस एवं स्थावर। संसारिणस्त्रस स्थावराः त.सू.अ.2सू.12। स्थावर नाम कर्म के उदय से प्राप्त हुई अवस्था विशेष को स्थावर कहते हैं। ऐसे जीव पांच प्रकार के होते हैं। पृथ्वी, अप, तेज, वायु और वनस्पति काया इन सबके मात्र एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है और प्राण चार होते हैं जैसे स्पर्शन इन्द्रिय, कायबल, आयु और श्वासोच्छ्वास।

त्रस नाम कर्म के उदय से दो इन्द्रिय से पांच इन्द्रिय तक के जीव त्रस है- द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः त.सू.अ.2-14 दो इन्द्रिय जीव के 6 प्राण होते हैं- स्पर्शन, रसना, कायबल, वचनबल, आयु और श्वासोच्छ्वास। जैसे- लट, शंख, जोख, केचुआ आदि। तीन इन्द्रिय जीव के 7 प्राण होते हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण, कायबल, वचनबल, आयु और श्वासोच्छ्वास जैसे- चींटी, चीटा आदि। चार इन्द्रिय जीव के आठ प्राण होते हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कायबल, वचनबल, आयु, श्वासोच्छ्वास जैसे मक्खी मच्छर भौरा आदि। पञ्चेन्द्रिय जीव दो प्रकार के होते हैं, एक मन सहित जैसे- गाय, भैंस, मनुष्य पक्षी आदि। (2) मन रहित- मन रहित कोई कोई तोता और सांप। मन रहित जीव के स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण, कायबल, वचनबल, आयु, श्वासोच्छ्वास नौ प्राण होते हैं। मनसहित जीव के स्पर्शन, रसना, घ्राण चक्षु, कर्ण, कायबल, वचनबल, मनबल, आयु, श्वासोच्छ्वास दस

प्राण होते हैं। सभी प्रकार के जीवों में चेतना अर्थात् आत्मा एक अतिरिक्त प्राण के रूप में होता ही है। दस प्राण सहित को संज्ञी कहते हैं। संज्ञिनः समनस्काः - त.सू.अ.2सू.24

हित-अहित की परीक्षा तथा गुणदोष का विचार और स्मरणादि करने को संज्ञा कहते हैं। हिताहित में प्रवृत्ति मन की सहायता से ही होती है। इस प्रकार जैन दर्शन में मन का अति महत्त्व है। मन और इन्द्रियों के कारण होने वाले ज्ञान को मतिज्ञान माना गया है। तदिन्द्रियानिन्द्रियानिमित्तिम्- त.सू.अ.1सू.14

इस सूत्र में मन को अनिन्द्रिय कहा गया है। इस सूत्र की व्याख्या करते हुए पूज्यपाद आचार्य ने सर्वार्थसिद्धि ग्रंथ में अनिन्द्रिय को ईषदिन्द्रियानिन्द्रियानिमित्तम कहा है।

इस प्रकार जैन दर्शन में मनबल, अनिन्द्रिय, ईषदिन्द्रिय, समनस्क नोइन्द्रिय आदि शब्दों का प्रयोग कर मन के महत्त्व को स्वीकार किया गया है। आत्मकल्याण करने के लिये मन का होना अति आवश्यक है।

अब अन्य भारतीय दर्शनों में मन की स्थिति पर तुलनात्मक विवेचन करने का प्रयास करेंगे।

वैदिक साहित्य में मन-

वैदिक साहित्य में वर्णित प्रसंगों में मन को स्वीकार तो किया गया है पर इन्द्रिय के रूप में नहीं किया गया। जैसे-

अथर्व वेद-काण्ड 21 में पाते हैं कि “इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणि मनः षष्ठानि मे हृदि ब्रह्मणा संश्लिष्टानि” अर्थात् ये पांच इन्द्रियां मन के साथ छह होकर ब्रह्मा के द्वारा हृदय में उड़ेली गई हैं। यहाँ पर मात्र पांच ही इन्द्रियों के होने का उल्लेख है। जब मन का इनसे योग होता है तब ये छः हो जाती हैं।

बाद के दार्शनिकों ने मन को इन्द्रिय में प्रतिष्ठापित करने में निम्नानुसार तर्क प्रस्तुत किये हैं - ‘मन के साथ छह होने का अर्थ मन का इन्द्रिय होना ही है। मीमांसा दर्शन में वेदों के अनुवाद में सविस्तार अख्यान मिलता है जिसमें सापेक्ष कथन वर्णित हैं कि हम वेदों में “यजमान पंचमा इडां भक्षयन्ति” अर्थात् पाँचों यज्ञ भाव सहित इडा (बुद्धि) का भक्षण करती हैं। यहाँ चार- चार प्रकार के ऋत्विक् पुजारी हैं और पाँचवां यजमान है अतः यह कभी नहीं कहा जा सकता कि “यजमान के साथ मिलकर पाँच” में यजमान भी एक (ऋत्विक्) वेद कराने वाला है। यजमान हमेशा पुजारी से भिन्न हैं। कल्पना की किसी भी सीमा में वह पुजारियों की कोटि में समाविष्ट नहीं किया जा सकता है।

इसी में एक उदाहरण उद्धृत किया जाता है “वेदानध्यापयामास महाभारत पंचमम्” अर्थात् उसने महाभारत के साथ मिलाकर पांच वेद सिखलाये। यह ज्ञात है कि महाभारत वेद नहीं है अतः “महाभारत को साथ मिलाकर पांच” कथन मात्र से महाभारत को कभी वेद नहीं कहा जा सकता है। अतः उपर्युक्त तर्क के द्वारा मन के साथ पाँच इन्द्रियां छह होने से मन को कभी इन्द्रिय नहीं समझना चाहिए।

वेदान्त परिभाषा में लिखा है, “न तावदन्तःकरणमिन्द्रियमित्यत्र मनमस्ति” कोई प्रमाण

नहीं है कि मन (अन्तःकरण) इन्द्रिय है। आगे लेखक लिखता है “मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति” (गीता 15/7) का उद्धरण देकर लिखता है मन के साथ छह होने में कोई विरोध नहीं होता मन को इन्द्रिय के अंग के रूप में नहीं समझा जाय।

कठोपनिषद् में आता है कि “इन्द्रियेभ्यः परोह्यर्थः अर्थेभ्यश्च परं मनः” कर्म इन्द्रियों के अंगों के परे है मन इन्द्रिय से परे है। ऐसा लगता है कि वेदान्त परिभाषा का लेखक अन्तःकरण को मन मानकर दूसरे रूप में मन को इन्द्रिय के रूप में मान लेता है। जबकि पाँच इन्द्रियों को बहिरिन्द्रिय तथा मन को आभ्यन्तर इन्द्रिय कहा गया है।

वेद में पाते हैं “एतस्माद् जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च” अर्थात् ईश्वर से प्राण, मन और सभी इन्द्रियों की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार वेदों में सर्वत्र मन का सभी इन्द्रियों से भिन्न होने के उल्लेख मिलते हैं।

वेदान्त सूत्र और मन

शंकराचार्य ने वेदान्तसूत्र में लिखा है, “दशमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशः आत्मशब्देनात्रान्तःकरणं परिगृह्यते” अर्थात् पुरुष में दश इन्द्रियाँ और एक आत्मा जिसे अन्तःकरण कहते हैं इस तरह ग्यारह प्राण हैं। इस प्रकार मन को इन्द्रियों से भिन्न ही किया है। वे आगे कहते हैं कि स्मृतियों में मन को इन्द्रिय ही माना है। “स्मृतीत्वेकादशेन्द्रियाणीति मनसोऽपीन्द्रियत्वम् श्रोत्रादिवत् संगृह्यते।” इस प्रकार पाँच ज्ञानेन्द्रिय तथा मन को मिलाकर ग्यारह इन्द्रियाँ प्राचीन मुनियों ने मानी हैं।

गीता और मन

गीता में मन को इन्द्रिय के रूप में स्वीकार किया है

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।

इन्द्रियाणां मनश्चावश्चस्मिभूतानामस्मि चेतना। अ.10-22 । इस प्रकार इन्द्रियों में मन की श्रेष्ठता स्वीकार की गई है।

इन्द्रियाणि स्वकीयानि वशे येन कृतानि वै।

जितं लोकत्रयं तेन किञ्चित्तत्तस्य न दुर्लभम्।

इसमें भी इन्द्रियों के साथ मन को भी वश में करने के संकेत स्पष्ट हैं।

३. सांख्यसूत्र और मन

सांख्यसूत्र में हम पाते हैं “उभयात्मक मनः” 2-26 अर्थात् मन दोनों प्रकार का होता है। ज्ञानेन्द्रिय रूप और कर्मेन्द्रिय रूप। सांख्यकारिका में यही विचार दृष्टिगोचर होता है।

उभयात्मकमत्रमनः संकल्पकमनिन्द्रियश्च साधर्भ्यात्।

गुणपरिमाणमविशेषान्नानानात्वं बाह्य भेदतः। का-27

सांख्य मन को ग्यारहवीं इन्द्रिय मानता है। ग्यारह इन्द्रियों में मन नाम का इन्द्रिय तथा ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय दोनों स्वरूप है क्योंकि चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रिय तथा वागादि कर्मेन्द्रिय दोनों की मन के आधार ही से अपने-अपने विषयों में प्रवृत्ति होती है। मन का लक्षण

संकल्प-विकल्प करना है। विशेषण विशेष्य भाव का विवेचन मन ही करता है इसलिये संकल्प रूप विशेष धर्म से मन भी एक उभयात्मक इन्द्रिय है।

गौतम दर्शन में मन

गौतम ने अपने न्याय में इन्द्रियों की गिनती करते हुए पाँच इन्द्रियों स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, और श्रवण पर ही विचार किया है शेष को छोड़ दिया है। हिन्दू न्याय दर्शन में मन को इन्द्रिय माना गया है, पर पाँच इन्द्रियों से भिन्न बताया गया है क्योंकि पाँचों इन्द्रियाँ अपने- अपने निश्चित कर्म में स्थिर हैं। आँख का काम देखना है, पर वह घ्राण का सूँघने का काम नहीं कर सकती है। पर मन अपनी सभी अवस्थाओं और गुणों में प्रत्येक कर्मों में अपने को लगा सकता है। वात्स्यायन न्याय सूत्र 1.1.8 के अपने भाष्य में इसको इस तरह उद्धृत करते हैं-

भौतिकनिन्द्रियाणि नियतविषयाणि, सुगुणानां चैषमिन्द्रिय भाव इति। मनस्तु अभौतिकं सर्व विषयञ्च नारु स्वगुणस्थेन्द्रियभाव इति। सति चेन्द्रियार्थसन्निकर्षे सन्निधिमसन्निधि ज्वास्य युगपज् ज्ञानानुत्पत्तिकारणं वक्ष्याम् इति। मनश्चेन्द्रियभावान्न वाच्यं लक्षणान्तरमिति तत्रान्तर समाचाराच्चैतु प्रत्येतव्यमिति।

उद्योतकर भी अपने न्यायवार्तिक में इस विचार का प्रतिपादन करते हैं।

मनः सर्वविषयं स्मृतिसंयोगाधारत्वात् आत्मवत्।

सुखग्राहक संयोगाधिकरणत्वात् समस्तेन्द्रियाधिष्ठातृत्वात्।

जैन दर्शन में मन

अन्य दर्शनों की तरह जैन दर्शन में भी इन्द्रियाँ पाँच मानी गई जिनके संबन्ध में आलेख के प्रारंभ में ही चर्चा की जा चुकी हैं। आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र ग्रंथ में पञ्चेन्द्रियाणि, द्विविधानि, निर्वृत्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम्, लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्। अ.2सूत्र 15,16,17,18 में स्पष्ट किया है कि इन्द्रियाँ पाँच होती हैं और द्रव्येन्द्रिय तथा भावेन्द्रिय के भेद दो प्रकार की है परन्तु मन को इन्द्रियों में सम्मिलित नहीं किया है। परन्तु “श्रुतमनिन्द्रियस्य” तःसू. 2-21 कहकर अनिन्द्रिय अर्थात् मन के कार्य स्पष्ट किये हैं।

आचार्य हेमचन्द्र ने भी प्रमाण मीमांसा में लिखा है स्पर्शरसगन्धरूप शब्दग्रहणलक्षणानि स्पर्शनरसघ्राणचक्षुःश्रोत्राणीन्द्रियाणि द्रव्यभावभेदानि।

यहाँ पर मन को न इन्द्रिय कहा है न अनिन्द्रिय, बल्कि सर्वार्थग्रहणं मनः (प्रमाण मीमांसा 1.1.25) मन सभी इन्द्रियों के अर्थ ग्रहण का काम करता है।

इसका अर्थ नहीं लगाना चाहिये कि मन का अन्तर्भाव इन्द्रिय में हो गया। जैसा कि इन्द्रियों को द्रव्येन्द्रिय तथा भावेन्द्रिय दो रूपों में विभक्त किया गया है। वैसे ही मन के भी भेद किये गये हैं यथा- द्रव्यमन और भाव मन। मनो द्विविधं द्रव्यमनोभावमनश्चेति (स. सि.अ.2/11/170/3) पुद्गलविपाकि कर्मोदियापेक्षं द्रव्यमनः (स.सि.अ.5/3/269/4)

अर्थात् द्रव्यमन पुद्गल विपाकी नाम कर्म के उदय से होता है। रूपादियुक्त होने से द्रव्यमन पुद्गल द्रव्य की पर्याय है। जो हृदय स्थान में आठ पांगुडी के कमल के आकार

वाला है तथा आंगोपांग नामकर्म के उदय से मनोवर्गणा के स्कन्ध से उत्पन्न हुआ है अतः द्रव्यमन कहते हैं। यह अत्यंत सूक्ष्म तथा इन्द्रियगोचर है। (वृहद्द्रव्यसंग्रह 12/30/6)

भावमन

वीर्यान्तराय नोऽन्द्रियावरण क्षयोपशमापेक्षया आत्मनोऽविशुद्धिर्भाव मनः। अर्थात् वीर्यान्तराय और नोऽन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम की अपेक्षा रखने वाले आत्मा की विशुद्धि को भावमन कहते हैं। (जै.सि.कोष भाग 3 पृ.381) दोनों मन कथंचित् मूर्त व पुद्गल है। इस प्रकार पूज्यपाद स्वामी ने और अकलंकदेव ने मन पर विशेषतः विचार किया है। अकलंक देव ने सूत्र 114 पर अपने तत्त्वार्थ राजवार्तिक में लिखा है।

“अनिन्द्रियं मनोऽनुदरावत्” इस भाष्य की व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं- मनोऽन्तः करणमनिन्द्रियमित्युच्यते। कथं इन्द्रियप्रतिषेधेन मन उच्यते। यथाऽनुदरा कन्या इति।

मन को अन्तःकरण या अनिन्द्रिय कहा जाता है इसका अर्थ यह नहीं कि मन इन्द्रिय नहीं है। हम लोग गर्भधारण करने की क्षमता विहीन कन्या को कहते हैं कि “यह बिना पेट की औरत है” इसका यह अर्थ नहीं कि उसके पेट नाम की चीज नहीं है बल्कि वह गर्भधारण करने से असमर्थ हैं। इसी प्रकार मन को अनिन्द्रिय कहने का मतलब यह नहीं कि वह इन्द्रिय नहीं है। मन यद्यपि इन्द्रियों की सहायता से सारे कार्य करता है। पर उसमें किसी विशेष कर्म संपन्न करने की प्रवृत्ति नहीं है। चक्षु आदि इन्द्रियों की तरह मन और अन्य इन्द्रियों की विभिन्नता इस रूप में निरूपित की जाती है। चक्षु आदि इन्द्रियों की अवस्था कर्मों के संपर्क में आकर प्रभाव ग्रहण करती है लेकिन मन वस्तुओं के निकट संपर्क में आकर प्रभाव ग्रहण नहीं करता। भाव मन तो आत्म विशुद्धि के कारण अंतरंग तक प्रभाव स्थापित करता है।

अतः जैन दर्शन में मन की अवधारणा अन्य अजैन दर्शनों की अपेक्षा भिन्न ही है। इसका संचालन समुन्नत आत्मा के रूप में होता है।

वैदिक साहित्य में मन को इन्द्रिय नहीं माना है। स्मृतियां तथा अन्य दार्शनिक मन को इन्द्रिय रूप में ही ग्रहण करते हैं। वैदिक साहित्य में इन्द्रियों की संख्या पांच हैं। स्मृति और सांख्य दर्शन में इन्द्रियाँ ग्यारह मानी गई हैं। हिन्दू न्याय दर्शन में पांच ज्ञानेन्द्रियां और एक मन को ही इन्द्रिय के रूप में स्वीकार किया गया है।

जैन दार्शनिकों का दृष्टिकोण हिन्दून्याय दर्शन द्वारा वर्णित दृष्टिकोण से कथंचित् समान है। वे मन को इन्द्रिय के रूप में मानते हैं पर अन्य इन्द्रियों एवं मन में अन्तर स्पष्ट करते हैं। क्योंकि मन को विशेष अनुपम गुण के फल स्वरूप मन, मनोबल, ईषद इन्द्रिय, अनिन्द्रिय, नोऽन्द्रिय आदि संज्ञा से अभिहित करते हैं। मन में सभी वस्तुओं, कर्मों को ग्रहण करने की क्षमता है। जबकि इन्द्रियां किसी विशेष कार्य का ही संपादन करती हैं। अतः मन आत्मकल्याण के मार्ग में सापेक्ष होने पर भी निरपेक्ष है।

-गुरुकुल रोड, खुरई
जिला सागर (म.प्र.)

अस्संजदं ण वंदे

-मूलचन्द लुहाड़िया

पूज्य आचार्य समंतभद्र स्वामी ने अपने प्रथम श्रावकाचार ग्रंथ में पारमार्थिक (सच्चे) देव शास्त्र गुरु के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन अथवा धर्म कहा है। उसके विपरीत मिथ्या देव शास्त्र गुरु की मान्यता को मिथ्या दर्शन अथवा अधर्म कहा है। उन्होंने सच्चे गुरु का लक्षण बताया है “विषयाशावशातीतो निरारंभोऽपरिग्रहः। ज्ञान-ध्यान तपोरक्तः तपस्वी स प्रशस्यते॥” जो विषयों की आशा के वश में नहीं है, आरंभ व परिग्रह से रहित हैं। जो ज्ञान ध्यान व तप में सर्वदा लीन रहते हैं वे सच्चे गुरु होते हैं। उक्त लक्षण से विपरीत आचरण करने वाले गुरु कुगुरु कहे जाते हैं। रत्नकरण्ड श्रावकाचार में सच्चे गुरु का सकारात्मक लक्षण बताने के पश्चात् आगे तीन स्थानों पर मिथ्या आचरण वाले मिथ्या गुरु की विनयादि करने को भी सम्यग्दर्शन का दोष बताया है। अमूढ दृष्टि अंग के वर्णन में मिथ्यादर्शन एवं मिथ्यादृष्टियों की मन वचन काय से प्रशंसा वंदना करना मूढदृष्टि दोष है। गुरु मूढता में लिखा है-

“संग्रंथारंभहिंसानां संसारावर्तवर्तिनाम्।

पाखंडिनां पुरस्कारो ज्ञेयो पाखंडिमोहनम्॥

आरंभ, परिग्रह एवं हिंसा कार्य में संलग्न होने वाले गुरु संसार में रूलाने वाले होते हैं उनकी पूजा आराधना सत्कारादि करना गुरु मूढता है। पुनः लिखा है कि “भयाशा स्नेहलोभाच्च कुदेवाऽगमलिङ्गिनाम्। प्रणामं विनयं चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः॥” अन्य ग्रंथों में सम्यग्दर्शन के दोषों में 6 अनायतन भी गिनाए हैं। मिथ्या देव शास्त्र गुरु और उनके उपासक अनायतन हैं, इनसे संबंध रखना सम्यग्दर्शन को दूषित करता है।

सच्चे गुरु की भक्ति नहीं करना जैसे सम्यग्दर्शन का दोष है वैसे ही मिथ्या गुरु की भक्ति करना भी सम्यग्दर्शन का दोष है। मिथ्या देव शास्त्र गुरु की भक्ति से हमारा अगृहीत मिथ्यादर्शन तो पुष्ट होता ही है साथ मिथ्यात्व की परंपरा को भी पोषण मिलता है।

दिगम्बर जैन धर्म की तीर्थंकर सदृश प्रभावना करने वाले आचार्य कुंदकुंद देव पाहुड़ में लिखते हैं।

अस्संजदं ण वंदे वच्छविहीणोवि सो ण वंदिज्ज।

दुण्हति होति समणा एगो विण संजदो होदि॥२६॥

असंयमी को नमस्कार नहीं करना चाहिए ओर जो वस्त्र रहित होकर भी असंयमी है वह भी नमस्कार के योग्य नहीं है। ये दोनों ही समान हैं, दोनों में एक भी संयमी नहीं है।

हमें विचार करना है कि संयमी कौन होते हैं। और असंयमी कौन ? मुनि महाराज पांच महाव्रत, पांच समिति, पांच इन्द्रिय विजय षडावश्यक एवं सात अन्य मूलगुणों का पालन करते हैं अतः वे संयमी होते हैं। महाव्रतों के पालन से सकल संयम होता है और अणुव्रतों के पालन से देश संयम होता है। मुनि त्रस व स्थावर दोनों प्रकार के जीवों की हिंसा के त्यागी होने से अहिंसा महाव्रत एवं संपूर्ण परिग्रह का त्याग करने से अपरिग्रह महाव्रत के धारक होते हैं। यदि मुनिराज मोबाइल, फोन, लैपटॉप आदि वस्तुएँ रखते हैं और उनका तथा कूलर पंखा आदि का प्रयोग करते हैं तो वे असंयमी हो जाते हैं। मोबाइल, फोन, लैपटॉप, कूलर आदि उपकरण नहीं, परिग्रह है। उपकरण संयम की साधना में आत्मा का उपकार करने वाले केवल तीन ही होते हैं। पीछी, कमंडलु और शास्त्र। भगवती आराधना में मुनि के उपकरणों के बारे में लिखा है-

“संजम साधय मेत्ते उवधिं मोत्तूणं सेसयं उवधिं।

पज्जहदि विसुद्ध लेस्सो साधू मुत्तिं गवेसतो॥१६४॥” भगवती आराधना॥

मुक्ति को खोजने वाला विशुद्ध लेश्या से युक्त साधु संयम के साधन मात्र परिग्रह को छोड़कर शेष परिग्रह को प्रकर्ष अर्थात् मन वचन काय से त्याग देता है।

आचार्य कुंदकुंद ने असंयमी अथवा संयम को दूषित करने वाली निरंकुश चर्या अपनाने वाले मुनियों की वंदना नहीं करने का निर्देश इसलिए दिया है कि हमारे द्वारा ऐसे मुनियों की वंदना करने से उन मुनियों को उस शिथिलाचरण में प्रोत्साहन मिलता है और ऐसे धीरे- धीरे उनका शिथिलाचरण परंपरा बन जाता है। ऐसे ही दिगम्बर संघ में से पृथक् होकर शिथिलाचार का आश्रय लेने वाले साधुओं ने श्वेताम्बर संघ की स्थापना कर दी और उसके शिथिलाचार के समर्थन में आगम की भी रचना कर दी। **कालांतर में यापनीय संघ भट्टारक संप्रदाय आदि भी शिथिलाचारी साधुओं की ही उपज हैं।** आचार्य कुंदकुंद के समय में भी शिथिलाचारी मुनि थे और उन्होंने अपने पाहुड़ ग्रंथों में ऐसे कुमुनियों की भरपूर भर्त्सना की है।

कुछ लोग यह तर्क देते हैं कि शास्त्र के स्थान पर लेपटॉप का उपयोग किए जाने में क्या हानि है, बल्कि लाभ है क्योंकि शास्त्र सुरक्षित रहते हैं और तुरन्त संदर्भ प्राप्त हो जाता है। **लगता है ऐसा तर्क देने वालों को आगम का ज्ञान नहीं है।** मुनिराज उपेक्ष दे सकते हैं किंतु स्वयं लेपटॉप रखकर उसका उपयोग नहीं कर सकते। उसके उपयोग में अग्निकायिक स्थावर जीवों की हिंसा होती है जिसके मुनिराज पूर्णतः त्यागी हैं। लेपटॉप तथा मोबाइल का संचालन आरंभ है। दूसरा वह कीमती वस्तु परिग्रह है जिसके मुनिराज त्यागी हैं। आ. कुंदकुंद ने सूत्र प्राभृत की गाथा 17 में लिखा है मुनि महाराज बाल के अग्रभाग की अणी के बराबर भी परिग्रह का ग्रहण नहीं करते हैं। अतः उन्हें योग्य श्रावक के द्वारा दिये हुए अन्न का हस्त रूप पात्र में भोजन करना चाहिए और वह भी एक ही स्थान पर। आगे गाथा 18 में कहा है यदि नग्नमुद्रा के धारक तिलतुषमात्र परिग्रह भी अपने हाथों में ग्रहण करते हैं तो निगोद जाते हैं।

“बालगाकोडिमित्त परिगहगहणं ण होई साहूणं।

भुंजेइ पापिपत्ते दिण्णण्णं इक्कठाणम्मि॥१७॥”

‘जहजायरूवसरिसो तिलतुसमित्तं ण गिहदि हत्थेसु।

जइ लेह अप्पबहुयं तत्तो पुण जाई णिग्गोदं॥१८॥ सूत्रपाहुड

इस लेपटॉप की रक्षा की, खराब होने पर सुधारने की चिंता आकुलता मन को संतापित करेगी व मुनिराज निर्विकल्प कैसे रह सकते हैं? मोबाईल, फोन भी स्पष्ट परिग्रह है तथा इसके उपयोग में भी स्थावर हिंसा है। इसके अतिरिक्त इन कीमती उपकरणों के लिए श्रावकों से याचना करने का दोष है। क्षेत्र मर्यादा का भंग है व मोह का प्रतीक है। कूलर के प्रयोग से स्पर्शन इन्द्रिय विजय मूल गुण का भंग है और परीषह का सावद्य प्रतिकार करने से परीषह सहन गुण भी नहीं रहता है। अपरिग्रह महाव्रत का भी भंग होता है। इन भौतिक उपकरणों का प्रयोग आरंभ है और इनका संग्रह परिग्रह है। आरंभ परिग्रह के दोष, मूलगुणों के भंग का दोष, अहिंसा महाव्रत एवं अपरिग्रह महाव्रत के भंग का दोष होने से इन भौतिक उपकरणों का प्रयोग करने वाले सच्चे गुरु नहीं हो सकते। संयम का निघात होने से वे असंयमी हो गए। अतः आचार्य कुंदकुंद की आज्ञा के अनुसार ऐसे असंयमी मुनियों को प्रणाम एवं उनका विनय नहीं करना चाहिए।

चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शांति सागर जी महाराज ने संपूर्ण आरंभ परिग्रह के त्याग का उच्च आदर्श स्थापित किया था। बाह्य दिगम्बर भेष धारण करते हुए यदि लेपटाप, कूलर, मोबाईल, फोन आदि का संग्रह एवं उपयोग किया जाए तो यह वस्त्र पात्र के संग्रह उपयोग से कम दोष पूर्ण नहीं कहा जा सकता।

अभी 8 फरवरी, 2009 में आचार्य सुकुमालनंदि जी ने अहमदाबाद में एक क्षुल्लक जी को मुनि दीक्षा प्रदान की थी। उन्होंने उस समय मुनि के मूलगुणों के बारे में समझाया उसका जो वर्णन वर्धमान संदेश महावीर जयंती विशेषांक के पृष्ठ 23 पर छपा है वह है “आचार्य श्री ने 28 मूलगुण का विस्तृत स्वरूप समझाते हुए नवीन मुनि को रुपया पैसा, मोबाइल आदि भौतिक उपकरणों से दूर रहने व निरंतर स्वाध्याय में तल्लीन हाने का उपदेश दिया।” जो मुनि महाराज शेविंग के लिए 2-4 रूपए की ब्लेड का भी उपयोग नहीं करके हाथ से बाल उखाड़ते हैं वे कैसे कीमती उपकरण रखेंगे और प्रयोग करेंगे ? पूर्ण अपरिग्रहत्व, निरारंभत्व एवं अहिंसा दिगम्बर जैन मुनि के प्राणवत् हैं। भौतिक प्राणों के जाने पर भी मुनिराज अहिंसा व अपरिग्रह महाव्रत का भंग नहीं करते।

मेरा उद्देश्य किसी व्यक्ति विशेष की आलोचना करना नहीं है। मैं तो केवल आगम की बात बताना चाहता हूँ। मेरा तो सभी मुनिराजों से करबद्ध निवेदन है कि वे अर्हत भगवान के समान इस साधु परमेष्ठीपद की गरिमा बनाए रखें और इस की अवमानना नहीं करें। मुझे अत्यधिक वेदना है कि आज मुनिराजों के आचरण में जो ह्रास हुआ है उसके लिए शिथिलाचार शब्द भी छोटा पड़ता है। वस्तुतः इस मुनि के चारित्रिक शैथिल्य के लिए हम श्रावक भी उत्तरदायी हैं। दिगम्बर मुनि संस्था पर यह संकट आया है। अधिक दुःख तो

तब होता है जब मूलगुणों को खंडित करते हुए भी कतिपय साधु मन में खेद का अनुभव नहीं करते हैं बल्कि उस दोष को उचित सिद्ध करने का दुष्प्रयास करते रहते हैं। बहुत से व्यक्ति मुनियों के शैथिल्य की पुष्टि में यह कहते हैं कि चतुर्थ काल के चरणानुयोग के नियम पंचम काल के मुनियों पर लागू नहीं होते हैं। वस्तुतः मुनियों के मूल गुण शाश्वत हैं। काल के अंतर से मूल गुणों में कोई अंतर नहीं आता। पंचम काल के अंत तक मूल गुणों का पालन करने वाले मुनिराज रहेंगे। अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर की दिव्यध्वनि में जो चरणानुयोग की व्यवस्थाएं निरूपित हुईं उन्हें ही पश्चाद्वर्ती आचार्यों ने आगम में ग्रहण किया। षट्खण्डागम, अष्टपाहुड, प्रवचनसार, तत्त्वार्थ सूत्र, मूलाचार, भगवती आराधना आदि ग्रंथों की रचना पंचम काल में ही हुई और उन्होंने मुनियों के आचार संहिता का निरूपण किया, वह तो पंचम काल के मुनियों के लिए ही निरूपण किया है। पंचम काल में प्रारंभ से अब तक बराबर आगमानुकूल मूल गुणों का पालन करने वाले महामुनिराज रहते आए हैं और आज भी हैं। अभी पंचम काल के लगभग 18000 वर्ष बाकी हैं और तब तक भाव लिंगी मुनिराजों का अस्तित्व रहेगा। हम आशा करते हैं मुनि महाराज और श्रावक दोनों मिलकर आगमानुकूल निर्दोष मुनि चर्या का संरक्षण कर दिगम्बर जैन मुनि धर्म पर आए और आगे आने वाले संकट को दूर करने में पूर्ण दृढ़ता एवं संकल्प के साथ प्रयत्नशील बनें रहेंगे। इस विषम काल में वे वीतरागी महामुनिराज अपने निर्दोष संयम और आत्मानुभूति के द्वारा बिना कहे ही अपनी चर्या से अहिंसा अपरिग्रह एवं अनेकांत के सार्वकालिक, सर्वोदयी सिद्धांतों की जन- जन को शिक्षा देते रहेंगे।

-लुहाड़िया सदन, जयपुर रोड,
मदनगंज- किशनगढ़ - 305801
जिला अजमेर (राजस्थान)
फोन- 01463- 24308, 245638

पातञ्जलयोग एवं जैनयोग समीक्षा

-डॉ. अरुणिमा

योगशास्त्र भारतीय आस्तिक बड़दर्शनों में से एक ऐसा व्यावहारिक दर्शन है, जो सोपान रूप से मनुष्य को कैवल्य की ओर अग्रसर करता है। योगदर्शन की ही भाँति जैनदर्शन भी निर्वाण के लिए प्रेरित करता है। पातञ्जल दर्शन व जैनदर्शन शाब्दिक व पारिभाषिक दृष्टियों से पूर्ण समता न रखते हुए भी साधना पक्ष में समान प्रतीत होते हैं। महर्षि पातञ्जलिकृत योगदर्शन व जैनाचार्यों के योगशास्त्र में सैद्धान्तिक भिन्नता होते हुए भी जो समता दृष्टिगोचर होती है उसी समता का प्रतिपादन प्रस्तुत पत्र का विवेच्य विषय है।

महर्षि पतञ्जलिकृत योगदर्शन में 'योगनिश्चितवृत्तिर्निरोधः' कहकर चित्त की वृत्तियों का निरोध करना योग कहा है। जैनाचार्य हरिभद्र ने प्राकृत में रचित 'योगविंशिका' नामक अपनी पुस्तक में योग को इस प्रकार परिभाषित किया है-

‘मोक्खेण जोयणाओ जोगो सव्वो विधम्मवावरो।

परिसुद्धो विन्नेओ ठाणाइगओ विसेसेणं॥

संस्कृत छाया-

मोक्षेण योजनातो योगः सर्वोपि धर्मव्यापारः।

परिशुद्धो विज्ञेयः स्थानादिगतो विशेषेण॥

आचार्य हरिभद्र के अनुसार वह सारा परिशुद्ध कर्तव्य व्यापार जो मनुष्य को मोक्ष से जोड़ता है, योग कहलाता है। आचार्य हेमचन्द्र ने बारह प्रकाशों में विभाजित अपने योगशास्त्र में योग को परिभाषित करते हुए लिखा है-

‘चतुर्वर्तोऽग्रणी मोक्षो योगस्तस्य च कारणम्।

ज्ञान-श्रद्धान-चारित्ररूपं रत्नत्रयं च सः॥²

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष- इन पुरुषार्थ चतुष्टय में मोक्ष मुख्य पुरुषार्थ है। उस मोक्ष का कारण या साधकतम करण योग है। सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन तथा सम्यक् चारित्र्य- ये तीन रत्न ही योग नाम से अभिहित हैं। जैनाचार्य उमास्वाति ने मन, वचन, व शरीर की क्रियाओं से उत्पन्न आत्मप्रदेशों का कम्पन, जिससे कर्म परमाणुओं का बन्ध होता है, उसे योग कहा है।³ पातञ्जल योगदर्शन वृत्ति में उपाध्याय यशोविजय ने योग की परिभाषा इस प्रकार दी है- ‘समितिगुप्तिधारणं धर्मव्यापारपारत्वमेव योगत्वम्।’⁴ समिति=आवश्यक क्रियाओं में सावधानीपूर्वक प्रवृत्ति कहा है। गुप्ति=शारीरिक, मानसिक व वाचिक क्रियाओं व निग्रह गुप्ति कहलाता है। इस प्रकार मन, वचन, शरीरादि को नियंत्रित करने वाला धर्म व्यापार ही योग है। समिति सत्क्रिया की प्रवृत्ति तथा गुप्ति अतिक्रिया का निषेध है। इनके समन्वित रूप को ‘प्रवचनमात्र’ कहा जाता है।⁵ व्यावहारिक दृष्टिकोण से इन्हें महर्षि पतञ्जलिकृत योगदर्शन में उल्लिखित यम-नियमों के सदृश कहा जा सकता है। उत्तरार्ध सूत्र में छह

करणीय कर्मों 'षट्कर्मों' का विधान है- सामयिक, चतुर्विंशति स्तव, वन्दन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग एवं प्रत्याख्यान।⁶

1. सामायिक - पापमूलक प्रवृत्तियों की निवृत्ति एवं साम्यता की स्थिति।
2. चतुर्विंशतिस्तव - चौबीस तीर्थकरों की स्तुति।
3. वन्दन - गुरुजनों तथा संतों के लिए आदर प्रकट करना।
4. प्रतिक्रमण - सदोष आचार का प्रायश्चित्त।
5. कायोत्सर्ग - शरीर का त्याग - विसर्जन। पर जीते जी शरीर का त्याग कैसे संभव है? यहाँ शरीर के त्याग का अर्थ है- शरीर की चंचलता का विसर्जन, ध्यान करते समय शरीर का शिथिलीकरण, शारीरिक ममत्व का विसर्जन इत्यादि। कायोत्सर्ग के प्रसंग में जैन आगमों में विशेष प्रतिमाओं का उल्लेख है। प्रतिमा अभ्यास की एक विशेष दशा है। भद्रा प्रतिमा, महाभद्रा प्रतिमा, सर्वतोभद्रा प्रतिमा तथा महाप्रतिमा कायोत्सर्ग की इन विशेष दशाओं में स्थिति होकर भगवान् महावीर ने ध्यान किया था, जिनका आगमों में उल्लेख है। यद्यपि यह परंपरा प्रायः लुप्त होती प्रतीत होती है पुनरपि यह पातञ्जलयोग दर्शन के आसन योग से भृशं साम्य रखती है।

6. प्रत्याख्यान - पापकर्मों से निवृत्ति, आहारादि का कुछ समय के लिए त्याग।

ये षट्कर्म जैन परंपरा में ठीक उसी प्रकार निर्दिष्ट हैं मोनो ये सार्वभौम महाव्रत ही हों। मुख्यतया जैन धर्म आचार पर आधारित है। 'आचारः परमो धर्माः' का सिद्धान्त जैनधर्म में सर्वोच्च सिद्धांत है।

महर्षि पतञ्जलि ने अपने योगदर्शन में अष्टांगयोग का विधान किया है। जैन परंपरा में भी कुछ ऐसे तत्त्व हैं जिनकी समता अष्टांगयोग से की जा सकती है।

यम	महाव्रत
नियम	योगसंग्रह
आसन	स्थान, कायक्लेश
प्राणायाम	भावप्राणायाम
प्रत्याहार	प्रतिसंलीनता
धारणा	धारणा
ध्यान	ध्यान
समाधि	समाधि

स्थानांग, समवायांग, आवश्यक, आवश्यक निर्युक्ति में महाव्रतों के सम्बन्ध में आवश्यक निर्देश प्राप्त होते हैं। महाव्रतों के वही पांच नाम हैं जो यमों के हैं अर्थात् जैन परंपरा में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह यो पांचों यम ही पांच महाव्रत कहे जाते हैं। परिपालन की दृष्टि से इन्हें दो नाम दिए गए हैं- महाव्रत और अणुव्रत। अहिंसा आदि का निरपवाद रूप में संपूर्ण परिपालन महाव्रत है, जिसका अनुसरण श्रमणों के लिए अनिवार्य है। जब उन्हीं का परिपालन कुछ सीमाओं या अपवादों के साथ किया जाता है

तो वे महाव्रत ही अणुव्रत कहे जाते हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने योगशास्त्र के प्रथम द्वितीय तथा तृतीय प्रकाश में इन महाव्रतों का विस्तृत वर्णन किया है। ऐसी किंवदन्ती है कि आचार्य हेमचन्द्र ने गुर्जरेश्वर कुमारपाल के लिए योगशास्त्र की रचना की थी इसीलिए उन्होंने गृहस्थ जीवन को विशेषतः दृष्टि से रखकर आत्म विकास हेतु परिपालनीय अणुव्रतों का भी बड़ा ही मार्मिक विश्लेषण किया। सापवाद और निरपवाद व्रत- परंपरा तथा पतञ्जलि द्वारा प्रतिपादित यमों के तारतम्यता रूप पर विशेषः ऊहापोह किया जाना अपेक्षित है। पतञ्जलि भी यमों को महाव्रत शब्द से अभिहित करते हैं जो कि जैन परंपरा से तुलनीय है। योगसूत्र के व्यासभाष्य में इसका तलस्पर्शी विवेचन हुआ है।

यमों के पश्चात् नियम आते हैं। समवायांग सूत्र के बत्तीसवें समवाय में योगसंग्रह के नाम से बत्तीस नियमों का उल्लेख मिलता है जबकि पातञ्जल नियमों की संख्या पाँच ही है। योगसंग्रह में एक ही बात को विस्तार से अनेक शब्दों में कहा गया है। इसका कारण यह है कि जैन आगमों में दो प्रकार के अध्येता बहुत थोड़े में बहुत कुछ समझ लेना चाहते हैं और विस्तार-रुचि अध्येता प्रत्येक बात को विस्तार के साथ सुनना समझना चाहते हैं। जैन परंपरा में नियमों की यह बत्तीस संख्या विस्तार रुचि वाले अध्येताओं के लिए समुचित प्रतीत होती है। योगसंग्रह के ये बत्तीस भेद विस्तार-रुचि सापेक्ष निरूपण शैली के अनुपम उदाहरण हैं।

आसन के संबन्ध में हेमचन्द्र ने एक विशेष बात कही है- 'जिस-जिस आसन के प्रयोग से साधक का मन स्थिर बने, उसी आसन का ध्यान के समय उपयोग किया जाना चाहिए। पातञ्जल योगदर्शन में भी 'स्थिरसुखमासनम्' इसी ओर संकेत किया है।

जैन साधना पद्धति में प्राणायाम का उल्लेख तो मिलता है किन्तु उसे मुक्ति की साधना में आवश्यक नहीं माना गया है।⁸ आवश्यकनिर्युक्ति में आचार्य भद्रबाहु ने प्राणायाम का निषेध किया है, क्योंकि प्राणायाम से वायुकाय जीवों की हिंसा की संभावना रहती है।⁹ इसी तरह आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र¹⁰ में तथा उपाध्याय यशोविजय जी ने भी 'जैनदृष्ट्या परीक्षितं पातञ्जलि योगदर्शनम्'¹¹ नामक ग्रंथ में प्राणायाम को मुक्ति की साधना के रूप में अस्वीकार किया है। उनके अनुसार प्राणायाम से मन शांत नहीं होता, अपितु विलुप्त हो जाता है। प्राणायाम की शारीरिक दृष्टि से उपयोगिता है मानसिक दृष्टि से नहीं। दूसरी ओर 'मन्दं मन्दं क्षिपेद् वायुं मन्दं मन्दं विनिक्षिपेत्' कहकर आचार्य सोमदेव ने 'यशस्तिलक चम्पू'¹² में प्राणायाम की महत्ता को स्वीकार किया है। आचार्य भद्रबाहु ने दैवसिक कायोत्सर्ग में 100 उच्छ्वास, रात्रिक कायोत्सर्ग में 50, पाक्षिक में 300, चातुर्मासिक में 500 और सांवत्सरिक कायोत्सर्ग में 1008 उच्छ्वास का विधान किया है।¹³ श्वासोच्छ्वास की सूक्ष्म प्रक्रियाओं की जैन साहित्य में जो स्वीकृति है। इस दृष्टि से जैन परंपरा में भी प्राणायाम स्वीकार किया गया है। जैन साधना जो कायोत्सर्ग की साधना है वह प्राणायाम से युक्त है। जैन आगमों में दृष्टिवाद जो बारहवाँ अंग है, उसमें एक विभाग पूर्व है। पूर्व का बारहवाँ विभाग प्राणायुपूर्व है। कषायपाहुड¹⁴ में उस पूर्व का नाम प्राणवायु पूर्व है जिसमें प्राण और अपान का विभाग विस्तार से निरूपित है। प्राणायु या प्राणवायुपूर्व के विषय वर्णन

से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन मनीषी प्राणायाम से सम्यक् प्रकार से परिचित थे।

महर्षि पतञ्जलि ने प्रत्याहार की व्याख्या करते हुए लिखा है- 'अपने विषयों के संबन्ध से रहित होने पर इन्द्रियों का चित्त के स्वरूप में तदाकर- सा हो जाना प्रत्याहार है।'¹⁵ जैन परंपरा में निरूपित प्रतिसंलीनता को प्रत्याहार के समकक्ष रखा जा सकता है। प्रतिसंलीनता जैन वाङ्मय का अपना पारिभाषिक शब्द है इसका अर्थ है- अशुभ प्रवृत्तियों से शरीर, इन्द्रिय तथा मन का संकोच करना।

धारणा, ध्यान, समाधि- ये योग के महत्त्वपूर्ण अंग हैं। पातञ्जल व जैन- दोनों योग परंपराओं में ये नाम समान रूप में प्राप्त होते हैं। धारणा के अर्थ में एकाग्रमनः सन्निवेशना शब्द भी प्रयुक्त हुआ है। नाभि, चित्त, नासिकाग्र, नेत्र, ललाट आदि धारणा के स्थलों का वर्णन प्राप्त होता है।¹⁶ इनके अतिरिक्त तालु, कपाल, मुख, भृकुटी, कान आदि को भी धारणा के लिए उपयुक्त बताया गया है।¹⁷ महर्षि पतञ्जलि ने शरीर के बाहर आकाश, सूर्य, चन्द्र आदि शरीर के भीतर नाभिचक्र, हृत्कमल आदि में से किसी एक देश में चित्तवृत्ति लगाने को धारणा¹⁸ कहा है। ध्येय वस्तु में वृत्ति की एकतानता अर्थात् उसी वस्तु में चित्त का एकाग्र हो जाना ध्यान¹⁹ है। जब केवल ध्येय मात्र की ही प्रतीति हो तथा चित्त का अपना स्वरूप शून्य जैसा हो जाए, तब वह ध्यान समाधि²⁰ हो जाता है। योग की परिभाषा के रूप में भी आचार्य ध्यान को ही योग कहते हैं। तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है- 'उत्तम संहनन का अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त एकाग्र चिन्ता निरोध ध्यान है।'²¹ यहाँ एकाग्रचिन्ता एवं चिन्तानिरोध को प्रमुख माना है। आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार छन्दस्थ की मानसिक स्थिरता और केवली की कायिक स्थिरता ध्यान है।²² ध्यान के चार भेद किए गए हैं- आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान²³ आर्त एवं रौद्र ध्यान को अप्रशस्त, धर्म को प्रशस्त तथा शुक्लध्यान को शुद्ध कहा गया है।²⁴ आर्त एवं रौद्रध्यान संसार के हेतु तथा शेष दो को मोक्ष का हेतु कहा गया है।²⁵ शुक्लध्यान के चार भेद किए गए हैं- (1) पृथक्त्ववितर्कसविचार (2) एकत्ववितर्कनिर्विचार (3) सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति (4) व्युपरतक्रियानिवृत्ति। महर्षि पतञ्जलि ने योगसूत्र में सवितर्कसमापत्ति²⁶ का जो वर्णन किया है, वह पृथक्त्ववितर्कसविचार शुक्ल ध्यान से तुलनीय है। वहाँ शब्द, अर्थ और ज्ञान इन तीनों के विकल्पों से संकीर्ण मिलित समापत्ति-समाधि को सवितर्क-समापत्ति कहा है। महर्षि पतञ्जलि द्वारा वर्णित निर्वितर्क-समापत्ति एकत्वविचारवितर्क से तुलनीय है। पतञ्जलि लिखते हैं कि जब स्मृति परीशुद्ध हो जाती है अर्थात् शब्द और प्रतीति की स्मृति लुप्त हो जाती है, चित्तवृत्ति केवल अर्थमात्र का, ध्येय मात्र का निर्भास कराने वाली, ध्येयमात्र के स्वरूप को प्रत्यक्ष कराने वाली हो, स्वयं स्वरूप शून्य की तरह बन जाती है, तब वैसी स्थिति निर्वितर्क समापत्ति के नाम से अभिहित होती है।²⁷ सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाति-साधक जब शारीरिक, वाचिक तथा मानसिक क्रियाओं का पूर्णतः निरोध करता है तथा स्थूलकाय योग का निरोध करके सूक्ष्मकाय योग (श्रवासोच्छ्वास की क्रिया) में शेष रहता है। व्युपरतक्रियानिवृत्ति ध्यान से सूक्ष्मक्रिया भी निरुद्ध हो जाती है अतः इसे अविच्छिन्न क्रिया कहते हैं। इसके पश्चात् विदेह मुक्ति से पतन की संभावना नहीं रहती। इस ध्यान की स्थिति में आत्मा पूर्णतः स्थिर

हो जाता है। समाधि-उत्तराध्ययन, आचारांग आदि जैनागमों में समाधि शब्द का प्रयोग बहुत बार हुआ है। किन्तु वह भी ध्यान की चरम अवस्था ही है। कुछ सीमा तक समाधि व शुक्लध्यान में साम्य भी है। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने योगशास्त्र²⁸ में 'पृथक्त्व-श्रुत-सविचार' तथा 'एकत्व-श्रुत-अविचार' इन दो स्थितियों का वर्णन किया है। ये पातञ्जल सवितर्क समापत्ति द्वारा तुलनीय है। जहां ध्येय पदार्थ सूक्ष्म हों वहां उक्त दोनों की संज्ञा सविचार और निर्विचार समाधि है।²⁹ ऐसा पतञ्जलि कहते हैं। निर्विचार-समाधि में अत्यन्त वैशद्य-नैर्मल्य रहता है, अतः योगी को उसमें अध्यात्म प्रसाद-आत्म-उल्लास प्राप्त होता है। उस समय योगी की प्रज्ञा ऋतम्भरा होती है। उस ऋतम्भरा प्रज्ञा से उत्पन्न संस्कारों के प्रभाव से अन्य संस्कारों में भी आसक्ति न रहने के कारण उनका भी निरोध हो जाता है। इस प्रकार समस्त संस्कार निरुद्ध हो जाते हैं। फलतः संसार के बीज का सर्वथा अभाव हो जाने से निर्बीज-समाधि दशा प्राप्त होती है। जैन दर्शन के अनुसार आत्मा पर जो कर्मावरण छाये हुए हैं, उन्हीं ने उसका शुद्ध स्वरूप आवृत कर रखा है। ज्यों- ज्यों उन आवरणों का विलय होता जाएगा, वह आत्मा स्वाभाविक दशा प्राप्त करती जाएगी। आवरणों के अपचय के नाश के जैन दर्शन में तीन क्रम हैं- क्षय, उपशम और क्षयोपशम। क्षय- किसी कार्मिक आवरण का सर्वथा निर्मल या नष्ट हो जाना। उपशम- अवधि-विशेष के लिए मिट जाना या शांत हो जाना उपशम। क्षयोपशम-कर्म की कतिपय प्रवृत्तियों का सर्वथा क्षीण हो जाना और कतिपय प्रकृतियों का समय विशेष के लिए शांत हो जाना। कर्मों के उपशम से जो समाधि अवस्था प्राप्त होती है, वह सबीज समाधि से तुलनीय है, क्योंकि वहां कर्म-बीज का सर्वथा उच्छेद नहीं हुआ है, केवल उपशम हुआ है। कार्मिक आवरणों के क्षय से जो समाधि-अवस्था प्राप्त होती है, वह निर्बीज समाधि से तुलनीय है; क्योंकि वहाँ कर्म-बीज संपूर्णतः दग्ध हो जाता है।

इस प्रकार उक्त विषय के अनुशीलन से इतना अवश्य ज्ञात होता है कि इन दोनों परंपराओं में काफी सामञ्जस्य है। शाब्दिक व पारिभाषिक वैविध्य के रहते हुए भी एक समता की सी प्रतीति होती है। वास्तव में कहा जा सकता है कि पातञ्जल योग तथा जैनयोग में अनेक ऐसे पहलू हैं जिन पर गहराई से तुलनात्मक अध्ययन अपेक्षित है।

संदर्भ

1. योगसूत्र 1/2
2. योगशास्त्र 1/15
3. तत्त्वार्थ सूत्र-61, स्थानांग सूत्र- 3.1.124
4. पातञ्जल योगदर्शन वृत्ति- उपाध्याय यशोविजय
5. तत्त्वार्थसूत्र 24.1
6. उत्तरा. सूत्र - 29.8-13
7. योगसूत्र - 2/46

8. योगसूत्र 2.9 तथा उपाध्याय अमरमुनि, योगशास्त्र-एक परिशीलन, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, 1963, पृ.41
9. आवश्यक निर्युक्ति तथा आवश्यकचूर्णि, गाथा 1524
10. योगशास्त्र 6.4, 5.5
11. 'जैनदृष्ट्वा परीक्षितं पातंजलि योगदर्शनम्' 2.55, उद्धृत अध्यात्मसार, उपाध्याय यशोविजय।
12. अशस्तिलक चम्पू- सोमदेव 8.256
13. दशवैकालिकसूत्र, मधुकर मुनि, पृ. 57
14. कषायपाहुड, अनु. पं. हीरालाल जैन सिद्धांतशास्त्री, श्री वीरशासन संघ कलकत्ता, 1955, 1.2
15. स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः। योगसूत्र 2.54
16. ज्ञानार्णव 1467.68
17. योगशास्त्र 6.7
18. देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। योगसूत्र 3.1
19. तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। वही, 3.2
20. तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः। वही 3.3
21. तत्त्वार्थसूत्र- उमास्वाति 29.25
22. योगशास्त्र 4.115
23. ध्यानशास्त्र-5, आदिपुराण-21.27-29, तत्त्वानुशासन-34
24. ज्ञानार्णव- शुभचन्द्र 3.28
25. परे मोक्षहेतु। उमास्वाति त.सं.- 9.30
26. तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः। योगसूत्र 1.42
27. समृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का। योगसूत्र 1.43
28. ज्ञेयं नानात्वश्रुतविचारमैक्य- श्रुताविचारं च। सूक्ष्म-क्रियामुत्सन्न-क्रियमिति भैदेश्चतुर्धा तत्। योगशास्त्र 11.5
29. एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता। वही 1.44

- प्रवक्ता, एस. डी. कालेज
मुजफ्फरनगर (उत्तरप्रदेश)

Relevance of Anekant in Modern Times

- Prof. Ramjee Singh

Modern times is an era of crisis in the realm of human civilisation. The reason is that we give so much attention to short-range and local problems that long-range and global problems continue to be neglected. Secondly, life has become more intricately interdependent and complex. So simpler solutions no longer suffice. A world civilisation is fast emerging and we cannot afford to solve our problems with a parochial temper and sectarian outlook. For human survival, we need human cooperation on a planetary scale able to deal with rapidly increasing complexities. The critical problems are so complex that we need a philosophy equally complex to grapple with them. One dimensional man in a multidimensional world-crisis will be out of joint. Interexistence is the positive option for mankind. Either there is organic growth of mankind or there is organic destruction of human civilisation. Not only is it too late in history to convert all of mankind to Christianity, or Islam or Jainism (or to Communism, or Capitalism or any other isms), but also to some metaphysical principles which we have been cherishing since antiquity. The growth of scientific knowledge and outlook has destroyed most of our false dogmas and superstitions but it has failed to provide us knowledge that could sublimate our animal and selfish nature. Animality has been dominating our individual as well as social behaviour. Hence, our life has become full of tensions, turmoils and disorders. Therefore, although we are outwardly pleading for world-peace and non-violence, yet we have been preparing for war. This is the crisis of modern time that we aspire for peace but prepare for the formidable funeral procession of mankind.

Humanity is tottering today upon the brink of self-annihilation for lack of understanding, which includes understanding our selves and understanding each other. It is a time of tragic importance for the world because even before the shadows cast by one war is lifted fully, the skies become overcast with dark threatening clouds. Hence, at no period of human history man was in need of sound philosophy than today. As war begins in the minds of men, it is in the minds of men that the defence of peace should be built. Today, one person does not agree with me, he is wicked, if a country does not agree with my country, it is wicked as if

there is no half-way, no neutrality. So ultimately it is our warring ideologies that are at the root of world-tension. But ideologies or philosophies depend upon our-way of philosophizing. Hence Locke rightly felt that epistemological problems are prior to all others. An epistemological reorientation will influence metaphysical grounding which in turn will determine our socio-ethico-political views any solution can ultimately be achieved through knowledge free from confusion and prejudices.

Since things have many characters, they are the abject of all sided knowledge. The knowledge which determines the full meaning of an object through the employment of one-sided knowledge is partial knowledge. Hence we should discard all absolute judgements, otherwise truth would be violated. Reality has got innumerable characteristics. A valid knowledge is defined as that which gives us knowledge of a thing in its various aspects. All expressions are somehow real. All objects have got innumerable characters, hence all things are multi-dimensional or Anekantic.

The world is the store-house of great chaos in thought. All the confusion of thought which is prevailing in the world is the outcome of inexhaustive research and acceptance of a part for the whole. Almost all our disputes only betray the pig-headedness of the blind men who spoke differently about an elephant. The outstanding personalities like Sri Aurobindo, Raman Maharshi etc. spoke to us, in a world over organised by ideological fanaticism, that truth is not exclusive or sectarian. Every idol however noble it may seem is ultimately a Moloch that devours its worshippers. It is fatal to treat the relative and the home-made as though it were the Absolute. It is only intellectual clarity which will resolve all conflict and rivalry. All dogmatism owes its genesis to the partiality of outlook and fondness for a line of thinking to which a person has accustomed himself. This is imperialism and aggressiveness in thought. When the one party or another thinks himself the sole possessor of absolute truth. it becomes natural that he should think his neighbours absolutely in the clutches of Error or the Devil. Today, one man or one country fight with the other because their views vary. Views are bound to vary because we are guided by different conditions, thought and attitudes,. Hence, it is wrong to think oneself right and rest others wrong. Here Syadvad- Anekantvada represents the highest form of catholicism coupled wonderfully with extreme conservatism, a most genuine and yet highly dignified compromise better than which we cannot imagine.

We must realise that there is other's view-point as our own. This can happen when one puts oneself into another's shoes or to get under the skin of others. This is called sympathy which is the act of reproducing in our minds the feelings of another. Gandhi ji once told: "I advise a man not from my standpoint but from his, I try to put myself in his shoes. When I cannot do so, I refuse to advise". He once said: "I am myself a Pruitan but for others a Catholic".

Syadvad or Anekantavada is adoption of the safe and secure middle path leaving the two extremes. It means that virtue has many facets. There is place for the penance of a saint, chastity of a woman, innocence of a child, bravery of a hero etc. As a lover of nature, one can equally enjoy the rains of rainy season, coolness of winter and heat of summer. Similarly, life is not one straight road. There are too many complexities in it. It is not like a train which once started keeps running. The real is as variable constant. It is being and non-being, unity and plurality, the universal and the particular rolled into one. A thing is neither an absolute unity nor split into an irreconcilable plurality. It is both unity and plurality all the time. There is no opposition between unity of being and plurality of aspect. Similarly, things are neither exclusively particulars, nor are they exclusively universals, but they are a concrete realisation of both. The two elements can be distinguished by reflective thought, but can't be rent asunder. A real is neither a particular nor universal in an exclusive manner, but a synthesis which is different from both severally and jointly though embracing them in its fold. A real is sui generis.

Although Syadvada-Anekantavada is not complete logic, it does involve a basic principle that seems to be essential to the kind of philosophy needed to account for, and to deal with, the complexities of our emerging world civilization. The two-valued logic developed presupposes the principle of excluded middle as most basic-- X is either A or non-A but not both (because A and non-A are contradictions). The dynamic, dialectical organic unities inherent in the increasingly intricate inter-dependent organisations constituting our emerging world require a more dynamic, dialectical organic logic than is presently available. Despite the fact that the two-valued logic has immense practical values when used judiciously, it is still not adequate to account for all of the vital developments in human society.

It is so difficult to say objectively anything fundamental about today's civilization or modern man because "all of us are caught in the same prejudices". Only a man who is "wholly of the present" can say something important about the present-day world, and only he who has the "most intensive consciousness" of himself and his situation can hope to be such a man. What is required is "essential thinking (Heidegger) of "total seeing" (J. Krishnamurti) by competent persons for apprehending the problems and predicaments of contemporary civilization and for granting an inkling of their possible solutions, Karl Jaspers, also talks of "luminous encompassive thinking", through which contemporary political consciousness must be transformed and a new kind of politics adequate to the threat of atomic doom should be created. Dr. S. Radhakrishnan while speaking on the future of civilization (Kalki, the Future of Civilization, 1929 (first published) held that to avert periodic crises of civilization, what is required is religious idealism and "cooperation and not identification, accommodation to fellowmen and not imitation of them, and toleration and not absolutism". Thus if we want to save our civilization from atomic annihilation, we have to encourage Anekant culture. However, Anekant philosophy of life should not be confused with contradictionism, indeterminism, scepticism or solipsism. When we look to the particular merits of each side, there is no contradiction. Application of existence and non-existence to the same thing is contradiction but when existence and non-existence are asserted from different standpoints, it is not contradiction. Even in the Upanishads, we have the glimpses of how the reality reveals itself in different ways at different stages of knowledge. Hence Anekant attitude should not be equated with subjective relativism of the Sophists. It is "objective relativism" or "relative absolutism" like Whitehead, Bodin etc. However, there is no similarity with Einstein's theory of relativity. To some extent, we may find its parallel in old Pyrrhonianism in the West. But while, Pyrrhonianism relapses into agnosticism or scepticism, there is no room for scepticism whatsoever in Jaina theory of Syadvada or Anekantvada, Scepticism, means in the minimum, absence of assertion, where as Syadvadins always assert, though what they assert are alternatives. Disjunctive judgement is still judgement. Each disjunction is alternatively valid. Either there is no self-complete Reality or any such reality is wholly infinite, a mere demand that refuses to be actualised. The only scepticism is that there is concerning the so-called self-complete reality. So where as a sceptic is sceptical about any character of reality, Syadvad is quite

definitely assertive, Yet he is more sceptical than any sceptic in the world so far as the definiteness of the ultimate reality is concerned. He would go beyond avaktavya or Sunya so far the Advaitins and Sunyavadins are concerned with regard to their statements regarding ultimate reality.

Hence, Anekata stands against all mental absolutism. We can substantiate this relativistic standpoint on the cosmo-micro-physical ground supported by Einstienian doctrine of relativity and Maxwell's equation of electromagnetism which go fundamentally against the notion of absolute truth. When we say, we know this, we are saying more than is strictly correct, because all we know is what happens when waves reach our bodies. Researches in psychology of thinking, perception of self and conception of self in Child Psychology and phycho-analytical studies in Freudian narcissism or Adlerian power-factor support relativism. From socio-cultural standpoint, the doctrine of relativism is justified for no smooth functioning of society is possible without mutual accomodation and adjustment which presupposes catholicism in thought, and sence of tolerance. In ethics and morality, we know so far relativism is domination. In the field of logic, the doctrine of the universe of Discourse is sometimes limited to a small portion of actual universe of things and is sometimes co-extensive with that Universe. The Universe of Discourse controls the interpretation of every word. Logic of Relatives too recognises the truth of Syadvada-Anekantvad when it discusses all relations embodied in propositions.

Much of the confusion either of Buddhism or Advaita Vedanta is dure to false exaggeration of the relative principles of becoming and being into absolute truths. Some is the fault with Parmenidian Being and Heraclitan Fulx. These may be called the variety of philosophical doctrines.

Hence Anekant doctrine is the exposition of the principle of 'comprehensive perspectivism'. No perspective is final or absolute unless it is understood in terms of relativity. Therefore, even Anekant (non-absolutism) is subject to Anekant (non-absolutism). If non-absolutism is absolute, it is not universal since there is no one real which is absolute. And if it is not a non-absolute, it is not an absolute and universal fact. Tossed between the two horns of the dilemma, non-absolutism thus siply evaporates. But we can meet this difficulty by making a distinction between the theory and practice of anekants . Every proposition of the dialectical sevenfold judgement is either complete or Incomplete. In the former, we use only

one word that describes one characteristics of that object and hold the remaining characters to be identical with it. On the other hand, in the Incomplete judgement, we speak of truth as relative to our standpoint. In short, the complete judgement is the object of valid knowledge (Pramana) and the Incomplete judgement is the object of aspectal knowledge (Naya). Hence the non-absolute is constituted of the absolute as its elements and as such would not be possible if there were no absolutes.

Here we can solve this difficulty by analysing the nature of unconditionality of the statment "all statements are conditional", which is quite different from the normal meaning of unconditionality. This is like the idea contained in the passage-- " I do not know myself", where there is no contradicion between "knowledge" and "ignorance". In the sentence, "I am undecided", there is at least one decision that I am undecided. Similarly, the categorality behind a disjunctive judgement (A man is either good or bad), is not like the categorality of an ordinary categorical judgement like "The horse is red". True the basis is always categorical but this categorality does never clash with the proposition being disjunctive. When a logical positivist says that "there is no metaphysics", philosophy enters through the back-door. In short, the uncoditionality in the statement "All statements are conditional" is quite different from the normal conditionality. Ther are primarily tow sources to understnad the world-senses and reason, ceosly connected with two grades of reality- existence and essence (Existentialism) or existence and reality (Hegel). Existence is actuality or actual verification, which is unconditional, absolute and categorical. There is no alternation or condition. But on the level of thought or reason or essence, there may be alternatives. But we cannot live in the world of thought alone and forget existence. We must also have something other than thought or reason which is unreason or irrationality. Behind reason, there is always the unreason, which we can give the name of faith (as suggested by Kant, Herder, Jacobi etc.). There are many grounds of faith- one being the Scripture. Scripture differs from one another. Jainas must stick to their position. Here is definiteness. However, we cannot expect such definiteness with reason because it only offers alternative pictures-- Jaina, Advaita, Vaisesikas. All are equally possible. In order to avoid indefiniteness we stick to one such possibility which is chosen for us by the community to which we belong or by some superior intuition. Thus there comes unconditionality. However, another may choose another pos-

sibility as existence if he belongs to another community or if his genius moves into another direction. So there appears to be again alternation among existence. But this alternation for only on thought level, We compare thought with other thoughts. And what is comparison ? Comparison involves thinking and reasoning, so it is thought-process. Some are bound to admit alternation. My standpoint is only a possible one. But I cannot always fly in the air of possibilities, I must have moorings in some actuality. I must adopt one standpoint.

Jainism is against all kinds of imperialism in thought. For each community there is a special absolute. But the absolute themselves are alternatives so far as they are probables. But this is only on thought level. But when I have chosen one it is more than possible, it is existence or actual. So there is wonderful reconciliation between conditionality and unconditionality. Every thing is conditional on thought level, but on the level of existence. Thus there is no real contradiction.

To avoid the fallacy of infinite regress, the Jains distinguish between valid non-absolutism (Samyaka Anekanta) and invalid non-absolutism (Mithiya Anekanta) Like and invalid absolute judgement, an invalid non-absolute judgement, too, is invalid. To be valid, Anekanta must not be absolute but relative.

If we consider the above points, we cannot say that the "theory of relativity cannot be logically sustained without the hypothesis of an absolute". Thought is not mere distinction but also relation. Everything is possible only in relation to and as distinct from others and the Law of Identity. Under these circumstances, it is not legitimate to hold that the hypothesis of an absolute cannot be sustained without the hypothesis of a relative. Absolute to be absolute presupposes a relative somewhere and in some forms, even the relative of its non-existence.

Jaina logic of Anekanta is based not on abstract intellectualism but on experience and realism leading to a non-absolutistic attitude of mind. Multiplicity and unity, definability and non definability etc. which apparently seem to be contradictory characteristics of reality are interpreted to co-exist in the same object from different points of view without any offence to logic. They seem to be contradictory of each other simply because one of them is mistaken to be the whole truth. Infact, integrity of truth consists in this very variety of its aspects, within the rational unity of

an all comprehensive and ramifying principle. The charge of contradiction against the co-presence of being and non-being in the real is a figment of a priori logic.

- Ex. Vice Chanscellor & Member of Parliament

104, Sanyal Enclave, Budha Marg,

Patna-800001 (Bihar)

समणसुत्त में जीवन दिशा दर्शन

- शानू जैल

मानव मस्तिष्क जिज्ञासाओं का महासागर है, इसमें प्रतिपल, प्रतिक्षण विचार तरंगें तरंगित होती रहती हैं। प्रत्येक मनुष्य के ज़हन में अपने जीवन के सम्बन्ध में एक सवाल, एक जिज्ञासा ज़रूर ही उठती होगी कि जीवन कैसे जिया जाए ? अथवा सही दिशा को कैसे जाना जाए। कभी-कभी स्वयं मनुष्य द्वारा अपनी अन्तर्दृष्टि से इसका उत्तर खोज लिया जाता है तो कभी जीवन पर्यन्त भी वह अपनी जिज्ञासा को शान्त नहीं कर पाता है, बस यही दशा वर्तमान युग की भी है। वर्तमान युग ज्ञान-विज्ञान का युग है, सूचना व प्रौद्योगिकी का युग है। आज बौद्धिक विकास से प्राप्त ज्ञान राशि और विज्ञान व तकनीकी की विपुल सामग्री के बाद भी मनुष्य अशान्त, विक्षुब्ध तथा तनावग्रस्त है, जिसका कारण है- “जीवन-मूल्यों का निरन्तर क्षरण।”

वस्तुतः एक अट्टालिका की संस्थिति उसकी समतल आधारभूमि की समीचीन आधारशिला पर ही आधारित होती है, अर्थात् सम्यक् प्रकार से रखी गई नींव की ईंट पर ही एक सुदृढ़ भवन का खड़ा हो पाना संभव होता है परन्तु आज जीवन मूल्यों का उत्तुंग भवन बनाने में न तो आधारभूमि को समतल करने का प्रयास माता-पिता तथा परिवारजन द्वारा ठीक प्रकार से किया जा रहा है और न ही हमारे विद्यालय तथा महाविद्यालय नींव की ईंट रखने का कार्य बखूबी निभा पा रहे हैं परिणामतः मानवीय मूल्यों का इतना हास हो गया है कि वैयक्तिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय जीवन में सर्वत्र विकट स्थितियां उत्पन्न हो गई हैं।

परन्तु, प्रबुद्ध सर्वोदयविचारक आचार्य विनोबा भावे जी की अद्भुत प्रेरणा तथा प्रशान्त साधक क्षुल्लक श्री जिनेन्द्र प्रसाद वर्णी जी व विभिन्न जैन सम्प्रदायों के श्रमण वर्ग के परिश्रम का प्रतिफल है- “समणसुत्त” ग्रन्थ, जिसकी सारगर्भिता तथा समग्रता इस तनावपूर्ण घने अंध कारमय जीवन में आस्था की एक अद्वितीय किरण का कार्य कर सकती है। के० दामोदरम् जी ने कहा है कि “जीवन-भूत से प्रेरणा लेकर वर्तमान को भविष्य के रूप में बदलने का संघर्ष है।” इसी परिप्रेक्ष्य में, यह कहना उचित होगा कि वर्तमान तथा भविष्य के दिशादर्शक के रूप में ‘समणसुत्त’ ग्रन्थ में निहित शैक्षिक तत्वों की चर्चा यहां प्रासंगिक भी है तो उपादेय भी। शैक्षिक तत्वों की चर्चा के अन्तर्गत सर्वप्रथम शिक्षा को परिभाषित करना आवश्यक है। वास्तव में, ‘शिक्षा’ शब्द समग्रता तथा सातत्य (Continuity) का परिचायक है। शिक्षा को जीवन का चरमोत्कर्ष बताते हुए कहा गया है कि -

“Education is life, for life and throughout life. And life is of and for education. So the saying is true that education is life.”²

शिक्षा के सम्बन्धों में जब हम जैन दृष्टि से सोचते हैं तो कहा जाता है कि प्रारम्भ में मनुष्य की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति कल्पवृक्षों के माध्यम से होती थी परन्तु

जैसे-जैसे कल्पवृक्ष लुप्त होते गये लोगों के समक्ष आजीविका की समस्या खड़ी होने लगी।

” असि-शस्त्रतलवार आदि शस्त्र धारण कर सेवा करना मसि-लिखकर आजीविका करना, विद्या, वाणिज्य और शिल्प हस्त की कुशलता से जीविका करना ये छह कार्य प्रजा की आजीविका के कारण है भगवान ऋषभदेव जी ने अपनी बुद्धि की कुशलता से प्रजा के लिए इन्हीं छह कर्मों द्वारा वृत्ति करने का उपदेश दिया था।”³ अतः कहना अनुपयुक्त होगा कि आध्यात्म प्रधान जैन शिक्षा व्यवस्था लौकिक ज्ञान, कला व कौशलों की उपेक्षा करती है। इस आधार पर शिक्षा के दो रूप उभरते हैं-

1. जीवन निर्वाहकारिणी शिक्षा 2. जीवन निर्मात्री शिक्षा

जो लौकिक ज्ञान, कला-कौशलों द्वारा जीविकोपार्जन के साधन जुटाने में सहायक हो, वह जीवन निर्वाहकारिणी शिक्षा है। यहां स्पष्ट कर लेना आवश्यक है कि यह जीवन का प्राथमिक उद्देश्य तो हो सकती है परन्तु इसे ही शिक्षा की ‘अथ’ व ‘इति’ मान लेना उचित नहीं। वास्तव में सच्ची शिक्षा तो वह है जो व्यक्ति को बंधन मुक्त कर उसमें ऐसी क्षमता तथा योग्यता विकसित करे कि वह दूसरों को भी बंधन मुक्त करने में सहायक बन सके, यही जीवन निर्मात्री शिक्षा कही जाती है। इसी सम्बन्ध में ‘समणसुत्त’ में कहा गया है कि -

“ नाणमेगगचित्तो अ, ठिओ अ ठावयई परं।

सुआणि अ अहिज्जित्ता, रओ सुअसमाहिण्ण॥”⁴

अर्थात् अध्ययन के द्वारा व्यक्ति को ज्ञान और चित्त की एकाग्रता प्राप्त होती है वह स्वयं भी धर्म में स्थिर होता है तथा दूसरों को भी करता है। इन्हीं भावों को स्पष्ट करते हुए ‘दशवैकालिक सूत्र’ में कहा गया है-

“मुझे श्रुतज्ञान प्राप्त होगा इसलिए अध्ययन करना चाहिए।

मैं एकाग्रचित्त रहूंगा इसलिए अध्ययन करना चाहिए।

धर्म में स्थिरता होगी इसलिए अध्ययन करना चाहिए।

मैं धर्म में स्थिर होकर दूसरों को उसमें स्थापित करूंगा इसलिए अध्ययन करना चाहिए।”⁵

निश्चित ही, ऐसी विराट धारणा को लिए हुए है जैन शिक्षा दर्शन, जिसका सम्बन्ध मात्र साक्षर होने से ही नहीं है क्योंकि अक्षरों का हाथ थामकर चलना तो यात्रा की शुरूआत है परन्तु अक्षरों के माध्यम से जो कुछ भी कहा जाता है वह जीवन या आचरण में नहीं उतरता है तो शिक्षा की सार्थकता पर प्रश्नचिह्न लग जाता है। इस हेतु ‘जिभाजित सूत्र’ में कहा गया है कि -

“ सा विज्जा दुक्खमोयणी ”

अर्थात् विद्या वही है जो दुःखों से विमुक्ति प्रदान करे, यहां विमुक्ति से तात्पर्य मानवीय तनावों से मुक्ति, अहंकार व आसक्तियों से मुक्ति, राग-द्वेष व तुष्णा से विमुक्ति

है। दुःखमुक्ति के उपायों के विज्ञय में कहा गया है कि “गुरु तथा वृद्धजनों की सेवा करना, अज्ञानी लोगों के सम्पर्क से दूर रहना, स्वाध्याय करना, एकान्तवास करना, सूत्र तथा अर्थ का सम्यक् चिन्तन करना तथा धैर्य रखना दुःखमुक्ति के उपाय है।”⁷

शिक्षा चाहे निर्वाह कारिणी हो अथवा जीवन निर्मात्री दोनों के लिए ‘गुरु’ की अपेक्षा सदा से रहती आई है। और ‘गुरु’ पद पर आसीन वही होता है जो श्रद्धावान्, ज्ञानी तथा चरित्रवान्, सज्जन, पात्रप्रेमी, परोपकारी, धर्मरक्षक तथा जगत्तारक है-

“ रत्नत्रयविशुद्धः सन्, पात्रस्नेही परार्थकृत्।

परिपालितधर्मो हि, भवाब्धस्तारको गुरुः॥ ”

साथ ही इन गुरुओं के सम्बन्ध में ‘समणसुत्त’ में कहा गया है कि -

“ जह दीवा दीवसयं पइप्पए सो य दिप्पए दीवो।”

दीवसमा आयरिया, दिप्पंति परं च दीवेंति॥

अर्थात् जैसे एक दीपक से सैकड़ों दीप जल उठते हैं और वह भी स्वयं दीप्त रहता है वैसे ही गुरु भी स्वपरप्रकाशक होते हैं। अतः ‘ऐसे गुरु के प्रति जिस शिष्य में न भक्ति है, न बहुमान है, न गौरव है न भय न अनुशासन है, न लज्जा है, तथा न स्नेह है उसका गुरुकुल में रहने का क्या अर्थ है?’¹⁰

यदि हम वर्तमान की अधिकतर छात्र-मानसिकता का अवलोकन करें तो, न तो उनमें अपने गुरुओं के प्रति सम्मान ही झलकता है और न ही उनसे भय। बढ़ती हुई अनुशासनहीनता का दुष्परिणाम भी छात्र असन्तोष, तोड़फोड़, उपद्रव, हड़ताल, अराजकता व अव्यवस्था तथा मूल्यों के अवमूल्यन के रूप में प्रत्यक्ष ही दृष्टिगोचर हो रहा है। वहीं श्री वादीभसिंह सूरि जी शिष्य की संकल्पना करते हुए कहते हैं-

“जो गुरुभक्त, संसार से भीत, विनयी, धर्मात्मा, कुशाग्रबुद्धि, शान्तपरिणामी, आलस्यहीन और सभ्य होता है वही शिष्य वास्तविक शिष्य कहलाता है।”¹¹

एक शिष्य का विनय के साथ अभिन्न सम्बन्ध होता है। विनय के पांच प्रकार कहे गये हैं- ज्ञान, दर्शन, चरित्र, तप तथा उपचार विनय।¹² ज्ञान विनय के विषय में श्रीमदाचार्य शिवकोटि जी कहते हैं-

“ काले विणये उपधाणे बहुमाणे तहेव णिण्हवणे।

वंजण अत्थ तदुभये विणओ णाणम्मि अट्ठविहो॥ ”¹³

अर्थात् काल, विनय, उपधान, बहुमान, निह्व, व्यंजनशुद्धि, अर्थशुद्धि, उभयशुद्धि (द्वयंजनशुद्धि और अर्थशुद्धि) ये ज्ञान विनय के विषय में आठ प्रकार की विनय है। अतः विनय के अभाव में ज्ञान की कल्पना आकाशकुसुमवत् असत् ही प्रतीत होती है।

‘समणसुत्त’ में विनीत तथा अविनीत शिष्य के विषय में कहा है कि -

“अविनीत के ज्ञान आदि गुण नष्ट हो जाते हैं यह उसकी विपत्ति है और विनयी के ज्ञानादि गुणों की संप्राप्ति होती है यह उसकी सम्पत्ति है, इन दोनों बातों को जानने वाला ही (ग्रहण और आसेवन रूप) सच्ची शिक्षा को प्राप्त करता है।”¹⁴

जैन आगमों में शिक्षा के मुख्यतः दो प्रकार बताये हैं- ग्रहण शिक्षा तथा आसेवन शिक्षा। ग्रहण शिक्षा से तात्पर्य ज्ञान संग्रह से है वहीं आसेवन शिक्षा में संग्रहीत ज्ञान को आचरण में उतारने पर बल दिया जाता है परन्तु वर्तमान शिक्षा व्यवस्था की यह विडम्बना रही है कि यहां शिष्य सूचना भरने वाला द्विमुखी पात्र बनकर रह गया है जिसमें तथा जिसके द्वारा सूचनाओं का मात्र आदान प्रदान ही किया जा सकता है, निःसंदेह ज्ञान विस्फोट के इस युग में छात्र को तथाकथित उच्चपदवी धारी तो बनाया जा रहा है परन्तु मनुष्य को मनुष्य बनाने वाले कारखाने (विद्यालय) आसेवन शिक्षा की उपेक्षा किये जा रहे हैं, आज ज्ञान को आचरण में उतारने के प्रयास लुप्त से होते जा रहे हैं। अतः ‘समणसुत्त’ ग्रन्थ में आचरण शून्य ज्ञान की उपेक्षा करते हुए कहा है कि -

“सुबहुं पि सुयमहीयं किं काहिइ चरणविप्पहीणस्स।

अंधस्स जह पलित्ता, दीवसयसहस्सकोडी वि।।¹⁵”

अर्थात् जन्मान्ध व्यक्ति के आगे लाखों, करोड़ों दीपक जलाना व्यर्थ है वैसे ही चारित्र शून्य व्यक्ति का विपुल शास्त्राध्ययन भी व्यर्थ है, क्योंकि शिक्षा की गरिमा उसके आचरण की शुद्धता से है और ऐसा शुद्धाचारी शिष्य ही वास्तव में शिक्षा प्राप्ति का अधिकारी माना जाता है अतः शिक्षाशील के आठ लक्षणों को बताते हुए ‘समणसुत्त’ में कहा गया है-

1. “ जो हंसी मज़ाक नहीं करता हो।
2. जो इन्द्रिय तथा मन पर नियन्त्रण रखता हो।
3. जो किसी का रहस्योद्घाटन नहीं करता हो।
4. जो अश्लील (आचारहीन) न हो।
5. जो विशील दूषित आचारवान् न हो।
6. जो अति रस लोलुप न हो।
7. जो क्रोध न करता हो।
8. जो सत्य में रत हो।”¹⁶

यदि वर्तमान में इस आचार संहिता का अनुपालन तथा अनुसरण छात्रों द्वारा किया जाये तो निश्चय ही शिक्षा की समसामयिक समस्याओं से निजात पाई जा सकती है, क्योंकि बात चाहे मूल्यों के गिरावट की हो या बढ़ते हुए छात्र असन्तोष की, या फिर वैचारिक मतभेदों का सघन जाल हो अथवा सत्य, अहिंसा, समभाव का सिमटता हुआ संसार, कहीं न कहीं तो हमारी मूल में ही भूल छिपी हुई है परन्तु बात यहीं तक सीमित नहीं है, समस्या

तो यह है कि यह मूल की भूल अपने तीव्र वेग से 'साइनस' की तरह बढ़ रही है 'वाइरल' की तरह फैल रही है तथा 'कैंसर' की तरह हमारे संस्कारों की नींव को खोखला कर रही है। आज की शिक्षा हमें बाह्य जगत के सम्बन्ध में बहुत कुछ जानकारी प्रदान कर देती है, किन्तु उन उच्च जीवन मूल्यों के सम्बन्ध में मौन है जो एक सुसभ्य सामाजिक प्राणी के लिए आवश्यक है।

इसी सम्बन्ध में आई.आई.टी., दिल्ली ने एक नवीन पाठ्यक्रम प्रारम्भ करने का प्रावधान रखा है- "Self Enquiry for Complete Leadership" इस पाठ्यक्रम के विषय में श्री विजयराघवन चारिअर ने बताया कि "मूल्य शिक्षा विधेय और निषेध की कोई नैतिक शिक्षा सम्बन्धी सूची नहीं है। हम चाहते हैं कि हमारे विद्यार्थी कुछ प्रायोगिक कार्य करें तथा स्वयं ही उसकी जिम्मेदारी भी ले, वे स्वयं की बनाई गई सीमाओं को तोड़कर पूर्ण प्रतिभा का विकास करें तथा अपने उद्देश्यों एवं संपूर्ण नेतृत्व के लिए आत्मान्वेषण की प्राप्ति कर सकें"।¹⁷

निःसन्देह आई.आई.टी., दिल्ली का यह प्रयास आत्मान्वेषण की दिशा का मार्ग प्रशस्त करने में व्यक्ति, समाज, राष्ट्र तथा सम्पूर्ण विश्व के लिए उपयोगी सिद्ध होगा। आज जीवन मूल्यों का हास दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा है ऐसे में "जैनों का 'अकारत्रय' अहिंसा, अनेकान्तवाद तथा अपरिग्रह समाज के स्वास्थ्य का सर्वोच्च मानदण्ड है। एक दूसरे के अतिरेकी विकल्पों के साथ किस तरह सामंजस्य हो सकता है उसके निर्णय के लिए अकारत्र का मानदण्ड सर्वोच्च है।"¹⁸

वास्तव में, सच्चा एवं सार्थक जीवन जीना एक कला है और इसे सिखाने का भार यदि 'समणसुत्त' ग्रन्थ जैसे मार्गनिर्देशक को सौंपा जाए तो अवश्य ही इस कला में पारंगत होना सरल तथा सहज हो जाएगा क्योंकि 'समणसुत्त' ग्रन्थ असाम्प्रदायिक भावना के कारण जैन-जैनेतर सभी के द्वारा मान्य तथा वैचारिक व सामाजिक एकता का प्रतीक है, जो न केवल समसामयिक शैक्षिक समस्याओं का निराकरण करने के लिए अमृतौषधि है, बल्कि आदर्श भविष्य की कल्पनाओं को धरातल पर उतारने का साधन भी है।

सन्दर्भ :

1. भारतीय चिन्तन : के. दामोदरम
2. जैनवाङ्मय में शिक्षा के तत्त्व : डा० निशानन्द शर्मा, प्राकृत जैन शस्त्र और अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली (बिहार), 1988, देखे पृ. सं. 35
3. आदिपुराण प्रथम भाग : जिनसेनाचार्य, सम्पादक- अनुवादक डॉ० पन्नालाल जैन सहित्याचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण सातवां, 2000, पृ. सं. 362, श्लोक सं. 179, 180 षोडश पर्व
4. समणसुत्त : संकलनकर्ता क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी, हिन्दी अनुवादक डा० कैलाश चन्द जी शास्त्री एवं मुनि नथमल जी, सर्वसेवा संघ प्रकाशन, राजघाट वाराणसी

5. दशवैकालिक: एक समीक्षात्मक अध्ययन, वाचना प्रमुख आचार्य तुलसी, विवेचन सम्पादक-मुनि नथमल, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3 पोर्चुगीज़ चर्च स्ट्रीट, कलकत्ता-1, गाथा-9/4/7
6. इसिभासियाई सुत्ताई : सम्पादक -महोपाध्याय विनयसागर, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, मार्च 1988, गाथा-17/2
7. समणसुत्तं -290
8. क्षत्रचूडामणि : वादीभसिंह सूरि, अनुवादक पं० मोहनलाल शास्त्री, भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्, 1998, श्लोक सं. 2/30
9. समणसुत्तं 176
10. समणसुत्तं-29
11. क्षत्रचूडामणि-2/31
12. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष (भाग -3) : क्षु० जिनेन्द्र वर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002 देखें पृ.सं. 548
13. भगवती आराधना : आचार्य शिवकोटि, सम्पादक -उपाध्याय मुनि श्री निर्णयसागर जी, श्री निग्रन्थ ग्रन्थमाला, दिल्ली, 2008, श्लोक सं. -112
14. समणसुत्तं-170
15. समणसुत्तं-266
16. समणसुत्तं-172,173
17. "It is not about moral Education of a list of dos and don'ts. We want our students to experiment but at the same time be responsible for their experiments. We want them to transcend the self imposed limitations and achieve their full potential" The Hindu - Oct. 2009
18. जैन धर्म और अभिनव अध्यात्म : प्रो० वस्तुपाल पारीख, हिन्दी अनुवादक - प्रो० भारती जोशी

अनेकान्तवाद

—साध्वी प्रियस्नेहांजनाश्री

संसार के समस्त दर्शनों का मुख्य उद्देश्य वस्तुतत्त्व के यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादन रहा है। वस्तु के पूर्ण और यथार्थ स्वरूप को जान पाना इतना सरल कार्य नहीं है। यदि किसी सर्वज्ञ को वस्तु का यथार्थ ज्ञान हो भी जाये तो उसके भी यथार्थ स्वरूप को शब्दों में व्यक्त कर पाना बहुत कठिन कार्य है।¹ वस्तु का स्वरूप ही कुछ इस प्रकार है कि व्यक्त रूप से जितना दिखाई देता है, उसकी उपेक्षा बहुत कुछ अव्यक्त ही रहता है। इस कारण से विभिन्न दर्शनों ने वस्तु को विभिन्न दृष्टियों से प्रतिपादन करने के लिए प्रयास किए हैं। किसी ने भेदवादी दृष्टि से तो किसी ने अभेदवादी दृष्टि से प्रयास किया है। वस्तु के यथार्थ स्वरूप के निरूपण के लिए किसी दर्शन ने द्वैतवाद का आलम्बन लिया तो किसी अन्य दर्शन ने अद्वैतवाद का। कुछ दर्शनों ने एकान्तवाद के आधार पर तो कुछ दर्शनों ने अनेकान्तवाद के आधार पर वस्तु के यथार्थ स्वरूप को समझाया।

जैनदर्शन वस्तुवादी और बहुतत्त्ववादी दर्शन होने से न केवल जगत में अनेक वस्तुओं (द्रव्यों) की सत्ता को स्वीकार करता है, अपितु प्रत्येक वस्तु को अनन्तधर्मों, अनन्तगुणों और अनन्तपर्यायों से युक्त भी मानता है।² इसलिए जैनदर्शन के अनुसार सत्ता या वस्तु का स्वरूप अनन्तधर्मात्मक है।³ ऐसी अनन्तधर्मात्मक वस्तु में परस्पर विरोधी धर्मयुगल भी पाये जाते हैं। प्रत्येक गुण का धर्म अपने विरोधी गुण या धर्म से जुड़ा हुआ होता है। आचार्य महाप्रज्ञ ने भी इस बात की पुष्टि की है कि समूची प्रकृति में विरोधी युगलों की सत्ता है। जन्म है तो मरण भी है, शुभ है तो अशुभ भी है, ऊँचा है तो नीचा भी है। यदि जीवन में ऐसे विरोधी युगल नहीं रहे तो जीवन की संभावना ही खतरे में पड़ जायेगी।⁴

इसी प्रकार वस्तु का स्वरूप भावात्मक (सद्भूत) एवं अभावात्मक (असद्भूत) धर्मों से युक्त है। ऐसी अनेक विरोधी और अविरोधी धर्मात्मक वस्तु चाहे चेतन हो या अचेतन, उसके यथार्थ स्वरूप के प्रतिपादन के लिए अनेकान्तदृष्टि ही आवश्यक है। अनेकान्तदृष्टि के बिना अनन्त धर्मात्मक वस्तु का स्वरूप-निरूपण संभव नहीं हो सकता है। एकान्त दृष्टि से किसी एक धर्म के आधार पर वस्तु का निर्णय किया जायेगा तो अपेक्षित धर्म के अतिरिक्त अनेक प्रतिद्वन्द्वी या परस्पर विरोधी धर्मों का निषेध हो जाने से वस्तु का वह स्वरूप प्रतिपादन अपूर्ण और अयथार्थ ही रहेगा। क्योंकि वस्तु में कुछ गुण धर्म अस्ति रूप में होते हैं तो कुछ गुण धर्म नास्ति रूप में भी होते हैं। घट में घटरूपता का अस्तित्व है, किन्तु पटरूपता का नास्तित्व भी है। इस सत्य को नकारा नहीं जा सकता। वस्तु के अनेक पक्ष और पहलू होते हैं। उदाहरणार्थ अलग-अलग पर्वतारोही हिमालय पर्वत पर अलग-अलग दिशा में चढ़ेंगे तो प्रत्येक पर्वतारोही को हिमालय का अलग-अलग दृश्य दिखाई देगा। अपने-अपने दृष्टिकोण के आधार पर चारों पर्वतारोही यदि ऐसा कहें कि “मैंने जैसा देखा है वैसा ही हिमालय है” तो वह हिमालय का पूर्ण स्वरूप नहीं हो सकता है।

हिमालय का पूर्ण स्वरूप चारों दिशाओं का सम्मिलित रूप है। यह स्वरूप अनेकान्त दृष्टि से ही देखा जा सकता है।⁵ इस प्रकार पूर्ण सत्यता और यथार्थता का द्वारोद्घाटन अनेकान्तवाद ही कर सकता है। अनेकान्तवाद का मुख्य उद्देश्य यथार्थता को भिन्न-भिन्न पहलुओं से देखना, समझना एवं समझाने का प्रयास करना है। अतः यह एक ऐसी व्यावहारिक पद्धति है जो सत्य की विभिन्न दृष्टियों से खोज करती है।⁶

अनेकान्त शब्द 'अनेक' और 'अन्त' इन दो शब्दों से बना है जिसका अर्थ है- अनेके अन्ताः धर्माः यस्यासौ अनेकान्तः। जिसमें अनेक अन्त अर्थात् धर्म पाये जाते हैं उसे अनेकान्त कहा जाता है।⁷ धवला⁸ में अनेकान्त का अर्थ 'जायत्यन्तर' बतलाया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि अनेक धर्मों को मिलाने पर ज्ञप्त होता है, वह अनेकान्त है। दूसरे शब्दों में ऐसा कहा जा सकता है कि वस्तु में जो अनेक सामान्य और विशेष गुण और पर्यायें हैं, उनको स्वीकार करना अनेकान्त है।⁹ सुरेश मुनि के अनुसार पदार्थ में अनेक परस्पर विरोधी विशेषताएँ होने के कारण पदार्थ अनेकान्त रूप है। जो पदार्थ की इस अनेकरूपता को प्रतिपादन करता है, वही अनेकान्तवाद है।¹⁰

अनेकान्तवाद का विकास-

अनेकान्तवाद या स्याद्वाद शब्द को सुनकर बड़े-बड़े विद्वान भी यही समझते हैं कि अनेकान्तवाद जैनों का वाद है। इसका मुख्य कारण यह है कि जैन विद्वानों ने इस पर न केवल अनेक ग्रंथों की रचना करके अनेकान्तवाद की पुष्टि की, अपितु संपूर्ण शक्ति से अनेकान्तवाद का समर्थन किया और अनेकान्तवादर्ूपी शस्त्र को धारण करके ही अन्य दार्शनिकों का सामना किया है। पं. सुखलालजी कहते हैं कि अनेकान्त दृष्टि का मूल भगवान महावीर से भी पुराना है। यह ठीक है कि महावीर के पूर्ववर्ती जैन और जैनतर ग्रंथों में अनेकान्त का व्यवस्थित और विकसित रूप नहीं मिलता है, परन्तु महावीर के पूर्ववर्ती वैदिक साहित्य और समकालीन बौद्ध साहित्य में अनेकान्त दृष्टि के पोषक विचार मिल ही जाते हैं।¹¹ इसी बात का समर्थन करते हुए डॉ. सागरमल जैन ने भी लिखा है कि अनेकान्तदृष्टि केवल जैन दार्शनिकों की एकमात्र बपौती नहीं है। अनेकान्त दृष्टि के संकेत वैदिक और औपनिषदिक साहित्य में भी उपलब्ध होते हैं। ऐसा कहकर उन्होंने वेद और उपनिषदों के अनेक उद्धरण भी दिये हैं।¹²

वेद और उपनिषदों में अनेकान्तदृष्टि के संकेत-

वेदों और उपनिषदों में तत्कालीन विभिन्न परस्पर विरोधी विचारधाराओं में समन्वय के प्रयास दृष्टिगोचर होते हैं। प्राचीनतम साहित्य ऋग्वेद¹³ में कहा गया है कि सत् एक ही है किन्तु मनीषीगण उसको अनेक प्रकार से वर्णन करते हैं। इसी प्रकार भगवद्गीता¹⁴ में कहा गया है कि अनादिमान ब्रह्म न सत् है और न असत् है। ईशावास्योपनिषद में सर्वत्र अनेकान्त जीवन दृष्टि के संकेत मिलते हैं। इसमें भी परमेश्वर को सत् और असत् दोनों कहा गया है। परम तत्त्व चलता भी है, नहीं भी चलता है, वह दूर और समीप दोनों है।

वह समस्त जगत् के भीतर भी है और बाहर भी है।¹⁵ उपनिषद्कारों ने परम तत्त्व की व्याख्या में न केवल एकान्त का निषेध किया, परन्तु विरोधी धर्म को स्वीकार भी किया है, गीता में परमतत्त्व को चराचर भूतों के बाहर और भीतर दोनों माना गया है।¹⁶ इससे उपनिषदों और गीता में अनेकान्त की शैली स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। उपरोक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट परिलक्षित होती है कि समन्वयवादी व्यावहारिक जीवन दृष्टि के बीज बुद्ध और महावीर से पूर्व भी थे, जो कालान्तर में अनेकान्तवाद का आधार बन गये हों।

बौद्ध साहित्य में अनेकान्त दृष्टि-

संयुक्तनिकाय में कहा गया है कि 'जीव' और शरीर एक है' या 'यह दोनों अलग-अलग हैं' ऐसा कहना मिथ्यादृष्टि है। इसलिए इन दोनों को छोड़कर बुद्ध मध्यमार्ग से उपदेश करते हैं,¹⁷ "क्योंकि ये दोनों विचार एकान्त रूप होने से मात्र सत्यांश हैं, पूर्ण सत्य नहीं हैं। आत्मा शरीर से न तो एकान्त भिन्न है और न ही अभिन्न ही है बुद्ध ने तत्कालीन सभी शाश्वतवादी-उच्छेदवादी, आत्मवादी-अनात्मवादी आदि मन्तव्यों को एकांगी होने के कारण त्याज्य माना है। बुद्ध, यही सत्य है, ऐसा नहीं कहते थे।¹⁸ उन्होंने कहा कि 'सब कुछ विद्यमान है' और 'सब कुछ शून्य है' ये दोनों ही अन्त हैं। इसलिए वे मध्यम मार्ग का उपदेश देते थे।¹⁹ बुद्ध सभी प्रश्नों को उत्तर लगभग निषेध रूप से ही देते थे। उनको भय था कि विधेय रूप से कहने पर निश्चित ही किसी मतवाद में उलझ जायेंगे। ऐकान्तिक मान्यताओं से बचने के लिए तत्त्वमीमांसा संबंधी प्रश्नों के उत्तर में या तो मौन रहते या उन्हें अव्याकृत कहकर टाल देते थे। जैसे उनसे पूछा गया कि - मरणोत्तर तथागत की सत्ता रहती है या नहीं ? बुद्ध ने कहा जैसे गंगा की बालू और समुद्र की गहराई को नहीं नापा जा सकता है। उसी प्रकार मरणोत्तर तथागत भी अप्रमेय और गंभीर है। इसलिए अव्याकृत है।²⁰

बुद्ध ने अपने युग में प्रचलित एकान्त उच्छेदवादी और शाश्वतवादियों के मन्तव्यों का निषेधकर अशाश्वतानुच्छेदवाद का समर्थन किया। इससे यही परिलक्षित होता है कि बुद्ध ने सदैव ही ऐकान्तिक मान्यताओं से दूर रहने के लिए प्रयत्न किया और इसके लिए विभज्यवाद का सहारा लिया। शुभ माणवक के यह पूछने पर कि- ब्राह्मण गृहस्थ को ही आराधक मानते हैं तो इस विषय में आपका क्या मत है? बुद्ध ने कहा- मैं यहाँ एकांतवादी नहीं, विभज्यवादी हूँ। मिथ्यात्व से ग्रसित गृहस्थ भी निर्वाण मार्ग का आराधक नहीं हो सकता और उसी प्रकार मिथ्यात्वी त्यागी भी आराधक नहीं हो सकता है।²¹

जैनागम में अनेकान्त दृष्टि-

जैन परंपरा का प्राचीन ग्रंथ आचारांग है। इस आगम में भी अनेकान्त दृष्टि के संकेत मिलते हैं। उदाहरणार्थ- "जे आसवा ते परिसवा, जे परिसवा ते आसवा"²² ऐसा कहा गया है। इस पंक्ति का अर्थ है कि जिन कारणों से आश्रव हो जाता है, उन्हीं कारणों से निर्जरा भी हो जाती है और जिन कारणों से निर्जरा होती है, उन्हीं कारणों से आश्रव भी हो जाता है। आश्रव और निर्जरा भावों पर निर्भर रहते हैं। भाव निर्जरा के हैं तो आश्रव की

क्रिया भी आस्रव का कारण बन सकती है। यहाँ एक ही क्रिया से आस्रव और निर्जरा दोनों हो सकते हैं, ऐसा कहकर अनेकान्त दृष्टि का ही परिचय दिया है। सूत्रकृतांगसूत्र²³ में श्रमणों को किस प्रकार की भाषा को उपयोग में लानी चाहिए ? इस संदर्भ में भगवान महावीर ने कहा कि श्रमणों को विभज्यवाद का प्रयोग करना चाहिए। विभज्यवाद का अर्थ है- किसी भी प्रश्न का समाधान भिन्न-भिन्न दृष्टियों से भिन्न-भिन्न रूप से देना। भगवान महावीर ने अपने समय में प्रचलित शाश्वतवादी और उच्छेदवादी आदि के परस्पर विरोधी विचार-धाराओं का समन्वय अनेकान्तवाद के आधार पर ही किया। भगवतीसूत्र में इस प्रकार के अनेक प्रश्नोत्तर संकलित हैं।

तथागत बुद्ध ने लोक की शाश्वतता- अशाश्वतता, जीव की नित्यानित्यता, जीव और शरीर के भिन्नाभिन्नता आदि तत्त्व संबन्धी सभी प्रश्नों को अव्याकृत और अनुपयोगी बताकर उन प्रश्नों के उत्तर देने की अपेक्षा मौन धारण किया। किन्तु इसका तात्पर्य यही है कि बुद्ध ने भी वस्तु के अनेकान्तिक स्वरूप को स्वीकारा है। जब विरोधी धर्मयुगल जैसे- नित्यानित्यता, सान्तता-अनन्तता इत्यादि वस्तु में सापेक्ष रूप से विद्यमान हैं तो एकान्तवाद से वस्तु स्वरूप का प्रतिपादन संभव नहीं हो सकता है। एकान्तवाद से किया गया वस्तु का प्रतिपादन असत्य हो जायेगा। ऐसा सोचकर ही तथागत बुद्ध ने इन प्रश्नों के उत्तर में मौन धारण करना अधिक उचित समझा। यदि उत्तर देना भी पड़ा तो निषेधात्मक रूप से उत्तर दिया।

परन्तु भगवान महावीर की शैली इनसे भिन्न थी। उन्होंने प्रत्येक प्रश्न को व्याकृत बताकर उसका उत्तर देने के लिए प्रयास किया। महावीर ने अनेकान्तिक वस्तु का एक पक्षीय प्रतिपादन नहीं किया, अपितु समस्त परस्पर विरोधी धर्मयुगलों को स्वीकार करके समन्वयात्मक रूप से वस्तु का प्रतिपादन किया। भगवान महावीर का कहना था कि जब वस्तु के स्वरूप में ही नित्यता, अनित्यता, एकता अनेकता, भेद अभेद आदि अनेक परस्पर विरोधी पक्ष विद्यमान हैं, तो वस्तु के यथार्थ स्वरूप के प्रतिपादन के लिए अनेकान्त दृष्टि उपयुक्त हो सकती है। इसी अनेकान्त दृष्टि के आधार पर उन सभी प्रश्नों का उत्तर दिया। जिनको बुद्ध ने अव्याकृत और अनुपयोगी बताकर टाल दिया था। जैसे- जमाली ने जब यह प्रश्न किया-“ भगवान! लोक शाश्वत है या अशाश्वत ?” भगवान ने कहा- “लोक शाश्वत भी है और अशाश्वत भी है” क्योंकि लोक कभी नहीं था, नहीं है, और नहीं रहेगा, ऐसा नहीं है। इसलिए लोक ध्रुव और शाश्वत है। लोक अशाश्वत भी है। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल में लोक का विकास और हास होता रहता है। इस दृष्टि से लोक शाश्वत और अशाश्वत दोनों है।²⁵ जीव के शाश्वत या अशाश्वत के विषय में भगवती सूत्र में कहा गया है कि जीव शाश्वत है। क्योंकि जीव कभी नहीं था, जीव कभी नहीं है, और कभी नहीं रहेगा- ऐसा संभव नहीं है। इसलिए जीव शाश्वत है। जीव अशाश्वत भी है, क्योंकि जीव नैरयिक से तिर्यच, तिर्यच से मनुष्य और मनुष्य से देव हो जाता है।²⁶ इस प्रकार जीव या आत्मा द्रव्य दृष्टि से नित्य और पर्याय दृष्टि से अनित्य है।²⁷

जीव और शरीर परस्पर भिन्न हैं, या अभिन्न ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए भगवतीसूत्र में कहा गया है कि काया आत्मा भी है और आत्मा से भिन्न भी है। शरीर रूपी भी है और अरूपी भी है, काया सचित्त भी है और अचित्त भी है, काया जीव रूप भी है और अजीव रूप भी है।²⁸ इस प्रकार जैनदर्शन में शरीर और आत्मा को भिन्नाभिन्न रूप में माना गया है। शरीर आत्मा से भिन्न इसलिए है कि वह अपने प्रयासों से शरीर से मुक्त हो जाती है। आत्मा शरीर से अभिन्न इसलिए है कि इन्द्रिय, कषाय, योग, उपयोग आदि परिणाम शरीरयुक्त जीव के ही होते हैं।

इस प्रकार जैनागम, भगवतीसूत्र, प्रज्ञापना और अनुयोगद्वारसूत्र आदि में अनेकान्तवाद की प्रथमिकता देखी जाती है, परन्तु अनेकान्तवाद को दार्शनिक क्षेत्र में प्रतिष्ठित करने का श्रेय आचार्य समन्तभद्र आचार्य सिद्धसेन दिवाकर और मल्लवादी को जाता है। आप्तमीमांसा के प्रणेता को जाता है, जिन्होंने स्याद्वाद का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर और मल्लवादी ने भी अनेकान्त की प्रतिष्ठापना की है। आप्तमीमांसा के प्रणेता आचार्य समन्तभद्र ने स्याद्वाद का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। आप्तमीमांसा पर आचार्य अकलंक और विद्यानंदी ने विवरण लिखकर उसे सरल बनाने का प्रयत्न किया है। प्रणेता आचार्य हरिभद्रसूरि ने 'अनेकान्तजयपताका' आदि अनेक ग्रंथों की रचना करके अनेकान्तवाद के विकास में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है। आचार्य हेमचन्द्र ने अन्ययोगावच्छेदक द्वात्रिंशिका आदि ग्रंथों में एवं उपाध्याय यशोविजयजी ने 'अनेकान्तव्यवस्था' प्रभृति ग्रंथों में अनेकान्तवाद की पुष्टि के लिए श्लाघनीय प्रयास किये हैं।

वस्तु की अनन्त धर्मात्मकता-

जैनदर्शन के अनुसार वस्तु अनन्तधर्मात्मक है। वस्तु के अनन्तधर्म, अनन्तगुण और अनन्त पर्यायें होती हैं। अनन्त धर्मात्मक वस्तु के कुछ गुण धर्म ही हमारे अनुभूति में आते हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वस्तु में उतने ही गुण धर्म हैं, जितने हमारे अनुभूति के विषय बनते हैं। परन्तु वस्तु में ऐसे अनेक गुण धर्म हैं, जो हमारी सामान्य अनुभूति के परे हैं। आचार्य महाप्रज्ञजी कहते हैं,- वस्तु में अनन्त पर्यायें हैं। कुछ व्यक्त पर्यायें हैं तो बहुत कुछ अव्यक्त पर्यायें हैं। व्यक्त या स्थूल पर्यायों का जगत बहुत संकीर्ण है, जबकि सूक्ष्म या अव्यक्त पर्यायों का जगत् बहुत अधिक विस्तृत है। व्यक्ति अव्यक्त पर्यायों के जगत में प्रवेश किए बिना ही अर्थात् केवल व्यक्त पर्यायों के आधार पर ही वस्तु स्वरूप का निर्णय कर लेता है, तो उसका वह निर्णय एकांगी और अपूर्ण होता है।³⁰ कच्चे आम्रफल में व्यक्त रूप से खट्टा स्वाद (रस) होता है। परन्तु अव्यक्त रूप से उसमें अम्ल, मधुर, कषैला आदि सभी रस विद्यमान होते हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो फिर उसके पकने पर भी मधुरता आदि गुणों की कोई संभावना नहीं रहती। हमारे भीतर राग, द्वेष आदि व्यक्त पर्यायायें हैं तो अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख आदि की अव्यक्त पर्यायें भी हैं। अन्यथा ध्यान साधना आदि उपक्रम को कोई अर्थ नहीं रहता। इस प्रकार वस्तु में व्यक्ताव्यक्त रूप से अनन्तधर्म है। जैसे- कच्चा आम्रफल वर्ण की दृष्टि से हरा या एकाधिक वर्णों से युक्त है, गन्ध की दृष्टि से भीतर से कोमल है तो बाहर से कठोर है, आदि। पुनः वस्तु में

भावात्मक धर्म ही नहीं, अनन्त अभावात्मक धर्म भी है। आम्रफल को आम्रफल होने के लिए आम्रफलत्व धर्म तो चाहिए ही, साथ-साथ द्राक्षत्व, कदलीत्व आदि की अनुपस्थिति भी अनिवार्य है। 'यह आम्रफल है', ऐसा निश्चय तभी होगा जब उसमें द्राक्ष, कदली आदि के गुण धर्मों का अभाव होगा।

वस्तु के स्वरूप निर्धारण में विधि और निषेध दोनों की अपेक्षा रहती है। किसी एक के अभाव में वस्तु का स्वरूप नहीं बन पाता है। स्वयंभूस्तोत्र में लिखा गया है कि विधि और निषेध दोनों कथंचित् इष्ट हैं। विवक्षा में उनमें मुख्य और गौण की व्यवस्था होती है।³¹ प्रकृति की भी यही व्यवस्था है। व्यक्ति जब चलता है तब दोनों पैर एक साथ नहीं उठते हैं। दोनों एक साथ उठें तो चलना संभव नहीं हो सकता है। चलते समय एक पैर आगे बढ़ता है तो दूसरा पैर पीछे खिसक जाता है। इसी प्रकार विवक्षित समय में वस्तु के अनन्त धर्मों में से एक धर्म मुख्य होता है, शेष सारे धर्म गौण हो जाते हैं।³² डॉ. सागरमलजी जैन कहते हैं- वस्तु में अनेक भावात्मक धर्म हैं तो उससे कई गुना अधिक अभावात्मक धर्म है। भावात्मक और अभावात्मक दोनों धर्म मिलकर ही वस्तु के स्वरूप का निर्णय करते हैं। 'वस्तु क्या है' और 'क्या-क्या नहीं है', इसी से वस्तु स्वरूप का यथार्थ प्रतिपादन होता है।³³ अतः वस्तु के निर्णय के लिए विधेयात्मक पक्ष के साथ निषेधात्मक पक्ष को भी स्वीकारना पड़ता है, अन्यथा वस्तु सर्वात्मक हो जायेगी।³⁴

वस्तु अनेकान्तिक है-

ज्ञातव्य है कि वस्तु अनन्तधर्मात्मक होने के साथ-साथ अनेकान्तिक भी है। इसका अभिप्राय यह है कि वस्तु में न केवल विभिन्न गुण धर्म होते हैं, अपितु उसमें अनेक विरोधी धर्मयुगल भी पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ एक ही आम्रफल जब कच्चा रहता है, तब हरा और पकने के बाद पीला हो जाता है। वही आम्रफल कालान्तर में सड़कर काला भी हो जाता है। आचार्य अमृतचन्द्र के अनुसार जो तत् है वही अतत् भी है; जो एकान्त है वह अनेकान्त भी है; जो सत् है वह असत् भी है।³⁵ एक ही वस्तु में अस्तित्व-नस्तित्व, एकत्व-अनेकत्व, नित्यता-अनित्यता आदि अनेक पक्ष अपेक्षा भेद से विद्यमान रहते हैं। कोई भी वस्तु सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य नहीं होती है। इसी प्रकार वस्तु सर्वथा एक या अनेक भी नहीं है। नित्यता, अनित्यता आदि परस्पर निरपेक्ष नहीं है। नित्यता के बिना अनित्यता और अनित्यता के बिना नित्यता अर्थहीन हो जाती है।³⁶ डॉ. सागरमल जैन के अनुसार अस्तित्व, नास्तित्व आदि परस्पर विरोधी धर्म एक दूसरे के पूरक होते हैं। एकता और अनेकता परस्पर अनुस्यूत रहते हैं। उत्पत्ति और विनाश भी एक दूसरे के बिना संभव नहीं है।³⁷ पंचास्तिकाय में भी कहा गया है कि भाव (सत्त्व) का कभी अभाव नहीं होता और अभाव (असत्त्व) का कभी सद्भाव नहीं होता है।³⁸ यद्यपि ऐसा प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि नित्यता और अनित्यता दोनों परस्पर विरोधी धर्म होने से एक ही वस्तु में एक ही साथ कैसे रह सकते हैं ? वास्तविकता तो यह है कि जिन्हें हम परस्पर सर्वथा विरोधी धर्म मानते हैं, वे सर्वथा विरोधी धर्म नहीं होते हैं। दो विरोधी धर्म अपेक्षा भेद से

वस्तु में एक साथ विद्यमान रह सकते हैं। हम अपने दैनिक जीवन में भी देख सकते हैं कि एक ही व्यक्ति अपनी पत्नी की अपेक्षा से पति है तो बहन की अपेक्षा से भाई है। इस प्रकार एक ही व्यक्ति पति और भाई दोनों है। एक ही भोजन स्वस्थ व्यक्ति की अपेक्षा से पथ्य है तो अस्वस्थ अथवा रुग्ण व्यक्ति के लिए अपथ्य बन जाता है। भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से एक ही वस्तु छोटी-बड़ी, शीत-उष्ण, कोमल-कठोर बन जाती है। इस प्रकार सामान्यतया मानव बुद्धि जिन्हें परस्पर विरोधी गुण धर्म मान लेती है, वे भी एक ही वस्तु में अपेक्षा भेद से पाये जाते हैं।³⁹

इसी कारण से जैनाचार्यों ने सत्ता को सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य न कहकर परिणामी नित्य माना है। सत्ता प्रतिसमय निमित्तों के आधार पर परिवर्तित होते हुए भी अपने मूल स्वभाव का परित्याग नहीं करती है। जैसे- एक ही व्यक्ति बालक, युवा और वृद्ध, शक्ति आदि भी बदलते रहते हैं। फिर भी व्यक्ति 'वही रहता है'। इसका तात्पर्य है कि व्यक्ति की विभिन्न अवस्थाएं बदलती रहती हैं, परन्तु व्यक्ति तो वही रहता है। व्यक्ति बदलकर भी नहीं बदलता है।⁴⁰ दूसरे शब्दों में कहें तो पर्यायें बदलती रहती हैं। व्यक्ति अर्थात् दृष्टा नहीं बदलता है। बाल्यावस्था नष्ट होकर युवावस्था प्रकट होती है, परन्तु इन दोनों ही अवस्थाओं में व्यक्ति नहीं बदलता है। व्यक्ति तो 'वही' रहता है। इस प्रकार एक ही वस्तु में उत्पत्ति, विनाश और ध्रौव्य, ये तीनों युगपत् रहते हैं। उत्पाद एवं नाशरूप पर्यायों के बिना द्रव्य का अस्तित्व नहीं होता है और द्रव्य (ध्रुवांश) के बिना पर्यायें नहीं होती हैं। अतः द्रव्य उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त है।⁴¹ इस प्रकार द्रव्य की दृष्टि से सत्ता नित्य है और पर्याय की दृष्टि से अनित्य है। भगवान महावीर से पूछा गया कि जीवन नित्य है, या अनित्य ? भगवान का उत्तर था- जीव अपेक्षा से भेद से नित्य भी है और अनित्य भी है। द्रव्यदृष्टि से जीव नित्य और पर्याय दृष्टि से जीव अनित्य है।⁴² नित्य और अनित्य के समान ऐसे अनन्त परस्पर विरोधी धर्म वस्तु में सापेक्ष रूप से विद्यमान रहते हैं। अतः वस्तु में स्वीकारात्मक, निषेधात्मक, परस्पर विरोधी, परस्पर-अविरोधी आदि अनेक गुणधर्म होने से वस्तु का स्वरूप अनन्तधर्मात्मक और अनैकान्तिक है।

ज्ञान और अभिव्यक्ति की सीमितता-

जब प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक सिद्ध होती है तब वस्तु के अनेक गुणधर्मों की ओर दृष्टि को ओझल करके किसी एक गुण धर्म का सर्वथा विधान करना एकान्तिक कथन है, जो असत्य का प्रतिपादक हो जायेगा। अनन्त धर्मात्मक वस्तु के किसी भी धर्म का निषेध नहीं करते हुए सभी धर्मों का विधायक कथन ही वस्तुतत्त्व का सत्य प्रतिपादन कर सकता है। इस दृष्टि से देखा जाय तो अनन्त धर्मात्मक वस्तु तत्त्व के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान करना सहज नहीं है। हर वस्तु में इतने अधिक धर्म, गुण पर्याय आदि मौजूद रहते हैं कि उनका बता पाना असंभव नहीं होने पर भी कठिन अवश्य हो जाता है।

एक ओर वस्तु का स्वरूप विराट है, तो दूसरी ओर इस विराट स्वरूप को जानने के हमारे साधन सीमित हैं। मानव के पास सत्यगवेषण के लिए दो ही साधन हैं- इन्द्रियाँ

और तर्क बुद्धि। इन्द्रियाँ वस्तु के पूर्ण ज्ञान को प्राप्त करने के लिए असक्षम हैं। इसका मुख्य कारण है इन्द्रियाँ पौद्गलिक होने से व्यक्त गुणधर्म को ही जान पाती हैं। अव्यक्त गुणधर्मों को जानने के लिए इन्द्रियाँ असमर्थ हैं। दूसरा कारण यह है कि इन्द्रियों की क्षमता व्यक्ति के क्षयोपशम पर भी निर्भर रहती हैं। दूर स्थित किसी सूखे वृक्ष को देखकर एक व्यक्ति उसे टूट कहता है और दूसरे व्यक्ति को वही टूट मनुष्य के रूप में दिखाई देता है। इस कारण से हम वस्तु को वस्तु के यथार्थ स्वरूप से नहीं जानकर, वस्तु को उस रूप में जानते हैं, जिस रूप में इन्द्रियाँ हमारे समक्ष वस्तु को उपस्थित करती हैं। अतः हमारा ज्ञान स्वतंत्र न होकर इन्द्रियाँ सापेक्ष है।

डॉ. सागरमल जैन का कथन है कि हमारा ज्ञान इन्द्रिय-सापेक्ष होने के साथ-साथ उन कोणों पर भी निर्भर रहता है जिस कोण से वस्तु देखी जाती है। दूर से वस्तु छोटी और समीप से बड़ी दिखाई देती है। भिन्न-भिन्न कोण से लिया गया टेबल का फोटो भिन्न-भिन्न दिखाई देगा। अतः इन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त अनुभूतिक ज्ञान दिशा, काल और व्यक्ति सापेक्ष होता है।⁴³

मानव अपने इन्द्रियानुभूत ज्ञान की सत्यता की प्रमाणिकता को जानने के लिए अपनी तर्कबुद्धि का सहारा लेता है, परन्तु तर्कबुद्धि भी कारण-कार्य, एक-अनेक, अस्ति-नास्ति आदि विचारों से घिरी हुई होने से बौद्धिक ज्ञान भी सापेक्ष ही होता है।⁴⁴ मनुष्य इन अपूर्ण इन्द्रियों और तर्कबुद्धि से पूर्ण सत्य का साक्षात्कार नहीं कर सकता है। इसका तात्पर्य यह है कि वस्तु उतनी नहीं है, जितनी व्यक्ति उसे जान पाता है। इसलिए व्यक्ति अपने आंशिक, अपूर्ण और सापेक्षिक ज्ञान से निरपेक्ष सत्यता का दावा नहीं कर सकता है। वस्तु का स्वरूप इतना गुह्य है कि साधारण मनुष्य के लिए उसका पूर्णतः ज्ञान प्राप्त करना असंभव है।

भाषा की सीमितता और सापेक्षता-

यदि कोई पूर्ण ज्ञानी वस्तु के यथार्थ स्वरूप का साक्षात्कार कर भी ले तो भी सत्य को निरपेक्ष रूप से अभिव्यक्त नहीं कर सकता है। सत्य को निरपेक्ष रूप से जाना जा सकता है, परन्तु उसे अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता है क्योंकि अभिव्यक्ति के लिए भाषा ही एकमात्र साधन है, जो अपूर्ण, सीमित और सापेक्ष है। एक ओर वस्तु के धर्मों की संख्या अनन्त है और दूसरी ओर भाषा के शब्दों की संख्या सीमित है। इस कारण से वस्तु के अनेक धर्म अकथित ही रह जाते हैं।⁴⁵ भाषा में कोई भी शब्द ऐसा नहीं है जो वस्तु के पूर्ण स्वरूप को प्रकट कर सके। एक शब्द वस्तु के एक निश्चित धर्म का ही प्रतिपादन कर सकता है। पुनः वस्तु में ऐसे अनन्त धर्म हैं जिनके प्रकाशन के लिए भाषा के पास कोई शब्द नहीं है। उदाहरण के लिए- कोयला, कोयल और भंवरा सभी काले होने पर भी उनके कालेपन में भिन्नता है। परन्तु भाषा के माध्यम से इनके अलग-अलग कालेपन को अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता है। इतना ही कहा जा सकता है कि 'काला है'।⁴⁶ मानव की भिन्न-भिन्न अनुभूतियों को व्यक्त करने के लिए भाषा में भिन्न-भिन्न शब्द नहीं हैं।

जिनभद्रगणि ने कहा है कि संसार की अनन्त वस्तुएँ अनभिलष्य है, जिनका वर्णन शब्दों द्वारा नहीं हो सकता है। जो अभिलभ्य पदार्थ है, उनका भी अनन्तवाँ भाग ही प्रज्ञापनीय है और जो प्रज्ञापनीय पदार्थ हैं, उनका भी अनन्तवाँ भाग ही सूत्रबद्ध है।⁴⁷ इसलिए वस्तु के संदर्भ में सापेक्ष कथन ही उसके यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादन कर सकता है। क्योंकि निरपेक्ष कथन में वस्तु के अनेक धर्म अनुक्त रह जाने के कारण या उन धर्मों का निषेध हो जाने से वह कथन असत्य हो जाता है। इसलिए कथन की पूर्ण सत्यता को बनाये रखने के लिए एवं वस्तु के पूर्ण ज्ञान के लिए सापेक्ष कथन पद्धति ही समीचीन हो सकती है।

अनेकान्त की अपरिहार्यता-

सामान्य रूप से संसार के प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक समाज, प्रत्येक धर्म और प्रत्येक दर्शन यही दावा करते हैं कि उनके मान्य विचार, मार्ग और सिद्धांत ही सत्य हैं। परिणामस्वरूप विरोधी प्रवृत्तियों और विरोधी मतभेदों का जन्म होता है। इन विरोधी या एकान्तिक मतभेदों ने जीवन को सुलझाने की अपेक्षा और अधिक उलझाकर संघर्ष और निराशाओं को उत्पन्न करने का ही काम किया।

जब कोई जिज्ञासु जगत, जीवन और जीवन संबन्धी प्रश्नों के समाधान के लिए संसार के विभिन्न दार्शनिक परंपराओं का अध्ययन करता है तो घोर निराशा में पड़ जाता है और उसकी दृष्टि और अधिक उलझ जाती है। इसका कारण यह है कि विभिन्न दार्शनिक परंपराओं में जीव, जगत और जीवन के विषयक इतने परस्पर विरोधी विचारों को प्रस्तुत किया गया है जिससे उनमें आकाश-पाताल का अन्तर स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। उदाहरणार्थ- आत्म तत्त्व के विषय में ही विभिन्न परस्पर विरोधी विचारों को रखा गया है। कोई दर्शन आत्मा को नित्य मानता है, कोई उसे अनित्य मानता है। कोई आत्मा को एक कहता है तो कोई अनेक कहता है। किसी दर्शन के अनुसार आत्मा विभु है तो अन्य किसी दर्शन के अनुसार आत्मा अणु है। आत्मा जैसे विषय पर भी दार्शनिक एकमत नहीं हो पाये। ऐसी स्थिति में जिज्ञासु को निराश होना स्वाभाविक ही है कि आखिर सत्य क्या है ?

जैन दार्शनिकों ने अनेकान्तवाद के आधार पर इस समस्या का समाधान किया है। अनेकान्तिक दृष्टि के माध्यम से परस्पर विरोधी दार्शनिक अवधारणाओं के विरोधों का परिहार करके समन्वय स्थापित करने के प्रयास किये गये हैं।⁴⁸ अनेकान्तवाद समस्त दार्शनिक समस्याओं और उलझनों की गुत्थियों को सुलझाने के लिए मार्ग प्रस्तुत करता है। समन्तभद्र, सिद्धसेन, अकलंक, हरिभद्र, यशोविजयजी आदि अनेक दार्शनिकों ने अनेकान्तवाद के बल पर ही नित्य-अनित्य, भेद-अभेद, द्वैत-अद्वैत, अस्तित्व-नास्तित्व आदि विरोधी विचारों का युक्तिसंगत समन्वय किया है। 'शास्त्रवार्ता-समुच्चय' नामक ग्रंथ में हरिभद्रसूरि ने विरोधी प्रतीत होने वाले विचारों का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत किया है। देवेन्द्रमुनि के शब्दों में अनेकान्तवाद रूपी न्यायाधीश परस्पर विरोधी दावेदारों का निर्णय बहुत ही समीचीन रूप से करता है और उसमें वादी और प्रतिवादी दोनों के साथ न्याय किया जाता है।⁴⁹

अनेकान्तवाद के आधार पर अपेक्षा भेद से पिता को पुत्र और पुत्र को पिता कहा जा सकता है। आत्मा को भी अपेक्षा भेद से नित्य और अनित्य दोनों कहा जा सकता है। आत्मा द्रव्यदृष्टि से नित्य और पर्याय दृष्टि से अनित्य हैं निश्चयदृष्टि या तत्त्वदृष्टि से आत्मा एक है, परन्तु व्यवहार दृष्टि से आत्मा अनेक है। इस प्रकार दार्शनिकों के समस्तवाद (द्वैतवाद, अद्वैतवाद, भेदभाव, अभेदवाद आदि) अनेकान्तवाद में उसी प्रकार मिल जाते हैं जिस प्रकार सभी नदियाँ महासागर में मिलकर तद्रूप हो जाती हैं।⁵⁰ वस्तु के स्वरूप का विवेचन करने वाला कोई भी एकांगी मत तब तक ही अपूर्ण और असत्य होता है, जब तक वह अनेकान्तिक दृष्टि से नहीं देखा जाता है अर्थात् जब तक वह निरपेक्ष कथन करता है। जैसे किसी घड़ी के विभिन्न पुर्जे अलग-अलग बिखरे पड़ें हैं तो उन अलग-अलग पुर्जों को घड़ी नहीं कहा जाता है। परन्तु वही पुर्जे जब एक साथ मिल जाते हैं तब वे घड़ी बनकर उपयोगी सिद्ध हो जाते हैं। उसी प्रकार जब अलग-अलग बिखरे एकान्तवाद मिलकर एक हो जाते हैं या परस्पर सापेक्ष बन जाते हैं तब वे अनेकान्तवाद बनकर वस्तु स्वरूप के सर्वांश के बोधक बन जाते हैं।⁵¹

आचार्य महाप्रज्ञजी के कथनानुसार जिस व्यक्ति की अनेकान्त रूपी तीसरी आँख खुल जाती है उसके लिए कोई भी मत मिथ्या नहीं होता है। वह व्यक्ति सापेक्षता की कसौटी पर ही सत्य और असत्य की परीक्षा करता है। उसके लिए जो कथन सापेक्ष है, वह सत्य है और जो कथन निरपेक्ष है, वह असत्य है।⁵² हरिभद्रसूरि ने कहा- महावीर के प्रति मेरा पक्षपात नहीं है और कपिलादि के प्रति मेरा द्वेष भी नहीं है। जिनका वचन युक्तिसंगत है, वे ही मुझे मान्य हैं। एक बात अनेकान्त के आलोक में ही कही जा सकती है। क्योंकि जो एकान्त के प्रति आग्रहशील होता है वह अन्य सत्यांश को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं होता है और ऐसी स्थिति में पूर्ण सत्य से अनभिज्ञ ही रहता है। पूर्ण सत्य की प्राप्ति अनेकान्त से ही होती है। गोपी को नवनीत की प्राप्ति तभी होती है, जब वह मथानी की एक रस्सी के छोर को खींचती है और दूसरे छोर को ढीला छोड़ती है। इसी प्रकार एक दृष्टिकोण को गौण करके दूसरे दृष्टिकोण को मुख्य बनाने पर ही सत्य का अमृत हाथ लगता है।⁵³

अनेकान्तवाद रूपी सूर्य के उदित होने पर सारे एकान्तवाद के घनघोर बादल तितर-बितर होकर अस्तित्वहीन हो जाते हैं। अनेकान्त की उपस्थिति में सारे संघर्ष, मतभेद और वैमनस्य का अस्तित्व ही नहीं रह सकता है। एकांगी और दुराग्रही दृष्टिकोण की पकड़ कमजोर पड़ते ही संघर्ष समाप्त हो जाता है। समस्या चाहे व्यवहार की हो या अध्यात्म की, दर्शन की हो या राजनीति की, सारी समस्याएँ अनेकान्त के आधार पर सुलझाई जा सकती हैं। संसार के स्थूल और सूक्ष्म दोनों पर्यायों (परिवर्तनों) को जानने के लिए अनेकान्त श्रेष्ठ दार्शनिक पद्धति है। इससे संघर्ष की चिंगारियाँ स्वतः समाप्त हो जायेंगी और अन्ततः विश्वशान्ति का मार्ग प्रशस्त हो सकता है।⁵⁴ डॉ. सागरमल जैन ने भी अनेकान्त को दार्शनिक सिद्धांत की अपेक्षा एक व्यावहारिक पद्धति ही अधिक कहा है।⁵⁵

इस प्रकार अनेकान्तवाद सब दर्शनों की धुरी के रूप में है। दार्शनिक समस्याओं की बाते तो दूर रही दैनिक जीवन का व्यवहार, अर्थात् समाज और परिवार के सम्बन्धों का निर्वाह भी अनेकान्त के बिना नहीं होता है। आचार्य सिद्धसेन का कथन है कि जिसके बिना लोक-व्यवहार का निर्वाह भी नहीं होता, उस जगत के एकमात्र गुरु अनेकान्तवाद को नमस्कार है।⁵⁶

द्वारा- डॉ. सागरमल जैन

प्राच्य विद्यापीठ, दुपाडा रोड

मु.+पो. शाजापुर (म.प्र.) 465001

संदर्भ-

1. दर्शन और चिंतन, पं. सुखलालजी, पृ.151
2. स्याद्वाद और सप्तभंगीनय, भिखारीराम यादव, पृ.42
3. 'अनन्त धर्मात्मकं वस्तु'- स्याद्वाद मंजरी, श्लोक 22 की टीका
4. अनेकान्त है तीसरा नेत्र, आचार्य महाप्रज्ञ, पृ.12
5. जीवन पाथेय, साध्वी युगल निधि-कृपा, पृ.32
6. अनेकान्तवाद, स्याद्वाद और सप्तभंगी, डॉ. सागरमल जैन, पृ.1
7. जैन तत्त्वमीमांसा, पं. फूलचन्द शास्त्री, पृ.339
8. धवला, 15/25/1
9. अनेके अन्ताः धर्माः सामान्य विशेष पर्याय। गुणा सस्येति सिद्धेऽनेकान्तः, सप्तभंगीतरंगिणी, पृ.30
10. मुनि श्री हजारीमल स्मृति ग्रंथ, पृ.350
11. दर्शन और चिन्तन, पं. सुखलाल जी, पृ. 149
12. अनेकान्त, स्याद्वाद और सप्तभंगी, डॉ. सागरमल जैन, पृ.3
13. एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति- ऋग्वेद, 1/164/46
14. अनादिमत्त्वं ब्रह्म न सत्तान्नासदुच्यते- भगवद्गीता, 13/12
15. तदेजति जन्नैजति पद्दूरे तद्धन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यायतः॥-ईशावास्योपनिषद्, 5
16. बहिस्तश्च भूतानामचरं चरमेव च- भगवद्गीता, 13/16
17. तं जीवं तं शरीरं.....संयुक्तनिकाय पालिभाग- 2,12,-36

18. न चाहमेतं तथियऽन्ति ब्रूमि.....सुत्रनिपात.....50, 5
19. सब्बमत्थी ति खो, कच्चान अयमेको अन्तो, ...संयुक्तनिकाय, भाग-2, 12:15
20. संयुत निकाल पालि भाग-3 44.1 (अव्याकृत संयुत)
21. मज्झिमनिकाय भाग-2, 49.1 (सुमसुत्तं)
22. आचारांग, 1/4/2
23. भिक्खु विभज्जवायं च वियागरेज्जां सूत्रकृतांगसूत्र, 1/1/14/22
24. अनेकान्त स्याद्वाद और सप्तभंगी, डॉ. सागरमल जैन, पृ.21
25. भगवती सूत्र, भाग 4, 9/33/34
26. भगवती सूत्र, भाग 4, 9/33/34
27. भगवती सूत्र, भाग 3, 7/3/5
28. भगवती सूत्र, भाग 5, 13/7/13, 14
29. “जैन दर्शन में नय की अवधारणा” की प्रस्तावना, सुव्रतमुनि शास्त्री
30. अनेकान्त है तीसरा नेत्र, महाप्रज्ञजी, पृ.66
31. विधिर्निषेधश्च कथंचितदिष्टौ।विवक्षया मुख्य गुण व्यवस्था।।.....स्वयंभूस्त्रोत्र, का.
32. अनेकान्त है तीसरा नेत्र, आचार्य महाप्रज्ञजी, पृ.46
33. अनेकान्त, स्याद्वाद और सप्तभंगी, डॉ. सागरमल जैन, पृ. 8
34. स्याद्वाद और सप्तभंगी, डॉ. भिखारीराम यादव, पृ. 36,37
35. तत्र यदेव तत्तदेवातत् यदैवैकं तदेवानेकं यदेव सत्तदेवासवयदेव नित्यंतदेवात्थिमित्येववस्तु।
-समयसार, गा.247 की टीका
36. स्याद्वाद और सप्तभंगी नय, डॉ. भिखारीराम यादव, पृ.38
37. अनेकान्त, स्याद्वाद और सप्तभंगी, डॉ. सागरमल जैन, पृ.11
38. भावस्स णत्थि णासो णात्थि भावस्स चैव उत्पादो।
गुणपज्जयेसु भावा उत्तपादवए पकुव्वंति।।.....पंचास्तिकाय, गा. 15
39. कीदृश वस्तु ? नाना धर्मेयुक्तं विविधस्वभावै.....स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका,
गा.253
40. अनेकान्तवाद, स्याद्वाद और सप्तभंगी, ...डॉ. सागरमल जैन, पृ. 10
41. दत्वं पज्जविउयं दव्व विउता या पज्जवाणत्थि,
अप्पाय-ठिव-भंगा हँदि दवियलक्कखणं एयं.....सन्मतिप्रकरण, 1/12
42. गोयमा। जीवा सिय सासया सिय असासया

- दव्ठठयाए सासया भावटठयाए असासया।.....भगवतीसूत्र, 7/3/273
43. अनेकान्त, स्याद्वाद और सप्तभंगी, डॉ. सागरमल जैन, पृ. 12-13
44. वही, पृ. 13
45. अनेकान्त, स्याद्वाद और सप्तभंगी, डॉ. सागरमल जैन, पृ. 63
46. स्याद्वाद और सप्तभंगीनस्य, डॉ. भिखारीराम यादव, पृ. 63
47. पण्णवणिज्जा भावा, अनंतभागो तु अण्णभिलप्पणं।
पण्णवणिज्जाणं पण, अनंतभागो सुदविबद्धो.....विशेषावश्यक भाष्य, गा.35
48. अनेकान्त, स्याद्वाद और सप्तभंगी, ... पृ. 8
49. जैनदर्शन स्वरूप और विश्लेषण, देवेन्द्रमुनि, पृ. 234
50. उदधाविव सर्वसिन्धव समुदीर्णास्त्वयिद्रष्टयः।
न च तासु भगवन् प्रदृश्यते अविभक्तासु सरित्यसववादेधिः॥.....सिद्धसेन
जैनदर्शन स्वरूप और विश्लेषण, देवेन्द्रमुनि, पृ. 234 से उद्धृत
51. धर्मदर्शन मनन और मूल्यांकन, देवेन्द्रमुनि, पृ. 163
52. अनेकान्त है तीसरा नेत्र, महाप्रज्ञजी, पृ. 82
53. एकेनाकर्षन्ति श्लथयन्ति वस्तुतत्त्वमितरेण
अन्तेन जयति जैनी मितिर्मन्थाननेत्रमीव गोपी.....पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लो. 225
54. अनेकान्त है तीसरा नेत्र, आ. महाप्रज्ञ, प्रस्तुति
55. अनेकान्त, स्याद्वाद और सप्तभंगी, डॉ. सागरमल जैन, पृ. ८
56. जेण विण लोगस्स वि ववहारो सव्वहा ण णित्वडइ
तस्स भुवणेक्क गुरूणों णमो अणेगंत वायस्स.....सन्मति तर्क प्रकरण, 3/70

पर्यावरण संरक्षण में आध्यात्मिक सिद्धान्तों की भूमिका

– सुरेश जैन, आई.ए.एस.

१. पर्यावरण संरक्षण के लिए अन्तर्राष्ट्रीय एवं राष्ट्रीय स्तर पर किए जा रहे अनेक सफल प्रयत्नों के बावजूद भी हमारी पृथ्वी का पर्यावरण और वातावरण प्रदूषित हो रहा है। पर्यावरण संरक्षण में धार्मिक, आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक परम्पराओं का अत्यधिक योगदान है। अतः वैज्ञानिक कृत्यों के साथ-साथ आध्यात्मिक और सांस्कृतिक आधार पर पर्यावरण संबन्धी सिद्धांतों का प्रचार-प्रसार एवं विवेकपूर्ण प्राचीन मान्यताओं को पुनर्जीवित करना आवश्यक है। जैन धर्म पर्यावरण के संरक्षण एवं पोषण के लिए विरली किन्तु ठोस सैद्धान्तिक शक्तिपीठ प्रदान करता है।
२. जैन संस्कृति अहिंसा पर आधारित है। अहिंसा आण्विक युद्ध के लिए भी प्रभावी कवच प्रदान करती है। अहिंसा के बिना किसी भी प्राणी का अस्तित्व बनाए रखना संभव नहीं है। जैन संस्कृति ने पर्यावरण के सभी घटकों पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, वनस्पति कीड़े-मकोड़े, पशु-पक्षी एवं मानवीय समाज के संरक्षण के लिए असाधारण एवं अद्भुत प्रावधान किए हैं। पर्यावरण संरक्षण के लिए भगवान महावीर ने 2500 वर्ष पूर्व जिओ और जीने दो, परस्परोग्रहो जीवानाम् एवं जीवाणं रक्खणो धम्मो के शाश्वत सिद्धान्तों का पालन, प्रचार एवं प्रसार किया है।
३. जैन धर्म प्रकृति और मानवीय जीवन के बीच अद्भुत साम्य की घोषणा करते हुए यह स्थापित करता है कि प्रकृति और प्राणी चेतन हैं। दोनों जन्म लेते हैं, भोजन करते हैं, बढ़ते हैं और छिन्न-भिन्न होने पर दुखी होते हैं।
४. अपरिग्रह जैन धर्म का मूलभूत सिद्धांत है। यह सिद्धांत अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रत्येक मानव को अपनी इच्छाओं को कम से कम करने एवं न्यूनतम वस्तुओं का उपयोग और उपभोग करने की प्रभावी सीख देता है। इन व्यावहारिक सिद्धांतों को पालन करते हुए हम अनावश्यक वस्तुओं का संग्रह न करें। हमें यदि दातुन के लिए एक छोटी सी टहनी की आवश्यकता है तो हम बड़ी मोटी डाली न तोड़ें। कम से कम पानी उपयोग करें। कम से कम कागज का उपयोग करें। इस प्रकार हम प्रत्येक क्षेत्र में संयमित एवं मितव्ययी जीवन जिएं।
५. जैन संस्कृति ने आहार भोजन के क्षेत्र में महत्वपूर्ण अवदान प्रदान किया है। जैन धर्म शाकाहार को उपादेय और मांसाहार को हेय मानता है। मांसाहार के लिए पशु पक्षियों का हनन किया जाता है। जबकि पशु-पक्षी पर्यावरण संरक्षण के आधारभूत घटक हैं। परिणामतः शाकाहारी भोजन का पर्यावरण संरक्षण में महत्वपूर्ण योगदान है।
६. जैन धर्म ने पर्यावरण संरक्षण को अत्यधिक महत्त्व दिया है। प्रथम जिन तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव ने प्राचीन भारत में पर्यावरण संरक्षण और जैविक संतुलन बनाए रखने के लिए सशक्त सिद्धांतों की स्थापना की थी, जो आज भी उपयोगी और प्रभावी है।

यह उपयुक्त प्रतीत होता है कि हमें जैन परंपराओं में निहित मूलभूत पर्यावरण प्रतिमानों को प्रभावी ढंग से प्रचलित करें। जैन धर्म हमें इस पृथ्वी के छोटे से छोटे प्राणी, वनस्पति और यहां तक की सूक्ष्म जीवाणुओं (माइक्रोब्स) की रक्षा और सम्मान करने की प्रेरणा देता है, जो पर्यावरण संरक्षण के लिए अत्यंत उपयोगी है।

७. वायु संरक्षण एवं वायुमण्डल में ऑक्सीजन का संतुलन बनाए रखने में जैन धर्म द्वारा प्रतिपादित दिन में भोजन का विधान एवं रात्रि भोजन का निषेध महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है। रात्रि में भोजन निषिद्ध होने से भोजन पकाने के लिए चूल्हे में आग जलाने की आवश्यकता नहीं होती है। परिणामतः कार्बन डाय आक्साईड की मात्रा नहीं बढ़ पाती है।
८. जैन धर्माचार्यों ने कहा है कि हम कभी भी प्रयोजन रहित कोई भी कार्य न करें। अपने असंयमित व्यवहार से पर्यावरण के साथ छेड़छाड़ न करें। अपनी स्वार्थी प्रवृत्ति और लोलुपता को नियमित और नियंत्रित करते हुए पर्यावरण को संतुलित बनाए रखें। प्रत्येक जैन व्यक्ति अपने सहज स्वभाव और संरक्षण करते हुए निम्नांकित नियमों का कठोरता पूर्वक और नियमित रूप से पालन करे और स्वयं को भारत का उत्तरदायी नागरिक बनाएँ:-
 - 8.1 अपने गन्दे वस्त्र किसी भी प्रवाहित पानी में न धोये ताकि उसमें रहने वाले सूक्ष्म जीवों की सुरक्षा हो सकें।
 - 8.2 बगैर छना/अशुद्ध जल न पियें ताकि शरीर रोगमुक्त रह सके और आसपास का वातावरण दूषित होने से बच जाए। संसार के वैज्ञानिक मानते हैं कि जैन धर्म में प्रचलित पानी छानने की प्रथा स्वस्थ शरीर के लिए अत्यधिक उपयोगी है। यह प्रथा श्रेष्ठ स्वास्थ्य एवं आधुनिक सभ्यता की प्रतीक है।
 - 8.3 किसी जल स्रोत से पानी निकालने छानने के पश्चात् शेष बचे बगैर छने पानी, जिसमें अनेक जीवाणु रहते हैं, को उसी जल स्रोत के निम्नतम स्तर तक पहुँचा दिया जाय ताकि सूक्ष्म जीवाणु अपने प्राकृतिक हैबीटाट में पहुँच कर जीवित रह सकें और जैविक संतुलन को बनाए रख सकें।
 - 8.4 नदियों और जलकुण्डों में शव एवं अस्थियों का विसर्जन न करें। जल स्रोतों में कचरा न बहाएँ।
 - 8.5 कोई भी जल की एक बूंद व्यर्थ नष्ट न करें, पेड़-पौधों से व्यर्थ ही फूल या पत्ते न तोड़ें, विद्युत या किसी भी ऊर्जा की एक यूनिट भी व्यर्थ व्यय या दुरुपयोग न होने दें।
 - 8.6 जैन धर्म समाज के प्रत्येक व्यक्ति को यह महत्वपूर्ण उपदेश देता है कि वह संपूर्ण मानव जाति एवं सृष्टि के समस्त जीवों की दीर्घायु की मंगलकामना प्रतिदिन नियमित रूप से करें। वह परम आराध्य की साक्षी में यह भावना भाये कि वर्षा समय पर और पर्याप्त हो, बाढ़ या सूखा न हो, कोई महामारी न फैले एवं समस्त राजनेता तथा प्रशासनिक अधिकारीगण अपने कर्तव्यों का पालन सच्चाई एवं ईमानदारी से करें।

9. इस तरह जैन धर्म में पर्यावरण के मूल घटक, पृथ्वी, जल, अग्नि और वनस्पति के दुरुपयोग, अत्यधिक उपयोग या नष्ट करने संबन्धित सामाजिक एवं धार्मिक नियम स्थापित किये हैं, जिससे प्रकृति के इन उपहारों का संरक्षण हो सके और पर्यावरण प्रदूषित न हों।
10. जैन साधु अपने जीवन में इको-जैनियम एवं एप्लाइड जैनियम के सिद्धांतों का समावेश एवं अभिव्यक्तिकरण करते हैं। वे अपने साथ सिर्फ काष्ठ निर्मित कमण्डलु और मोरपंख से बनी पिच्छी रखते हैं। ये दोनों उपकरण पर्यावरण संरक्षण एवं आत्मोन्नति के प्रतीक हैं। ये ऐसी सामग्री से निर्मित हैं, जो स्वयमेव प्राकृतिक रूप से जीवों के द्वारा छोड़ी गई है। साधुजन कमण्डलु के जल का दैनिक आवश्यकता हेतु बड़ी मितव्ययता से उपयोग करते हैं। दैनिक क्रियाओं के दौरान पिच्छी के द्वारा वे सूक्ष्म जीवों की प्राणरक्षा का प्रयास करते हैं। इस तरह मितव्ययता और प्राणी रक्षा का संदेश उनके जीवन से अनायास ही प्रचारित होता रहता है।
११. जैन मुनि पर्यावरण के श्रेष्ठ संरक्षक हैं। वे हमेशा शिक्षा देते हैं कि हमें स्वच्छ पर्यावरण में रहना चाहिए, छना हुआ शुद्ध एवं स्वास्थ्यवर्द्धक जल ग्रहण करना चाहिए, प्रदूषण मुक्त वायु का सेवन करना चाहिए, प्राकृतिक, स्वच्छ, शक्तिवर्द्धक सात्विक भोजन लेना चाहिए। संशोधित आहार, या बासी भोजन, बिस्कुट ब्रेड डिब्बा बंद एवं संरक्षित भोज्य सामग्री प्रयोग नहीं करने की सलाह भी वे देते हैं। वे विविध रसायनों से संरक्षित करके दूर-दूर से आने वाले फलों की अपेक्षा स्थानीय ताजे एवं सस्ते फल एवं सब्जियों को ग्रहण करने के लिए प्रेरित करते हैं। यदि हम इन शिक्षाओं एवं निर्देशों का नियमपूर्वक अनुसरण करें तो चिकित्सकों एवं औषधियों का प्रयोग सीमित हो सकता है। हम स्वयं अपेक्षाकृत ज्यादा स्वस्थ रहकर पर्यावरण को स्वस्थ बना सकते हैं।
१२. प्राकृतिक संरक्षण में जैन संस्कृति की महत्वपूर्ण भूमिका है। हम अपने सांस्कृतिक आचार-विचार का अनुसरण एवं अभ्यास कर प्रकृति का संरक्षण करें। हम अपने विकास का ऐसा ढांचा तैयार करें जो कि पर्यावरण एवं सांस्कृतिक आधार को दृढ़ता प्रदान करे। आज न केवल हमारी संस्कृति या राष्ट्र वरन् हमारा समूचा ग्रह (पृथ्वी) भी ऐसे खतरे में है जैसा पहले कभी नहीं था। मानव जाति पर्यावरण को इतने व्यापक पैमाने पर नष्ट कर रही है कि स्वयं प्रकृति भी अकेले इस क्षति की पूर्ति नहीं कर सकती है। इससे पहले कि बहुत देर हो जाए हमें पर्यावरण की इस सबसे बड़ी चुनौती को, जिससे कि हमारा और हमारी पृथ्वी का अस्तित्व जुड़ा है, स्वीकारना होगा। हम में से प्रत्येक व्यक्ति को श्रेष्ठ पर्यावरण-संरक्षक बनना होगा।
१३. चौबीस तीर्थंकरों की प्रतिमाओं पर अंकित चिन्ह प्रकृति एवं पर्यावरण संरक्षण के अर्थ एवं संदेश के संवाहक हैं। ये चिन्ह संबंधित तीर्थंकर के जीवनवृत्त एवं उनकी समकालीन प्रवृत्ति पर आधारित हैं। जैन तीर्थंकरों का प्राकृतिक संपदा एवं वन्य प्राणियों के संरक्षण में महत्वपूर्ण योगदान है। तीर्थंकर चिन्ह हमें पर्यावरण संरक्षण की प्रभावी

प्रेरणा एवं अनुभूति प्रदान करते हैं। तीर्थकर यह जानते थे कि मानव प्रकृति पर निर्भर है, अतएव उन्होंने प्रकृति, वन्य पशु एवं वनस्पति जगत के प्रतिनिधि के रूप में महत्त्वपूर्ण विभिन्न प्रतीक चिन्ह स्वीकार किए। 24 तीर्थकरों के 24 चिन्हों में से प्राणी-जगत से 13 चिन्ह हैं। प्राणी जगत के बैल, हाथी, घोड़ा, बंदर, हिरण एवं बकरा इत्यादि मनुष्य जगत के लिए सदैव उपयोगी एवं सहयोगी रहे हैं। ये जीव जगत के लिए वरदान-स्वरूप रहे हैं। स्वस्तिक एवं कलश मांगलिक हैं, अतः क्षेमंकर हैं। वज्रदण्ड न्याय, वीरता एवं शौर्य का प्रतीक है। प्रकृति का महत्त्वपूर्ण घटक चन्द्रमा शीतलता एवं प्रसन्नता प्रदायक है। कल्पवृक्ष, वनस्पति जगत् का प्रतीक है। लाल, एवं नीलकमल पुष्प जगत के सुमधुर एवं सुरभित प्रतिनिधि हैं। पुष्प अपनी प्राकृतिक सुन्दरता एवं सुकुमारता से शान्ति और प्रेम का संदेश प्रसारित करते रहे हैं। इस प्रकार जैन संस्कृति प्रकृति आधारित संस्कृति है।

१४. प्रत्येक जैन तीर्थकर को विशुद्ध ज्ञान (केवल ज्ञान) की प्राप्ति किसी विशेष वृक्ष की छाया में प्राप्त हुई। जैन साहित्य में इन वृक्षों को तीर्थकर वृक्ष या केवल वृक्ष कहते हैं। भगवान आदिनाथ से लेकर महावीर पर्यन्त सभी तीर्थकरों के वृक्ष पर्यावरण संरक्षण के जनक एवं संपोषक हैं। यह मान्यता है कि प्रत्येक वृक्ष में संबंधित तीर्थकर का आंशिक प्रभाव विद्यमान रहता है। विशेष्य तीर्थकर वृक्ष की सेवा, दर्शन और अर्चना से संबंधित तीर्थकर की कृपा प्राप्त होती है। तीर्थकर वृक्ष के रोपण से संबंधित स्थल की आध्यात्मिक शक्ति में वृद्धि होती है। 24 तीर्थकरों के जामुन, पीपल, कैथा, नन्दी, तिलक, आम, अशोक, मौलश्री, बांस, देवदार एवं साल हैं। पंचम तीर्थकर सुमतिनाथ एवं षष्ठ तीर्थकर पद्मप्रभ दोनों तीर्थकरों ने प्रियंगु वृक्ष को ही स्वीकार किया है। यह अपवादात्मक स्थिति बन गई है। इस प्रकार 24 तीर्थकरों ने 23 प्रकार के भिन्न भिन्न वृक्षों को स्वीकार कर वृक्ष संरक्षण को परोक्ष रूप से संवर्धन प्रदान किया है।
१५. जैन तीर्थकर प्रकृति और पर्यावरण के विशेषज्ञ थे। अतः उन्होंने स्वयं को प्रकृति से जोड़कर पर्यावरण को आध्यात्मिक जगत में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। परिणामतः उनके द्वारा आदेशित तीर्थकर चिन्ह एवं तीर्थकर वृक्ष भारतीय-संस्कृति में पूरी तरह से रच-पच कर भारतीय जीवन पद्धति के अंग बन गए। तीर्थकरों ने अपनी घनघोर तपस्या के लिए भारतवर्ष के सघन वन तथा वन्य प्राणियों की प्रचुरता वाले क्षेत्रों का चयन किया है। तीर्थकरों ने अपने चिन्हों और वृक्षों के माध्यम से प्रकृति से अपना जीवंत संपर्क बनाये रखा है। प्रकृति संरक्षण में जैन चिंतन का महत्त्वपूर्ण योगदान है। आज आवश्यकता है कि इस जीवन्त इतिहास को विश्व के समक्ष पुनः उद्घाटित किया जाए।
16. तीर्थकर चिन्ह-समूह और तीर्थकर वृक्ष समूह अतीत, वर्तमान तथा भविष्य के पर्यावरण की अनुभूति का प्रवाही स्रोत है। चिन्हों और वृक्षों की यह चौबीसी प्रकृति, वनस्पति, पशु एवं पक्षी जगत की महत्त्वपूर्ण अभय-वाटिका है। इस अभय-वाटिका से शान्ति का शाश्वत निर्झर प्रवाहित हो रहा है।

17. मनुष्य की सामान्य इच्छाओं की पूर्ति प्रकृति द्वारा बिना किसी कठिनाई के पूरी की जा सकती है, किन्तु जब इच्छा बहुगुणित होकर कलुषित हो जाती है, तब उसे पूरी करना प्रकृति के लिए कठिन हो जाता है। मनुष्य की यह बहुगुणित इच्छा ही प्राकृतिक संकटों की जननी है। इसी कलुषित एवं बहुगुणित इच्छा की तुष्टि के फलस्वरूप पर्यावरण तहस-नहस हो जाता है। वायु, जन ध्वनि एवं दृश्य प्रदूषित हो जाते हैं। जैसे-जैसे व्यक्ति की इच्छा बहुगुणित और कलुषित होती जाती है, उसकी संग्रह की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है। उसका मन, चित्त, धवलता के स्थान पर कालिमा ग्रहण कर लेता है। ऐसी प्रवृत्तियों को नियमित करने के लिए जैन आचार्य कहते हैं। कि हम प्रयत्न पूर्वक चलें, प्रयत्न पूर्वक ठहरें, प्रयत्न पूर्वक सोएँ, प्रयत्न पूर्वक बैठें, प्रयत्न पूर्वक बोलें और प्रयत्न पूर्वक भोजन करें। आइये, हम कालिमा के पथ को छोड़कर धवलता के पथ पर अग्रसर हों और अपने पर्यावरण का संरक्षण एवं संवर्द्धन करें। हम अपने प्राकृतिक धर्म का निर्वाह करें। अपने पर्यावरण को सम्हालें। अपने परिवेश को शुद्ध रखें और सब मिलकर अपनी धरा को सजाएँ।

30, निशांत कालोनी,

भोपाल-462003

फोन- 0755-2555533

मो. 9425010111

Email: scjain@gmail.com

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा

सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः।

यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ

प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मानाम्॥

भर्तृहरि नीतिशतक, 63

- विपत्तिकाल में धैर्य, ऐश्वर्य में क्षमा, सभा में वाक्चातुरी, शास्त्र में व्यसन- ये सब गुण महात्माओं में स्वभाव से ही सिद्ध होते हैं।

सर्वोदय तीर्थमिदं तवैव आचार्य समन्तभद्र एवं महात्मा गाँधी: एक तुलनात्मक दृष्टि

- डॉ. रामजी सिंह

‘सर्वोदय’ शब्द भले ही संस्कृत साहित्य एवं इसके प्रामाणिक शब्दकोषों में नहीं है। लेकिन सर्वोदय की भावना प्राचीन वैदिक आर्य एवं नीति ग्रंथों में पर्याप्त रूप से व्याप्त है। ऐसा क्यों हुआ, इसका एक उत्तर तो यही दे सकता हूँ कि सर्वोदय एक सामासिक शब्द है जो सर्व+उदय, इन दो शब्दों के योग से बना है। अतः अलग से इनको संयुक्त कर स्वतंत्र रूप से शब्द कोश में देने की आवश्यकता नहीं थी। लेकिन इस शब्द की भावना इतनी सुरम्य एवं प्रखर है कि इसे “वाचस्पत्यम्” या “शब्द कल्पद्रुम” आदि वृहद संस्कृत शब्दकोशों में नहीं है। फिर संपूर्ण वेद, उपनिषद, गीता और वाल्मीकीय रामायण में भी इसका प्रयोग नहीं मिलना एक संयोग या कुसंयोग हो सकता है। जबकि वैदिक संस्कृति में सर्वोदय की भावना प्रभूत रूप से विद्यमान है। आश्चर्य तब होता है जब जैन आचार्य समन्तभद्र की पुस्तक युक्त्यनुशासन में “सर्वोदय” शब्द सर्वोदय तीर्थ के रूप में प्रयुक्त किया गया है। “सर्वोदय” में “सर्व” शब्द बहुवचन में “सब” का बोध होता है। ‘सब’ का दूसरा अर्थ “सब प्रकार से” या सर्वप्रकारेण माना जायेगा। सब प्रकार का अर्थ भौतिक-अध्यात्मिक, अभ्युदय-निः श्रेयस, प्रेय-श्रेय के अलावा आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि सबों को समाहित करता है।?

महात्मा गाँधी ने सर्वोदय का उपरोक्त अर्थ मानते हुए एक नया अर्थ भी प्रदान करने का प्रयास किया है जिसकी प्रेरणा संभवतः उन्हें बाइबिल एवं जान रस्किन की पुस्तक "Anto the Last" ली है। यह कारण है कि इस पुस्तक का जब गुजराती भाषा में गाँधी जी ने छायानुवाद किया तो उसका नाम गुजराती में ‘अन्त्योदय’ हुआ, भले ही हिन्दी में “सर्वोदय” रखा गया। बाइबिल में एक अत्यन्त मनोरम एवं हृदय स्पर्शी स्थान है कि सर्वोदय की भावना अंतिम व्यक्ति के कारण से ही आरंभ होनी चाहिए। इस को ध्यान में रखकर गाँधी जी ने अपनी आखिरी प्रसिद्ध तावीज की व्याख्या में कहा था कि जब हमें कोई असमंजस हो या निर्णय लेने में दुविधा हो तो उसका निर्णय करते समय हमें चाहिए कि हमारा हमारे काम से अधिक अंतिम व्यक्ति लाभान्वित होता है तो वह काम करना चाहिए। इसके पीछे मानवता का परम उत्कर्ष तो है ही, एक आध्यात्मिक विचार यह है कि भगवान दरिद्र नारायण है। जो व्यक्ति दीन-हीन, दुखी-दरिद्र, और आकिंचन है, उसमें भगवन का दर्शन करना ही सार्थ है। गीता में कहा गया है-“दरिद्रान् भर-कौन्तेय।” रवीन्द्र नाथ ने भी गीतांजलि में कहा है कि भगवान का चरम स्थान अंतिम, पददलित एवं पीड़ित व्यक्ति के पास है। रामकृष्ण ने तो जेई जीव, तेई शिव कह कर जीव को ही ईश्वर माना। गाँधीजी के आध्यात्मिक शिष्य संत विनोबा भावे ने अपनी पुस्तक “स्वराज्य- शास्त्र” के राज्य के विकास कर चार श्रेणियों में क्रमशः एकायतन, अल्पायतन, बहुआयतन के साथ

सर्वायतन मानते हुए सर्वोदय-दर्शन के अनुसार राज्य व्यवस्था में सर्वायतन यानि जो राज्य-व्यवस्था सभी का, सभी के द्वारा एवं सभी के लिये हो” माना था।

असल में यह शब्दांतर इसलिए किया गया कि पाश्चात्य नीति शास्त्रज्ञों में सिजविक, बैथम मिल आदि ने उपयोगितावाद का नया दर्शन कर खड़ा कर उसे “अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख” का आकर्षक नारा दिया था। किन्तु चूंकि इसका मूलाधार भौतिकवादी जीवन-दर्शन था, वह सर्वोदय-विचार का मंत्र नहीं स्वीकार किया गया। इसके बाद से वैदिक वाङ्मय से “सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः, सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्” का अधिक व्यापक आदर्श स्वीकार्य हुआ। बहुसंख्यक या बहुमत का आधार अल्पमत को खारिज करता है।

यही कारण है कि पाश्चात्य राजतंत्र में संसदीय प्रजातंत्र में बहुमत का आधार लोकतंत्र का अधिष्ठान बन गया। जिसके कारण अनेक विकृतियों का जन्म हुआ। बहुसंख्यक का गणितात्मक समीकरण 51/49 भी हो सकता है एवं यदि 99/100 लेकर 51/49 भी हो सकता है। भारतीय संसद में हाल ही में मात्र 1 वोट से अटलजी की सरकार अपदस्थ हो गयी। एक राज्य में सरकार आज भी अल्पमत में रहकर शासन कर रही है। लेकिन बहुमत अल्पमत के अतिरिक्त उपयोगितावाद का आधार सर्वतोभद्र नहीं है और उसकी दृष्टि मात्र भौतिकवादी है।

हमें सोचना होगा कि सर्वोदय में ‘उदय’ शब्द केवल भौतिक उदय की अपेक्षा नहीं रखता है उपनिषद् में जिस प्रकार प्रेय एवं श्रेय तथा धम्मपद में पिय-सियस वग्गो का और न्याय वैशेषिक में अभ्युदय निः श्रेयस् है। साम्यसूत्र में अभिधेय परमसाम्य में सब का समन्वय है, उसी प्रकार का अन्तर उपयोगितावाद एवं सर्वोदय में है। विनोबा जी ने साम्यसूत्र में अभिधेय परम साम्य की जब उपस्थापना की तो समता में केवल आर्थिक समता का ही नहीं, बल्कि राजनैतिक, सामाजिक, नैतिक, आध्यात्मिक समत्व की बात रखी है। इस अर्थ में समन्तभद्र के सर्वोदय की अवधारणा मूल रूप से आध्यात्मिक है, जबकि गाँधीजी द्वारा प्रतिपादित सर्वोदय आध्यात्मिक होने के साथ-साथ लौकिक भी है। जिसमें जीवनका समस्त पक्ष समाहित है। जिसे हम संरचनात्मक सर्वोदय कह सकते हैं।

आचार्य समन्तभद्र ने अन्य संतो की तरह व्यक्तिगत साधना और व्यक्तिगत समाधि की है। कर्म के द्वारा मनुष्य बन्धन में पड़ता है और कर्म के क्षय होने से ही मोक्ष की सिद्धि होती है। गाँधी ने व्यक्तिगत सदाचार को कम महत्व नहीं दिया और जहाँ जैनाचार्यों ने पंचमहाव्रत को बौद्धों ने पंचशील तथा सांख्य-योग-वेदांत में पंचयाम् के रूप में व्यक्तिगत चारित्रिक साधना को अपनाते हुए एकादश व्रत का विधान रखा है, किन्तु जहाँ संत आदि अंतर्मुखता के कारण केवल व्यक्तिगत जीवन शुद्धि पर जोर देते हैं वहाँ गाँधी उनके विचार को मानते हुए देशकाल और परिस्थिति के अनुसार व्यक्ति के साथ समाज को भी ध्यान में रखते हुए व्यवस्था की पवित्रता पर भी ध्यान देते हैं। भागवत महापुराण में प्रह्लाद ने भगवान द्वारा परमपद प्राप्त करने के लिए जाना छोड़ दिया था और कहा था जब तक समाज

के सारे लोग मुक्त नहीं होते हैं तो उन्हें वह मुक्ति भी नहीं चाहिए। “प्रायेण देव मुनयः स्वविमुक्तकामा” यही कारण है कि गाँधी ने समाज साधना को भी सर्वोदय में स्थान दिया। जीवन साधना के लिए एकादश व्रत और समाज साधना के लिए अठारह रचनात्मक कार्यक्रम बताये। यही नहीं अन्याय के प्रतिकार के लिए उन्होंने सत्याग्रह का अहिंसक अस्त्र भी दिया। इस तरह जहाँ आचार्य समन्तभद्र उच्चतम कोटि के संत थे वहीं गाँधीजी संत और योद्धा दोनों थे। उनके युद्ध में भी अहिंसा का ही प्रयोग था। गाँधी के अनुसार जीवन एक समग्रता है जिसमें समाजनीति, राजनीति, धर्मनीति सब परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। जैसे हमारी समाजनीति होगी वैसी ही हमारी राजनीति होगी। लेकिन गाँधी ने व्यक्तिगत शुद्धता को सब का आधार माना और इसीलिए साधन शुद्धि पर भी अत्यधिक बल दिया। आइन्सटीन ने भी अध्यात्म और विज्ञान का समन्वय करते हुए कहा था कि यदि अध्यात्म बिना विज्ञान अंधा है तो विज्ञान के बिना भी अध्यात्म पंगु है। गाँधी जी के शिष्य विनोबा जी ने वेदान्त को मानते हुए भी शंकराचार्य की उक्ति ‘ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या’ के बदले ‘ब्रह्म सत्यं जगत्स्फूर्तिः जीवानाम् सत्यशोधनम्’ कहकर मायावाद का खंडन किया। आधुनिक युग में योगिराज श्री अरविन्द ने भी यदि भौतिकवाद का इसलिए निषेध किया कि भौतिकवादी आत्मतत्त्व का निषेध करते हैं और आध्यात्मवादियों की इसलिए आलोचना की वे भौतिकजगत का निषेध करते हैं। इसलिए गाँधीजी ने राजनीति और अर्थनीति का आध्यात्मीकरण और शिक्षा तथा विज्ञान को भी आध्यात्म से जोड़कर सर्वोदय विचार को परिपूर्ण और गतिशील बनाया। उन्होंने जैनदर्शन के अनेकांत और स्याद्वाद को इसलिए स्वीकार किया कि वे सत्य को अपनी व्यक्तिगत धरोहर नहीं मानते। सत्य सापेक्ष होता है इसलिए अपने विचार को ही सही और दूसरे को गलत कहना एक प्रकार की हिंसा है। इसीलिए जैन परंपरा में भी भिक्षु और गृहस्थ दो प्रकार के विधान हैं और दोनों के लिए अलग-अलग सदाचार के नियम हैं। बौद्ध परंपरा में भी पंचशील और दक्षशील का भेद है। भिक्षु बनने के लिए कठोर साधना की आवश्यकता है, लेकिन गृहस्थ सांसारिक जीवन में हैं फिर भी अहिंसा के साथ अपरिग्रह की साधना भी गृहस्थों के लिए भी आवश्यक है भले उसकी कुछ मर्यादा हो। अपरिग्रह के बिना अहिंसा संभव ही नहीं है और विनम्रता और सदाचार के बिना सत्य धर्म का पालन ही नहीं हो सकता। इसलिए गाँधी ने जैन धर्म के सर्वोदय विचार को युगानुकूल और व्यावहारिक बनाने के लिए उसे व्यक्तिगत उत्कर्ष के साथ-साथ सामाजिक और सांस्कृतिक उत्कर्ष का भी साधन बनाया।

निष्कर्ष में हम कह सकते हैं कि समन्तभद्र और गाँधी दोनों यह मानते हैं कि व्यक्तिगत जीवन शुद्धि के बिना हम समाजशुद्धि की कल्पना नहीं कर सकते हैं। इसीलिए दोनों में किसी प्रकार का विरोध नहीं है। आचार्य श्री सर्वोदय विचार की नींव हैं। गाँधी सर्वोदय रूपी भव्य भवन के कलश हैं। समन्तभद्र के अनुसार सर्वोदय तीर्थ व्यक्ति को तारता हुआ मोक्ष प्रदान करता है। गाँधी का सर्वोदय व्यक्ति को तो मुक्ति देता ही है साथ-साथ समाज को भी सर्वतोभद्र रूप से विकसित करता है।

जैन परंपरा ने आगे चलकर जन्मना जाति प्रथा और हिंसा के विकृततम रूप धर्म के नाम पर पशुबलि का विरोध किया था। वहीं गाँधी ने समूचे विश्व में अहिंसा का प्रचार किया। आचार्य समन्तभद्र ने जैन शास्त्रों के अनुकूल ही सर्वोदय तीर्थ का प्रतिपादन किया। वहाँ गाँधी ने केवल अपने धर्म के प्रति श्रद्धा और निष्ठा व्यक्त करते हुए भी सर्व धर्म समभाव की भावना को आगे बढ़ाया। अनेकांत विचार के अनुसार यह कहना कि केवल हमारा धर्म ही सर्वश्रेष्ठ है शायद समीचीन नहीं होगा। इसीलिए आज गाँधी ने अहिंसा को वैश्विक और सर्व धर्मावलम्बी बनाकर अनेकांतवाद को ही सशक्त किया है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है। अनेकांत केवल शब्द नहीं भावना का नाम है।

- पूर्व कुलपति एवं संसद सदस्य

104, सान्याल एन्कलेव, बुद्ध मार्ग,

पटना-800001 (बिहार)

पुस्तक समीक्षा

कृति का नाम- मूलाचार वसुनन्दि पारिभाषिक कोश, संपादक- डॉ. रमेशचन्द्र जैन, डी.लिट, निदेशक- जैन विद्या अध्ययन एवं अनुसंधान केन्द्र, वर्द्धमान कॉलेज, बिजनौर (उ.प्र.), प्रकाशक एवं प्राप्ति स्थान- श्री अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद्, मंत्री कार्यालय- एल-65, न्यू इंदिरानगर, बुरहानपुर (म.प्र.) मो. 09826565737, पृष्ठ-17+341, मूल्य-300रु।

समीक्ष्य कृति 'मूलाचार वसुनन्दि पारिभाषिक कोश' श्री अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् की विशिष्ट साहित्य प्रकाशन परंपरा का एक अनुपम पुष्प है। जिसका संपादन विद्वत्परिषद् के पूर्व अध्यक्ष डॉ. रमेशचन्द्र जैन, डी. लिट्., बिजनौर ने किया है। कृति एवं कृतिकार के विषय में परम पूज्य आचार्यश्री विद्यानंद जी महाराज ने अपना आशीर्वाद देते हुए कहा है कि-

कोषस्येव महीपानां कोशस्य विदुषामपि।

उपयोगो महान् यस्मात् क्लेशस्तेन विना भवेत्॥

अर्थ- जिस प्रकार राजाओं को 'कोष' (धन का भण्डार) की बड़ी भारी आवश्यकता होती है और उसके अभाव में बड़ा कष्ट उठाना पड़ता है, उसी प्रकार विद्वानों को भी 'कोश' (शब्दों का भण्डार, ज्ञान का भण्डार) की महती उपयोगिता होती है और उसके अभाव में बड़ा कष्ट उठाना पड़ता है। सच है 'कोश' के बिना कोई भी अच्छा वक्ता या लेखक नहीं हो सकता।

धर्मानुरागी विद्वद्भर्य डॉ. रमेशचन्द्र जैन निरंतर अध्ययनशील एवं सज्जन पुरुष हैं, उन्हें जैनदर्शन के साथ-साथ इतर दर्शनों का भी अच्छा ज्ञान है। मूलाचार की वसुनन्दि-वृत्ति का 'कोश' तैयार कर उन्होंने विद्वानों एवं सामान्य स्वाध्यायी व्यक्तियों के लिए भी बड़ा ही उपयोगी कार्य किया है। वे इसी प्रकार जिनवाणी की सतत सेवा करते रहें-यही मंगल आशीर्वाद है।

उक्त कृति की रचना के पीछे परम पूज्य मुनिपुंगव श्री सुधासागर जी महाराज की प्रशस्त प्रेरणा रही है। बांसवाड़ा चातुर्मास काल में उनके ही सानिध्य में संपन्न 'मूलाचार अनुशीलन राष्ट्रीय विद्वत्संगोष्ठी' के समय डॉ. रमेशचन्द्र जी के मस्तिष्क में यह विचार उभरा कि मूलाचार के टीकाकार आचार्य वसुनन्दि ने जो परिभाषाएं दी हैं वे अनुपम हैं और उनका एक कोश बनना चाहिए लेकिन यह श्रमसाध्य कार्य कोई और कैसे करता। अतः स्वयं

इस कार्य का बीड़ा और लगभग एक वर्ष के कठोर परिश्रमपूर्वक कृति को प्रस्तुत रूप प्रदान किया। इसमें संकलित परिभाषाएं अनुपम हैं। धीर की परिभाषा करते हुए आचार्य वसुनन्दि ने लिखा है कि-

एयाइणो अविहला वसंतिगिरिकंदरेसु सप्पुरिसा।

धीरा अदीणमणसा रममाणा वीरवयणम्मि॥ ७८९॥

जो एकाकी रहते हैं, विकलतारहित हैं, गिरिकन्दराओं में निवास करते हैं, सत्पुरुष हैं, दीनतारहित हैं, वीर भगवान के वचनों में रमते हुए वे धीर कहलाते हैं।

कृति की पाण्डुलिपि तैयार करने में डॉ. अशोक कुमार जैन, रीडर- जैन बौद्ध दर्शन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। जैन साधुओं, शोधार्थियों, विद्वानों एवं समाज के स्वाध्यायी बन्धुओं के लिए यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी एवं सार्थक है। कृति का प्रकाशन अनुपम है।

-डॉ. सुरेन्द्र कुमार जैन,
बुरहानपुर

कृति का नाम- श्रावकाचार-संहिता, लेखक- विद्यारत्न डॉ. नरेन्द्र कुमार जैन, सनावद (म.प्र.), प्रकाशक एवं प्राप्ति स्थान- श्री अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद्, महामंत्री कार्यालय-एल-65, न्यू इंदिरानगर, बुरहानपुर (म.प्र.), पृ.190, मूल्य 100रु०।

समीक्ष्य कृति में प्रसिद्ध लेखक तथा पत्रकार विद्यारत्न डॉ. नरेन्द्र कुमार जैन ने आचार, विचार एवं व्यवहार को आधार बनाकर जैनधर्म में वर्णित श्रावकों की नियमानुसार शास्त्र सम्मत चर्या का सरल, सुबोध और बोधगम्य भाषा में विभिन्न उद्धरणों के साथ विस्तृत वर्णन कर प्रस्तुत किया है। धर्म के शाश्वत स्वरूप से आरंभ होकर 42 उपशीर्षकों में विभक्त विषय सामग्री में जैन धर्म के तीन रत्न सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की महती आवश्यकता बताते हुए सुयोग्य लेखक ने बताया है कि देव, शास्त्र, गुरु पर सम्यक् श्रद्धा न किए बिना कोई भी धार्मिक कार्य सफलीभूत नहीं हो सकता। सच्चे देव को वीतराग, सर्वज्ञ और आगम का ईश बताकर देव, अदेव, कुदेव और देवाधिदेव से परिचित कराकर सच्चे देव की पूजा-अर्चना की प्रेरणा, जिनवाणी को सच्चे शास्त्र तथा परिग्रह रहित दिगम्बर मुनियों को सच्चा गुरु मानने की भावना को परिपक्व बनाते हुए लेखक ने अहिंसा का मार्ग ग्रहण कर अणुव्रतों को मानसिक, शारीरिक विकारों को दूर करने का आवश्यक साधन बताया। शराब, तन, मन और धन को खराब करती है, असमय मौत शराब के कारण होती है, चित्त और पित्त विकार शराब की देन है, मांसाहार किसी भी दृष्टि से सेवन योग्य नहीं, चारित्र धारण करने के लिए सप्त व्यसन त्याग, रात्रि भोजन के दुष्परिणामों के साथ दिन में भोजन की प्रेरणा, सच्चे देव की श्रद्धा के साथ दर्शन, वंदन, नमन-पूजन, अष्ट द्रव्यों से ही पूजा, गुरु उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप, दान, दिगम्बर मुनि का आहारचर्या में लेखक ने जोर देकर बताया है कि श्रावकों को आहारदान में नगद धनराशि न देकर स्वयं उपस्थित होकर अपने करकमलों से श्रद्धा और भक्ति के साथ मुनियों और साधुओं को आहार देना चाहिए। यह आहार 46 दोषों से रहित तथा सात गुणों से सहित होना चाहिए। दान का उल्लेख करते हुए बताया गया है कि गृहस्थ की प्रतिष्ठा दान से ही होती है। सुखी होने के लिए मैत्री, प्रमोद, करुणा और मध्यस्थ भावों की उपयोगिता, असिधाराव्रत का महत्व, महीने के चार पर्व, अष्टान्हिका, पंच कल्याणक महोत्सव, दान धर्म प्रवर्तक, वीरशासन जयंती, दीपावली जैसे प्रमुख पर्वों का वर्णन किया गया है और अंत में बताया है कि

श्रावक धर्म की सम्यक् विवेचना का प्रमुख उद्देश्य यह बताना है कि मानव का आचार, विचार और व्यवहार धर्मसम्मत बने क्योंकि धर्म ही शान्ति प्रदाता है।

जैनधर्म में विभिन्न आचार्यों के श्रावकाचार मिलते हैं जिनमें श्रावक धर्म की विशद व्याख्या शास्त्रीय भाषा में निबद्ध है। आज पाश्चात्य भोगवादी संस्कृति से प्रभावित व्यक्तियों का आचरण धर्म से दूर होता जा रहा है। व्यक्ति धर्म को विज्ञान की कसौटी पर कसना चाहता है, श्रद्धा गुण लोगों के जीवन से दूर होता जा रहा है। ऐसी स्थिति में एक ऐसी पुस्तक की आवश्यकता महसूस की जा रही थी जो श्रावकों के षट्कर्मों से लोगों को जन सामान्य की भाषा में शास्त्रोक्त उद्धरणों को देकर सरल ढंग से समझा सके। सुयोग्य लेखक, संपादक तथा विद्वान् डॉ. नरेन्द्र कुमार जैन ने यह पुस्तक लिखकर एक महान् कार्य किया है।

इस पुस्तक में विभिन्न ग्रंथों के उल्लिखित विषय संदर्भित संस्कृत तथा प्राकृत के 217 श्लोक, हिन्दी के 61 पद्यांश, 2 भजन, 12 नीतिश्लोक के साथ अनेक शास्त्रोक्त परिभाषाओं के साथ भारतीय तथा विदेशी विद्वानों, शोध कर्त्ताओं और चिकित्सकों के विभिन्न विचारों को प्रसंगानुरूप प्रस्तुत कर विषय को उपयोगी तथा रुचिकर बनाने में लेखक ने पर्याप्त ध्यान दिया है। लेखक जैन धर्म के प्रति समर्पित विद्वान् हैं अतः उन्होंने यह पूरा पूरा ध्यान रखा है कि कोई बात ऐसी न दिखाई दे जो जैन धर्म के विपरीत हो। श्रावकगण यदि इस पुस्तक का स्वाध्याय कर जीवन में थोड़ा सा भी परिवर्तन धर्म के अनुरूप कर सकें तो लेखक का प्रयास सफल रहेगा। निःसन्देह लेखक का प्रयास अत्यन्त सफल, सार्थक तथा युगीन परिस्थितियों के अनुकूल है।

श्री अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् ने इस कृति का प्रकाशन कर श्रावकों के प्रति अपने दायित्वबोध का सम्यक् निर्वाह किया है। एक बार पुनः कृतिकार को सुन्दर तथा सुयोग्य लेखन के लिए बधाई।

-पं. कोमलचन्द जैन

टीकमगढ़ (म.प्र.)

जैन विद्याओं के विकास में आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार का योगदान

-डॉ. कमलेश कुमार जैन

वर्तमान युग में जैनविधाओं का विकास भगवान् महावीर स्वामी की दिव्यध्वनि से प्रारंभ होता है और गौतम गणधर से लेकर अद्यावधि तक जो कुछ श्रुत परंपरा किंवा गुरुपरंपरा से प्राप्त हुआ है, वह सब जैनविद्याओं के विकास का एक विस्तृत दस्तावेज है। इसे हमारे आचार्यों ने दो भागों में विभक्त किया है। प्रथम भाग वह है जिसका सीधा संबन्ध वीरप्रभु की ओंकार रूप दिव्यध्वनि से है। इसे गौतम गणधर ने ग्रंथों का रूप दिया और इसे ही हम द्वादशांग वाणी के नाम से जानते हैं तथा यही द्वादशांगवाणी अद्यावधि हमारा मार्गदर्शन कर रही है। यही साहित्य जैनविधाओं का मूल है। इसके आधार पर जो कुछ भी कहा गया अथवा लिखा गया वह सब द्वितीय भाग के अन्तर्गत आता है, जिसे अंगबाह्य के नाम से जाना जाता है। यद्यपि श्रुत-परंपरा के माध्यम से प्रवहमान साहित्य देश-काल की विपरीत परिस्थितियों एवं उत्तरोत्तर बुद्धि की मन्दता के कारण ह्रास को प्राप्त हुआ है, फिर भी जो कुछ शेष है वह वर्तमान परिवेश में कम नहीं है, क्योंकि सूत्र रूप में लिखित अंग साहित्य को आधार बनाकर जो भी लिखा गया है अथवा उसकी व्याख्या की गई है वह विशाल है।

इस साहित्य को श्रुत परम्परा के आधार पर पल्लवित एवं पुष्पित करने में आचार्य पुष्पदंत-भूतबलि, आचार्य कुन्दकुन्द आचार्य गुणधर, आचार्य समन्तभद्र, आचार्य शिवकोटि, आचार्य कीर्तिकेय स्वामी, आचार्य यतिवृषभ, आचार्य पूज्यपाद, आचार्य अकलंकदेव, आचार्य विद्यानंद, आचार्य वीरसेन स्वामी, आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती, आचार्य वसुनन्दी, आचार्य अमितगति, आचार्य प्रभाचन्द्र, आचार्य अमृतचन्द्रसूरि, आचार्य जयसेन, और आचार्य जिनसेन आदि शताधिक आचार्यों ने महती भूमिका निभाई है।

वर्तमान काल में जैनविधाओं के विकास हेतु उनके लेखन, संपादन, समीक्षण, अनुवाद एवं शोध-खोज के माध्यम से पं. नाथूराम प्रेमी ने जो क्रम प्रारंभ किया उसे गति एवं स्थायित्व प्रदान करने में स्वनामधन्य पं. जुललकिशोर मुख्तार साहब का नाम सर्वोपरि है।

पं. मुख्तार साहब का जन्म कानूनगोयान वंश में मगसिर शुक्ला एकादशी, विक्रम संवत् 1834 (तदनुसार सन् 1877) में सहारनपुर (उ.प्र.) के समीपवर्ती कस्बा सरसावा में हुआ था और 22 दिसम्बर सन् 1968 में 92 वर्ष की आयु में उनका एटा (उ.प्र.) में स्वर्गवास हो गया। आपकी माताजी का नाम श्रीमती भूदेवी एवं पिताजी का नाम चौधरी नत्थूमल था।

प्राच्य विधाओं के गहन अध्येता, महामनस्वी पं. जुगलकिशोर मुख्तार एक सफल संपादक, समालोचक, अनुवादक, भाष्यकार, निबन्धकार और सहृदय कवि के रूप में प्रतिष्ठित हैं। उन्होंने बीसवीं शती के पहले दशक से सातवें दशक तक के लगभग सत्तर वर्षों में जो साहित्य साधना की है, वह अद्वितीय है। उन्होंने अपनी लेखनी के द्वारा जहाँ

अनेक ग्रंथों का संपादन किया है, वहीं विस्तृत भूमिकाओं अथवा प्रस्तावनाओं के माध्यम से ग्रंथ और ग्रंथकार पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। साथ यही ग्रंथ के प्रारंभ, मध्य अथवा अन्त में उल्लिखित प्राचीन आचार्यों, कवियों, शासकों या उनके उद्धरणों अथवा दूसरे ग्रंथों या शिलालेखों में प्राप्त तथ्यों या सिद्धांतों के आधार पर आचार्यों के काल निर्धारण में जो सयुक्तिक मापदण्डों को प्रस्तुत किया है, वह उनके अगाध पाण्डित्य, चिन्तन-मनन एवं शोध खोज का निदर्शन है।

श्री मुख्तार साहब द्वारा लिखित, संपादित एवं अनूदित कृतियों की संख्या लगभग तीन दर्शन से अधिक हैं। ये कृतियां विविध विषयों से परिपूर्ण हैं। हम उनके कृतित्व को सात भागों में विभाजित कर सकते हैं- 1. भाष्य ग्रंथ 2. परीक्षा ग्रंथ, 3. ऐतिहासिक निबन्ध, 4. प्रस्तावना, 5. संस्कृत हिन्दी कविताएँ, 6. पत्र-पत्रिकाओं का संपादन एवं 7. स्फुट साहित्य।

१. भाष्य ग्रन्थ :-

पं. जुगलकिशोर मुख्तार साहब आचार्य समन्तभद्र के अनन्य भक्त थे। इसलिये उन्होंने आचार्य समन्तभद्र के द्वारा लिखित ग्रंथों पर विस्तृत हिन्दी भाष्य लिखे हैं और उनके ग्रंथों के मर्म को जिस श्रद्धा और भक्ति के साथ उद्घाटित किया है, वह बेजोड़ है। समन्तभद्रीय ग्रंथों का भाष्य लिखते समय श्री मुख्तार साहब ने कोरा पाण्डित्य प्रदर्शन नहीं किया है, अपितु उनके प्रति श्रद्धा और भक्ति को भी प्रकट किया है, जिससे आचार्य समन्तभद्र के प्रति उनका विशेष अनुराग प्रतीत होता है।

आचार्य समन्तभद्र के जिन ग्रंथों पर पं. जुगलकिशोर मुख्तार साहब ने भाष्य लिखे हैं, उनमें समीचीन धर्मशास्त्र (रत्नकरण्ड श्रावकाचार), स्वयम्भूस्तोत्र, युक्त्यनुशासन और आप्तमीमांसा अपरनाम देवागम स्तोत्र प्रमुख हैं। उनके द्वारा हिन्दी में लिखे गये ये भाष्य मूल के अनुकूल तो हैं ही, साथ ही मूल श्लोक अथवा कारिका के मर्म को प्रकट करने वाले हैं, मुख्तार साहब ने सर्वप्रथम श्लोक का अर्थ लिखा है। इस अर्थ की विशेषता यह है कि इसमें मोटे टाइप में तो शब्दार्थ दिया है। साथ ही उस अर्थ की संगति बैठाने के लिए छोटे टाइप हैं। प्रत्येक शब्द का विशेष अभिप्राय प्रकट किया है। इतना ही नहीं, आवश्यकतानुसार मध्य-मध्य में कोष्ठकों के माध्यम से शब्द के निहितार्थ को समझाने का भरसक प्रयास किया है। तदनन्तर उस श्लोक या कारिका का पूर्वापर संबन्ध स्थापित करते हुये भाष्य लिखा है। इस भाष्य की विशेषता यह है कि यदि कोई परिभाषिक शब्द पहले किसी अन्य अर्थ में प्रयुक्त था और बाद में देश-काल के कारण उसका अर्थ विकृत हो गया है तो मुख्तार साहब ने अर्थ करते समय/भाष्य लिखते समय उस देश और उस काल को ध्यान में रखकर वास्तविक मन्तव्य प्रकट किया है, जिससे तत्कालीन अर्थ का यही द्योतन होता है। इस अर्थ की पुष्टि के लिये उन्होंने अन्य ग्रंथों अथवा समकालीन आचार्यों के ग्रंथ संदर्भ प्रस्तुत कर अपनी बात को प्रामाणिक रूप में स्पष्ट किया है।

यह स्थिति केवल आचार्य समन्तभद्र के ग्रंथों पर लिखे गये भाष्यों की ही नहीं है, अपितु पं. जुगलकिशोर मुख्तार जी ने अन्य जिन-जिन आचार्यों के ग्रंथों पर भाष्य लिखे हैं, उनमें भी इसी पद्धति को अपनाया है।

आचार्य समन्तभद्रकृत स्तुतिविद्या का हिन्दी अनुवाद यद्यपि पं. पन्नालाल साहित्याचार्य ने किया है, किन्तु इसकी विस्तृत प्रस्तावना में उन्होंने ग्रंथ के नाम आदि से लेकर ग्रंथ और ग्रंथकार पर तो विचार किया ही है, साथ ही उनके टीकाकार आदि पर भी विचार किया है। ग्रंथगत विषयवस्तु का विवेचन और उनकी युक्तियों का अन्य शास्त्रों के आधार पर तार्किक दृष्टि से पुष्ट करना पं. मुख्तार साहब जैसे जिनवाणी के गहन अध्येता द्वारा ही संभव था।

जैन सिद्धांत के अनुसार भगवान् वीतराग है। उनकी स्तुति अथवा निन्दा करने से वे न तो प्रसन्न होते हैं और न ही नाराज। इसी प्रकार वे सृष्टि से कर्ता भी नहीं है, जबकि अन्य अनेक भारतीय दर्शन ईश्वर को सृष्टिकर्ता के रूप में स्वीकार करते हैं। इन्हीं अन्य दर्शनों से संगति बैठाने की दृष्टि से एवं वीतरागदेव की स्तुति-पूजा आदि करने के औचित्य को निर्धारित करते हुये पं. जुगलकिशोर मुख्तार जी स्तुतिविद्या की प्रस्तावना (पृष्ठ 17) में लिखते हैं-

“जब भले प्रकार संपन्न हुये स्तुति-वन्दनादि कार्य इष्टफल को देने वाले हैं तब वीतरागदेव में कर्तृत्व विषय का आरोप सर्वथा असंगत तथा व्यर्थ नहीं है, बल्कि ऊपर के निर्देशानुसार संगत और सुगठित है- वे स्वेच्छा-बुद्धि-प्रयत्नादि की दृष्टि से कर्ता न होते हुये भी निमित्तादि की दृष्टि से कर्ता जरूर हैं और इसलिये उनके विषय में अकर्तापन का सर्वथा एकान्त पक्ष घटित नहीं होता; तब उनसे तद्विषयक अथवा ऐसी प्रार्थनाओं का किया जाना भी असंगत नहीं कहा जा सकता है, जो उनके संपर्क तथा शरण में आने से स्वयं सफल हो जाती है अथवा उपासना एवं भक्ति के द्वारा सहज साध्य होती है।”

परीक्षा ग्रन्थ:-

पं. जुगलकिशोर मुख्तार अपने परमाराध्य समन्तभद्र स्वामी के केवल भक्त ही नहीं थे, अपितु उनके पथानुगामी भी थे। जैसे आचार्य समन्तभद्र ने अपनी आप्तमीमांसा में आप्त किंवा सच्चे देव की परीक्षा की है, ठीक उसी प्रकार मुख्तार साहब ने प्राचीन एवं पूज्य आचार्यों के नाम से अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिये लिखे गये प्राचीन ग्रंथों/ जिनवाणी का परीक्षण किया है और एक नवीन क्रान्ति का सूत्रपात किया है। अनेक शताब्दियों से जिन ग्रंथों को पूर्वाचार्यों की कृति माना जा रहा था, उनका सम्यक् परीक्षण करके उन्हें तथाकथित भट्टारकों की कृतियाँ सिद्ध किया है। आप्तमीमांसा एवं आप्तमीमांसा की तर्ज पर ग्रंथ परीक्षा के कारण प्रारंभ में मुख्तार साहब को विद्वानों का कोपभाजन बनना पड़ा, किन्तु बाद में उनके अकाट्य तर्कों को विद्वानों ने स्वीकार किया। फलस्वरूप सच्ची जिनवाणी से जैन विद्वानों का परिचय हुआ।

ऐसे विवादित अनेक ग्रंथों का परीक्षण करके मुख्तार साहब ने उन्हें ग्रंथ परीक्षा के नाम से चार भागों में प्रकाशित किया था। प्रथम भाग में आचार्य उमास्वामी के नाम से प्रचलित श्रावकाचार, आचार्य कुन्दकुन्द के श्रावकाचार और आचार्य जिनसेन के त्रिवर्णाचार की परीक्षा करके उन्हें परंपरा-विरुद्ध एवं झूठा सिद्ध किया है।

द्वितीय भाग में मुख्तार साहब ने अत्यन्त प्रतिष्ठित एवं पञ्चम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु स्वामी के नाम से परवर्ती काल में लिखित ग्रंथ भद्रबाहु संहिता का अन्तरंग परीक्षण

करके उसे किसी परवर्ती विद्वान की कृति सिद्ध किया है। इसकी पुष्टि में उन्होंने अनेक पुष्ट एवं प्रामाणिक तर्क प्रस्तुत किये हैं।

तृतीय भाग में मुख्तार साहब ने सोमसेन के त्रिवर्णाचार, धर्मपरीक्षा (श्वेताम्बरी), अकलंक प्रतिष्ठा पाठ और पूज्यपाद उपासकाचार का परीक्षण करके उन्हें तत्-तद् आचार्यों की कृति न होने की पुष्टि की है।

इसी प्रकार चतुर्थ भाग में उन्होंने शिथिलाचार का पोषण करने वाले ग्रंथ सूर्यप्रकाश की समीक्षा की है और स्पष्ट किया है कि समाज को इस प्रकार से नकली साहित्य से बचना चाहिये।

वस्तुतः उपर्युक्त ग्रंथों की परीक्षा करके मुख्तार साहब ने समाज का स्थितिकरण किया है।

ऐतिहासिक निबन्ध:-

आचार्य जगलकिशोर मुख्तार साहब ने शताधिक ऐतिहासिक एवं शोध-खोजपूर्ण निबन्धों का लेखन कर जहाँ शोधार्थियों को एक नवीन दिशा दी है, वहीं उन्होंने जैन समाज में प्रचलित विभिन्न धारणाओं अथवा कुरीतियों का शास्त्र-सम्मत विश्लेषण करके उनका निराकरण किया है। ये लेख बीसवीं शती के प्रथम छह-सात दशकों की धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक गतिविधियों के साक्षी हैं। युग को पहिचानकर युग के साथ चलना और सर्वसमाज को दिशा-निर्देश देना युगपुरुष की विशेषता होती है और यह विशेषता पं. जुगलकिशोर मुख्तार साहब में थी। अतः वे सच्चे अर्थों में युगपुरुष किंवा युगवीर थे।

पं. जुगलकिशोर साहब के ये लेख समय-समय पर तत्कालीन विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुये थे, जो बाद में संकलित कर युगवीर निबन्धावली के प्रथम एवं द्वितीय खण्ड में प्रकाशित हुये हैं।

प्रथम खण्ड में इकतालीस लेख हैं, जो विविध विषयों से संबन्धित हैं। द्वितीय खण्ड में पैंसठ लेख हैं। द्वितीय खण्ड के लेख उत्तरात्मक, समालोचानात्मक, स्मृति परिचयात्मक, विनोद शिक्षात्मक एवं प्रकीर्णक के नाम से पाँच भागों में विभक्त हैं। उत्तरात्मक लेख वे हैं, जो मुख्तार साहब के लेखों पर टिप्पणी करने पर उन्होंने उत्तर स्वरूप लिखे थे तथ अपने पूर्वलेखों में प्रकट अभिप्रायों की शास्त्रानुसार पुष्टि करते हैं। इसी प्रकार अन्य भागों में भी विस्तृत लेख लिखे हैं। विनोद-शिक्षात्मक लेख तो बड़े मजेदार हैं। ये लेख जहाँ पाठकों का मनोविनोद करते हैं, वहीं जैनदर्शन के गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन भी करते हैं।

युगवीर निबन्धावली के दो भागों में प्रकाशित अनेक लेख स्वतंत्र ट्रेक्ट के रूप में भी प्रकाशित हो चुके हैं। इन्हीं में से एक ट्रेक्ट का नाम है-‘अनेकान्त रस लहरी’। इसमें मुख्तार साहब के चार लेखों का संग्रह है। ये लेख बालोपयोगी तो हैं ही, साथ ही उन लोगों के लिये भी महत्वपूर्ण हैं जो अनेकान्तवाद को छलवाद या घृणा की दृष्टि से देखते हैं। पं. मुख्तार साहब ने इसमें विविध उदाहरणों के माध्यम से अनेकान्तवाद सिद्धान्त को

समझाने का प्रयास किया है। वस्तुतः कोई लाइन न छोटी होती है और न बड़ी, अपितु सापेक्षदृष्टि से विचार करने पर ही लाइन छोटी अथवा बड़ी होती है। 'ही' और 'भी'— इन दो पदों के माध्यम से मुख्तार साहब ने स्पष्ट किया है कि 'भी' पद अनेकान्तवाद का द्योतक है, जबकि 'ही' पद हमारी एकान्तवादिता या हठवादिता का प्रतीक है। इसी लघुकृति में मुख्तार साहब ने दानी की परिभाषा का अनेकान्तवाद के परिप्रेक्ष्य में ऐसा सोदाहरण विवेचन किया है कि जससे जन सामान्य की आँखें खुल जाती हैं और यह स्पष्ट हो जाता है कि मान-बढ़ाई के कारण दिया गया बड़े से बड़ा दान भी अहिंसा और परोपकार की भावना से दिये गये छोटे से छोटे दान के सामने तुच्छ है।

इस लघुवृत्ति के माध्यम से मुख्तार साहब ने अनेकान्त के वास्तविक स्वरूप को समझाने का प्रयास किया है। छोटे बच्चों अथवा जैनदर्शन के अनेकान्त सिद्धान्त से अनभिज्ञ लोगों के लिये यह एक उत्तम पुस्तक है। इसका पुनः प्रकाशन कराकर सर्वसाधारण में वितरण करना उपयोगी रहेगा।

इसी क्रम में मुख्तार साहब की एक अन्य कृति है— 'जैन साहित्य और इतिहास' पर लिखे गये बत्तीस लेखों का संकलन है। वस्तुतः ये लेख पं. नाथूराम जी प्रेमी के प्रसिद्ध इतिहास ग्रंथ 'जैन साहित्य और इतिहास' पर विस्तृत प्रकाश डालते हैं। जैसा कि इस ग्रंथ के नाम से स्पष्ट है। इसमें मुख्तार साहब के 'भगवान महावीर और उनका समय' तथा 'स्वामी समन्तभद्र' जैसे उन शोधपूर्ण आलेखों का भी संकलन है, जो पृथक्-पृथक् स्वतंत्र ट्रेक्ट के रूप में भी प्रकाशित है।

उपर्युक्त के अतिरिक्त पं. जुगलकिशोर मुख्तार ने दिगम्बर जैन साहित्य के प्राकृत पद्यों/ गाथाओं का संयोजन/ संकल्प और संपादन करके 'पुरातन जैन वाक्यसूची' के नाम से जो संग्रह प्रकाशित किया है, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसमें विद्वानों/शोधार्थियों को दिगम्बर जैन साहित्य के प्राकृत पद्यों को खोजने में मदद मिलेगी।

इस ग्रंथ की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि पं. मुख्तार साहब ने इस ग्रंथ के प्रारंभ में 170 पृष्ठीय एक विस्तृत प्रस्तावना लिखी है, जिसमें उन्होंने 64 ग्रंथों और उनके लेखकों पर विस्तार से विचार किया है और कुछ अनुछुए पहलुओं को अपनी लेखनी का विषय बनाया है। इसमें अनेक विवादित प्रश्नों का सर्वमान्य समाधान आगम और आगमोत्तर साहित्य के आलोक में प्रस्तुत किया है। यह शोधपूर्ण लेखन इतना प्रामाणिक एवं तर्कपूर्ण है कि आज भी वह शोधार्थियों के लिये प्रकाशस्तंभ का कार्य करता है।

तिलोयपण्णत्ती और यतिवृषभ (पृष्ठ 27 से 58 तक), गोम्मटसार और नेमिचन्द्र (पृष्ठ 68 से 91 तक) एवं सन्मत्तिसूत्र और सिद्धक्षेत्र (पृष्ठ 119 से 168 तक) नामक शीर्षकों के अन्तर्गत उन्होंने लगभग एक सौ पृष्ठों में उन उन आचार्यों और उनके ग्रंथों से संबन्धित प्रचुर सामग्री प्रस्तुत की है, जिससे अनेक भ्रांतियों का निराकरण हुआ है।

जैन ग्रंथ प्रशस्ति संग्रह, भाग 1 में संस्कृत एवं प्राकृत भाषा में निबद्ध 171 अप्रकाशित ग्रंथों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित संकलन किया गया है। तत्-तद् ग्रंथों की संक्षिप्त जानकारी हेतु इन प्रशस्तियों का विशेष महत्त्व है।

प्रस्तावनाएँ :-

ग्रंथों की विस्तृत प्रस्तावनाएँ लिखना तथा ग्रंथ और ग्रंथकार का बाह्य एवं आन्तरिक परीक्षण करना मुख्तार साहब का व्यसन था। वे अपनी शोध-खोज के माध्यम से निकले शोध-बिन्दुओं को दृढ़ता से प्रस्तुत करते थे। शोध-खोज से प्राप्त सामग्री का कभी भी उन्होंने अपलाप नहीं किया। बड़े से बड़े विद्वान् के द्वारा लिखित बातें यदि शोध-खोज पूर्ण तथ्यों के विपरीत हैं तो उन्होंने उनका सतर्क पुरजोर खण्डन किया है। वे ग्रंथ प्रस्तावनाएँ लिखने में सिद्धहस्त थे। क्योंकि ग्रंथ, ग्रंथकार और पूर्ववर्ती तथा परवर्ती आचार्यों के साहित्य के आलोक में ग्रंथकार का काल निर्धारण करना मुख्तार साहब की विशेषता थी और यही कारण है कि उन्होंने एक ही नाम वाले एकाधिक आचार्यों को प्रकाश में लाने का अथक परिश्रम किया है। विस्तृत प्रस्तावनाओं का मूल कारण मुख्तार साहब का गहन अध्ययन है। साथ ही एक ही ग्रंथ का अनेक बार स्वाध्याय करना और नित्य नवीन तथ्यों का उद्घाटन करना भी अन्य कारण है।

मुख्तार साहब ने अनेक ग्रंथों की प्रस्तावनाएँ लिखी हैं, जिनमें उन्होंने ग्रंथ और ग्रंथकार के अतिरिक्त अन्य ग्रंथों से मूल ग्रंथ के प्रतिपाद्य का विशद विवेचन करते हुये तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है, जो ग्रंथ में प्राण फूँक देते हैं। उनके द्वारा अथक परिश्रम से स्थापित शोध निष्कर्ष आज भी मील के पत्थर के समान अडिग हैं और मुख्तार साहब की शोधप्रियता का गुणगान करते हैं।

मुख्तार साहब ने जिन ग्रंथों की प्रस्तावनाएँ लिखी हैं, उनमें उनके द्वारा अनूदित एवं संपादित ग्रंथों- समीचीन धर्मशास्त्र (रत्नकरण्ड श्रावकाचार), स्वयम्भूस्तोत्र, युक्त्यनुशासन, प्रभाचन्द्रीय तत्त्वार्थसूत्र, नागसेन का तत्त्वानुशासन, कल्याण कल्पद्रुम, अध्यात्म रहस्य, समाधि मरणोत्साह दीपक, योगसार प्राभृत आदि ग्रंथों के अतिरिक्त स्तुतिविद्या, समाधितंत्र और पाण्डे राजमल्लकृत अध्यात्म कमलमार्तण्ड आदि की प्रस्तावनाएं विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

संस्कृत-हिन्दी कविताएँ :

आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार ने यद्यपि किसी संस्कृत पाठशाला में अध्ययन नहीं किया था, किन्तु संस्कृत-प्राकृत और अपभ्रंश आदि प्राचीन भाषाओं पर भी उनका असाधारण अधिकार था। इसीलिये उन्होंने जहाँ अनेक संस्कृत ग्रंथों के ऊपर हिन्दी भाष्य लिखकर अपने संस्कृतज्ञ होने का परिचय दिया है, वहीं संस्कृत भाषा में कविता लिखकर अपनी दक्षता प्रकट की है।

मुख्तार साहब द्वारा संस्कृत एवं हिन्दी भाषा में लिखित कविताओं का संकलन 'युगवीर भारती' के नाम से प्रकाशित है। इसमें उनकी कविताओं का संकलन है। उपासना खण्ड में 7, भावना खण्ड में 4, संबोधन खण्ड में 6, सत्प्रेरणा खण्ड में 7, संस्कृत वाग् विलास खण्ड में 10 एवं प्रकीर्ण खण्ड में 10- इस प्रकार इसमें कुल 44 कविताएँ हैं। ये कविताएँ सन् 1901 से सन् 1956 के मध्य मुख्तार साहब की लेखनी से प्रसृत हुई हैं।

मेरी भावना :

यद्यपि मुख्तार साहब द्वारा लिखित सभी संस्कृत एवं हिन्दी कविताएं अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं समसामयिक हैं तथापि इन सबमें भी उनके द्वारा हिन्दी भाषा में लिखित 'मेरी भावना' नामक कविता अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं सर्वोपरि है। मात्र ग्यारह पद्यों में लिखी गई 'मेरी भावना' नामक कविता उनकी एक कालजयी रचना है, जो सर्वप्रथम जैन हितैषी के सन् 1916 के अप्रैल-मई के संयुक्तांक में प्रकाशित हुई थी। इसके अनेक देशी एवं विदेशी भाषाओं में अनुवाद हो चुके हैं।

मेरी भावना में आगमिक सिद्धांतों का संक्षेप में गहरा रहस्य छुपा हुआ है। वर्तमान में प्रकाशित कोई भी ऐसा जिनवाणी संग्रह नहीं मिलेगा जिसमें मुख्तार जी द्वारा रचित मेरी भावना को स्थान न दिया गया हो। यद्यपि आचार्य जुगलकिशोर जी कृत मेरी भावना शीर्षक को आधार बनाकर अनेक विद्वानों ने मेरी भावना शीर्षक से ही अनेक रचनाएं लिखी हैं, किन्तु जो आदर और स्नेह श्री मुख्तार जी कृत मेरी भावना को मिला है, वह समान शीर्षक वाली ही अन्य किसी रचना को अद्यावधि नहीं मिल सका है। 'मेरी भावना' मुख से निकलते ही श्री मुख्तार कृत मेरी भावना का ही सर्वप्रथम स्मरण होता है। आबाल-वृद्ध से लेकर महिला समूह के द्वारा भी धार्मिक कार्यक्रमों में, दैनिक जीवन में मेरी भावना का पाठ किया जाता है। अब तो स्थिति यह है कि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में गांधी जयंती के अवसर पर आयोजित सर्वधर्म सम्मेलन की प्रार्थना में 'मेरी भावना' को जैन प्रार्थना के रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

समाधिमरण लेने वाले व्यक्ति को भी अन्त समय में मेरी भावना सुनाई जाती है। और तो और किसी बड़े राजनेता का स्वर्गवास होता है तो उस अवसर पर भी सर्वधर्म प्रार्थना में जैनों की ओर से मेरी भावना का पाठ किया जाता है।

श्री मुख्तारजी कृत मेरी भावना के संदर्भ में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि-

सतसैया के दोहरे, ज्यों नाविक के तीर।

देखन में छोटे लगें, घाव करें गम्भीर॥

सभाओं एवं संगोष्ठियों में मंगलाचरण के रूप में मेरी भावना के कुछ अंशों का पाठ किया जाता है, क्योंकि इसमें प्राणिमात्र के सुखी होने की कामना की गई है। मेरी भावना की लोकप्रियता का जीता जागता उदाहरण यह है कि- डॉ. प्रेमचन्द रावका की एक सूचना के अनुसार राजस्थान विश्वविद्यालय के दीक्षांत समारोह में श्रीमद् भगवद्गीता के साथ मेरी भावना का भी वितरण दीक्षार्थियों को किया गया था।

पत्र-पत्रिकाओं का संपादन :

श्री मुख्तार साहब संपादन कला में अत्यन्त दक्ष थे और यही कारण था कि जुलाई सन् 1900 में आपको महासभा के साप्ताहिक मुखपत्र 'जैन गजट' का संपादक नियुक्त किया गया था और 31 दिसम्बर सन् 1909 तक आप इसके संपादन का दायित्व सम्हाले रहे। इस अवधि में उन्होंने अत्यन्त कुशलता के साथ जैन गजट का संपादन किया था। अक्टूबर, सन् 1909 में श्री मुख्तार साहब को जैन हितैषी का संपादक नियुक्त किया गया और दो वर्षों तक उन्होंने इस दायित्व का निर्वहन किया। पुनः नवम्बर, सन् 1929

‘अनेकान्त’ के संपादन एवं प्रकाशन के दायित्व को सम्हाला, जो उनके वैदुष्य का निकष है।

स्फुट साहित्य :

उपर्युक्त के अतिरिक्त मुख्तार साहब ने स्फुट साहित्य की भी रचना की है, जिनमें महावीर जिनपूजा, बाहुबली जिनपूजा, अनित्य भावना का हिन्दी पद्यानुवाद (भावार्थ सहित), सिद्धि सोपान का हिन्दी अनुवाद, वीर पुष्पांजलि, समन्तभद्र विचार दीपिका, नये मुनि विद्यानंद जी की सूझबुझ, बाबू छोटेलाल जी की आपत्तियों का निरसन, जैनाचार्यों का शासन भेद आदि प्रमुख हैं।

इस प्रकार पं. जुगलकिशोर मुख्तार साहब ने जिनवाणी के माध्यम से साहित्य एवं समाज की सेवा की है तथा जैन विद्याओं के विकास में माँ जिनवाणी के चरणों में अपना अमूल्य अर्घ्य समर्पित किया है।

आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार के उपर्युक्त साहित्यिक अवदान का मूल्यांकन करने हेतु 30 अक्टूबर, 1998 से 1 नवम्बर, सन् 1998 तक प्राचार्य डॉ. शीतलचन्द्र जैन जयपुर के निर्देशन में एक त्रिदिवसीय संगोष्ठी का आयोजन देहरा, तिजारा (राजस्थान) में किया गया था, जिसमें अखिल भारतीय स्तर के लगभग पचास विद्वानों ने उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व को रेखांकित किया था। यह संगोष्ठी उपाध्यायरत्न 108 श्री ज्ञानसागर जी महाराज के संघ सान्निध्य में हुई थी। इस संगोष्ठी में आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार साहब के जीवन परिचय के साथ ही उनके द्वारा लिखे गये मौलिक ग्रंथों, भाष्यों, अनुवादों, संस्कृत-हिन्दी कविताओं और विभिन्न अवसरों पर उनके द्वारा लिखे गये समसामयिक निबन्धों की समीक्षा की गई थी।

इस संगोष्ठी के माध्यम से विद्वानों को मुख्तार साहब को उनके स्वर्गवास के लगभग तीन दशकों बाद याद किया था। इस संगोष्ठी में उन लोगों ने तो सहभागिता निभाई ही थी, जिन्होंने मुख्तार साहब का साक्षात् दर्शन किया था, किन्तु उस संगोष्ठी में मरे जैसे भी दर्जनों विद्वान थे, जिन्होंने उनका कभी दर्शन भी नहीं किया था और मात्र उनके बहुचर्चित साहित्य को देखकर ही उनसे प्रभावित थे। उस संगोष्ठी में अनेक युवा विद्वान और विदुषियाँ भी उपस्थित थी, जिन्होंने पहली बार मुख्तार साहब के साहित्य का आलोडन-विलोडन करके उनके व्यक्तित्व को सहारा था और उस तपःपूत विद्वान् को अपने लेखों के माध्यम से अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित की थी।

आज इस आलेख के माध्यम से मैं भी परम श्रद्धेय आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार साहब के चरणों में अपनी भावभीनी श्रद्धांजलि समर्पित करता हूँ।

—प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, जैन-दर्शन विभाग

संस्कृतविद्या धर्मविज्ञान संकाय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी (उत्तरप्रदेश)

**आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार स्मृति व्याख्यानमाला (२७ दिस.२००९)
एक रिपोर्ट**

सर्वोदय की अवधारणा का मूल स्रोत भगवान महावीर

-प्रो. रामजी सिंह

27 दिसम्बर, 2009, आचार्य श्री जुगल किशोर जी मुख्तार संस्थापक वीर सेवा मंदिर शोध संस्थान, नई दरियागंज दिल्ली में उनकी पुण्य स्मृति में समायोजित व्याख्यानमाला के अन्तर्गत 'भगवान् महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ' विषय पर विस्तृत प्रकाश डालते हुए प्रमुख वक्ता प्रो. रामजी सिंह, भागलपुर ने आचार्य श्री जुगल किशोर जी की सतत वाङ्मय साधना को स्मरण करते हुए कहा कि मुख्तार जी तन से भले ही मुनि न रहे हों, परन्तु साहित्यसपर्या और अनुसंधान के क्षेत्र में वे निरपेक्ष बनकर साधना करते रहे। उनका अवदान किसी तपःपूत आचार्य से किंचित मात्र भी कम न था। उनका यह संस्थान उनकी ज्ञान-आराधना का शाश्वत तीर्थ है और उनके अवदान को रेखांकित करने के लिए पृथक अनुसंधान तथा प्रचार-प्रसार की आवश्यकता है। भगवान महावीर के सर्वोदय तीर्थ तथा प्रचार-प्रसार की आवश्यकता है। भगवान् महावीर के सर्वोदय तीर्थ की चर्चा करते हुए प्रो. सिंह ने कहा कि सर्वोदय की अवधारणा का मूल स्रोत भगवान् महावीर और उनकी आचार्य परंपरा से ही भारतीय संस्कृति को प्राप्त हुआ है। आचार्य समन्तभद्र ने सर्वप्रथम भगवान् महावीर की स्तुति करते हुए कहा है कि "सर्वोदयं तीर्थं मिदं तवैव"। उपस्थित विशाल जन समुदाय और प्रबुद्धजनों को यह तथ्य बतला कर उन्होंने विस्मय में डाल दिया कि जब उन्होंने इस बात को जानना चाहा कि सर्वोदय शब्द कहाँ से आया तब वे अनेक उपलब्ध शब्दकोषों में भी सर्वोदय शब्द को न पाकर हैरान रह गए। अन्ततः आचार्य समन्तभद्र की स्तुति में यह शब्द मिला जिसका आधार अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रह के सिद्धांत पर प्रतिफलित हुआ है। आचार में अहिंसा, विचार में अनेकान्त से ही आर्थिक-सामाजिक-राजनीतिक लोकतंत्र की परिकल्पना सार्थक हो सकती है। मात्र राजनैतिक लोकतंत्र जन-जीवन के प्रति छलावा के अतिरिक्त कुछ नहीं। यदि भारत में वास्तविक लोकतंत्र की स्थापना करनी है तो सम्यक् श्रद्धा सम्यक्ज्ञान और तदनुरूप आचरण से ही संभव है। इतना ही नहीं, वैश्विक स्तर पर भी अनेकान्त दृष्टि और अहिंसक सद् आचरण के बल पर सुख-शांति को

पाप्त किया जा सकता है। आज वैज्ञानिक उपलब्धियों पर गर्व किया जाता है, किया भी जाना चाहिए लेकिन यह भी ध्यान रखा जाना चाहिए कि मात्र वैज्ञानिक भौतिक उपलब्धियाँ विनाश की ओर ले जाने वाली हैं, यदि यही उपलब्धि अध्यात्मपरक हो जाय तो निश्चित रूप से विश्व में अहिंसक क्रान्ति और सैहार्द का वातावरण बन जाएगा। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में हुए अनगिनत युद्ध का जिक्र करते हुए प्रो. सिंह ने कहा कि ये सभी युद्ध साम्प्रदायिक संकीर्णता के कारण हुए और इन युद्धों से मानव-जाति ही नहीं, संपूर्ण- प्राणि जाति का विनाश हुआ है आज हमें राजनैतिक, सामाजिक आर्थिक लोकतंत्रात्मक सृजन भूलक वातावरण की आवश्यकता भारत ही नहीं, संपूर्ण विश्व को है और इसकी पूर्ति का एकमात्र साधन सर्वोदय की अवधारणा और सद्आचरण से ही हो सकती है। अतः आज हम सभी को मुख्तार साहब की पुण्य स्मृति में यह संकल्प लेना चाहिए कि उनकी 'मेरी भावना' के अनुरूप विचारसरणि के प्रचार-प्रसार में संलग्न होंगे।

प्रो. डॉ. कमलेश कुमार जैन काशी हिन्दू विश्वविद्यालय श्री जुगल किशोर जी के अवदान को जैन विद्या के जीवन्त शाश्वत दस्तावेज निरूपित करते हुए कहा कि मुख्तार साहब प्राच्य विधाओं के गहन अध्येता, महामनस्वी, सफल संपादक, समालोचक, अनुवादक, भाष्यकार, निबन्धकार और सहृदय कवि के रूप में प्रतिष्ठित मुख्तार सा० के लगभग सत्तर वर्षों की सतत साधना उन्हें किसी संघ के आचार्य के समतुल्य हो है उनका अगाध पाण्डित्य, चिंतन-मनन एवं शोध-खोज का निदर्शन आधुनिक विद्वानों के लिए अनुकरणीय और जैन विद्या को जीवन्त बनाए रखने में मील का पत्थर है। वीर सेवा मंदिर उनकी संकल्प- साधना का अजस्र स्रोत है हम आशा करते हैं कि हम सभी का यह प्रयास होगा कि भविष्य में यह धारा निरन्तर बनी रही।

व्याख्यानमाला का विधिवत् शुभारंभ समागत लब्ध प्रतिष्ठ विद्वानों और वीर सेवा मंदिर के अध्यक्ष श्री सुभाष जैन, मुख्य वक्ता प्रो. रामजी सिंह तथा व्याख्यामाला के अध्यक्ष डॉ. शीतलचन्द जैन जयपुर के करकमलों द्वारा द्वीप प्रज्जवलन से संपन्न हुआ। समागत विद्वद्वय का स्वागत अभिनंदन परंपरागत रूप से संस्था अध्यक्ष श्री सुभाष जैन, उपाध्यक्ष श्री भारतभूषण जैन, श्री सुरेन्द्र पाल जैन, महामंत्री श्री विनोद कुमार जैन, मंत्री श्री योगेश जैन, कोषाध्यक्ष श्री विरेन्द्र जैन, कोषाध्यक्ष श्री वीरेन्द्र जैन, श्री चक्रेश जैन, धर्मभूषण जैन, श्री

धनपाल जैन, श्री रूपचन्द कटारिया, महामंत्री श्री विनोद कुमार जैन एवं मंत्री श्री योगेश जैन ने किया। विद्वद्द्वय के उद्बोधन के पूर्व मुख्तार जी का परिचय श्री सुभाष जैन, अध्यक्ष- वीर सेवा मंदिर ने दिया। उन्होंने वीर सेवा मंदिर की स्थापना काल से अद्यावधि पर्यन्त कार्यों का लेखाजोखा प्रस्तुत करते हुए कहा कि इस संस्थान को प्रारम्भ में दरियागंज दिल्ली, फिरोजाबाद तथा कलकता के प्रबुद्ध वर्ग का भरपूर सहयोग मिला और आज भी दिल्ली के प्रबुद्ध श्रेष्ठ वर्ग का सहयोग मिल रहा है। विद्वानों का भी समयोचित सहयोग मिलता रहा है। विशेष रूप से डॉ. ज्योति प्रसाद जैन, पंडित परमानन्द शास्त्री तथा पंडित पदमचंद शास्त्री के अवदान से संस्थान उपकृत है। भावी गतिविधियों की जानकारी महामंत्री श्री विनोद कुमार जैन ने देते हुए बताया कि वर्तमान में ग्रंथागार में उपलब्ध महत्त्वपूर्ण ग्रंथों, पांडुलिपियों का स्कैन कार्य चल रहा है जिसे बेबसाइट के माध्यम से प्रचारित-प्रसारित करने की योजना है।

व्याख्यानमाला में सहभागिता करने आये समागत विद्वानों- सर्वश्री डॉ. श्रेयांस कुमार जैन बडौत, डॉ. कपूर चंद जैन खतौली, डॉ. नरेन्द्र कुमार जैन गाजियाबाद, डॉ. विजय कुमार झा श्रीमहावीर जी, श्री जगदीश प्रसाद जैन मुजफ्फनगर, दिल्ली के प्रो. एम. एल. जैन दरियागंज, डॉ. सुरेशचंद जैन, डॉ. वीर सागर जैन दिल्ली, डॉ. अरुणा आनन्द दिल्ली, तथा कार्यकारिणी के सदस्य गण व अन्य अन्य समाज के उपस्थित प्रतिष्ठित व्यक्तियों के प्रति आभार व्यक्त करते हुए श्री योगेश जैन मंत्री ने आशा व्यक्त की कि भविष्य में भी संस्थान की गतिविधियों के प्रति इसी तरह का सक्रिय सहयोग प्राप्त होता रहेगा ।

- विनोद कुमार जैन
महामंत्री

- योगेश जैन
मंत्री

वीर सेवा मंदिर, दरियागंज, नई दिल्ली-2

Year-63, Volume-2
April - June 2010

RNI No. 10591/62
ISSN 0974-8768

अनेकान्त

(जैनविद्या एवं प्राकृत भाषाओं की त्रैमासिक शोध पत्रिका)

ANEKĀNTA

(A Quarterly Research Journal for Jainology & Prakrit Languages)

सम्पादक

डॉ. जयकुमार जैन, मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)

Editor

Dr. Jaikumar Jain, Muzaffarnagar (U.P.)

Mobile : 09760002389

वीर सेवा मन्दिर, नई दिल्ली-110 002.06

Vir Sewa Mandir, New Delhi-110 002.06

अनेकान्त

ANEKĀNTA

(जैनविद्या एवं प्राकृत भाषाओं की त्रैमासिक शोध पत्रिका) (A Quarterly Research Journal for Jainology & Prakrit Languages)

संस्थापक

Founder

आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

Acharya Jugalkishor Mukhtar 'Yugveer'

सम्पादक मण्डल

Editor

प्रो. फूलचन्द जैन 'प्रेमी', वाराणसी

Prof. PhoolChand Jain 'Premi', Varanasi,

प्रो. कमलेश कुमार जैन, वाराणसी,

Prof. Kamlesh Kumar Jain, Varanasi,

प्रो. उदयचन्द जैन, उदयपुर

Prof. Udaychand Jain, Udaipur,

डॉ. हुकुमचन्द जैन, दिल्ली

Dr. Hukumchand Jain, Delhi,

प्रो. एम.एल. जैन, नई दिल्ली

Prof. M.L. Jain, New Delhi

सदस्यता शुल्क/ Subscription

एक अंक-रुपये 20/- वार्षिक - रु. 80/-

This issue - Rs. 20/- Yearly - Rs. 80/-

सभी पत्राचार पत्रिका एवं सम्पादकीय हेतु पता -

वीर सेवा मंदिर (जैन दर्शन शोध संस्थान)

21, अंसारी रोड दरियागंज, नई दिल्ली-110 002.06

All correspondence for the journal & editorial on-

Vir Sewa Mandir (A Research Institute for Jainology)

21, Ansari Road, Daryaganj, New Delhi-110 002.06

फोन नं. 011-30120522, 23250522, 09311050522

e-mail-virsewa@gmail.com

विद्वान लेखकों के विचारों से सम्पादक मंडल का सहमत होना आवश्यक नहीं है। लेखों में दिये गये तथ्यों और सन्दर्भों की प्रामाणिकता के संबंध में लेखक स्वयं उत्तरदायी हैं सभी प्रकार के विवादों का निपटारा दिल्ली न्यायालय के अधीन होगा।

अध्यात्म पद

चिन्मूरत दृगधारी की

चिन्तमूरत दृगधारी की मोहि, रीति लगति है अटापटी॥
बाहिर नारकि-कृत दुःख भोगे, अन्तर सुखरस गटागटी।
रमति अनेक सुरनि संग पै तिस परिणतितें नित हटाहटी॥
ज्ञान विराग शक्तितें विधिफल भोगत पै विधि घटाघटी।
सदन निवासी तदपि उदासी, तातें आस्रव छटाछटी।
नारक पशु त्रिय षण्ड विकलत्रय, प्रकृतिनकी है कटाकटी॥
संयम धरि न सके पै संयम धारन की उर चटापटी।
तास सुयश गुन की 'दौलत' के लगी रहै नित रटारटी॥

- कविवर दौलतराम जी

विषयानुक्रमणिका

विषय	लेखक का नाम	पृ. संख्या
अध्यात्म पद	- दौलतराम जी	3
विषयानुक्रमणिका		4
सम्पादकीय	- डॉ. जयकुमार जैन	5
1. भरतेश वैभव की अप्रामाणिकता	- डॉ. शीतलचन्द जैन	6-11
2. जैन दर्शन में अपरिग्रहः		
एक अनुशीलन	- डॉ. नरेन्द्र कुमार पाण्डेय	12-14
3. जैन दर्शन में पुद्गल द्रव्य	- कुमार शिव शंकर	15-18
4. शान्ति-क्रान्ति की मैराथन		
दौड़ में श्रमणचर्या	-डॉ. सुरेश चन्द जैन	19-22
5. लिच्छवि गणराज्य की विभूति		
भगवान महावीर का विश्व को दिव्यावदान		
	- डॉ. राजेन्द्र कुमार बंसल	23-43
6. काललब्धि	-मूलचन्द लुहाड़िया	44-53
7. जैन-दर्शन नास्तिक नहीं	- डॉ. शिवकुमार शर्मा	54-61
8. आचार्य कुन्दकुन्द के साहित्य में धर्म		
	-निर्मला जैन	62-65
9. जैन न्याय एवं दर्शनः एक अध्ययन		
	-डॉ. ज्योतिबाबू जैन	66-78
10. JAINS IN KERALA	- Prof. Prakash C. Jain	79-85
11. Corpus Cundacundae	- By Prof. Natalia	86-88
12. BOOK REVIEW		
Confluence of opposites-	Prof. M. L. Jain	89-90
13. मूल जैन-संस्कृतिः		
अपरिग्रह एक समीक्षा	- डॉ. कमलेश कुमार जैन	91-94
14. सामान्य विशेषात्मक वस्तु	- बाबूलाल जैन	95-96

संपादकीय

जैन धर्म की प्रतिष्ठा वात्सल्यनिधि तपोपूत परमपूज्य मुनिराजों, निस्पृह श्रुताराधक विद्वानों और उदार सद्गृहस्थों पर आश्रित है। भारतवर्ष के धार्मिक, सांस्कृतिक एवं नैतिक जीवन में इनका चिरस्थायी प्रभाव है और रहेगा। अब संपूर्ण भूमण्डल की यह आम धारणा बनती जा रही है कि अपने उदात्त गुणों के कारण भारतवर्ष शीघ्र ही सम्पूर्ण जगत् का नेतृत्व करेगा। यह यथार्थ है कि भारतवर्ष न तो कतिपय, तथाकथित विकसित देशों से बढ़कर अणुबम या मानव को मृत्युमुख में धकेलने वाले अन्य मारक शस्त्रास्त्रों के विस्तार में रुचि रखेगा और न ही लौकिक सुख साधनों में उनसे आगे निकल सकेगा। किन्तु हमारे ऋषि-मुनियों, विद्वान मनीषियों एवं उदार गृहस्थों ने जो जीवन जीने की कला हमें उत्तराधिकार के रूप में प्रदान की है, उससे हम विश्व का नैतिक नेतृत्व करने में समर्थ हो सकेंगे। यह तभी संभव है जब हमारे ऋषि-मुनि, विद्वान् मनीषी एवं सद्गृहस्थ अपने वात्सल्यभाव, निस्पृह चरित्र और औदार्य को न त्यागें।

यह बड़ी ही दुःखद स्थिति है कि वर्तमान में कतिपय साधु-सन्त वात्सल्य का उपदेश तो खूब देते हैं, किन्तु उनके आचरण में वात्सल्य की कणिका भी दृष्टिगोचर नहीं होती है। अभी एक ख्यातनामा साधु के दर्शन करने एवं उनका प्रवचन सुनने का अवसर मिला। उन्होंने जैन एवं जैनतर समाज को व्यसनमुक्त होने का उपदेश दिया तथा प्रत्येक अमंगल एवं कष्ट से बचने के लिए अपने नाम की माला फेरने की बात कही। पर देखने में आया कि अन्यत्र एक सभा में उन्होंने अपने ही साधर्मी साधु पर न केवल व्यंग्य/ कटाक्ष ही किये अपितु समाज की दलगत राजनीति का लाभ उठाकर उनकी सीधी निन्दा भी की। निन्दारस में आकण्ठ अवगाहित होकर उनके अनेक सत्कार्यों में भी छिद्रान्वेषण किये। समाज के कुछ दिशाहीन नेतृवर्ग को भड़काकर अपना उल्लू सीधा करने वाले साधु, विद्वानों एवं गृहस्थों को यह समझने की आवश्यकता है कि यह खेल आत्मघाती है। एक सार्वजनिक सभा में उन्होंने अपने गुरु की जय बोलकर उनकी चर्या का तो मखौल उड़ाया ही, आचार्य उमास्वामी द्वारा विरचित तत्त्वार्थसूत्र के 'उपयोगो लक्षणम्' सूत्र को भी उन्होंने गलत करार दिया। वे अन्य साधुओं को आगमानुसारी चर्याधारी देखना चाहते हैं, परन्तु स्वयं आगमानुसार नहीं चलना चाहते हैं। यशस्कीर्ति नामकर्म के उदय में उन्हें यह विस्मृत नहीं करना चाहिए-

“यत्रोभयो समो दोषो परिहारोपि वा समः।

नैको पर्यनुयोक्तव्यः तादृगर्थविचारणे॥”

मेरा अनुरोध है साधु परमेष्ठियों से, कि वे पारस्परिक कटाक्षों से समाज का माहौल न बिगाड़ें, विद्वानों से भी अनुरोध है कि वे यद्वा तद्वा साधुविकृत साहित्य का संपादन न करें तथा उदार गृहस्थ भी शास्त्र जी के नाम पर आगमविरुद्ध साहित्य को न छपायें। यदि समाज का माहौल नहीं सुधारा जायेगा तो भारतवर्ष विश्व का नेतृत्व करेगा- यह दिवास्वप्न ही रह जायेगा।

- जयकुमार जैन

भरतेश वैभव की अप्रामाणिकता

डॉ. शीतलचन्द जैन

‘भरतेश वैभव’ काव्य ग्रन्थ रत्नाकर वर्णी द्वारा रचित है। यह ग्रंथ भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद् से सन 1998 में द्वितीय संस्करण के रूप में प्रकाशित हुआ। यही संस्करण वर्तमान में उपलब्ध होता है।

इस ग्रंथ का आद्योपान्त अध्ययन करने पर इसमें बहुत से ऐसे प्रसंग देखने में आये जो भरत चक्रवर्ती के चरित्रचित्रण वाले मुख्यतया आचार्य जिनसेन द्वारा रचित आदिपुराण या अन्य किसी भी ग्रंथ में उल्लिखित नहीं हैं। इस संबन्ध में कुछ बिन्दुओं पर विचार किया जाता है।

१. ग्रंथ की प्रस्तावना में कहा गया है कि इस ग्रंथ में कवि ने कर्नाटक कविताओं में भरत चक्रवर्ती का स्वतंत्र जीवन चरित्र चित्रित किया है। इससे यह स्पष्ट है कि जैन शासन में जो आगम परंपरा है, उसके अनुसार यह ग्रंथ नहीं लिखा गया। आचार्यों के द्वारा जो भी ग्रंथ रचे जाते हैं; उनके प्रारंभ में यह कहा जाता है कि जैसा तीर्थंकर प्रभु ने अथवा गणधर भगवान ने अथवा विभिन्न आचार्यों ने कथन किया है, वैसा ही मैं कथन कर रहा हूँ। परन्तु इसमें ऐसा कुछ भी नहीं कहा है। अतः ‘स्वतंत्र जीवन चरित्र’ होने से यह ग्रंथ कवि की अपनी कल्पना मात्र है, इसे हम आगम की श्रेणी में या प्रथमानुयोग के रूप से नहीं कर सकते हैं।

२. इसके रचयिता रत्नाकर को शृंगार कवि उपाधि प्राप्त थी। इसकी विद्वत्ता को देखकर राजकन्या मोहित हो गई, रत्नाकर भी उसके मोह पाश में आ गया। वह उस पर आसक्त होकर शरीर के वायुओं को वश में करके आयु निरोध योग के बल से महल में अदृश्य पहुँचकर उस राजपुत्री के साथ प्रेम करता था। यह बात धीरे-धीरे राजा को मालूम होने पर राजा ने उसे पकड़ने का प्रयत्न किया। उस दिन रत्नाकर ने अपने गुरु महेन्द्रकीर्ति से पंचाणुव्रत को लेकर अध्यात्म तत्त्व में अपने आप को लगाना प्रारंभ किया।

उपर्युक्त प्रकरण से स्पष्ट है कि रत्नाकर वर्णी शृंगार रस के कवि थे और उनका चाल-चलन सही नहीं था। ऐसे व्यक्ति की रचना को हम आगम कैसे कह सकते हैं। वीतरागी पूर्वाचार्यों द्वारा लिखित शास्त्र ही जैनागम कहे जाते हैं। ऐसे रागी-द्वेषी कवि की रचना प्रामाणिक नहीं हो सकती।

३. प्रस्तावना में कहा है कि रत्नाकर ने अपने ‘भरतेश वैभव’ को भी हाथी के ऊपर रखकर जुलूस निकालने के लिए भट्टारक जी से प्रार्थना की। तब भट्टारक जी ने कहा कि उसमें दो-तीन शास्त्रविरुद्ध दोष हैं। इसलिए वैसा नहीं कर सकते हैं। तब रत्नाकर ने

इस विषय पर उनसे आग्रह किया एवं कुछ अनबन सा हुआ, तो उन्होंने सात सौ घर के श्रावकों को कड़ी आज्ञा दे दी कि इस रत्नाकर को कहीं भी आहार नहीं दिया जाय। तब रत्नाकर अपनी बहन के घर भोजन करते हुए, जिनधर्म से रूसकर 'आत्मज्ञानी को सभी जाति, कुल बराबर हैं, ऐसा समझकर गले में लिंग बांधकर लिंगायत बन गया और वहाँ पर 'वीर शैवपुराण, वसवपुराण, सोमेश्वर शतक' आदि की रचना की।

पाठक स्वयं निर्णय करें कि क्या ऐसे विकृत चरित्र व्यक्ति आगम का रचयिता हो सकता है ? जिस लेखक की जैनधर्म पर श्रद्धा ही न हो, उसका लिखा ग्रंथ कभी प्रामाणिक नहीं हो सकता।

४. प्रस्तावना के द्वितीय कथानक के अनुसार- एक बार रत्नाकर अपने को अपमानित समझकर चला गया। जाते-जाते एक नदी को पार कर रहा था, तब भक्तों ने शपथ पूर्वक प्रार्थना की तो भी 'मुझे ऐसे दुष्टों का संसर्ग नहीं चाहिये। मैं आज ही इस जैनधर्म को तिलांजलि देता हूँ।' यह कहकर नदी में डूब गया और एक पर्वत पर चला गया। बाद में राजा के आग्रह पर काव्य में रस दिखाने के लिए भरतेश वैभव की रचना की।

इस कथन से यह स्पष्ट है कि रत्नाकर ने जैनधर्म को तिलांजलि देकर मात्र राजा को प्रसन्न करने के लिए अपनी मर्जी के अनुसार इस ग्रंथ की रचना की थी। अतः ऐसा ग्रंथ कभी प्रामाणिक हो ही नहीं सकता।

५. प्रस्तावना पृ. 19 पर कहा है कि इस ग्रंथ की रचना में कवि ने अन्य कवियों का अनुकरण नहीं किया है। जो वर्णन उसे स्वयं को पसन्द नहीं आया था, उसे और ढंग से जहाँ वर्णन करना चाहता था, वहाँ उसे बदलकर पाठकों को अरुचि उत्पन्न नहीं हो इस ढंग से वर्णन करता है।

इस प्रकरण से स्पष्ट है कि रत्नाकर ने इस ग्रंथ को मात्र लोकप्रसिद्धि के लिए रचा था, तथ्य प्रकाशन के लिए नहीं।

यहाँ तक रचयिता कवि की अप्रामाणिकता का वर्णन किया गया अब ग्रंथ के उन प्रसंगों का वर्णन किया जाता है जो आगम सम्मत नहीं हैं।

1. भाग 1 पृ. 141 पर कहा है कि भरतेश की रानियों की संख्या 96 हजार हैं जबकि अभी महाराजा भरत चक्रवर्ती नहीं बने थे। यह प्रकरण बिल्कुल आगम सम्मत नहीं है।

2. भाग 1 पृ. 17 पर लिखा है कि महाराजा भरत ने आत्मप्रवाद नाम के ग्रंथ की रचना की थी। यह प्रकरण किसी भी पुराण से मेल नहीं खाता।

3. भाग 1, पृ. 168 पर लिखा है कि वे रानियाँ भरतेश के द्वारा निर्मित अध्यात्मसार को पढ़ रही हैं। अर्थात् इस ग्रंथ की रचना भी महाराजा भरत ने की थी। यह प्रकरण भी बिल्कुल गलत है।

4. भाग 1, पृ. 169 पर लिखा है कि कभी वे शुद्धोपयोग में मग्न होते हैं तो कभी शुद्धोपयोग के साधनभूत शुभोपयोग का अवलंबन लेते थे। अर्थात् रत्नाकर कवि को भी इतना भी आगम ज्ञान नहीं था कि क्या कोई राजा राज्य को करते हुए शुद्धोपयोग में मग्न हो सकता है?

5. भाग 1 पृ. 171 पर कहा है कि भरतेश ने सबसे पहले मंदिर में शासन देवताओं को अर्घ्य प्रदान कर श्री भगवन्त का स्तोत्र व जप किया। यह कथन किसी भी शास्त्र से मेल नहीं खाता। भरतेश के काल में शासन देवताओं की कल्पना ही नहीं थी।

6. भाग 1 पृ. 179 पर लिखा है कि सम्राट भरत ने जल, चन्दन आदि अष्ट द्रव्यों से अपनी माता की पूजा की। यह कथन एकदम आगम विरुद्ध है।

7. भाग 1 पृ. 250 पर लिखा है कि चक्रवर्ती के रत्नों का उपभोग वे स्वतः ही कर सकते हैं। यह भी लिखा है कि कुछ लोग ऐसा वर्णन करते हैं कि भरतेश्वर ने जयकुमार, जो सेनापति रत्न है उसे भेजकर उसके हाथ से विजयाई के वज्रकुमार का स्फोटन कराया। परन्तु यह ठीक नहीं है।

इस संबन्ध में जब हम आदिपुराण पर्व 31 श्लोक 122 को देखते हैं तो उसमें लिखा है 'अश्वरत्न पर बैठे हुए सेनापति ने 'चक्रवर्ती की जय हो' इस प्रकार कहकर दण्डरत्न से गुफाद्वार का ताड़न किया, जिससे बड़ा भारी शब्द हुआ।' इस आदिपुराण के कथन को जो महान आचार्य द्वारा लिखित है, रत्नाकर कवि ने गलत बताया है।

8. भाग 1 पृ. 301 पर लिखा है कि व्यन्तरों ने भरतेश्वर की आज्ञा पाते ही शासनों के रक्षक शासक देवों को खूब ठोका, जिससे उनके सब दांत टूट गये।

9. भाग 1 पृ. 288 पर लिखा है कि जब जयकुमार ने आवर्तक राजा को भरतेश्वर के सामने पेश किया तो सम्राट ने अपने पादत्राण को संभालने वाले चपरासी से कहा कि तुम इसमें लात दो और चपरासी ने बांये पैर से लात मारी।

10. भरत और बाहुबलि के मध्य में जो दृष्टियुद्ध, जलयुद्ध और मल्लयुद्ध हुए थे, उसका इसमें वर्णन ही नहीं है। पृ. 414 में कहा है कि भरतेश ने बाहुबलि से कहा भाई! अब अपने मुख से मैंने कहा कि मैं हार गया और तुम जीत गये.....इस प्रकार भरतेश्वर ने अपनी हार बताई।

यह प्रकरण आदिपुराण से बिल्कुल मेल नहीं खाता है। आदिपुराण पर्व 36 में लिखा है कि भरत और बाहुबलि के बीच दृष्टियुद्ध, जलयुद्ध और मल्लयुद्ध हुए और तीनों में बाहुबलि ने विजय प्राप्त की। रत्नाकर कवि ने पूरा भरतेश वैभव अपनी इच्छानुसार लिखा है अतः अप्रामाणिक है।

11. भाग 1 पृ. 415 पर लिखा है कि भरतेश्वर ने चक्र रत्न को बुलाकर कहा कि चक्ररत्न जाओ। तुम्हारी मुझे जरूरत नहीं, तुम्हारा अधिपति यह बाहुबलि है। जब चक्ररत्न आगे नहीं गया तब भरतेश्वर क्रोध से कहने लगे अरे चक्रपिशाच! मैं अपने भाई के पास जाने के लिए बोलता हूँ तो भी नहीं जाता है, इस प्रकार कहते हुए उसे धक्का देकर आगे सरकाया, परन्तु वह आगे नहीं बढ़ा।

इस प्रसंग के संबन्ध में आदिपुराण पर्व 36 श्लोक, 66 में इस प्रकार कहा है 'स्मरण करते ही वह चक्ररत्न भरत के समीप आया, भरत ने बाहुबलि पर चलाया, परन्तु उनके अवध्य होने से वह उनकी प्रदक्षिणा देकर तेजरहित हो उन्हीं के पास जा ठहरा। अतः रत्नाकर कवि का प्रसंग बिल्कुल आगम विरुद्ध है।

12. भाग 1 पृ.141 पर लिखा है कि भरतेश्वर की 96 हजार रानियाँ हैं। परन्तु इसके बाद भी पृ. 265 पर 300 कन्याओं से, पृ.271 पर 320 कन्याओं से, पृ.272 पर 400 कन्याओं से तथा पृ.330 पर 2000 कन्याओं से शादी की चर्चा है।

इससे ध्वनित होता है कि भरतेश्वर की 96 हजार से भी अधिक बहुत सी रानियाँ थीं जो आगम सम्मत नहीं है।

13. भाग 2, पृ.4 पर लिखा है कि बाहुबलि मुनिराज के मन में शल्य थी कि यह क्षेत्र चक्रवर्ती का है। मैं इस क्षेत्र में अन्न-पान ग्रहण नहीं करूँगा, इस गर्व के कारण से उनको ध्यान की सिद्धि नहीं हो रही थी। जबकि आदिपुराण पर्व 36 में श्लो. 186 में स्पष्ट लिखा है कि बाहुबलि के हृदय में यह विचार था कि वह भरतेश्वर मुझसे संक्लेश को प्राप्त हुआ है।

इन दोनों प्रकरणों में इतना अन्तर क्यों ?

14. भाग 2, पृ.30 पर लिखा है कि जयकुमार और सुलोचना के विवाह के अवसर पर भरतेश्वर के पुत्र अर्ककीर्ति और जयकुमार का युद्ध नहीं हुआ। जबकि आदिपुराण पर्व 44 में अर्ककीर्ति और जयकुमार के बीच घनघोर युद्ध का वर्णन है।

15. भाग 2, पृ. 53 पर लिखा है कि भरत की माँ यशस्वती के नीहार नहीं होता था। जबकि तीर्थंकर की माता के नीहार नहीं होता है, ऐसा आगम में उल्लेख है, चक्रवर्ती की माँ को नीहार नहीं होता हो, ऐसा उचित नहीं।

16. दीक्षा के समय भरतेश्वर की माँ को मुनिराजों ने पिच्छी और आत्मसार नामक पुस्तक दिलवाई, ऐसा वर्णन भाग 2, पृ.53 पर है। जबकि उस अवसरपिणी के तृतीय काल में ग्रंथ होने का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं हुआ।

17. भाग 2, पृ.83 पर सम्राट द्वारा 72 जिनमंदिरों का निर्माण एवं उनकी पंचकल्याणक पूजा उल्लेख है। यह प्रकरण भी आगम सम्मत नहीं है। तृतीय चतुर्थ काल में पंचकल्याणक होने का कोई प्रसंग प्राप्त नहीं होता और न ही 72 जिनालयों का कोई प्रमाण मिलता है।

18. भाग 2, पृ.143 पर अणु और परमाणु की परिभाषा गलत दी गई है। सबसे सूक्ष्म पुद्गल को परमाणु कहा है और अनन्त परमाणुओं के मिलने से अणु बनता है ऐसा कहा है। यह परिभाषा आगम विरुद्ध है।

19. भाग 2, पृ.154 पर लिखा है कि अविपाक निर्जरा मुनियों के ही होती है, सबको नहीं। यह प्रकरण भी आगम विरुद्ध है क्योंकि अविपाक निर्जरा तो चारों गतियों के जीवों के होती है।

20. भाग 2, पृ.155 पर लिखा है कि 'कोई-कोई आत्मा पहले घातिया कर्मों को नाश करते हैं और बाद में अघातिया कर्मों को नाश करते हैं। और कोई घातिया और अघातिया कर्मों को एक साथ नाश कर मुक्ति को जाते हैं।

21. भाग 2, पृ.151 पर प्रकरण दिया है कि कर्म, आत्मा व काल ये तीन पदार्थ अनादि हैं और उसके ही निमित्त से धर्म, अधर्म व आकाश कार्यकारी हुए। इसलिए वे

आदि-वस्तु हैं। ऐसा भी कोई कहते हैं। यह प्रकरण भी बिल्कुल आगमविरुद्ध है, ऐसा कोई उल्लेख कहीं नहीं मिलता।

22. भाग 2 पृ. 181 पर भगवान आदिनाथ ने 100 पुत्रों से कहा- 'अब अधिक उपदेश की जरूरत नहीं है। अब अपने शरीर के अलंकारों का त्याग कीजिए। राजवेष को छोड़कर तापसी वेष धारण कीजिए। बाद में दीक्षा होने के बाद भगवान आदिनाथ ने 'आत्मसिद्धिरेवास्तु' इस प्रकार आशीर्वाद भी दिया। यह सारा वर्णन आगम सम्मत नहीं है। तीर्थंकर केवली इस प्रकार आशीर्वाद या दीक्षा नहीं देते हैं।

23. भाग 2 पृ. 177 पर लिखा है कि जिनेन्द्र भगवान के सिंहासन के चारों ओर हजारों केवली विराजमान थे। यह प्रकरण भी आगम सम्मत नहीं है।

24. भाग 2 पृ.214 पर तीर्थंकर प्रभु के अंतिम संस्कार के समय तीन कुण्डों को तीन शरीर की सूचना देने वाला बताया है। यह प्रकरण बिल्कुल गलत है।

25. भाग 2 पृ.215 पर भगवान आदिनाथ के माघ वदी चतुर्दशी की निर्वाण होने से शिवरात्रि के प्रचलन का संबंध जोड़ा गया है। यह प्रकरण आगम सम्मत नहीं है।

26. भाग 2 पृ.217 पर अष्टापद की किस प्रकार रचना की गई। यह प्रकरण लिखा है जो किसी भी आगम से मेल नहीं खाता।

27. भाग 2 पृ.220 पर भरतेश्वर की काली मूँछों का वर्णन है, जबकि आगम के अनुसार 63 शलाका पुरुषों के दाढ़ी-मूँछ नहीं होते हैं।

28. भाग 2 पृ.220 पर भरतेश्वर को महान कामी और भोगी बताया है। लिखा है 'जिन स्त्रियों पर जरा बुढ़ापे का असर हुआ, उनको मंदिर में ले जाकर आर्यिकाओं से व्रत दिलाते थे और उनके पास ही छोड़कर नवीन जवान स्त्रियों से विवाह कर लेते थे। ऐसे भोगी राजा को रत्नाकर कवि ने भाग 1 पृ.169 पर शुद्धोपयोगी कैसे कह दिया, यह आश्चर्य की बात है।

29. भाग 2 पृ. 221 पर लिखा है कि भरतेश्वर की रोज नई-नई शादियाँ होती रहती थी। लिखा है 'देश-देश से प्रतिदिन कन्याएँ आती रहती हैं। राज भरतेश्वर का विवाह चल रहा है। इस प्रकार वे नित्य दूल्हा ही बने रहते हैं।

30. भाग 2 पृ.220 पर लिखा है कि भरतेश्वर अर्ककीर्ति कुमार को बुलाकर बोले, 'इधर आओ, इस राज्य को तुम ले लो, मुझे दीक्षा के लिए भेजो।' अर्ककीर्ति के आनाकानी करने पर उन्होंने कहा- मैं घर में रह तो सकता हूँ, परन्तु आयुष्य कर्म तो बिल्कुल समीप आ पहुँचा है। आज ही घातिया कर्मों को नाश करूँगा और कल सूर्योदय होते ही मुक्ति प्राप्त करने का योग है। भरतेश्वर ने पहले दिन दीक्षा ली, शाम को केवलज्ञान हुआ और अगले दिन मोक्ष प्राप्त किया। यह प्रकरण बिल्कुल गलत है। आदिपुराण पर्व 47 के अनुसार केवलज्ञान प्राप्त होने के बाद भगवान भरत ने समस्त देशों में चिरकाल तक विहार किया। (श्लोक 397-398)।

31. इस ग्रंथ में गुरु हंसनाथ की बहुत चर्चा है। ऐसा प्रतीत होता है कि रत्नाकर वर्णी के गुरु हंसनाथ नाम के जैनतर कवि होंगे।

32. भाग 2पृ.237 पर लिखा है 'ज्ञानावरणी की 4 प्रकृतियों का अंत पहले से हो चुका है, अब बचे हुए धूर्तकर्मों को भी मार गिराऊँगा। तदुपरांत ध्यान खड्ग के बल से प्रचला व निद्रा का नाश किया, साथ में अन्तराय व दर्शनावरण की शेष प्रकृतियों को नष्ट किया। यह प्रकरण बिल्कुल आगम विरुद्ध है।

33. निगोद से निकलकर, मनुष्य पर्याय धारणकर, मोक्ष प्राप्त करने वाले महाराजा भरत के 923 पुत्रों की इसमें कोई चर्चा नहीं है।

उपर्युक्त प्रसंगों के आधार से यह निष्कर्ष निकलता है कि इस ग्रंथ के रचयिता प्रामाणिक नहीं हैं, उन्होंने राजा आदि को प्रसन्न करने के लिए अपने मन के अनुसार कल्पित कथा गढ़कर लोक में सम्मान प्राप्त करने के लिए इस ग्रंथ की रचना की थी। इस ग्रंथ की रचना 16वीं शताब्दी में हुई। उनके सामने भरतेश्वर के चरित्र का निरूपण करने वाले आचार्य प्रणीत शास्त्र उपलब्ध थे परन्तु उन्होंने उनका आधार न लेकर, लोक को रंजयमान करने वाला यह अप्रामाणिक ग्रंथ रच डाला। उनकी जैनधर्म पर कोई आस्था नहीं थी और न उनको सैद्धान्तिक ज्ञान ही था। उनका जीवन कामवासना से पूरित रहा। भरतेश्वर को क्षायिक सम्यक्त्व था अतः उसको सांसारिक भोगों में आसक्ति का अभाव था, परन्तु रत्नाकर कवि ने अपनी प्रवृत्ति एवं वासना के अनुसार भरतेश्वर को महान भोगी प्रदर्शित किया है। वास्तविकता यह है कि यह ग्रंथ कथावस्तु तथा सिद्धांत के आधार से एकदम अप्रामाणिक है।

- अधिष्ठाता
श्रमण संस्कृति संस्थान
सांगानेर जयपुर (राजस्थान)

स्याद्वाद जैन दर्शन का

अजेय किला है

..... संख्या बुद्धिमानी की निशानी है शक्कर मीठी है यह पानी में घुल मिल जाती है तो अपना अस्तित्व व्यापक बना देती है। शक्कर के मिल जाने पर लोग कहते हैं 'जल मीठा है' पर वास्तविक बात तो यह है कि शक्कर की मिठास है। जैन भी अन्यो में घुल कर उनमें चुपचाप मधुरता भरते रहते हैं। स्याद्वाद जैन अर्शन का अजेय किला है। जिसमें वादी प्रतिवादी के मायामय गोले प्रविष्ट नहीं हो सकते

- आचार्य विनोवाभावे, जैन भारती वर्ष-15 अंक-16

जैन दर्शन में अपरिग्रहः एक अनुशीलन

डॉ. नरेन्द्र कुमार पाण्डेय

अपरिग्रह का अर्थ है विषयासक्ति का त्याग। संसार के समस्त विषयों के प्रति राग तथा ममता का परित्याग कर देना ही अपरिग्रह है। मनुष्य के बन्धन का मूल कारण सांसारिक वस्तुओं से आसक्ति ही है। अतः अपरिग्रह अर्थात् सांसारिक विषयों के प्रति आसक्ति का त्याग मनुष्य के लिए आवश्यक है। यदि विषय त्याग नहीं किया जाय तो अपरिग्रह का पालन असंभव है। यह व्रत लालच न करने और संतोष रखने पर आग्रह करता है। अपरिग्रह का अर्थ आवश्यकता से अधिक भौतिक वस्तु का संग्रह न करने से भी है। विषयासक्त होने से ही वस्तुओं के संग्रह की प्रवृत्ति बढ़ती है। इसीलिए अपरिग्रह में अनासक्ति का भाव प्रकट होता है। अनेकानेक वस्तुओं में क्षमता के कारण आसक्ति बढ़ती है। इसका त्याग ही अपरिग्रह है। 'मैं' और 'मेरा' का भाव परिग्रह की ओर प्रेरित करता है। अतः इसका त्याग अपरिग्रह है।

स्त्री, पुरुष, घर, धन-धान्य आदि वस्तुओं के प्रति ममत्व रखना परिग्रह है। जिनके पास विपुल सम्पत्ति है वे अवश्य परिग्रही हैं परन्तु जिनके पास कुछ भी नहीं है, फिर भी चित्त में बड़ी-बड़ी आकांक्षाएं लिए रहते हैं, वे भी अपरिग्रही नहीं हैं। दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है “मुनि न तो संग्रह करता है, न कराता है और न करने वालों का समर्थन ही करता है। वह पर पदार्थों से पूर्णतया अनासक्त एवं अकिंचन होता है। इतना ही नहीं, वह अपने शरीर से भी ममत्व नहीं रखता है। संयम निर्वाह के लिए वह जो कुछ भी अल्प उपकरण अपने पास रखता है उस पर भी उसका ममत्व नहीं होता है।”¹ जैनाचार्यों ने बार-बार बलपूर्वक कहा है कि न्याय की कमाई से मनुष्य जीवन भर निर्वाह कर सकता है, किन्तु धन का भण्डार कर नहीं कर सकता। अटूट संपत्ति तो पाप की कमाई से ही भरती है। नदियां जब भरती हैं तो वर्षा के गन्दे जल से ही भरती हैं।² वास्तव में अपरिग्रह एक अपेक्षा से अनासक्ति ही है। उस दृष्टिकोण से धन वैभव के अपार भण्डार होते हुए भी व्यक्ति अल्प परिग्रही हो सकता है, यदि उसके हृदय में उस वैभव के प्रति अनासक्ति का भाव हो।³

जैन शास्त्रों में सिर्फ बाह्य पदार्थों को ही परिग्रह नहीं माना गया है अपितु उन भावनाओं और इच्छाओं तथा आवेग संवेगों को भी परिग्रह में ही परिगणित किया गया है, जिनके कारण उसकी धर्म-साधना, नैतिकता में और नैतिक आचार-विचार व्यवहार में तनिक भी व्यवधान पड़ता है। इस दृष्टिकोण से परिग्रह के दो भेद हैं- अंतरंग और बाह्य। अन्तरंग परिग्रह 14 है और सभी, नीतिशास्त्र के अनुसार अनैतिक प्रत्यय है। बाह्य परिग्रह अनगिनत प्रकार के हैं किन्तु आचार्यों ने उसका क्षेत्र, वास्तु, स्वर्ण, धन-धान्य, द्विपद,

चतुष्पद आदि अनेक रूपों में वर्णन किया है। गृहस्थ के लिए बाह्य परिग्रह बन्धन कारक होते हैं, क्योंकि आन्तरिक इच्छा के कारण वह इनका संग्रह करता है।⁴ परन्तु श्रमण अंतरंग परिग्रह का पूर्ण त्यागी होता है अतः उसके आवश्यक उपकरण बन्धनकारी नहीं होते। कमलचन्द्र सोगाणी कहते हैं “जिस प्रकार शुद्ध भावों के अभाव में शुभ भाव श्रमण जीवन में चमक दमक उत्पन्न करते हैं, उसी प्रकार बाह्य उपकरण भी।”⁵

परिग्रह की अधिक लालसा संग्रह-संचय का अवश्यम्भावी परिणाम समाज में ईर्ष्या, द्वेष, विग्रह, वर्ग संघर्ष का प्रचार-प्रसार है और यह सभी प्रवृत्तियाँ अनैतिकता की जननी है। परिग्रह की लालसा और वस्तुओं का संग्रह-संचय स्वयं व्यक्ति को भी अनैतिकता की ओर प्रेरित करता है और ऐसे वातावरण का निर्माण करता है कि समाज के अन्य लोग भी अनैतिक आचरण करें। गांधी जी ने परिग्रह परिमाण के लिए ‘ट्रस्टीशिप’ का प्रतिपादन किया। इसका अभिप्राय है व्यक्ति परिग्रह तो करे किन्तु उस पर अपना स्वामित्व भाव न रखे।⁶ इसके अंतर्गत व्यक्ति अपने को अनैतिक कार्य करने से दूर रख सकता है। अनैतिकता परिग्रह से ही पनपती है।

जैन आचार शास्त्रियों के अनुसार व्यक्ति जब तक सांसारिक वस्तुओं और उनसे उत्पन्न सुखों की ओर उदासीनता की भावना नहीं लाएंगे तब तक नैतिक जीवन की शुरुआत नहीं हो सकती है। इस प्रकार अपरिग्रह के लिए त्याग एवं निवृत्ति की भावना आवश्यक है।⁷ वस्तुतः अपरिग्रह धन और सम्पत्ति तक ही सीमित नहीं है। इसे जीवन के प्रति दृष्टिकोण के रूप में भी देखा जा सकता है। मनुष्य का अपने घर परिवार तथा संबन्धित वस्तुओं के प्रति इतना अधिक मोह बढ़ जाता है कि उन सबको अपनी संपत्ति समझ बैठता है। जैन चिंतन में तपस्वी को ऐसा जीवन बिताना चाहिए कि वह अपने शरीर तथा मन को भी मोक्ष के मार्ग की बाधा समझे।⁸

श्रावक के लिए अपरिग्रह का अर्थ है- आवश्यकता से अधिक का संग्रह करने की चाह न रखना। श्रावक को इस व्रत के पालन में जो छूट दी गयी है उसका कारण यह है कि इसका कठोर पालन समाज के हित में न होगा। व्यवसाय चाहे जो भी हो, इस व्रत के पालन का अर्थ होगा अपने कर्तव्य का न केवल कुशलता से, अपितु ईमानदारी से भी पालन करना। उदाहरण के लिए व्यापारी के संदर्भ में कुशलता का अर्थ होगा व्यापार के नियमों की जानकारी तथा उसका सही प्रयोग जिससे आर्थिक साधनों में वृद्धि होती है। व्यापारी द्वारा ईमानदारी बरतने का अर्थ होगा अपने धन्धे को व्यक्तिगत सुख एवं समाज कल्याण का साधन समझना।⁹ अपने व्यवसाय में उचित अथवा नैतिक तरीकों को अपनाकर व्यापारी महत्तम लाभ उठाते हुए समाज की सेवा कर सकता है।

आज के भौतिकवादी युग में सर्वथा अपरिग्रही होना गृहस्थ के लिए दुर्लभ है। भौतिक पदार्थों की चकाचौंध में मानव विविध पदार्थों को एकत्रित करने में आह्लाद का अनुभव करता है। किन्तु तथ्य यह है कि बाह्य वस्तुओं से सुख प्राप्ति की आशा मृग-मारीचिका मात्र है। संग्रह की तृष्णा दिन दूनी एवं रात चौगुनी बढ़ती जाती है फिर भी परिग्रह की तृष्णा शांत नहीं होती है। फिर भी, अपरिग्रह वृत्ति के उपाय हो सकते हैं। व्यक्ति

अधिक साधन सामग्री के संग्रह होने पर उसे अपना न माने, उसे समाज का माने यहां तक की अपने शरीर को भी समाज एवं राष्ट्र की संपत्ति माने। बाहर से भी व्यवहार करते हुए अन्दर से अपरिग्रही रहे।

आज विश्व के चारों ओर जो अशान्ति के बादल मंडरा रहे हैं और मनुष्य-मनुष्य के बीच जो बैर विरोध बढ़ रहा है यदि उसके कारणों पर गंभीरता पूर्वक विचार किया जाय तो पता चलेगा कि उसके मूल में मानव की अनन्त इच्छाएं हैं। अपने मात्र साढ़े तीन हाथ के शरीर की सुविधा के लिए आलीशान कोठियां तैयार करना, शानदार बड़े बंगले बनाना, बाग-बगीचे लगाना तथा दुनिया भर के परिग्रह को वह अपने घर में जमा करता है। आज देखा जाता है कि हर घर में भाई-भाई में, पड़ोसी-पड़ोसी में तथा राष्ट्रों के बीच तनाव और वैमनस्य बना रहता है। सर्वत्र दंगे और फसाद होते ही रहते हैं। न्यायालयों में अभी जितने अभियोग विचाराधीन हैं उनमें से अधिकांश के मूल में परिग्रह ही है। परिग्रह की होड़ में कब क्या होगा? कुछ भी कहना कठिन है।

संसार का कोई भी धर्म-दर्शन परिग्रह को स्वर्ग या मोक्ष का कारण नहीं मानता है। सभी धर्म एक स्वर में उसे हेय घोषित करते हैं। आज अपरिग्रह की जीवन और जगत् में अति आवश्यकता है। अर्थ-तृष्णा की आग में मानव-जीवन भस्म न हो जाय, जीवन चक्र अर्थ के ही इर्द-गिर्द न घूमता रहे, और जीवन का उच्चतर लक्ष्य ममत्व के अंधकार में विलीन न हो जाय, इसके लिए अपरिग्रह का भाव जीवन में आना ही चाहिए। भगवान महावीर ने इसीलिए अपरिग्रह पर विशेष बल दिया है। क्योंकि वे जानते थे कि आने वाला समय आर्थिक विषमता एवं आवश्यक वस्तुओं के अनुचित संग्रह वाला होगा जो सामाजिक जीवन को विघटित कर देगा। धन का सीमांकन स्वस्थ समाज के निर्माण के लिए अनिवार्य है। यदि अपरिग्रह भाव जीवन में आ जाय तो समाज की सारी विषमताएं स्वतः समाप्त हो जाय। इस प्रकार निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि अपरिग्रहवाद आधुनिक युग की ज्वलन्त समस्याओं का सुन्दर समाधान है इससे व्यक्ति का जीवन उच्च और प्रशस्त बनता है और साथ ही, समाज व देश की समस्याएं भी सुलझ सकती हैं।

संदर्भ :

- (1) दशवैकालिकसूत्र, 6/20, (2) उत्तराध्ययनसूत्र, साध्वी चन्दना, पृ. 466
- (3) जैन नीतिशास्त्र: एक परिशीलन, देवेन्द्र मुनि, पृ. 324, (4) वही, पृ. 324
- (5) Just as the Shubhabhavas in the absence of Shubhabhavas adorn the life of the saint, So do these Paraphernalia without any contra diction, Dr. K.C. Sogani, Ethical Doctrines in Jainism, p.123
- (6) सर्वोदय दर्शन, पृ. 281-282, (7) जैन दर्शन की रूपरेखा, एस. गोपालन, पृ. 149
- (8) जैन आगम: इतिहास एवं संस्कृति, डॉ. रेखा चतुर्वेदी, पृ. 211
- (9) जैन दर्शन की रूपरेखा, एस. गोपालन, पृ.150

26, वेली रोड,

पटना-800 001 (बिहार), फोन : 0612-2287414

जैन दर्शन में पुद्गल द्रव्य

-कुमार शिव शंकर

पुद्गल जैन दर्शन का विशिष्ट पारिभाषिक शब्द है। यह पुद् और गल् के योग से बना है। पुद् का अर्थ है- पूर्ण होना, मिलना/जुड़ना, गल् का अर्थ है-गलना/हटना/टूटना। पुद्गल परमाणु, स्कन्ध अवस्था में परस्पर मिलकर अलग-अलग होते रहते हैं तथा अलग होकर मिलते-जुड़ते रहते हैं। इनमें टूट-फूट होती रहती है। इसे जुड़ने और टूटने को विज्ञान की भाषा में फ्यूजन एण्ड फिसन कह सकते हैं। छह द्रव्यों में एक पुद्गल में ही संश्लिष्ट और विश्लिष्ट होने की क्षमता है, अन्य पाँच में नहीं। इसलिए पुद्गल शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है “पूरण गलन स्वभावत्वात् पुद्गलः” अर्थात् जो द्रव्य निरंतर मिलता गलता रहे, बनता-बिगड़ता रहे, टूटता-जुड़ता रहे वह पुद्गल है। पूरण-गलन स्वभावी होने से पुद्गल यह इसकी सार्थक संज्ञा है।

जगत में जो कुछ भी हमारे देखने, चखने और सूँघने में आता है, वह सब पौद्गलिक पिण्ड ही है। स्पर्श, रस, गंध और वर्ण इसके विशेष गुण हैं। इसलिए इसे रूपी या मूर्तिक कहा जाता है। जगत् में ऐसा कोई भी पुद्गल नहीं है जिनमें रूप, रस, गंध और स्पर्श न पाए जाते हों।¹

न्याय-वैशेषिक दर्शनों में जिसे ‘भौतिक तत्त्व’ कहा गया है एवं विज्ञान ने जिसे मैटर कहा है, उसे ही जैन-दर्शन में पुद्गल कहा गया है। जैन दर्शन के अनुसार जो द्रव्य प्रतिक्षण पूर्ण होता है और नष्ट होता है, बनता है और बिगड़ता है, जुड़ता है और टूटता है वह पुद्गल है।²

तत्त्वार्थाधिगमसूत्र (स्वोपज्ञभाष्य), धवला, हरिवंश पुराण, सर्वदर्शनसंग्रह, तत्त्वार्थराजवार्तिक आदि अनेक ग्रंथों में मिलना, नष्ट होना जिसका स्वभाव है, ऐसे पदार्थ को ‘पुद्गल’ कहा गया है। पुद्गल एक ऐसा द्रव्य है, जिसे स्पर्श किया जाता है, जिसका स्वाद लिया जाता है, जो सूँघा जाता है, जो दृश्य है अर्थात् उसमें स्पर्श, रस, गंध और वर्ण ये चार अंग अनिवार्य रूप से होते हैं।³

परमाणु से लेकर महास्कन्ध पृथ्वी तक के पुद्गल द्रव्य में पाँच रूप, पाँच रस, दो गंध और आठ स्पर्श, ये चार प्रकार के गुण विद्यमान हैं, जो शब्द रूप है, भाषा, ध्वनि आदि के भेदों से अनेक प्रकार का पुद्गल पर्याय है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं-

वण्णरसगंधफासा विज्जन्ते पोग्गलस्स सुहुमादो।

पुढवीपरियंतस्स य सद्यो पोग्गलो चित्तो॥⁴

अर्थात् पुद्गल द्रव्य रूप, रस, गंध और स्पर्श ये चार प्रकार के गुण होते हैं तथा शब्द भी पुद्गल की पर्याय है। रूप पांच हैं- नीला, पीला, काला, लाल। 5 रस हैं- तीखा,

कटुक, आम्ल, मधुर और कसैला। दो गंध हैं- सुगन्ध तथा दुर्गन्ध और 8 स्पर्श हैं- कोमल, कठोर, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध तथा रूक्ष। इनमें से प्रत्येक के संख्यात, असंख्यात और अनन्त भेद कहे गए हैं।

पुद्गल के विशेष धर्म या गुण चार हैं- स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण। शब्द भी पौद्गलिक होता है। स्पर्शादि चार गुणों तथा शब्दों को इन्द्रियों से ग्रहण किया जाता है। स्पर्श का स्पर्शेन्द्रिय, वर्ण का चक्षुरिन्द्रिय तथा शब्द का श्रोत्रेन्द्रिय से ग्रहण होता है। इस प्रकार पुद्गल विविध इन्द्रियों का विषय बनता है। वर्ण अर्थात् रूप की प्रधानता के कारण पुद्गल को रूपी (मूर्त) कहा जाता है। हमारी इन्द्रियाँ रूपी पदार्थों अर्थात् पौद्गलिक वस्तुओं का ज्ञान करने में ही समर्थ हैं। अरूपी अर्थात् अपौद्गलिक पदार्थ इन्द्रियज्ञान के विषय नहीं बनते। जीव (आत्मा) धर्म, अधर्म, आकाश और काल अरूपी हैं। इनका ज्ञान इन्द्रियों द्वारा नहीं हो सकता। ये या तो मन की चिन्तनशक्ति (अन्तर्निरीक्षण, अनुमान, आगम आदि) द्वारा माने जाते हैं या इनका आत्मा द्वारा साक्षात्कार होता है।³

जैन शास्त्रों के अनुसार पुद्गल द्रव्य में निम्नलिखित विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं⁴-

(१) पुद्गल अस्तिकाय है :-

प्रत्येक पौद्गलिक पदार्थ अनेक अवयवों का समूह है, तथा आकाश प्रदेशों में फैलता है (अवगाहन करता है) इसलिए वह अस्तिकाय है।

(२) पुद्गल सत् और द्रव्य है:-

वह सत् है इसलिए वह परिवर्तनशील भी है और नित्य भी है।

(३) पुद्गल नित्य, अविनाशी है:-

तत्त्वान्तरणीय नहीं है- नित्यत्व एवं अतत्त्वान्तरणीयता द्रव्यों में होते हैं। इसलिए पुद्गल के लिए निम्नलिखित विशेषण प्रयुक्त हुए हैं- काल की अपेक्षा से पुद्गल अतीत में था, वर्तमान में है और भविष्य में होगा। दूसरे शब्दों में कहें तो अनादि अतीत काल में जितने पुद्गल-परमाणु थे, वर्तमान में उतने ही हैं और भविष्य में भी उतने ही रहेंगे। पुद्गल-द्रव्य की अपनी मौलिकता यथावत् बनी रहती है। पुद्गल नियत, शाश्वत, ध्रुव, अक्षय, अव्यय, अवस्थित और नित्य है।

(४) पुद्गल अचेतन सत्ता है, चेतन नहीं -

पुद्गल चैतन्य-रहित अजीव पदार्थ है। वह सदा अजीव रहता है, वह न जानता है, न अनुभव करता है, न चिंतन-मनन करता है। किसी भी पौद्गलिक उपकरण द्वारा यह कार्य संभव नहीं है।

(५) पुद्गल परिणामी है अर्थात् परिवर्तनशील है पुद्गल क्रियावान है अर्थात् सतत सक्रिय है:-

पुद्गल जड़ पदार्थ या अचेतन होते हुए भी सतत सक्रिय बना रहता है। पुद्गल चाहे परमाणु के रूप में हो या स्कन्ध-रूप में हो, सतत् परिवर्तनशील रहता है, उसमें कुछ न कुछ घटित होता रहता है।

(६) पुद्गल गलन-मिलन-धर्मा है:-

छः द्रव्यों में केवल पुद्गल ही एक ऐसा द्रव्य है, जो गलन-मिलन धर्मा है। एक पुद्गल दूसरे पुद्गल के साथ मिलकर नए पुद्गल का निर्माण कर सकता है, इसे पूरण कहा जाता है तथा एक पुद्गल-स्कन्ध टूट कर या विघटित होकर अन्य पुद्गल-स्कन्धों में बदल सकता है। विघटन की इस क्रिया को गलन कहा जाता है।

(७) पुद्गल संख्या की दृष्टि से अनन्त है; क्षेत्र, की दृष्टि से संपूर्ण लोकाकाश में व्याप्त है:-

पुद्गल के दोनों रूप-परमाणु और स्कन्ध संख्या की दृष्टि से अनन्त है। स्वतंत्र परमाणुओं की संख्या सदा अनन्त रहती है। उनमें से अनन्त परमाणु स्वतंत्र रूप धारण करते रहते हैं।

(८) पुद्गल जीव को प्रभावित करता है और उससे प्रभावित भी होता है:-

दोनों में अन्तःक्रिया संभव है। पुद्गल द्रव्य में ग्रहण नाम का एक गुण होता है। पुद्गल के सिवाय अन्य द्रव्यों में किसी दूसरे द्रव्य के साथ मिलने की शक्ति नहीं है। एक पुद्गल अन्य पुद्गल के साथ मिलने की क्षमता तो रखता ही है, पर इसके अतिरिक्त जीव के द्वारा भी उसका ग्रहण किया जाता है। पुद्गल स्वयं जाकर जीव से नहीं चिपटता, किन्तु वह जीव की क्रिया से आकृष्ट होकर उसके साथ संलग्न हो जाता है।

समस्त जगत पुद्गल परमाणुओं से निर्मित है। परमाणु सूक्ष्म और अविभाज्य है। तत्त्वार्थराजवार्तिक में परमाणु का लक्षण और उसके विशिष्ट गुण निम्नलिखित प्रकार से बताए गए हैं और पुद्गल द्रव्य के अणु और स्कन्ध दो भेद किए गए हैं।¹

- (i) समस्त पुद्गल स्कन्ध परमाणु से निर्मित है और परमाणु पुद्गल का सूक्ष्मतम अंश है।
- (ii) परमाणु नित्य, अविनाशी और सूक्ष्म है।
- (iii) परमाणु में रस, गंध वर्ण और दो स्पर्श (स्निग्ध अथवा रूक्ष, शीत अथवा ऊष्ण) हैं।
- (iv) परमाणु का अनुमान उससे निर्मित स्कन्ध से किया जा सकता है। परमाणु सूक्ष्मातिसूक्ष्म है, अविभागी है, शाश्वत, शब्दरहित तथा एक है। परमाणु का आदि, मध्य और अन्त वह स्वयं ही है। आचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं-

अत्तादि अत्तमज्झं अन्ततं णेव इन्दिए गेज्झं।

अविभागो जं दव्वं परमाणु तं विआणाहि।²

अर्थात् जिसका स्वयं स्वरूप ही आदि, मध्य और अन्त रूप हो, जो इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण योग्य नहीं है, ऐसा अविभागी- जिसका दूसरा भाग न हो सके, द्रव्य परमाणु है। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि परमाणु का यही रूप आधुनिक विज्ञान भी मानता है। इस संबन्ध में उत्तमचन्द जैन का निम्न कथन द्रष्टव्य है- “परमाणु किसी भी इन्द्रिय या अणुवीक्षण यन्त्रादि से भी ग्राह्य (दृष्टिगोचर) नहीं होता है। इसे जैन दर्शन में केवल पूर्णज्ञानी (सर्वज्ञ) के ज्ञानगोचरमात्र माना गया है।

इससे स्पष्ट है कि ‘अणु’ के विषय में दो हजार वर्ष पूर्व कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा

लिखे गए नियमसार में 'णेव ईदिए गेज्ज' अर्थात् इन्द्रिय ग्राह्य (परमाणु) है ही नहीं, यह लक्षण कितना वैज्ञानिक एवं खरा है।'¹¹

मुनि प्रमाणसागर का कथन है²- कि वैज्ञानिक जिस परमाणु के अनुसंधान में रत हैं, जैन दर्शन के अनुसार वह अनेक परमाणुओं से संघटित कोई स्कंध (माँलिक्यूल) है, क्योंकि उसमें इलेक्ट्रान, प्रोटान, न्यूट्रान, अल्फा, बीटा, गामा, न्यूट्रिनो, मेसान, क्वार्क आदि अनेक कण पाये जाते हैं। अब तो उनकी संख्या बढ़कर सौ से अधिक हो गई है। जैन दर्शन के अनुसार परमाणु वह मूल कण है जिसमें कोई भेद या विभाग संभव नहीं है। परमाणु पुद्गल की अंतिम इकाई है। इसे अविभागी कहा गया है। अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण परमाणु इन्द्रियों एवं प्रयोगों के विषय से अतीत है। अतः वह मनुष्यकृत नाना प्रक्रियाओं से प्रभावित नहीं होता।

इस प्रकार जैनदर्शन में परमाणु का अति सूक्ष्म विवेचन और विश्लेषण किया गया है। परमाणु की यह व्याख्या जिसमें प्राचीनता तो है ही, परमाणु विज्ञान की नव-जीवन खोजों के लिए वैज्ञानिकों को प्रामाणिक प्रेरणा भी देती है। जैन दर्शन का यह भाग सर्वथा सूक्ष्म है और इस प्रकार वैज्ञानिक प्रगति में समर्थ और सहायक बना हुआ है।

संदर्भ :

1. जैन तत्त्व विद्या-मुनि प्रमाण सागर, पृ. 232
2. देवेन्द्रमुनि शास्त्री- जैन दर्शन : स्वरूप और विश्लेषण, पृ. 157-158
3. (क) पूरणात् पुद्गलयतीति गलः - शब्दकल्पद्रुमकोश
(ख) पूरणाद् गलनाद् इति पुद्गलाः - न्यायकोश, पृ. 502
(ग) छव्विहंसठाणं बहुवहि देहेहि पूरदिति गलदिति पोग्गल।
4. (घ) हरिवंशपुराण- 7/36- वर्णगन्धरसस्पर्शः पूरणं गलनं च यत्।
(ङ) उमास्वाति- तत्त्वार्थसूत्र - 5/23
(च) माधवाचार्य- सर्वदर्शनसंग्रह, पृ. 153
5. (क) प्रवचनसार - 2/40
(ख) 'स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः' तत्त्वार्थसूत्र- 5/23
6. जैन धर्म दर्शन - डा. मोहन लाल मेहता, पृ. 180-181
7. जैन दर्शन और विज्ञान, पृ. 3/3-20
8. तत्त्वार्थराजवार्तिक, भाग-2, 5/25
9. कुन्दकुन्दः नियमसार, गाथा-26
10. श्री उत्तमचन्द्र जैन : 'जैनदर्शन और संस्कृति' नामक पुस्तक में संकलित निबन्ध "जैन दर्शन का तात्त्विक पक्ष परमाणुवाद, इन्दौर विश्वविद्यालय प्रकाशन, अक्टूबर-1976
11. जैन तत्त्व विद्या - भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, पृ. 232-233.

शोध-छात्र-स्नातकोत्तर प्राकृत
एवं जैनशास्त्र विभाग
वीर कुँवर सिंह विश्वविद्यालय,
आरा - 802301(बिहार)

शान्ति-क्रान्ति की मैराथन दौड़ में श्रमणचर्या

-डॉ. सुरेश चन्द जैन

तीर्थंकर महावीर के वीर शासन की यह सदी नित नए कीर्तिमान स्थापित करने जा रही है, वैसे जहाँ 20वीं शताब्दी में अहिंसा और सत्याग्रह के अस्त्रों से देश की आजादी दिलाने वाले पुरोधा पुरुष महात्मा गाँधी ने भगवान् महावीर के सर्वोदयी सिद्धान्त को पुनर्जीवित किया था, वहीं परम पूज्य आचार्य शान्तिसागर जी ने विस्मृतप्राय श्रमण चर्या को जीवन्तता प्रदान की थी। उनका ही यह सुफल है कि आज पूरे देश में सहस्राधिक श्रमण-मुनि यत्र-तत्र विहार करते हुए शान्तिमय क्रान्ति में सन्नद्ध हैं। श्रमणचर्या में एक नए आयाम को भी जोड़ा गया है और वह है **नवतीर्थ निर्माण**। संभवतः आचार्य कुन्दकुन्द इसे मुनि के आवश्यक गुणों में शामिल करना भूल गए थे इसीलिए वर्तमान के आचार्यों ने आगमानुकूल नए तीर्थ निर्माण की प्रक्रिया में स्वयं को जोड़ते हुए समाज को सक्रिय भागीदारी करने के लिए उत्प्रेरित किया है। पूर्व में ज्ञान ज्योति रथ प्रवर्तन हुआ था। उसकी शुरुआत महासभाध्यक्ष श्री निर्मल जी सेठी ने की थी और उसका प्रवर्तन देश की राजधानी दिल्ली से हुआ था। इसी कड़ी में एक और रथ का प्रवर्तन हुआ है उसकी शुरुआत भी आदरणीय सेठी जी ने ही की। इस रथ प्रवर्तन का नामकरण **पुष्पगिरि दिग्विजय रथ** प्रवर्तन हुआ है तथा जिसका प्रवर्तन शान्ति-क्रांति दृष्टा राष्ट्रसंत मुनि तरुणसागर जी के मार्गदर्शन में हुआ है तथा छत्तीसगढ़ के मुख्यमंत्री श्री रमनसिंह ने इस रथ को हरी झंडी दिखायी है। यह रथ देश की चारों दिशाओं में दिग्विजय करता हुआ जनवरी 2011 तक पुष्पगिरि पहुँचेगा जहाँ अनुमानतः 10-15 लाख श्रद्धालुओं की उपस्थिति में दिग्विजय रथ का समापन होगा। चक्रवर्ती कौन होगा ? इसका निर्णय उपस्थित जनसमुदाय करेगा और चयनित चक्रवर्ती का पदारोहण एवं अभिषेक भी होगा ही। क्योंकि इसके बिना दिग्विजय रथ विजय की सार्थकता कैसे सिद्ध होगी? यह यक्ष प्रश्न आज भी है और 2011 तक बना रहेगा।

पुराणों में चक्रवर्ती छः खण्डों की विजय के लिए दिग्विजय करते थे। आज तक न तो कहीं पढ़ने में आया और न ही गुरुमुख से सुना कि धर्मप्रभावना की भी दिग्विजय यात्रा होती है। वैसे भी, आज न तो कोई चक्रवर्ती है और कदाचित् कोई शासक चक्रवर्ती बनने का प्रयास करे भी तो जनतंत्र में यह संभव ही नहीं। राजा-महाराजा, सम्राट और चक्रवर्ती होने का यह युग नहीं है। शान्ति-क्रांति दृष्टा यदि चक्रवर्ती हो सकें तो यह धर्म का मंगल प्रभात मानना होगा क्योंकि धर्म की स्थिति तीर्थ में है और जितने तीर्थ होंगे उतना ही लोगों का उद्धार होगा और चरम पुरुषार्थ मोक्ष की सिद्धि भी। क्योंकि तीर्थंकर तो इस कालचक्र में होने से रहे तो तीर्थक्षेत्र के नव-निर्माण की श्रृंखला में भला कौन ऐसा सन्त होगा जो एक नए तीर्थ का निर्माण न करना चाहेगा? ऐसी जन-धन और धर्म प्रभावना

का श्रेय लेने में भला संकोच कैसा? एक पंथ और दो काज- तीर्थ निर्माण और अर्थ-मोक्ष रूपी पुरुषार्थ ही सिद्धि।

इतिहास साक्षी है कि कि मूर्ति भंजन काल में भी पापड़ीवाल जैसे श्रेष्ठी हुए, जिन्होंने हजारों प्रतिमाओं को प्रतिष्ठित कराकर यत्र-तत्र सर्वत्र स्थापित करायी। यह एक शान्तिपूर्वक किया गया प्रतिरोध था तो जब आज अनेक प्राचीन तीर्थ अनावश्यक विवाद क्षेत्र बने हुए हैं ऐसे में नवतीर्थ बनाकर दिगम्बर वीतराग धर्म की प्रभावना को शत-प्रतिशत तन-मन-धन और जन का सहयोग मिलना अप्रत्याशित नहीं कहा जा सकता, सोने पे सुहागा यह कि वीतराग सन्त की प्रेरणा-निर्देशन में अतिशय पुण्य संचय का भला कौन विवेकी श्रावक लोभ संवरण कर सकता है? कदाचित् कोई नहीं।

पुराने तीर्थ जायें तो जायें हमें तो उनके स्थानापन्न सुविधा संपन्न नए तीर्थों से इहलौकिक पारलौकिक पुण्य संचय तो मिलता ही रहेगा। प्रायः यह कहा जाता है कि पंचकल्याणक प्रतिष्ठा करना-कराना अत्यंत दुष्कर कार्य है क्योंकि उसमें प्रभूत धन की आवश्यकता पड़ती है इसीलिए अतीत में पंचकल्याणक बिरल ही होते थे, परन्तु आज स्थिति पहले जैसी नहीं रही। प्रतिवर्ष सैकड़ों की तादाद में पंचकल्याणक होते हैं नित नए मंदिर का निर्माण आज जितना सहज है उतना संभवतः अतीत में नहीं था। आज धन गंगा की बाढ़ है यदि उसे बांधा न जाय तो भारी जन-धन और धर्म की हानि का खतरा हो सकता है। शायद इसीलिए हमारे श्रमण-सन्त इस धनगंगा की बाढ़ को मंदिरों और तीर्थों की ओर अभिमुख करने का भागीरथ प्रयत्न करके वीतराग जिनधर्म - निज धर्म-तप-संयम और भगवान् महावीर के सर्वोदयी तीर्थ की संकल्पना को मूर्त रूप देने में जुटे हुए हैं भले ही, श्रमण-चर्या में यत्किंचित् दोष क्यों न होता हो धर्म प्रभावना के निमित्त यह दोष भी वह सहज वृत्ति से स्वीकारते हैं। उसके लिए आचार्यों ने प्रायश्चित्त, प्रतिक्रमण आदि का विधान किया ही है।

अस्तु, यह समय आलोचना/ समालोचना का नहीं वरन् एक विवेकी श्रद्धालु और जिनधर्मानुयायी होने के नाते हम सभी को ऐसे महाकुंभ में स्नान के लिए अभी से तैयारी प्रारंभ कर देनी चाहिए। ऐसे महाकुंभ शताब्दी में फिर हो न हों। इत्यलम्। विज्ञेषु किमधि कम्। आज श्रमणचर्या का अमोघ अस्त्र और मंत्र है-

तीर्थमेव परं ज्ञानं तीर्थमेव परं तपः।

तीर्थमेव परो धर्मः तीर्थान्मोक्षश्च नैष्ठिकः॥

-अज्ञात

अर्थात् तीर्थ ही परम ज्ञान है, तीर्थ ही परम तप है, तीर्थ ही परम धर्म है और तीर्थ से ही नैष्ठिक निर्वाण की प्राप्ति होती है। इसीलिए उसे बनाते रहिए, ऐसा आजकल सर्वगत हो रहा है। आगमचक्षुसाधु निश्चित ही भवामिनन्दन की ओर अभिमुख हैं। भवाभि नन्दी मुनियों के विषय में आचार्य अमितगति ने स्पष्ट लिखा है-

भवाभिनन्दिनः केचित् सन्ति संज्ञावशीकृता।

कुर्वन्तोऽपि परं धर्मं लोकपंक्तिकृतादराः॥-18॥ -योगसार

उक्त श्लोक का भाष्य आचार्य जुगलकिशोर जी मुख्तार ने इस प्रकार किया है-

यद्यपि जिनलिंग को- निर्ग्रन्थ जैनमुनिमुद्रा को धारण करने के पात्र अतिनिपुण एवं विवेक संपन्न मानव ही होते हैं फिर भी जिनदीक्षा लेने वाले साधुओं में कुछ ऐसे भी निकलते हैं जो बाह्य में धैर्य का अनुष्ठान करते हुए भी अंतरंग से संसार का अभिनन्दन करने वाले होते हैं। ऐसे साधुओं की पहचान एक तो यह है कि वे आहारादि चार संज्ञाओं के अथवा उनमें से किसी के भी वशीभूत होते हैं; दूसरे लोकपंक्ति में- लौकिक जनों जैसी क्रियाओं के करने में उनकी रुचि बनी रहती है और उसे वे अच्छा समझकर करते भी हैं। आहारसंज्ञा के वशीभूत मुनि बहुधा ऐसे घरों में भोजन करते हैं जहाँ अच्छा-रुचिकर एवं गरिष्ठ-स्वाद्विष्ट भोजन मिलने की अधिक संभावना होती है, उद्विष्ट भोजन त्याग की आगमोक्त दोषों के परिमार्जन की परवाह नहीं करते, भोजन करते समय अनेक बाह्य क्षेत्रों से आया हुआ भोजन भी ले लेते हैं, जो स्पष्ट आगमाज्ञा के विरुद्ध होता है। भयसंज्ञा के वशीभूत मुनि अनेक भयों से आक्रान्त रहते हैं, परीषहों के सहन करने से घबराते हैं तथा वनवास से डरते हैं जब कि सम्यक्दृष्टि सप्त प्रकार के भयों से रहित होता है। मैथुनसंज्ञा और परिग्रह संज्ञा वाले साधु अनेक प्रकार के परिग्रहों की इच्छा को धारण किये रहते हैं, पैसा जमा करते हैं, पैसे का ठहराव करके भोजन करते हैं, अपने इष्टजनों को पैसा दिलाते हैं, पुस्तकें छपाकर बिक्री करते-कराते रुपया जोड़ते हैं, तालाबन्द बाक्स रखते हैं, बाक्स की ताली कमण्डलु आदि में रखते हैं, पीछी में नोट छिपाकर रखते हैं, अपनी पूजाएं बनावाकर छपवाते हैं और अपनी जन्मगांठ का उत्सव मनाते हैं। उक्त सब लक्षण भवाभिनन्दियों के हैं जो पद्य में संज्ञावशीकृतों और लोकपंक्तिकृतादराः इन दोनों विशेषणों से फलित होते हैं, आजकल अनेक मुनियों में लक्षित भी होते हैं।

उपर्युक्त भाष्य आचार्य जुगलकिशोर जी मुख्तार ने आज से 6 दशक पूर्व किया था तब से आज समय काफी बदल चुका है। आज के संदर्भ में विचारणीय है कि नवतीर्थनिर्माण तन्निमित्तिक अनुष्ठान-रथ प्रवर्तन, दिग्विजय रथ प्रवर्तन-महाकुंभ आदि आयोजन और उसके लिए यत्र-तत्र-सर्वत्र विहार, आदि क्रियाएं श्रमणचर्या में समाहित हो चुकी हैं। ऐसी ही क्या आगमचक्षु साधु की चर्या होती है ? आज तो मैराथन दौड़ में अग्रणीय होने की आपा-धापी है। जबकि धर्म के निमित्त भी साधु की चर्या निम्नलिखित संदर्भ के अनुसार होनी चाहिए-

धर्माय क्रियमाणा सा कल्याणांगं मनीषिणाम्।

तन्निमित्तः पुनर्धर्मः पापाय हतचेतसाम्॥ 21॥

-योगसार प्राभृत

अर्थात् - जो विवेकशील विद्वान् साधु हैं उनकी धर्मार्थ की गई लोकाराधन रूप क्रिया कल्याणकारिणी होती है और जो मूढचित्त अविवेकी हैं, उन साधुओं का लोकाराधन के निमित्त - लोगों को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए की गई धर्म संबन्धी क्रियाएं पापबंध का कारण होती हैं।

शान्ति-क्रांति द्रष्टा आगमचक्षु साधु की वर्तमान तीर्थनिर्माण और पंचकल्याणकों की आपाधापी मय मैराथन दौड़ से कौन सी क्रांति मय शान्ति उद्भूत होने वाली है यह भविष्य ही बतलायेगा।

श्रमण चर्या के विषय में आचार्य कुन्दकुन्द का स्पष्ट उद्घोष है-

जो सुत्तो ववहारे सो जोड़ जग्गाए सकज्जम्मि।

जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणो कज्जे॥31॥

- मोक्षपाहुड़

जो मुनि व्यवहार के कार्यों में सोता है, उदासीन है, वह अपने आत्मध्यान के कार्य में जागता-सावधान है, तथा जो व्यवहार के कार्यों में जागता है (सावधान है) वह आत्म स्वरूप के चिन्तन में सोता है(उदासीन है)।

- वीर सेवा मंदिर

दरियागंज, नई दिल्ली

दिगम्बर मुनि का अभाव धर्म

को ले डूबेगा

.....निश्चय समझिए कि यदि दिगम्बर गुरु के आचार-विचार में बदलाव आता है तो तो दिगम्बर धर्म की खैर नहीं- उसका लोप अवश्यंभावी है। बौद्धधर्म के भारत से पलायन और उस धर्म में शिथिलता आने के मूल कारणों में भी उनके साध्वाचार में शिथिलता आना ही मुख्य कारण था- यह हम देख ही चुके हैं। जैनधर्म के भट्टारकों के हास का कारण भी यही है।

..... पं. पदमचन्द शास्त्री, संपादक 'अनेकांत' वर्ष 40 किरण 4, पृष्ठ 33

लिच्छवि गणराज्य की विभूति भगवान महावीर का विश्व को दिव्यावदान

- डॉ. राजेन्द्र कुमार बंसल

वैशाली 'जन' का प्रतिपालक, 'गण' का आदि विधाता।
जिसे ढूंढता देश आज, उस प्रजातंत्र की माता॥
रुको एक क्षण, पथिक! यहाँ मिट्टी को सीस नवाओ।
राज-सिद्धियों की समाधि पर, फूल-चढ़ाते जाओ॥

-राष्ट्रकवि स्व. श्री रामधारी सिंह दिनकर
'वैशाली' के प्रति भावपूर्ण श्रद्धांजलि।

भगवान महावीर की जन्म भूमि; वासोकुण्डः वैशाली

प्राणीमात्र के प्रति दया और अभय-दान, मानव जीवन का चरमोत्कर्ष- सत्य एवं अहिंसा की साधना और आत्मा में परमात्मा का दर्शन कराने वाले भगवान महावीर का जन्म ईसा पूर्व 599 में वासोकुण्ड- वैशाली में हुआ था। जैन आगम में भगवान महावीर का जन्म भरतक्षेत्र के 'विदेह-कुण्डपुर' में होना सर्वत्र लिखा है। उनके जन्म स्थल से संबन्धित कुछ संदर्भ इस प्रकार हैं:-

1. सिद्धार्थनृपतितनयो भारतवास्ये विदेहकुण्डपुरे।
देव्यां प्रियाकारिण्यां सुस्वप्नान् संप्रदर्श्य विभुः॥

-आचार्य पूज्यपादः दशभक्ति निर्वाणभक्ति, पद्य-4 (5वीं शती ई.)
अर्थ- भगवान महावीर का जीव भारतवर्ष के विदेह देश के कुण्डपुर नगर में श्रेष्ठ स्वप्नों को दर्शा कर प्रियकारिणी देवी और सिद्धार्थ राजा का पुत्र हुआ।

2. तस्मिन्वण्मासशेषायुष्यानाकादागमिष्यति।
भरतेऽस्मिन्विदेहाख्ये विषये भवनांगणे॥
राज्ञः कुण्डपुरेशस्य वसुधारापतत्प्रभु।
सप्तकोटिर्मणिः सार्धा सिद्धार्थस्य दिनम्प्रति॥

-आचार्य गुणभद्र, उत्तर पुराण, 74/251-252 पृ. (9वीं शती ई.)
अर्थ- जब अच्युतेन्द्र की आयु छह महिने शेष रही और वह स्वर्ग से च्युत होने उद्यत हुआ, तब इसी भरतक्षेत्र के विदेह नामक देश-संबन्धी कुण्डपुर नगर के राजा सिद्धार्थ के भवन के आंगन में प्रतिदिन साढ़े सात करोड़ रत्नों की मोटी धारामय वर्षा होने लगी।

विदेह विषये कुण्डसंज्ञायां पुरि भूपतिः
नाथो नाथकुलस्यैकः सिद्धार्थाख्यस्त्रिसिद्धिभाक्।
तस्य पुण्यानुभावेन प्रियसासीत्प्रियकारिणी॥

वही, (उत्तरपुराण) 75/7-8

अर्थ- विदेह-देश के कुण्डपुर में नाथवंश के शिरोमणि एवं तीनों सिद्धियों से संपन्न राजा सिद्धार्थ राज्य करते थे। पुण्य के प्रभाव से प्रियकारिणी उन्हीं की स्त्री हुई थी।

भगवान महावीर के जन्म के समय सोना, हीरा, मोती आदि रत्नों की वर्षा की पुष्टि वासोकुण्ड-वैशाली के लोकगीतों और कुलगीतों से भी होती है। श्रावण मास में बाज्जिकांचल में गाये जाने वाले लोकगीत में भगवान महावीर के जन्मदिन (तिथी) का भी उल्लेख हुआ है। लोकगीत इस प्रकार है³-

3. आहे कौना नगरिया भइया

महावीर जन्म लिहले कियो हइन माताजी के नाम है?

वासोकुण्ड नगरिया में महावीर जन्म भइले

त्रिशला देवी माता जी के नाम है।

चइत महिना रामा तेरस इजोरिया (शुक्ल पक्ष) में

हो खेला जय जयकार है।

सोना जे बरसे रामा, हीरा जे बरसेला

मोती बरसे बौछार है।

अइसन समइया रामा महावीर जनम भइले

नगर में होइवे जयकार है।

अर्थ- प्रश्न:- भइया यह कौन सा नगर है? क्या महावीर ने यहाँ जन्म लिया है? उनकी माता जी का क्या नाम है?

उत्तर- वासोकुण्ड नगर में महावीर ने जन्म लिया है, उनका माता का नाम त्रिशला देवी है। हे रामा, चैत्र मास की तेरस शुक्ल पक्ष में उनका जन्म हुआ था। सभी ने प्रसन्नतापूर्वक जय-जयकार की थी। उस समय, हे रामा, सोना, हीरा और मोतियों की बौछार रूप में वर्षा हुई थी। ऐसे समय (रत्नों की वर्षा सहित) महावीर ने जन्म लिया था। सारी नगरी में जन्मोत्सव की जय-जयकार हुई थी।

वासोकुण्ड-वैशाली के लोकगीतों और कुल गीतों में भगवान महावीर के जन्मस्थल, माता का नाम, जन्म तिथि और रत्नों की वर्षा के वर्णन से डॉ. जयकुमार जैन जलज, रतलाम बहुत प्रभावित हुए। उनके अनुसार 'जड़ प्रमाणों के अलावा लोकगीतों, लोक परम्पराओं और लोक मान्यताओं की जो चेतन प्रमाण समृद्धि आपने (डॉ. राजेन्द्र बंसल) प्रस्तुत की है, वह अकाट्य है लोक की गरिमा और लोक की संवेदना पर मैं इतना मोहित नहीं हुआ था जितना अब! सचमुच लोक एक बहुत बड़ी ताकत है और इतिहास की सच्चाई तक पहुंचने का एक निश्चल साधन है।'⁴

छक्खंडागम की वीरसेनाचार्यकृत धवला टीका में भगवान महावीर का गर्भ एवं जन्म स्थल कुण्डपुर दर्शाया है, जो इस प्रकार है-⁵

4. 'आसाढ जोण्णपक्खघटठीए कुण्डपुरणगुरहिव णाहवेस सिद्धताणरिंदस्स तिसिला देवीए गब्भमागतण तत्थ अटदिवसाहियणवमासे।

आच्छेय चइत्त-सुक्लपक्खरेरसीए उत्तराफगुणीणक्कात्ते गब्भादोणिक्खंतो।' (वीर सेनाचार्य, धवला टीका, खण्ड 4, पुस्तक 9:4-144, पृ.121)

अर्थ- आषाढ शुक्ल पक्ष षष्ठी के दिन कुण्डपुर नगर के अधिपति नाथवंशी सिद्धार्थ नरेन्द्र की त्रिशला देवी के गर्भ में आकर और वहां आठ दिन अधिक नौ मास रहकर चैत्र शुक्ल पक्ष की त्रयोदशी की रात्रि में उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में गर्भ से बाहर आये।

कषायपाहुड़ की जयधवला टीका भाग-1 पृष्ठ 76-77 में वीरसेनाचार्य ने उक्त पंक्तियां यथावत लिखी है और 'कुण्डपुर' को ही भगवान महावीर का जन्म स्थल दर्शाया है। परवर्ती लेखकों ने जयधवला में कहीं कुण्डपुर के स्थान पर 'कुण्डलपुर' लिखकर भ्रम उत्पन्न किया है।

आचार्य दामनन्दि (11वीं शती ई.) ने पुराणसार संग्रह में विदेह-कुण्डपुर को जन्म भूमि दर्शाया है, यथा⁶-

5. अथाऽस्पिन् भारतेवर्षे विदेहेषु महर्द्धिषु।

आसीत्कुण्डपुरं नाम्नां पुरं सुरपुरोत्तमम्॥

(आ. दामनन्दि, पुराणसार संग्रह-2, वर्धमान च.4/1 पृष्ठ 188)

अर्थ- अथानन्तर इसी भरतक्षेत्र में विदेह नाम का समृद्धि-शाली देश है, वहां देवों के नगरों से भी बढ़कर कुण्डपुर नाम का नगर था।

6. च्युत्वाविदेहनाथस्य सिद्धार्थस्याङ्गजोऽजनि।

सोऽत्र कुण्डपुरे शक्रः कृत्वामिषवणादिकम्॥

पं. आशाधर जी (13वीं शती ई.), त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्र, 24/24 पृ.

अर्थ- पुष्पोत्तर विमान (स्वर्ग) से च्युत होकर विदेह देश के राजा सिद्धार्थ व प्रियकारिणी के गर्भ से कुण्डपुर में महावीर नाम से जन्में। इन्द्र ने अभिषेकादि कार्य किये।⁷ 7. श्वेताम्बर साहित्य में भगवान महावीर का जन्म कुण्डग्राम, उत्तर क्षत्रियकुण्डपुर, कुण्डपुर (वैदेह) में होना दर्शाया है।

“कल्पसूत्र में लिखा है कि श्रमण भगवान....ज्ञातृक्षत्रिय ज्ञातृ क्षत्रिय के पुत्र ज्ञातृवंश के चन्द्रमणि, विदेह, विदेहदत्ता का पुत्र, विदेह निवास, विदेह का राजकुमार-विदेह में जबकि उनके माता- पिता का देहान्त हुआ तब तक तीस वर्ष रह चुके थे।”⁸ -विणीय णाए णायपुत्ते णायकुलचंदे विदेहे, विदेह दिण्णे विदेहज्ज्वे विदेह सूमाले तीसे-वासाइं विदेहसिं कटटु (कल्पसूत्र 5/11)।

आचारांग सूत्र में भी उक्तानुसार पाठ से मिलता-जुलता कथन किया है।⁹

उक्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि भगवान महावीर ज्ञातृकुल में उत्पन्न हुए थे, वे

विदेह-देश के रहने वाले थे, उनके पिता सिद्धार्थ कुण्डपुर (वासोकुण्ड) के राजा थे और उनकी माता त्रिशला 'विदेहदत्ता' कहलाती थी। यह ज्ञातव्य है कि श्वेताम्बर परंपरा में त्रिशला को महाराजा चेटक की बहिन माना जाता है, जबकि दिगम्बर परंपरा में त्रिशला को चेटक की पुत्री माना है। इसी कारण त्रिशला 'विदेहदत्ता' कहलाती हैं और महावीर वैशालेय!

बिहार राज्यांतर्गत विदेहादि राज्यों की स्थिति-परिसीमा-

दिगम्बर जैन परंपरा के आदिपुराण के अनुसार आदि ब्रह्मा महाराजा ऋषभदेव के विचार या ज्ञान मात्र से इन्द्र ने अयोध्यापुरी में जिन मंदिरों की रचना की। पश्चात् सुकौशल, अवन्ती.....अंग, बंग.....मगध, विदर्भ.....विदेह.....चेदि....शक्र और केकय इन तिरपेन देशों की रचना की।¹⁰

अविभाजित बिहार राज्य में अंग, मगध और विदेह देश सम्मिलित थे। डॉ. पं. पन्नालाल जी साहित्याचार्य ने आदि पुराण (भाग-1) में इन देशों को निम्न प्रकार दर्शाया है।¹¹

विदेह- मिथिला का पार्श्ववर्ती प्रदेश

मगध- राजगृही की पार्श्ववर्ती प्रदेश

अंग- भागलपुर का पार्श्ववर्ती प्रदेश

डॉ. राधाकुमुद मुकर्जी¹² ने पूर्व-बुद्धकाल में भारत में सोलह महाजन पदों की सूची अपनी कृति 'हिन्दू सिविलाइजेशन' में प्रस्तुत की है, जिसका आधार बौद्ध परंपरा की पाली कृति अंगुत्तरनिकाय है।¹³ सोलह राज्य इस प्रकार हैं, जिन्हें 'बुद्धकालीन भारत' शीर्षक पृ. 179 के नक्शे में दर्शाया है।

1) अंग	9) कुरु
2) मगध	10) पंचाल
3) कसी	11) मच्छ (मत्स्य)
4) कौसल	12) सूरसेन
5) बाज्जे	13) अस्स (अश्मक)
6) मल्ल	14) अवन्ति
7) चेति (चेदी)	15) गंधार
8) रुस (वत्स)	16) कम्बोज

श्वेताम्बर परंपरा के भगवती सूत्र¹⁴ में भी सोलह राज्यों के नाम दिये हैं। वे हैं- अंग, बंग, मगध, मलय, मालवा, अच्छ, वच्छ(वत्स), कोच्छ, पाठ, (1पुंड्र), लाढ़, वाज्जे, मोलि (मल्ल), कासी, कौसल, अवाह, संमुत्तर।

उक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि दिगम्बर एवं श्वेताम्बर जैन परंपरा तथा पूर्व-बुद्धकाल में अंग, मगध, विदेह (वाज्जे), मल्ल आदि राज्य बिहार राज्य में सम्मिलित थे। मगध में बिम्बसार (श्रेणिक) का रजतंत्र था जिसकी राजधानी राजगृही थी।

डॉ. राधाकुमुद मुकर्जी ने प्राचीन पाली और जैन आगम के अनुसार उस काल के

निम्न गणराज्यों का उल्लेख किया है।¹⁵

1.	शाक्य	-	कपिलवस्तु
2.	बुलिस	-	अल्लाकप्पा
3.	कालामस	-	केशपुत्त
4.	मग	-	सुंसमार पर्वत
5.	केलिय	-	रामगाँव
6.	मल्ल	-	पावा
7.	मल्ल	-	कुशीनारा
8.	मोरीय	-	पिप्लीवन
9.	विदेह	-	मिथिला
10.	लिच्छवि	-	वैशाली
11.	नाय	-	(ज्ञातिक) वैशाली

2 से 5 एवं क्रमांक के छोटे गणराज्य थे। क्रमांक 9,10,11 राज्य वज्जि संघ के अंतर्गत थे जो वैशाली गणतंत्र के नाम से विख्यात था। यह गणराज्य सम्मिलित थे, यथा- विदेह, ज्ञातिक, लिच्छवी, वाज्जि तथा चार संभवतः उग्र, भोग, इक्ष्वाकु एवं कौरव थे। वैशाली गणराज्य का वर्णन आगे किया है जिसमें भगवान महावीर का जन्म, विदेह-कुण्डपुर में हुआ था।

विदेह, मगध आदि की परिसीमाएँ-

आगमिक विद्वान पं. सुमेरचन्द्र दिवाकर¹⁶ ने अपनी कृति 'महाश्रमण महावीर' में 'बिहार-श्रू-दि-एजेज' एवं शक्ति-संगम के आधार पर विदेह (गणतंत्र) की परिसीमा निम्नानुसार निश्चित की है।

" Videh Corresponds mostly with the----Tirhut division. The Capital of videh was mithila usually identified with Janakpuri in he Nepal Jain. In the course of time Southern Videh developed a new kingdom with its capital of Vaishali, about 23 miles from Muzaffarpur"¹⁷ अर्थात् वर्तमान तिरहुत संभाग में विदेह अन्तर्भूत है। विदेह की राजधानी मिथिला थी। वह नेपाल की तराई में विद्यमान जनकपुरी की मानी जाती है। कुछ समय के अनंतर दक्षिण विदेह ने स्वतंत्र राज्य का स्वरूप प्राप्त कर लिया। उसकी राजधानी वैशाली हो गयी, जो मुजफ्फरपुर से तेतीस मील पर स्थित है।

शक्ति-संगम-तन्त्र के ही प्रसंग से 'विहार थ्रो द एजेज' के पृष्ठ 55 पर लिखा है- गंडक नदी के तट से लेकर चंपारण पर्यन्त का स्थान विदेह अथवा तिरुभुक्ति कहा जाता था। उसके पूर्व पश्चिम तथा दक्षिण में कोसी, गंडक तथा गंगा- ये तीन बड़ी नदियाँ हैं तथा हिमालय की तराई उत्तर की ओर है। इस क्षेत्र में मुजफ्फरपुर, दरभंगा, चंपारन, मुगेर तथा पुरनिया- ये वर्तमान जिले शामिल होते हैं।

विदेह देश के विस्तार के संबन्ध में शक्ति-संगम-तन्त्र के सुन्दरी खण्ड में इस प्रकार कहा गया है¹⁸ -

गण्डकी तीरमारभ्य चम्पारण्यान्तकं शिवे।

विदेहभूः समाख्याता तैरभुवत्यमियातुसा॥

अर्थात् तीर भुक्ति कही जाने वाली विदेह भूमि गण्डकी (गण्डक नदी) के तीर से लेकर चंपारण की अंतिम सीमा तक फैली हुई है।

बृहद्विष्णुपुराण¹⁹ में विदेह अथवा तीरभुक्ति देश की सीमा दर्शायी गयी है, जो इस प्रकार है-

‘गंगानदी और हिमालय पर्वत के मध्य पन्द्रहवां वाला परमपवित्र तीरभुक्ति (विदेह) नामक देश है। कौशिकी (कोश से लेकर गण्डकी (गण्डक) तक विदेह की पूर्व से पश्चिम तक की सीमा 24 योजन (96कोस) है। गंगा नदी से लेकर हैभवत वन (हिमालय तक चौड़ाई 16 योजन (64कोस) है। ऐसे विदेह अथवा तीरभुक्ति देश में तीनों लोकों के विख्यात पाँच कारणों से पुण्यशाली मिथिला नाम की नगरी है।’ यह ज्ञातव्य है कि तीरभुक्ति या तिरहुत नाम आज भी बहुश्रुत है और तिरहुत नाम का संभाग (प्रमण्डल) भी बना हुआ है। इसी विदेह या तीरभुक्ति प्रदेश में वैशाली, मिथिला आदि नगर थे।

भारतीय पुरातत्व के पुरोधा अलेक्जेंडर कनिंघम²⁰ ने अपनी कृति ‘द एन्सिएन्ट ज्योग्राफी ऑफ इन्डिया’ में चीनी यात्री हुआनसांग (ईसा 637-639) की यात्रा का वर्णन सविस्तार नगरों की दूरी और परिस्थिति दर्शाते हुए किया है। यात्रावृत्त का नक्शा भी संलग्न किया है²¹। नक्शे के अनुसार गंगा नदी के उत्तरी भाग में नेपाल की तराई तक तीरभुक्ति, वैशाली, सारन, कुशीनगर, पावा, जनकपुर आदि स्थित हैं। नक्शे में गंगानदी के दक्षिणी भाग में मगध राज्य दर्शाया है जिसमें पाटलीपुत्र-पटना, नालंदा-बड़गांव, राजगृही, बोधगया आदि स्थित हैं। हुआनसांग के अनुसार मगध का विस्तार 833 वर्ग मील था। इसके उत्तर में गंगानदी, पश्चिम में बनारस, पूर्व में हिरण्य पर्वत या मुंगेर और दक्षिण में किरण स्वर्ण या सिंहभूमि थी। हुआनसांग की वैशाली, ब्रजी, नेपाल मगध देश आदि की यात्रा का विवरण उक्त पुस्तक के पृ. 373 से 383 तक में दिया है, जो मूलतः पठनीय है। इससे अनेक प्रकार के भौगोलिक भ्रम, कुंठाएं एवं सोद्देशीय दुःकल्पनाओं का भ्रम दूर होकर यथार्थ ज्ञान होता है।

पुरातत्व एवं इतिहास वेत्ता श्री नन्दू लाल डे ने अपनी कृति प्राचीन एवं मध्यकालीन भारत का भौगोलिक शब्द कोष में बिहार राज्य के महत्वपूर्ण देश और नगरों का विस्तृत परिचय संदर्भ सहित दिया है, जिसका संक्षेपसार इस प्रकार है-

वैशाली- बसाड मुजफ्फरपुर (तिरहुत) जिला में हाजीपुर से 18 मील उत्तर की ओर और गंडक नदी की बायीं ओर स्थित है। वैशाली देश (गणराज्य) का नाम था साथ ही वज्जि या लिच्छवियों की राजधानी भी थी जो बुद्धकाल में समृद्धि के शिखर पर थी। वैशाली के उत्तर में विदेह और दक्षिण में मगध राज्य था। महापरिनिवाणसुत्त के अनुसार

वैशाली और वज्जि संघ में गणराज्य का शासन था। वैशाली के कुण्डपुर में जैनों के 24वें तीर्थंकर महावीर का जन्म हुआ था। वैशाली बुद्ध की कर्मभूमि थी। बुद्ध यहाँ के महावन की कूटग्रहशाला में रहे। (पृष्ठ 17-18)

विदेह- तिरहुत राजा जनक का राज्य था। विदेह और उसकी राजधानी का नाम मिथिला था। जनकपुर राजा जनक की राजधानी थी। विदेह के पूर्व में कौसिकी (कुसी), पश्चिम में गंडक, उत्तर में हिमालय और दक्षिण में गंगा नदी थी। बुद्ध के समय यह वज्जि देश के नाम से प्रसिद्ध था (पृ.35)

कुण्डग्राम- मुजफ्फरपुर जिले में कुण्डग्राम वैशाली (बसाड़) का दूसरा नाम है। कुण्डग्राम यथार्थ में वासोकुण्ड है जो वैशाली का अंग है। यह तीर्थंकर महावीर का जन्म स्थल है। यह बौद्धों का कोटीग्राम है। महावीर के पिता सिद्धार्थ थे, जिन्हें चेटक की पुत्री (श्वेताम्बर परंपरानुसार बहिन) त्रिशला ब्याही थी। अपने राज्य के 29वें वर्ष में अशोक द्वारा निर्मित स्तंभ में निर्ग्रन्थ का उल्लेख है (107-108)।

मगध - दक्षिण बिहार में स्थित है। सोन नदी पश्चिमी सीमा जरासंध के समय मगध की राजधानी प्राचीन काल में गिरी ब्रजपुर (विद्यमान राजगृह) थी। बाद में, बुद्ध के समय अजातशत्रु ने, वैशाली को विजित करके पाटलीपुत्र को राजधानी बनाई। मगध देश गंगा सोन नदी के दक्षिण में बनारस से मुंगेर तक तथा दक्षिण की ओर सिंह भूमि तक फैला था (116-117)।

अंग- भागलपुर और मुंगेर इसमें सम्मिलित है। यह सोलह जनपदों में एक है। चंपा या भागलपुर इसकी राजधानी है। उत्तरी सीमा की पश्चिमी सीमा गंगा और सरजू का संगम थी। कुछ विद्वानों के अनुसार संधाल परगना भी उसमें सम्मिलित था। मगध सम्राट बिम्बसार ने इसे जीतकर (छठवीं शताब्दी ईसा पूर्व) मगध में मिला लिया था। अजात शत्रु विजेता बना। चम्पापुर में जैनों के बारहवें तीर्थंकर वासुपुज्य का जन्म हुआ था। (पृ. 8)

राजगृही- प्राचीन मगध की राजधानी थी। नया नगर अजातशत्रु के पिता बिम्बसार ने स्थापित किया- (पृ.165)। शिशुनाग वंश के नौ नन्द राजाओं ने राज्य किया।

डिक्सनरी ऑफ पॉली प्रोपर नेम्स के अनुसार प्राचीनकाल में मगध देश गंगा नदी के दक्षिण में वाराणसी से मुंगेर तक फैला था, इसकी दक्षिणी सीमा दामोदर (दमूद) नदी के उद्गम स्थान कर्ण सुवर्ण (सिंहभूमि) तक मानी जाती थी। बौद्धकाल में मगध की सीमा पूर्व में चम्पा नदी पश्चिम में शोण (सोन) नदी, उत्तर में गंगा नदी और दक्षिण में विन्ध्य पर्वत माला थी।²³

शक्ति-संगम-तंत्र में मगध देश की सीमा-विस्तार निम्न प्रकार कहा है-

कालेश्वरं समारभ्य तप्तकुण्डान्तकं शिवे।

मगधाख्यो कालेश्वर-काल भैरव-नहि दुष्यति॥

अर्थ- कालेश्वर-काल भैरव- वाराणसी से सलेकर तप्तकुण्ड-सीमा-कुण्ड-मुंगेर तक मगध नाम महा देश माना गया है।

डॉ. जगदीशचन्द्र जैन²⁵ ने 'भारत के प्राचीन जैन तीर्थ' में भगवान महावीर के समय का भारत शीर्षक से एक नक्शा प्रकाशित किया है जो 500 ई.पूर्व का है। इस नक्शे के अनुसार गंगा नदी के उत्तर में मिथिला, विदेह, वैशाली स्थित है और गंगा नदी के दक्षिण में पाटिलपुत्र, नालंदा, राजगृह, मगध देश स्थित है। नक्शे में उस समय विद्यमान भारत के अन्य देश भी दर्शाये गये हैं।

अंग जनपद की सीमाओं के बारे में डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री का यह कथन महत्वपूर्ण है- 'चम्पेय जातक (506) के अनुसार चम्पानदी अंग-मगध की विभाजक प्राकृतिक सीमा थी, जिसके पूर्व और पश्चिम ये दोनों जनपद बसे हुए थे। अंग जनपद की पूर्वी सीमा राजमहल की पहाड़ियाँ, उत्तरी सीमा कोसी नदी और दक्षिण में उसका समुद्र तक विस्तार था।'²⁶

सांस्कृतिक तीर्थ का उद्भव-

विदेह-देश की उपरोक्त भौगोलिक परिसीमा में स्थित और, पुरातत्त्ववीय, आगम एवं लोकगीतों से प्रमाणित 'वासोकुण्ड-वैशाली' की ढाई बीघा अहल्ल पावन भूमि, जो सदियों से भगवान महावीर की जन्म-भूमि कहलाती है, पर देश रत्न महामहिम प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद जी ने दि. 23.4.1956 को विशाल भव्य समारोह में भगवान महावीर जन्म भूमि स्मारक-पट्ट का अनावरण कर भारत के सांस्कृतिक तीर्थ को राष्ट्र को समर्पित किया और श्रावक श्रेष्ठि साहू शांति प्रसाद जी के अर्थ- सहयोग से स्थापित होने वाले 'प्राकृत जैन शास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान वैशाली' का शिलान्यास किया। इस उद्देश्य हेतु स्थानीय सर्वजाति के महानुभावों ने नौ एकड़ भूमि दान में देकर उदारता दर्शायी।

लिच्छवी गणराज्य की विभूति भगवान महावीर-

महामहोपाध्याय पं. बलदेव उपाध्याय²⁷ के अनुसार 'वैशाली में अनेक विभूतियाँ उत्पन्न हुईं। परन्तु उनमें सबसे सुन्दर विभूति हैं- भगवान महावीर, जिनकी प्रभा आज भी भारत को चमत्कृत कर रही है। लौकिक-विभूतियाँ भूतलशायिकी बन गईं, परन्तु यह दिव्य- विभूति आज भी अमर है, और आने वाली अनेक शताब्दियों में अपनी शोभा का इसी प्रकार विस्तार करती रहेगी। बौद्धधर्म से जैनधर्म बहुत पुराना है। इसका संस्थापन भगवान ऋषभदेव ने किया था, जैनियों की यही मान्यता है। तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ वस्तुतः ऐतिहासिक पुरुष हैं। वे महावीर से लगभग दो सौ वर्ष पहले हुए थे। वे काशी के रहने वाले थे। महावीर ने उनके धर्म में परिवर्तन कर उसे नवीन रूप प्रदान किया। भारत का प्रत्येक प्रान्त जैनधर्म की विभूतियों से मण्डित है। महावीर गौतमबुद्ध के समसामयिक थे, परन्तु बुद्ध के निर्वाण से पहिले ही उनका परिनिर्वाण हो गया था। इस प्रकार वैदिक-धर्म से पृथक् धर्मों के संस्थापकों में महावीर वर्द्धमान ही प्रथम माने जा सकते हैं, और उनकी जन्मभूमि होने से वैशाली की पर्याप्त-प्रतिष्ठा है।

वासोकुण्ड-वैशाली दो कारणों से विख्यात हुईं, प्रथम- लिच्छवी गणराज्य और

वज्जिसंघ के सूत्रधार के रूप में जिसका प्रधान उद्देश्य था स्वस्थ, सहज सामूहिक जीवन के प्रति अपनापन इसकी सफल परिणति थी गणतंत्र की स्थापना और दूसरा- महावीर वर्द्धमान की दिव्य विभूति का अवतरण जिनका उद्घोष था सर्व जीवों को अभयदान, अहिंसा, अपरिग्रह एवं आत्मगत स्वावलम्बन से परमात्मत्व की प्राप्ति और अविरोध-सहिष्णु-समतामूलक- समाज की स्थापना। इन दोनों बिन्दुओं पर विचारणा अपेक्षित है। सर्वप्रथम महावीर- वर्द्धमान के पितृ और मातृकुलों की पृष्ठभूमि देखेंगे।

डॉ. कामता प्रसाद जैन के मतानुसार 'भगवान महावीर के पिता का नाम नृप सिद्धार्थ था और भगवान की माता का नाम त्रिशला प्रियकारणी वैशाली के वज्जियन राजसंघ के प्रमुख राजा चेटक की पुत्री थीं। नृप सिद्धार्थ के बारे में यह कहा जाता है कि वे नाथ (ज्ञातृ) वंशीय क्षत्रियों की ओर से वज्जियन राजसंघ में सम्मिलित थे। इन ज्ञातृवंशी क्षत्रियों की मुख्य राजधानी कुण्डनगर थी, जो वैशाली के निकट अवस्थित थी। नृप सिद्धार्थ स्वयं नाथवंशीय (ज्ञातृवंशीय) काश्यपगोत्री क्षत्री थी। भगवान महावीर अपने इस क्षत्रिय वंश- ज्ञात्रि अथवा ज्ञातृवंश के कारण ही बौद्ध ग्रंथों में निर्ग्रन्थ नातपुत्र के नाम से उल्लिखित हुए हैं। भगवान का सुखकारी जन्म इन्हीं प्रख्यात दम्पति के यहां कुण्डनगर में हुआ था।' नृप सिद्धार्थ जैन धर्मानुयायी थे।

दिगम्बराचार्य गुणभद्र²⁹ ने उत्तरपुराण में महावीर वर्द्धमान के जीवन-वृत्त का वर्णन किया है। उनके पिता नाथवंशी राजा सिद्धार्थ विदेह-देश के कुण्डपुर के शासक थे। उनके माता का नाम प्रियकारिणी (त्रिशला) था। महावीर के गर्भ में आने के छह माह पहले से सिद्धार्थ के आंगन में प्रतिदिन साढ़े-सात करोड़ रत्नों की वर्षा होने लगी। महावीर का जन्म चैत्र-शुक्ल त्रयोदशी को हुआ। देवताओं ने जन्मोत्सव मनाया। इन्द्र ने पांडुकशिला पर बालक वर्द्धमान का अभिषेक किया। तीस वर्ष तक वर्द्धमान कुमार अवस्था में रहे और अपने लोक-दायित्वों का निर्वाह करते रहे। पश्चात् उन्हें पूर्वभव का स्मरण हुआ और उन्होंने आत्मकल्याण और लोक हितार्थ वस्त्र-आभूषण उतार का संयम धारण किया और अंतर-बाह्य से निर्ग्रन्थ हो गये। उसी समय उन्हें मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हुआ। प्रथम आहार कूलग्राम के राजा कूल के यहाँ हुआ। वर्द्धमान ने बारह वर्ष तक मौन आत्म-साधना कर केवलज्ञान (दिव्यज्ञान) प्राप्त किया। वे सर्वज्ञ हो गये। समवसरण सभा के माध्यम से वर्द्धमान- महावीर ने 30 वर्ष तक जगत के जीवों को जगत की नित्यता, आत्मा की स्वतंत्रता, स्वाधीनता और परमात्मा बनने का उपदेश दिया। पश्चात् 527 ईसा पूर्व बहत्तर वर्ष की आयु में मध्यम पावा से परिनिर्वाण हुआ। महावीर की सर्वज्ञता बुद्ध ने भी स्वीकार की। (माज्झिमनिकाय 2/214)।

मातृ कुल के बारे में आ. गुणभद्र ने दर्शाया है कि 'सिंध्यवाख्यविषये' नदी प्रधान देश की वैशाली नगरी के राजा चेटक थे, जो जिनेन्द्र देव के भक्त थे। उनकी रानी का नाम सुभद्रा था। चेटक के दश पुत्र थे। इन पुत्रों के सिवाय सात ऋद्धियों के समान सात पुत्रियाँ थी, यथा-प्रियकारिणी, मृगावती, सुप्रभा, प्रभावती, चेलकी, ज्येष्ठा और चन्दना। विदेह देश के कुण्डपुर के नाथवंशी राजा सिद्धार्थ से प्रियकारिणी का विवाह हुआ। दशाण

देश के हेमकच्छ नगर के सूर्यवंशी राजा दशरथ से सुप्रभा का विवाह हुआ। गान्धार देश के महीपुर नगर के राजा सत्यक ने ज्येष्ठा नाम की पुत्री से विवाह की याचना की जिसे राजा चेटक ने अस्वीकार की। तदनंतर कुपित सत्यक ने युद्ध किया और पराजित हुआ। मानभंग होने पर सत्यक ने दिगंबर मुनिराज से दीक्षा ले ली। राजगृही का राजा श्रेणिक चेलना और ज्येष्ठा के चित्रों पर अनुरक्त हो उनसे विवाह करने का प्रस्ताव राजा चेटक के समक्ष रखा जिसे चेटक ने अस्वीकार किया। श्रेणिक के मंत्रियों ने श्रेणिक के पुत्र अभयकुमार को यह बात बताई। राजकुमार अभय ने बोद्रक व्यापारी का रूप धारण कर राजा चेटक के महल में प्रवेश किया और चेलना तथा ज्येष्ठा को श्रेणिक के प्रति आसक्त कर सुरंग मार्ग से राजगृही लाया। चेलनी कुटिल थी उसने ज्येष्ठा को आभूषण लाने के बहाने वापिस भेज दिया और अकेली राजगृही आयी। राजा श्रेणिक ने उससे विवाह रचाया। चेलनी से ठगी गयी ज्येष्ठा दुखी हुई और अंत में अपनी मामी यशस्वती नाम की आर्यिका के पास दीक्षा धारण कर ली। चन्दना के सौन्दर्य पर मोहित हो कर राजा मनोवेग विद्याधर ने उसका अपहरण किया और पत्नी भय से उसे वन में छोड़ दिया। एक कालक भील ने चन्दना को सिंह नामक भीलराजा को सौंप दिया। भील राजा ने चन्दना को अपने मित्र मित्रवीर को दे दी। मित्रवीर ने भारी धन प्राप्त कर अपने स्वामी सेठ वृषभसेन (कौशाम्बी) को सौंप दी। सेठ की पत्नी भद्रा ने चन्दना को सांकल से बांध कर बंदी गृह में डाल दिया। किसी समय महावीर वहां से आहार हेतु गमन कर रहे थे। चन्दना के मन में उन्हें आहार देने की भावना हुई। वह भक्ति भावपूर्वक आगे बढ़ी। आगे बढ़ते ही उसकी सांकल टूट गयी और आभूषणों से उसका शरीर सुंदर दिखने लगा। चंदना ने विधिपूर्वक मुनिराज महावीर को पडगाहा और आहार दिया। आहार दान के प्रभाव से देवों ने पंच-आश्चर्य किये। मृगावती चंदना को अपने महल में ले गयी। तत्पश्चात् चंदना ने आर्यिका दीक्षा ग्रहण की और महावीर के चतुर्विध संघ में आर्यिका प्रमुख बनीं।³⁰

दिगम्बर परम्परानुसार वैशाली के लिच्छवी गणराज्य के अधिपति चेटक महावीर वर्द्धमान के नाना होते हैं और मगधाधिपति श्रेणिक बिम्बसार उनके मौसा होते हैं। श्वेताम्बर परंपरा में विदेहदत्ता³¹ उनकी माता त्रिशला का नाम था। यह नाम उनकी माता को इसलिए प्राप्त हुआ था, क्योंकि माता त्रिशला विदेह देश की नगरी वैशाली के गणसत्ताक राजा चेटक की बहिन थी।³² इस प्रकार श्वेताम्बर परंपरा में राजा चेटक महावीर के मामा होते हैं। आवश्यकचूर्णि³³ के अनुसार वैशाली नगरी के हैहयवंशी राजा चेटक की विभिन्न रानियों से सात पुत्रियां हुईं, जिसके नाम थे- प्रभारती, पद्मावती, मृगावती, शिवा, ज्येष्ठा, सुज्येष्ठा और चेलणा। गिलगिट में नारिक्रप्टस³⁴ में वैशाली के संदर्भ में दो कथाओं का उल्लेख है। पहली कथा बिम्बसार और चेलना के विवाह की है। इसमें अजातशत्रु की माता चेलना को लिच्छवियों के सेनापति सिंह की पुत्री और बिम्बसार के मुख्यमंत्री गोपा की भतीजी बताया है। दूसरी कथा में आम्रपाली को महानाम के भद्र लिच्छवी की दत्तक पुत्री बताया है जो बाद में गणिका बनी। आम्रपाली का बिम्बसार से संपर्क हुआ और उससे अभयकुमार उत्पन्न हुऐ।

इतिहासतत्त्वज्ञ महोदधि विजयेन्द्र सूरि³⁵ के अनुसार 'महावीर स्वामी के कुल चातुर्मासों में से 19 चातुर्मास विदेह में हुए थे- 12 चातुर्मास वैशाली में, 6 मिथिला में और एक अस्थि गांव (आधुनिक 'हाथागांव') में। इन चातुर्मासों से यह भी प्रकट है कि महावीर स्वामी के समय मिथिला नगर की सत्ता तो थी, पर वह प्रमुखतम नगर न था।'

आचार्य विजयेन्द्र सूरि³⁶ के अनुसार 'भगवान का मुख्य श्रावक आनन्द वैशाली के निकट स्थित वाणिज्यग्राम का गृहपति था और वाणिज्य ग्राम का राजा जितशत्रु भी भगवान का भक्त था।' 'भगवान अपने केवलज्ञान के बाद एक बार कुण्डपुर भी आये थे। आपकी इस यात्रा में ऋषभदत्त और देवानन्दा ने दीक्षा ली थी।

मगधराज श्रेणिक- बिंबसार, अजातशत्रु और राजा चेटक भगवान महावीर के अनुयायी थे। नौ लिच्छवि नौ मल्ल इस प्रकार अठारह काशी-कौशल के गणराजाओं ने मिलकर दीप ज्योति जलाकर भगवान महावीर का निर्वाण महोत्सव मनाया। इस प्रकार इन गणराजाओं ने भगवान महावीर और उनके दर्शन/सिद्धांतों के प्रति अपनी अगाध श्रद्धा व्यक्त की। धर्मसंघ और गणसंघ का मिलन अद्भुत था।

भगवान महावीर ने कर्मबंधन से मुक्ति हेतु सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता का उपदेश दिया। इसकी छाप वैशाली गणतंत्र के दर्शन, कार्यप्रणाली और लोकजीवन में स्पष्ट परिलक्षित होती है। वैशाली गणसंघ की शासन सभा सम्यक्दर्शन की प्रतीक है। न्यायाधिकारी और न्यायप्रक्रिया सम्यग्ज्ञान की प्रतीक है और विधि-विधानों के क्रियान्वयन की पद्धति-कार्यपालिका सम्यक्चारित्र की प्रतीक है। राजा चेटक और सिद्धार्थ आदि भगवान पार्श्व के चातुर्मागी मार्ग (अहिंसा, सत्य, अचौर्य और अपरिग्रह) के अनुयायी थे³⁷। महावीर ने पंचमव्रत ब्रह्मचर्य (शील) का उपदेश दिया। वासोकुण्ड-वैशाली में आज भी परंपरागत रूप से परिवार में कोई एक ब्रह्मचारी होता है और नारियों को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। ऊँच-नीच के वर्ग भेद की भावना का वहां अभाव है। सर्वोदय, पवित्र-जीवन, अविरोध और सर्वसहिष्णुता के तत्त्व जन सामान्य में विद्यमान हैं। वहां की 'वथान परंपरा' महावीर द्वारा उपदेशित श्रेष्ठ श्रावक की दशमी प्रतिमा अनुमति त्याग- का सूचक है। वासोकुण्ड- वैशाली के लोक जीवन में महावीर और उनके उपदेश की धरोहर दैनिक जीवन में परिलक्षित होती है। लोकगीत और कुल गीतों में महावीर की विद्यमानता इतिहास की अमूल्य धरोहर है। इस उद्देश्य हेतु लेखक की कृति 'भगवान महावीर-जन्मभूमि का सच' पठनीय है।

वैशाली (लिच्छवी गणराज्य) का वैभव एवं परंपरा-

महावीर- बुद्ध, काल में भारत के सोलह जनपदों में बज्जि और मल्ल जनपद का उल्लेख हुआ है। और ग्यारह गणराज्यों में मल्ल-पावा, मल्ल-कुशीनारा, विदेह-मिथिला, लिच्छवी-वैशाली और नाय-(ज्ञातृक) वैशाली का उल्लेख हुआ है। इन गणराज्यों में लिच्छवी वैशाली अत्यंत प्रभावी, समृद्ध और शक्तिशाली था। इस का उल्लेख बौद्ध और श्वेताम्बर, साहित्य में हुआ है। वैशाली महात्मा बुद्ध को अत्यंत प्रिय थी, यह उनकी

कर्म-भूमि थी।

महावीर के काल में वैशाली लिच्छवी गणतंत्र की राजधानी थी। गणतंत्र का नाम भी वैशाली था। इसके आधीन 9 मल्लकी, 9 लिच्छवी, काशी-कौशल के 18 गणराजा थे। वैशाली के अंतर्गत 18 गणराजाओं का उल्लेख कल्पसूत्र (सूत्र 128) भगवती सूत्र (शतक 7, उद्देशक 9), निरयावलि, आवश्यक-चूर्णि आदि ग्रंथों में मिलता है।³⁸ यह परामर्शदात्री संघ था जिसका अस्तित्व भगवान महावीर के परिनिर्वाण तक था।

नौ लिच्छवि का संघ 'वज्जी संघ' के नाम से प्रसिद्ध था। इसकी स्थापना विदेह के राजतंत्र के अवसान के बाद हुई थी। इस संघ में आठ कुलों के नौ गण थे। विदेह, लिच्छवि, ज्ञातृक, वृजि, उग्र, भोग कौरव और इक्ष्वाकु- इन आठ का नाम मिलता है। नौवाँ कुल ज्ञात नहीं है। इस संघ को 'वज्जियों का अष्टकुल' या लिच्छवि संघ' कहा जाता था। ये सभी कुल लिच्छवि थे। इनमें ज्ञातृवंशी प्रधान थे। वे काश्यप गोत्री थे। एक प्रधान गणपति या राजप्रमुख होता था। उस समय चेटक वज्जिसंघ के प्रमुख थे और भगवान पार्श्वनाथ के अनुयायी थे।

विदेहों की प्राचीन राजधानी मिथिला थी जो वैशाली के गणतंत्र में समाहित हो गयी। वैशाली ने कब और किस प्रकार गणतंत्र अपनाया? डॉ. हेमचन्द्र राय चौधरी ने मिथिला³⁹ में राजतंत्र से प्रजातंत्र में परिवर्तन होने का कारण बतलाया है। इतना सच है कि लिच्छवी-प्रजातंत्र का जन्म बुद्ध के बहुत पहले हो चुका था। बुद्ध ने स्वयं वज्जियों की बहुत पहले से आती हुई प्राचीन संस्थाओं⁴⁰ की प्रशंसा खुले शब्दों में की है।

प्राचीन हिन्दू शास्त्रों के अनुसार वैशाली की स्थापना राजा विशाल ने की थी। विशाल इक्ष्वाकु का पुत्र था। राजा विशाल का गढ़ अभी भी अपने पुरातन वैभव की स्मृतियाँ संजोये जमींदोज रूप में बसाढ़ में विद्यमान है। बौद्धग्रंथों के अनुसार तीन बार नगर को विशाल करने के कारण इसका नाम वैशाली पड़ा। यह मोहक नाम प्रजातंत्र का आद्य- नगर होने के कारण प्रसिद्ध हुआ। उस समय वैशाली समृद्धिशाली, बहुत मनुष्यों से भरी, अन्न-पान-संपन्न थी। उसमें 7777 प्रासाद, 7777 कूटागार (कोठे) 7777 आराम (उद्यानगृह) और 7777 पुष्करिणियाँ थीं।⁴¹ डॉ. राधाकुमुद मुकर्जी ने 7707 का उल्लेख किया है।

तिब्बती परंपरानुसार वैशाली नगरी में 7000 सोने के कलश वाले महल, 14000 चांदी के कलश वाले महल तथा 21000 तांबे के कलश वाले महल थे। ये तीन परकोट से घिरे थे। उनके द्वार पृथक्-पृथक् थे और सुरक्षा- टावर से संपन्न थे। इन महलों में क्रमशः उत्तम, मध्यम और जघन्य कुलों के लिच्छवी निवास करते थे। महावस्तु ग्रंथ के अनुसार वैशाली के नागरिक दो श्रेणी के थे, अभ्यंतर- वैशालिक और बाह्य-वैशालिक। उनकी कुल संख्या 84,000 से दुगुनी 1,68,000 थी। वैशाली का वैभव देव नगरी जैसा भव्य, मनमोहक था। वहां के नागरिक आत्म-संयमी, उत्सव और कला प्रिय थे। अपने कर्तव्यों और गणतंत्र के हितों के प्रति सजग रहते थे।

आगम ग्रंथों के अनुसार 'वैशाली' तीन भागों या जिलों में विभक्त थी- वैशाली, कुण्डग्राम और वाणिज्यग्राम। ये तीनों ही नगर भिन्न-2 थे। यह एक दूसरे से कितनी दूर

थे- इसका कहीं उल्लेख नहीं मिलता।

वैशाली गणतंत्र की एक विशिष्ट परंपरा थी। जब भी कोई लिच्छवी कुमार अपने पिता का पद गणराज्य- सत्ता में ग्रहण करता था तब केवल एक बार 'अभिषेक -पुष्करिणी' के जल से उसका अभिषेक किया जाता था। इसके जल को राजाओं के अतिरिक्त दूसरा कोई छू भी नहीं सकता था। उसकी रक्षा के लिये कड़ा पहरा रहता था। ऊपर लोहे की जाली लगी थी, ताकि उड़ते पक्षी तक उसमें चोंच न डुबो सकें।

वैशाली में अगणित चैत्य गृह या पूजा स्थल थे। उनमें मुख्य थे- उदेन चैत्य, गोतमक चैत्य, सत्तम्बक चैत्य, बहुपुत्तक चैत्य, सारदन्द चैत्य, चापाल चैत्य, वापिनहय चैत्य, मर्कटहृदतीर चैत्य, मुकुटबन्धन चैत्य आदि। वैशाली में धार्मिक सहिष्णुता थी। जैनधर्म और बौद्धधर्म दोनों पल्लवित थे। वैदिक धर्मानुयायी भी थे।

आ. विजयेन्द्र सूरि के अनुसार "बुद्ध के काल में वैशाली श्रमण-निग्रंथों का एक बड़ा सुदृढ़ केन्द्र था। यह बात न केवल जैन ग्रंथों से, वरन् बौद्धग्रंथों से भी प्रमाणित है। महावस्तु में कथा आती है कि घर छोड़कर वैराग्य लेने के बाद बुद्ध वैशाली में आरालकालाम के पास भी आये थे, जो जैन था। अंगुत्तर निकाय की मनोरथ पूरणी टीका में कहा गया है कि बुद्ध के चाचा वप्प स्वयं जैन थे।"⁴²

वैशाली (लिच्छवी गणतंत्र) की प्रजातंत्रीय कार्य-प्रणाली

महापंडित राहुल सांकृत्यायन⁴³ की अध्यक्षता में दि. 21/4/48 को चतुर्थ वैशाली महोत्सव संपन्न हुआ था। उन्होंने अपने अध्यक्षीय भाषण में वैशाली के प्रजातंत्र की विशेषताओं और बौद्ध भिक्षु संघ पर उसके प्रभाव की विस्तृत, ससंदर्भ जानकारी दी थी, जो मुलतः पठनीय है। उसके आधार पर अति संक्षेप में उसका विवरण प्रस्तुत है-

विधायिका-

गणों की सर्वोपरि शासन-सभा या पार्लियामेन्ट को संस्था कहा जाता था जहाँ संस्था की बैठक हुआ करती थी, उसे संस्थागार (संथागार) कहा जाता था। संस्थागारों में बज्जी सभा करते थे। राजकाज और विधान की बातें कर निर्णय लेते थे। राक राय या बहुमत से निर्णय करते थे। इन संस्थाओं की कार्य प्रणाली कैसी थी उसका कोई साक्षात प्रमाण नहीं है। बुद्ध ने अपने भिक्षु संघ की स्थापना इन्हीं संघ राज्यों के नमूने से की थी। इसलिये इस विषय में भिक्षु संघ के विधान (विनय-नियमों) से हम समझ सकते हैं कि संघ राज्यों में किस तरह संस्था काम करती थी। त्रिपिटक में गणराज्य को 'संघ' शब्द से संबोधित किया गया है।⁴⁴ संस्था की बैठक संस्था-राज या उपराज की अध्यक्षता में होती थीं। कोई भी प्रस्ताव आता तो उसे याचना कहा जाता था। विनय पिटक के अनुसार याचना, ज्ञप्ति, अनुश्रावण, धारणा की प्रक्रिया के माध्यम से सर्व सम्मत निर्णय होता या मतदान होता था, जिसे छन्द शब्द का प्रयोग होता था। वैशाली के प्रजातंत्र के इतिहास-भवन के अवशेष हम सुरक्षित नहीं रख सके, समुद्र पार सिंहल और चीन के लोगों ने सुरक्षित रखा।

कार्यपालिका-

लिच्छवियों के मुख्य अधिकारी थे-संस्था-राज, (राजा), उपराजा, सेनापति, अष्टकुलिक, व्यवहारादिक, विनिश्चय महामात्य आदि। राजा और उपराज, राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति कहा जाता था।

न्यायपालिका-

वैशाली प्रजातंत्र की न्याय-व्यवस्था के व्यवस्थित स्वरूप का ज्ञान दीघनिकाय की अष्टकथा⁴⁵ से मिलती है। “परंपरा से चला आया वज्जिधर्म यह था कि वज्जि के शासक ‘यह चोर है, अपराधी है’ न कहकर आदमी को विनिश्चय-महामात्य (न्यायाधीश) के हाथ में दे देते थे। वह विचार करता, अपराधी न होने पर छोड़ देता, अपराधी होने पर अपने कुछ न कह कर व्यवहारिक (न्यायाध्यक्ष) को दे देता। वह भी अपराधी जानने पर सूत्रधार को दे देता। वह भी विचार कर निरपराध होने पर छोड़ देता, अपराधी होने पर अष्ट कुलिक को दे देता। वह भी वैसा ही करके सेनापति को, सेनापति उपराज (उपाध्यक्ष) को और उपराज राजा (गणपति) को दे देता। राजा विचार कर यदि अपराधी न होता तो छोड़ देता और अपराधी होने पर प्रवेणि-पुस्तक (दण्डविधान) बंचवाता। प्रवेणि-पुस्तक में लिखा रहता, कि अमुक अपराध का अमुक दण्ड है। अपराध को उससे मिला कर दण्ड दिया जाता।”

‘वैशाली-गणतंत्र’⁴⁶ नामक आलेख में श्री राजमल जैन ने वैशाली- गणतंत्र का वर्णन सांगोपाग संदर्भ सहित किया है, जिज्ञासुजन उससे ज्ञान वृद्धि कर सकते हैं।

सुदृढ़ राष्ट्ररक्षा-

लोक-सर्वेक्षण के समय श्रीराम नरेश सिंह, भूपू. विधायक, वैशाली ने बताया कि लिच्छवी- जन गणराज्य की रक्षा-सुरक्षा के प्रति जागरूक थे। उनके पास रथ-मूसल ब्रह्मास्त्र था जो सारथी रहित था। जब भी कोई शत्रु गणराज्य की सीमा में प्रवेश करता उसकी सूचना घंटे की टंकार से सबको मिल जाती थी। उस स्थान को घंटारों कहा जाता है।

वज्जि संघ के सात अपारिहारिक.....

दीघ निकाय⁴⁷ में वज्जिसंघ के सात सूत्रों का वर्णन भगवान बुद्ध और उनके प्रथम शिष्य आनंद के मध्य हुए वार्तालाप से उद्भूत हुए। ये सूत्र वज्जिसंघ की सफलता और समृद्धि के सूत्र हैं। भगवान बुद्ध ने इन्हीं सूत्रों के आधार पर भिक्षु संघ की स्थापना की।

जैन और बौद्ध साहित्य की अनुश्रुतियों से ज्ञात होता है कि बिम्बसार- श्रेणिक पुत्र अजातशत्रु (कुणिक) वैशाली गणतंत्र की समृद्धि से ईर्ष्या करता था और अपनी साम्राज्यवादी प्रवृत्ति के कारण वैशाली अपने राज्य में सम्मिलित कर लेना चाहता था। उसने ब्राह्मण मंत्री वर्षकार को बुद्ध के पास टोह लेने और प्रस्तावित आक्रमण के विषय में बुद्ध की सम्मति लेने भेजा। उस समय बुद्ध मगध के अंतिम वर्षावास के समय राजगृही के पास

गृद्धकूट शिखर में ठहरे हुए थे। बुद्ध ने आनंद से प्रश्नोत्तर करते हुए कहा कि जब तक वज्जियों में निम्नलिखित सात बातें मिलेगी, वज्जियों का अभ्युदय होगा, हानि नहीं-

- (1) जब तक वज्जि अपनी परिषद की बैठकें भरपूर रूप से बार-बार करते हैं।
- (2) जब तक वे मिलकर बैठते-उठते और अपने वृजिकार्यों (राष्ट्रीय कार्यों) को मिलकर करते हैं।
- (3) जब तक वे उचित विधि (प्रोसीजर) के बिना कोई कानून जारी नहीं करते, विधिपूर्वक बनाये कानून का उल्लंघन कर कोई कार्य नहीं करते और वज्जियों की विधिपूर्वक बने कानून से स्थापित प्राचीन संस्थाओं के अनुकूल आचरण करते हैं।
- (4) जब तक वे अपने वृद्धों और गुरुओं का सम्मान करते, आदर सत्कार करते, उन्हें मानते-पूजते और सुनने लायक बातों को सुनते-मानते और तदनुकूल आचरण करते हैं;
- (5) जब तक वे अपनी कुल-स्त्रियों और कुल-कुमारियों पर जोर-जबरदस्ती कर उन्हें नहीं रोकते या उन पर अत्याचार नहीं करते।
- (6) जब तक वे अपने वृजि-चैत्यों (जातीय मंदिरों और स्मारकों) का आदर-सत्कार और मान करते तथा उनको पहले से दी गयी धर्मानुकूल बलि (चढ़ावा-पूजावा) का अपहरण नहीं करते, उसे नहीं छुड़ाते।
- (7) जब तक वे अपने अर्हत्तों की शरण, रक्षा और पोषण का उचित प्रबन्ध करते हैं..... तब तक वज्जियों की वृद्धि ही होगी, हानि नहीं।

उक्त सात धर्मों में प्रथम तीन धर्म स्वरूप प्रजातांत्रिक व्यवस्था के आधार हैं। वृद्धों और नारियों का सम्मान (धर्म 4-5) वैशाली की उच्च संस्कृति भावना की प्रतीक है। अंतिम दो वैशाली वासियों की धार्मिक सहिष्णुता, उदारता और अविरोध का सूचक है।

भगवान बुद्ध की उक्त बातें सुनकर चतुर वर्षकार मंत्री समझ गया कि किसी भी जाति या समूह को केवल बाहरी भौतिक शक्ति से विजित नहीं किया जा सकता। उसे अजातशत्रु से कुटिल मंत्रणा की। राजगृही से उसे निष्कासित कर दिया। वैशाली में उसने शरण ली और धीरे-धीरे लिच्छवियों में फूट और अविश्वास के बीज बो दिये। लिच्छवियों की एकता में ग्रहण लगा। अजातशत्रु ने पाटलीपुत्र में अभेद्य महल बनवाया और वैशाली पर आक्रमण कर निर्ममता पूर्वक गणतंत्र को ध्वस्त कर मगध राज्य में विलीन कर लिया। यह घटना बुद्धनिर्वाण के तीन वर्ष बाद की है। प्रजातंत्र का चिराग, भगवान महावीर की जन्मभूमि का दिव्यावदान- लिच्छवियों/ वज्जियों का गणतंत्र-भारत भू में लुप्त हो गया, जो 2500 वर्षों बाद भगवान महावीर की अहिंसा, सहनशीलता और सत्य के सिद्धान्तों पर आधारित असहयोग आंदोलन की सफल परिणति के रूप में राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के नेतृत्व में 15 अगस्त, 1947 को पुनः अवतरित हुआ। धन्य है वज्जियों का गणतंत्र, धन्य है, भगवान महावीर का अहिंसा-सत्य का सिद्धान्त, धन्य है वे भारतवासी जिन्होंने जीवन का बलिदान कर प्रजातंत्र के चिराग को पुनः जलाया और विश्व को गणतंत्रीय भावनाओं की सफलता

का संदेश दिया। नमनीय है- भारत का संविधान जिसकी मूल प्रति के पृष्ठ पर भगवान महावीर का चित्र और अहिंसा का योगदान अंकित है।⁴⁸

महात्मा बुद्ध : वैशाली गणराज्य का बौद्धभिक्षु-संघ-व्यवस्था में योगदान :-

महात्मा बुद्ध का जन्म कपिलवस्तु के शाक्य राजा शुद्धोधन के यहाँ हुआ। उनकी माता का नाम माया था। उनका पूरा नाम था-सिद्धार्थ गौतम। वे जन्म से ही करुणापूर्ण थे। उनका विवाह यशोधरा नाम की सुन्दरी से हुआ। राहुल नाम का पुत्र भी हुआ। शाश्वत सुख की खोज में तीस वर्ष की आयु में एक रात्रि में गृह त्याग दिया। आध्यात्मिक गुरु की खोज में वे वैशाली आये। महावस्तु ग्रंथ⁴⁹ के अनुसार वैशाली में उन्होंने आलार कालाम जैन-महायोगी को अपना गुरु बनाया और योगविद्या सीखी। महापरिनिर्वाण सुत्त (4.35) के अनुसार आलार कालाम, जब ध्यान मग्न होते थे तब मार्ग में जाती हुई 500 बैलगाड़ियाँ भी उन्हें दिखायी नहीं देती थी और न वे उनकी आवाज सुन पाते थे। बुद्ध के दूसरे गुरु महायोगी उद्रक रामपुत्र थे। बुद्ध ने भगवान पार्श्वनाथ के संप्रदाय में दीक्षा ली थी। कठोर तपश्चरण के कारण एवं निर्बल और हड्डी के ढाँचे मात्र जैसे हो गये थे।

बौद्ध ग्रंथ मज्झिमनिकाय, महासीहनाद सुत्त-12 में बुद्ध की श्रमणचर्या का सजीव वर्णन है। आचार्य देवसेन कृत दर्शनसार, श्लोक 6 से भी इसका समर्थन होता है। श्लोक इस प्रकार है-

सिरिपासणाहत्तिथे सरयूतीरे पलासणयरत्थो।

पिहियासवस्स सिस्सो महासुदो बुद्धकित्तगुणी॥

अर्थ-श्री पार्श्वनाथ भगवान के तीर्थकाल में सरयू नदी के किनारे पलाश नगर में विराजमान श्री पिहिताम्रव मुनि का शिष्य बुद्धकीर्ति मुनि हुआ। बुद्धकीर्ति मुनि तथागत बुद्ध का पूर्व नाम है।

वैशाली को आंख भर कर देख अपने प्रिय शिष्य से कहा- आनंद! तथागत (बुद्ध) यह अंतिम बार वैशाली का दर्शन कर रहा है।⁵² उस दयामूर्ति के हृदयोद्गार थे-“आनंद! रमणीय है वैशाली, रमणीय है उसका उदयन चैत्य, गोतमक-चैत्य, सप्रभक-चैत्य बहुपुत्रक-चैत्य, सारंदद-चैत्य।” अम्बपाली वन में उपस्थित वैशाली वासी लिच्छवियों को देखकर बुद्ध ने कहा था- “देखो भिक्षुओ! लिच्छवियों की परिषद को, देखो भिक्षुओ! इस लिच्छवि-परिषद को त्रायास्त्रिंस (देवताओं) की परिषद समझो।”⁵³

चापल-चैत्य में बुद्ध ने ई.पू. 482 की माघ-पूर्णिमा के आस-पास कहा था- ‘आज से तीन मास बाद तथागत का निर्वाण होगा।’ यह संबोधन उन्होंने शैतान ‘मार’ को किया।

कुशीनगर में बुद्ध का निर्वाण हुआ। बुद्ध निर्वाण (483 ईसा पूर्व) के तीस साल बाद मगधाधिपति अजातशत्रु ने वैशाली को ध्वस्त कर दिया और वह मगध के राजतंत्र के आधीन हो गयी।

बौद्धधर्म के इतिहास की कई स्मृतियाँ वैशाली से जुड़ी हैं। वैशाली नगर के उत्तर-पूर्व की तरफ महावन या शालवन नामक एक आश्रम था। उसके अधिपति गोश्रृंगी

ने उसे बुद्धदेव को दान में दे दिया। इस आश्रम में एक दो मंजिला कूटागारशाला बनवायी गयी जिसमें बुद्ध प्रायः रहते थे। दूसरे वैशाली की गणिका अनिंद्य सुन्दरी अम्बपाली ने एक बार बुद्ध को भोजन हेतु आमंत्रित किया और दक्षिणा के रूप में 'आम्रकानन' भेंट कर दिया। वह भी बौद्ध भिक्षुणी बन गयी। तीसरी घटना थी स्त्रियों को संघ में प्रवेश करने की अनुमति देने की। उनकी धातृमाता गोतमी संघ में प्रवेश चाहती थी। प्रारंभ में बुद्ध ने अनुमति नहीं दी। आनंद के अनुरोध पर वैशाली में बुद्ध ने गोतमी को संघ में सम्मिलित कर नया कार्य किया और भिक्षुणी संघ बना। बुद्ध ने भविष्यवाणी की- 'हे आनंद! अगर नारी जाति को गृहस्थाश्रम त्याग करके सन्यास आश्रम में प्रवेश करने की आज्ञा न दी जाती तो तथागत द्वारा प्रतिष्ठित पवित्र धर्म एक हजार वर्ष कायम रहता। मगर चूंकि स्त्रीजाति को संघ में प्रवेश करने की आज्ञा दी गयी है, इस कारण से हमारा यह पवित्र धर्म अब केवल पांच सौ वर्ष तक ही जीवित रहेगा।'⁵⁴

इतिहास की त्रासदी, चीनी यात्री हुएनसांग (637-639ई.) जब वैशाली आया तब वह नगरी उजाड़ हो चुकी थी। संधाराम ध्वस्त हो चुके थे। हाँ जैन अच्छी संख्या में थे। जैनों के वैशाली में अच्छी संख्या पाये जाने का यह आखिरी प्रमाण है।⁵⁵ बारहवीं सदी के अंत में वैशाली पर मुसलमानों का अधिकार हो गया।

लिच्छवीगण-संघ का बौद्ध-संघ पर प्रभाव:-

भिक्षु-संघ की कार्य-पद्धति लिच्छवीगणतंत्र के आधार पर बनी है। भिक्षुसंघ में प्रस्ताव रखने और उसे पारित करवाने की वही विधि अपनायी गयी जो लिच्छवीगणतंत्र की थी। इसका वर्णन विनय-पिटक (चुल्लवाग 4/3/5) में उपलब्ध है। लिच्छवीगणतंत्र में वज्जियों के 'अष्टकुल' सम्मिलित थे, बुद्ध ने भी अपने मध्यममार्ग में अष्टांग निर्धारित किये; यथा-सम्यक्दृष्टि, सम्यक्संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, (आजीविका), सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि।⁵⁶ मगधराज के ब्राह्मण मंत्री वर्षकार को बुद्ध ने लिच्छवीगणराज्य के सात अपरिहार्य धर्म बताए थे, जो वैशाली के विनाश के भी निमित्त बने। वर्षकार के चले जाने पर बुद्ध ने आनंद से कहा- "राजगृह के निकट रहने वाले सब भिक्षुओं को इकट्ठा करो।" तब उन्होंने भिक्षु-संघ के लिये सात धर्म का विधान किया। उनमें प्रथम चार धर्म लिच्छवीधर्म के अनुरूप थे और अंतिम तीन लोभ से विरति संयम और मन के संयम तथा सदसंगति से संबन्धित थे। विपश्यना (देखना) ध्यान पद्धति जैन ध्यान योग का रूपांतरित रूप है। बुद्ध की यह गुणग्राहकता और बुद्धि का वैशिष्ट्य था जो उन्होंने विना किसी आग्रह के लिच्छवीगणतंत्र की विधि-पद्धति को भिक्षु-संघ की पद्धति के रूप में स्वीकार किया। भगवान महावीर लोक कल्याण एवं गणतंत्र की पावन भावनाओं से ओतप्रोत थे, उन्होंने उसे पुष्ट किया और 'तीन रत्न', सात तत्त्व, छहद्रव्य के तात्त्विक और दार्शनिक चिंतन द्वारा विचारों में अनेकान्त, वाणी में स्याद्वाद और आचरण में अहिंसादि पांच व्रतों के आचरण का उपदेश देकर आत्मशुद्धि, समता, संतोष, समानता और समन्वय के शाश्वत सूत्र दिये। दोनों विभूतियों को नमन।

उपसंहार :-

अढ़ाई हजार वर्ष पूर्व जबकि विश्व में राजतंत्र और साम्राज्यवादी प्रवृत्ति की धूम थी, भगवान पार्श्वनाथ के अनुयायी चेटक द्वारा लिच्छवी गणतंत्र की स्थापना कर 'निजी जीवन की पावनता के साथ सामूहिक जीवन के प्रति अपनापन और लोक कल्याण की नवीन शासन पद्धति का आदर्श प्रस्तुत किया। उस समय उन्होंने यह कल्पना भी नहीं की होगी कि बीसवीं सदी में उस प्रजातंत्र (गणतंत्र) की धूम विश्व में होगी। गौतम बुद्ध को भिक्षु-संघ की कार्य-प्रणाली एवं जीवन शुद्धि का मार्ग भी उससे प्रभावित है। इस दृष्टि से, भगवान महावीर की जन्मभूमि का गणतंत्र ज्ञान, कर्म, श्रद्धा तथा धर्म-संघ की व्यवस्था का ठोस आधार बना जो विश्व को अभिभूत किये हैं। इतना ही नहीं'' भगवान महावीर का तत्त्व चिंतन, विश्व की दार्शनिक व्याख्या, आध्यात्मिकता, अहिंसा-अपरिग्रह की अवधारणा आदि ऐसे घटक हैं जो मानवीय जीवन के उत्थान और निःश्रेयस् की प्राप्ति के व्यवहारिक सूत्र सदाकाल सहायक एवं फलीभूत होंगे। हमें बुद्ध-समान उन्मुक्त हृदय से लिच्छविगणतंत्र एवं भगवान महावीर के अमूल्य दिव्यावदान का अभिनंदन कर उसे मान्यता प्रदान करना चाहिए। इसके मूल्यांकन हेतु देशरत्न महामहिम डॉ. राजेन्द्र प्रसाद जी की भावनाओं को उद्धृत करना समीचीन होगा, जो अनेक ऐतिहासिक तथ्यों को स्वतः प्रकट करता है।⁵⁷

“(वैशाली) यह नगरी लिच्छवियों और वज्जियों के गणराज्य की राजधानी थी। प्राचीनकाल में गणराज्य अथवा प्रजातंत्र का यह स्थान प्रसिद्ध केन्द्र था। एक समय था जब इस भूमि में किसी राजा का शासन नहीं था, जनता के सात हजार से अधिक प्रतिनिधि सारा राज-काल चलाते थे और न्याय का विधान इतना सुन्दर था कि स्वयं भगवान बुद्ध ने अपने मुख से उसकी प्रशंसा की थी। निश्चित ही लोक शासन की सारी चेतना वहाँ मूर्तरूप से देखी जाती थी। इसके अतिरिक्त वैशाली भगवान महावीर की जन्मभूमि है और भगवान बुद्ध को भी बहुत प्रिय थी।”

मानवीय स्तर पर कोई छोटा या बड़ा नहीं होता। सभी का अपना- अपना मूल्य और महत्व होता है, फिर भी जिसका जो योगदान है, उसका उस रूप में मूल्यांकन करना हमारे उदात्त और निष्पक्ष सोच की अंतरंग अभिव्यक्ति है। इस दृष्टि से भगवान महावीर की जन्मभूमि वासोकुण्ड-वैशाली और उसकी गणराज्यीय/प्रजातंत्रीय पद्धति को नमन कर श्रद्धा सुमन अर्पित करें और अभिनंदन करें। ऐसा कोई भी प्रयास जो इस महासत्य को आवृत करता हो, निश्चित ही हमारी संकीर्ण, एकांगी-आग्रही एवं साम्राज्यवादी सोच को प्रतिध्वनित करेगा। सांस्कृतिक-तीर्थ वासोकुण्ड-वैशाली और गणतंत्रीय सोच का प्रकाश स्तम्भ जयवन्त हो और युगों-युगों तक मानव-समाज को आलोकित करें।

संदर्भ :

1. श्री रामधारी सिंह दिनकर (कविता) Homage to Vaishali 2nd edition, 1985, पृ. 299 (वैशाली अभिनंदन ग्रंथ)
2. आचार्य गुणभद्र: उत्तर पुराण पर्व 74 श्लोक 251-252 पृ. 460 वही, पर्व 75 श्लोक

- 7-8 पृ. 482
3. (अ) डॉ. राजेन्द्र कुमार बंसल: भ0 महावीर जन्मभूति का सच, पृ. 96
(ब) Vaishali Institute Research Bulletin No. 19, 2006, Page 7
 4. डॉ. जयकुमार जैन जलज, समन्वयवाणी(पत्रिका) दि. 16 से 31 अक्टू08, पृ. 18
 5. वीर सेनाचार्य, धवला टीका, खण्डप, पुस्तक 9: 4-1-44 पृष्ठ 121
 6. आचार्य दामनन्दि, पुराणसार संग्रह-2, वर्धमान चरित्र, 4/1, पृ. 188
 7. पं. आशाधर जी, त्रिषधि स्मृतिशास्त्र, 24/24, पृ. 153
 8. याकोवी, सेक्रेड बुक ऑफ ईस्ट, पृ. 256 एवं चिमनलाल जैचंद शाह, उत्तर भारत में जैनधर्म, पृ. 78 तथा कल्पसूत्र 5/11
 9. आचारांग, 2-15 सूत्र 746 (व्यावर संस्करण)
 10. आचार्य जिनसेन आदिपुराण भाग-1, पर्व 16, श्लोक 152-156 पृ. 359-360
 11. आचार्य जिनसेन आदिपुराण भाग-1, भौगोलिक शब्द सूचि पृ. 648, 651-52
 12. हिन्दु सिविलाइजेशन, कॉमेनसग्रीन एण्ड कं. लंदन, पृ.180, एवं नक्शा पृ. 173
 13. अंगुत्तर निकाय, 1/213, 4/252, 4/256 एवं 4/260
 14. उक्त 13 के अनुसार पृ. 181 (भगवती-15)
 15. उक्त 13 के अनुसार पृ. 196 एवं 201
 16. पं. सुमेरु चन्द्र दिवाकर, महाश्रमण महावीर, पृष्ठ 113-120
 17. Bihar through the eyes, Page-51
 18. प्रो. डॉ. ऋषभचन्द्र जैन, भगवान महावीर का जन्म स्थान, पृ. 14
 19. बृहद् विष्णुपुराण, मिथिलामाहात्म्य, 2/5, 10-12
 20. अलेक्जेंडर कनिंघम, द एसियेन्ट ज्योग्राफी ऑफ इंडिया, (ई.1871) पृ. 373, 381
 21. क्रमांक 20 के अनुरूप, हुआन सांग का यात्रावृत्त, (637-639 ए.डी.) का नक्शा
 22. The Geographical Dictionary of Ancient and Mediaeval India (first Published in 1927)
 23. Dictionary of Palipproper names, Part-2, page-403, (क्रमांक 18 के पृष्ठ 14 से उद्धृत)
 24. शक्ति-संगम-तंत्र, 3-7-10
 25. डॉ. जगदीश चन्द्र जैन, भारत के जैन प्राचीन तीर्थ (1952) पृष्ठ 17 मानचित्र
 26. डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, आदिपुराण में प्रतिपादित भारत पृ. 44-45
 27. 'प्राकृत-विद्या', वैशालिक-महावीर-विशेषांक, जनवरी-जून, 2002 पृ. 91
 28. भगवान महावीर और उनका तत्वदर्शन (भ. महावीर और महात्मा बुद्ध) पृ. 474
 29. उत्तर पुराण, पर्व 75, श्लोक 251-252, 262-267, 271, 318-322, 348-352, 353, 379-385
 30. उत्तर पुराण, पर्व 75, श्लोक 3-14, 23-34, 35, 36-41, 56-59, 64-66

31. आचारांग सूत्र पत्र 389 में पाठ इस प्रकार है- 'समणस्स णं भगवओ महावीरस्स अमरा वासिदस्सगुत्ता तीसे णं तान्नि ना., तं- तिसला इ वा विदेहदिन्न, इवा पियकारिणां इ वा।''
32. आवश्यक चूर्णि (पूर्व भाग) पत्र 245 में पाठ इस प्रकार है। 'भगवती माया चेडगस्स भणिणी, भी (जा) यो चेडगस्स छूया।' अर्थात् भगवान महावीर की माता चेटक की बहिन थी और भौजाई चेटक की पुत्री थी।
33. आवश्यक चूर्णि (उत्तर भाग) प.1 164
34. Gilgiat Manuscripts, Vol. III, Part-2, Page 1-15 & 16-22 (homage to vaisali, page 319)
35. 'जैन दृष्टिकोण से वैशाली, 'वैशाली अभिनंदन ग्रंथ पृ. 261
36. वैशाली, जैनधर्म और जैनधर्म, वैशाली अभिनंदन ग्रंथ , पृ. 164
37. (अ) महावीरस्स अम्मनियरो पासावाच्चिग्जा...आदि। आचारांग, श्रुतस्कंध, सूत्र 187 पृ. 422। राकोवी, सेक्रेड बुक ऑफ इ ईस्ट, पृ. 194
(ब) एवं डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन, भारतीय इतिहास एक दृष्टि, पृ. 48
38. आ. विजयन्द्र सूरि, वैशाली, जैन धर्म और दर्शन- पृष्ठ-162
39. डॉ. एच. सी. राय चौधरी, पोलिटीकल हिस्ट्री ऑफ ऐंडियन इंडिया, पृ. 52-53
40. के. पी. जायसवाल, हिन्दू पॉलिटी, पृ. 48
41. अंगुत्तर निकाय अदुकथा 2/4/5 (Homage to Vaisali, Page 45) (महापंडित राहुल सांकृत्यायन का अनुवाद)
42. आचार्य विजयेन्द्र सूरि, Homage to vaishali, page-164
43. 'वैशाली का प्रजातंत्र'- Homage to vaishali, page-39
44. मज्झिमनिकाय 1/4/5 पृ. 140
45. दीघनिकाय- महापरिनिब्बाण सुत्त, पृ. 118
46. वैशाली गणतंत्र, प्रकृत विद्या, जनवरी-जून, 2002, वैशालिक महावीर - विशेषांक पृ. 71-72
47. दीघनिकाय- भाग-2, महापरिनिर्वाण सुत्त, अध्याय-एक एवं जयदेव विद्यालंकार, Homage to vaishali, page-28
48. भारत का संविधान मूल हस्ताक्षरित प्रति का पृष्ठ 63 पर जैनधर्म के 24वें तीर्थंकर के चित्र के नीचे निम्न गरिमामय वाक्य अंकित है-
"चौबीसवें तीर्थंकर वर्धमान-महावीर ध्यान मुद्रा में (भारतीय संविधान में उत्कीर्णित लेख-प्रति का निदर्शन) जैन मत आध्यात्मिक पुनर्जागरण की एक विशिष्ट धारा है, जोकि मनुष्य के आचारा-विचार को उदात्त बनाने के साथ-साथ इसकी प्राप्ति के लिए अहिंसा पर बल देती है। यही अहिंसा महात्मा गाँधी के हाथों ब्रिटिश साम्राज्य से राजनैतिक संघर्ष करने में सशक्त अस्त्र बनी।"
49. महावस्तु (11,118)
50. (अ) डॉ. राधा कुमुद मुकर्जी, Homage to vaishali, page-7 (मूल अंग्रेजी अगले पृष्ठ पर है)

- (ब) भिक्षु जगदीश कश्यप, Homage to vaishali, page- 74
 (स) ललित विस्तर ग्रंथ
 (द) मज्झिम निकायः महासीहनाद सुत्त 48-50

"There Buddha found his teacher Alar Kalama, a native of vaishali according to Mahavasta (IL,118) Aalar was so advanced in meditation that sitting on the road, he did not hear or see even 500 carts rattling past him mahapasinibha nasuttanta (IV,35). Mrs Rhys Davids has also recorded her conclusion that the Buddha found his first two teachers, Alar and Uddaka, at vaishali and even started his religious life as a Jain under their teachings, A support for one Buddha's Jain beginnings may be found in the fact that he gave himself up to a course of austerities associated with Jainism by which he reduced himself to a mere skeleton, skin and bones by voluntarily giving up his food to the quantity that could be held in his hollowed palm, in a manner of a good Jain like Mahavira. As is well known, his health was not equal to this extreme of mortification, then he parted company with Jainism and discovered for himself the Middle-path, for which Buddhism is known the path that was between the two extremes of self torture and self indulgence.

Dr. Radha Kumud Mookerji

M.A.PH.D.R.P.R.S. Homage to vaishali, page- 7)

51. वैशाली का प्रजातंत्र, Homage to vaishali, page- 39-40
52. दीर्घनिकाय (महापरिनिब्बानसुत्त) अट्ठकथा पृ.133
53. वही पृष्ठ 11
54. प्रो. ओ. पी. गांगुली कोलकाता, Homage to vaishali, page 21-22
55. (अ) वि. श. हिमांशु, बुद्धकाल की 'वैशाली- बुद्धिम्तर काल की वैशाली- पृ.15
 (ब) वैशाली पथ प्रदर्शिका पृ.11
56. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, जैन साहित्य का इतिहास पूर्व पीठिका, पृ. 113
57. प्राकृत साहित्य और वैशाली, Homage to vaishali, page 102

- बी-369, ओ.पी.एम. कालोनी,
 अमलाई
 जिला- शहडोल (म.प्र.)

काललब्धि

-मूलचन्द्र लुहाड़िया

तत्त्वार्थ सूत्र में काल द्रव्य का वर्णन पंचम अध्याय में आया है। किन्तु काल द्रव्य की बात अध्याय के लगभग अंत में 39 वें “कालश्च” सूत्र में कही है। सूत्रकार को अजीव द्रव्यों के नाम और लक्षण तो प्रारंभ में ही बता देना चाहिए था। अजीव अस्तिकाय रूप चार द्रव्यों के पश्चात् “जीवाश्च” सूत्र के आगे पीछे ही “कालश्च” सूत्र में आ जाना चाहिए था। परन्तु अन्य अजीव द्रव्यों का वर्णन करने के बाद अंत में 39वें सूत्र जाकर “कालश्च” सूत्र के द्वारा काल द्रव्य वर्णन किया गया है। पहले क्यों नहीं किया? इसी प्रकार तत्त्वार्थ भाष्य में “कालश्च” के स्थान पर “कालश्चेत्येके” सूत्र आया है। तत्त्वार्थ भाष्यकार कहते हैं कि कोई लोग काल को द्रव्य मानते हैं, वे स्वयं नहीं। यही कारण है कि उन्होंने तत्त्वार्थ भाष्य में जहां भी द्रव्यों का कथन आता है वहां वहां पांच अस्तिकायों का ही उल्लेख किया है और लोक को पंचास्तिकायात्मक बतलाया है। श्वेताम्बर आगम में कहीं कहीं 6 द्रव्यों का उल्लेख करते हैं वहां काल द्रव्य के स्थान पर “अद्धासमय” शब्द का प्रयोग किया है। ऐसा ज्ञात होता है कि प्रारंभ में सूत्र “कालश्च” ही रहा होगा। बाद में उसने “कालश्चेत्येके” रूप ले लिया हो सकता है।

सर्वार्थसिद्धि में काल के उपकार के वर्णन में परत्वापरत्व के 2 भेद किए हैं। “-परत्वापरत्वे क्षेत्रकृते कालकृते च स्तः। जबकि तत्त्वार्थ भाष्य में तीन भेद हैं। परत्वापरत्वे त्रिविधे-प्रशंसाकृते क्षेत्रकृते कालकृते इति॥ हम देखते हैं कि इस संबंध में तत्त्वार्थवार्तिककार तत्त्वार्थभाष्यकार का ही अनुसरण करते हैं। उन्होंने काल के उपकार के प्रतिपादक सूत्र का व्याख्यान करते हुए परत्व और अपरत्व के उक्त तीन भेदों का ही उल्लेख किया है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि तत्त्वार्थ भाष्य तत्त्वार्थवार्तिककार के सामने था और उसी प्रकार तत्त्वार्थ भाष्य सर्वार्थ सिद्धि के बाद की रचना है, इस कथन की पुष्टि होती है। दिगम्बर और श्वेताम्बर मान्यताओं में काल द्रव्य के अस्तित्व के संबंध में पाये जाने वाले मतभेद के कारण ही मूल सूत्र और उसकी टीकाओं में अंतर दिखाई देता है।

इस लेख के मुख्य विषय को स्पर्श करने के लिए हमें तत्त्वार्थ सूत्र के द्वितीय अध्याय के तीसरे सूत्र की टीका को सर्वार्थसिद्धि में देखना है। वहां औपशमिक भाव के भेदों का वर्णन करते हुए यह प्रश्न उठाया गया है कि अनादि मिथ्या दृष्टि भव्य के कर्मों के उदय से प्राप्त कलुषता के रहते हुए इनका उपशम कैसे होता है? समाधान में कहा है “काललब्ध्यादिनिमित्तत्वात्” काललब्धि आदि के निमित्त से उन कर्मों का उपशम होता है। काललब्धि का वर्णन करते हुए सर्वार्थसिद्धिकार ने लिखा है तत्र काललब्धि स्तावत्-कर्माविष्ट आत्मा भव्यः कालेऽर्द्धपुद्गलपरिवर्त्तनाख्येऽवशिष्टे प्रथमसम्यक्त्व-

ग्रहणस्य योग्यो भवति नाधिके इति। इयमेका काललब्धिः। अपरा कर्मस्थितिका काललब्धिः। उत्कृष्टस्थितिकेषु कर्मसु जघन्यस्थितिकेषु च प्रथमसम्यक्त्वलाभो न भवति। क्व तर्हि भवति? अन्तःकोटीकोटीसागरोपमस्थितिकेषु कर्मसु बन्धमापद्यमानेषु विशुद्धपरिणामवशात्कर्मसु च ततः संख्येयसागरोपमसहस्रोनपायामन्तः कोटीकोटी-सागरोपरमास्थितौ स्थापितेषु प्रथमसम्यक्त्वयोग्यो भवति। अपरा काललब्धिर्भवापेक्षया भव्य पंचेन्द्रिय संज्ञी पर्याप्तकः सर्वविशुद्धः प्रथमसम्यक्त्वमुत्पादयति। 'आदि' शब्देन जातिस्मरणादि परिगृह्यते। अर्थः अब यहां काललब्धि को बतलाते हैं- कर्मयुक्त कोई भी भव्य आत्मा अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल के शेष रहने पर प्रथम सम्यक्त्व ग्रहण करने के योग्य होता है, इससे अधिक काल के शेष रहने पर नहीं होता यह एक काललब्धि है। दूसरी काललब्धिका संबंध कर्म स्थिति से है। उत्कृष्ट स्थिति वाले कर्मों के शेष रहने पर या जघन्य स्थिति वाले कर्मों के शेष रहने पर प्रथम सम्यक्त्व का लाभ नहीं होता। शंका- तो फिर किस अवस्था में होता है? समाधान- जब बंधनेवाले कर्मों की स्थिति अन्तःकोड़ा कोड़ी सागरोपम पड़ती है और विशुद्ध परिणामों के वश से सत्ता में स्थित कर्मों की स्थिति संख्यात हजार सागरोपम कम अन्तः कोड़ा कोड़ी सागरोपम प्राप्त होता है तब यह जीव प्रथम सम्यक्त्व के योग्य होता है। एक काललब्धि भव की अपेक्षा होती है- जो भव्य है, संज्ञी है, पर्याप्तक है और सर्वविशुद्ध है वह प्रथम सम्यक्त्व को उत्पन्न करता है। 'आदि' शब्द से जाति स्मरण आदि का ग्रहण करना चाहिए।

उक्त काललब्धि का वर्णन किया है। लब्धि शब्द का अर्थ कारण भी होता है। "काललब्धि" शब्द काल की कारणाता को बताता है। किन्तु काल उदासीन निमित्त (कारण) होता है। प्रेरक निमित्त नहीं। चार द्रव्य धर्म अधर्म अकाश और काल चारों ही द्रव्य शुद्ध हैं निष्क्रिय हैं एवं उदासीन निमित्त हैं। चारों ही द्रव्य संपूर्ण लोक में व्याप्त हैं और प्रतिसमय उदासीन रूप से अपने-अपने विषयों में सहायता करने के लिए उपलब्ध रहते हैं।

काललब्धि के बारे में सर्वार्थसिद्धिकार ने कहा है कि जब संसार की स्थिति अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल रह जाती है तब ही सम्यग्दर्शन की योग्यता प्राप्त होती है। यहां यह प्रश्न उठता है कि सम्यग्दर्शन होने पर संसार की स्थिति अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल रह जाती है या जब अर्द्धपुद्गल परावर्तन स्थिति रह जाती है तब सम्यग्दर्शन होता है? इस प्रश्न के समाधान में पं. रतनचंद जी मुख्तार ने लिखा है कि सम्यग्दर्शन होने के प्रथम समय में संसार की अनंत स्थिति कटकर अर्द्धपुद्गल परावर्तन मात्र रह जाती है। अनादि मिथ्यादृष्टि के प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का और संसारस्थिति कटकर अर्द्धपुद्गल परावर्तन संसारकाल रह जाने का एक ही समय है। यद्यपि एक समय की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि अर्द्ध पुद्गल परिणाम काल शेष रहने पर सम्यग्दर्शन होता है तथापि कार्य कारण की दृष्टि से देखा जाय तो सम्यग्दर्शन रूप परिणति में ही वह शक्ति है कि अनादि मिथ्यादृष्टि का अनंत संसार (अंत रहित संसारकाल) काटकर अर्द्धपुद्गल परावर्तन मात्र कर देवे। इसलिए सम्यग्दर्शन कारण है और अर्द्धपुद्गल परावर्तन संसारकाल रह जाना कार्य है।

यदि यह माना जाये कि अर्द्ध पुद्गल परावर्तन संसारकाल शेष रहने पर सम्यग्दर्शन उत्पन्न होने की योग्यता उत्पन्न होती है तो यह प्रश्न खड़ा होता है कि संसार की स्थिति को अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल मात्र करने का कार्य किन परिणामों से हुआ? अर्द्ध पुद्गल परावर्तन काल सीमित हो जाने का अर्थ है सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति निश्चित हो गई। यह कार्य अनादि मिथ्यात्व दशा में कैसे संभव हो सकता है? प्रायोग्य लब्धि के काल में भी केवल कर्मों की स्थिति को घटाकर अन्तः कोड़ा कोड़ी करने का कार्य होता है किंतु संसार की स्थिति सीमित करने का कार्य होना नहीं बताया है क्योंकि प्रायोग्य लब्धि अभव्य को भी प्राप्त हो सकती है। करणलब्धि के काल में भी संसार घटाने का कार्य होने का उल्लेख नहीं किया गया है। अतः संसार की स्थिति घटाकर अर्द्ध-पुद्गल परावर्तन कर लेने का कार्य सम्यग्दर्शन द्वारा सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के प्रथम समय में होना तर्क संगत प्रतीत होता है।

जो यह मानते हैं कि सब जीवों के अर्थात् अनादि मिथ्या दृष्टि के भी मोक्ष जाने का काल नियत है अन्यथा सर्वज्ञता की हानि हो जायेगी, क्या उसको उपर्युक्त सर्वज्ञ वाणी पर श्रद्धा है? जिसकी सर्वज्ञ वाणी पर श्रद्धा नहीं है, वह सर्वज्ञ को मानने वाला नहीं हो सकता।

विचारणीय बिंदु:- १. सम्यक्त्व से अनंत संसार शांत होता है। २. मोक्ष जाने का काल नियत नहीं है। ३. यदि नियत माना जायेगा तो एकांत नियत वाद के रूप में एकांत मिथ्यात्व होने से सम्यक्त्व के अस्तित्व पर प्रश्न चिह्न लगता है। कुछ लोगों के द्वारा ऐसी शंका उपस्थित की जाती है कि सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का काल नियत है और मोक्ष जाने का काल भी नियत है। जब मोक्ष जाने का काल नियत है तो उनका संसार का काल भी नियत है। अतः सम्यग्दर्शन से अनंत संसार काल घटकर पर्याप्त अपने नियत समय पर ही होगी आगे पीछे नहीं हो सकती। नियत वाद एकांत मिथ्यात्व का ऐसा नशा चढ़ा हुआ है कि सम्यग्दर्शन के माहात्म्य को भी अस्वीकार किया जाने लगा है। यदि मोक्ष अपने नियत समय पर होगा तो मोक्ष रूप कार्य का नियामक कारण काल हो गया और 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' यह सूत्र वाक्य व्यर्थ हो गया।

भव्य जीव अपने नियत काल के अनुसार ही मोक्ष जायेगा इस शंका का उत्तर देते हुए स्वामी अकलंक देव ने राजवार्तिक में कहा है:- “यतो न भव्यानां कृत्स्नकर्मनिर्जरापूर्वक मोक्षकालस्य नियमोऽस्ति। केचिद् भव्याः संख्येयेन कालेन सेत्स्यन्ति केचिदसंख्येयेन केचिदन्तेन, अपरे अनंततानन्तेनापि न सेत्स्यन्तीति, ततश्च न युक्तम् भव्यस्य कालेन, निःश्रेयसोपपत्तेः इतिः।” यदि सर्वस्य कालो हेतुष्टिः स्यात्, बाह्याभ्यन्तरकारणनियमस्य दृष्टस्येष्टस्य वा विरोधः स्यात् (राजवार्तिक 1/3) अर्थात्:- भव्यों के समस्त कर्मों निर्जरा से होने वाले मोक्ष के काल का कोई नियम नहीं है। कोई जीव संख्यातकाल में मोक्ष जायेगा, कोई असंख्यात और अनंतकाल में मोक्ष जायेगा। कोई अनन्तानन्तकाल तक भी मोक्ष नहीं जायेंगे। इसलिये भव्यों के मोक्ष जाने के काल का नियत है, ऐसा कहना ठीक नहीं है। यदि सब ही के काल का नियम मान लिया जावे अर्थात् सब ही में एक काल को ही कारण मान लिया जावे तो प्रत्यक्ष व परोक्ष प्रमाण के विषयभूत बाह्य और आभ्यन्तर कारणों से विरोध आ जावेगा अर्थात् बाह्य और अभ्यन्तर कारणों के अभाव का प्रसंग आ जावेगा।

पं. टोडरमल जी ने मोक्ष मार्ग प्रकाशक में लिखा है “काललब्धि व होनहार तो कुछ वस्तु नहीं। जिस काल विषै जो कार्य होय है, सोई काललब्धि और जो कार्य भया सोही होनहार है। जो मिथ्यादृष्टि ऐसा कहते है। कि जब होनहार होगी तब सम्यग्दर्शन होगा, उससे आगे पीछे सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। उसको सम्यग्दृष्टि कहता है- ‘यदि तेरा ऐसा श्रद्धान है तो सर्वत्र कोई कार्य का उद्यम मति करें। तू खान-पान, व्यापार आदि का तो उद्यम करे, और यहां होनहार बताये, सो जानिए है तेरा अनुराग यहां नहीं है।’

अर्द्ध पुद्गल परावर्तन का जघन्य काल भी अनंत है।

अर्द्धपुद्गलपरावर्तन का जघन्यकाल भी अनंत है और उत्कृष्टकाल भी अनंत है, किंतु जघन्य से उत्कृष्ट का काल अनंत गुणा है। धवल पृ. 4 पृ. 331.

अर्द्ध पुद्गल परावर्तन में भी अनंत सागर होते हैं।

कार्मणवर्गणा और नोकर्मवर्गणा इन दोनों की अपेक्षा से एक पुद्गलपरावर्तनकाल होता है। यह अनंतरूप है। इनमें से एक की अपेक्षा अर्द्धपुद्गलपरावर्तनकाल है। यह अर्द्ध पुद्गल परावर्तन अपने समयों की संख्या की अपेक्षा मध्यम अनंतानंत स्वरूप है। यह काल अवधि ज्ञान तथा मनः पर्यय ज्ञान के विषय के बाहर हैं। यह मात्र केवल ज्ञान का विषय होने से भी “अनंत” कहलाता है। यह औपचारिक अनंत है क्योंकि इसकी समाप्ति देखी जाती है।

“अर्द्ध पुद्गलपरावर्तनकाल सक्षयोऽप्यनंतः छद्मस्थैरनुपलब्धपर्यन्तत्वात्। केवल-मनस्तद्विषयत्वाद्वा। जीवराशिस्तु पुनः संख्येयराशिक्षयोऽपि निर्मूलप्रलयाभावादन इति।” (धवल पृ.1 पृ.292) अर्थः अर्द्धपुद्गलपरिवर्तनकाल क्षय सहित होते हुए भी इसलिये अनन्त है कि छद्मस्थ जीवों के द्वारा उसका अंत नहीं पाया जाता है। किंतु केवलज्ञान वास्तव में अनन्त है अथवा अनन्त को विषय करने वाला होने से वह अनन्त है। संख्यातराशि के क्षय हो जाने पर भी जीवराशि को निर्मूल नाश नहीं होता, इसलिये वह अक्षय अनन्त है।

समयसार गाथा 320 की टीका के भावार्थ में ‘समुद्र में बूंद की गिनती क्या’ ऐसा लिखा है। यह दृष्टान्तरूप में है, किंतु यह कथन दार्ष्टान्त पर कैसे घटता है? समाधानः भावार्थ में लिखा है- “मिथ्यात्व के चले जाने के बाद संसार का अभाव ही होता है, समुद्र में बूंद की क्या गिनती?” यहां पर यह बतलाया गया है कि समुद्र में जल अपरिमित है और जलबिन्दु परिमित है तथा समुद्रजल की अपेक्षा बहुत सूक्ष्म अंश है। इसी प्रकार अनादिमिथ्यादृष्टि का संसारपरिभ्रमणकाल समुद्रजल की तरह अपरिमित है अनन्तानन्त है, किंतु मिथ्यात्व चले जाने पर अर्थात् सम्यग्दर्शन हो जाने पर अपरिमित अनन्तानन्त संसारपरिभ्रमणकाल घटकर मात्र अर्द्धपुद्गलपरावर्तनकाल रह जाता है, जो अनंतानन्त संसारकाल की अपेक्षा बहुत अल्पकाल है अर्थात् समुद्र में जलबिन्दु के समान है।

यहां यह शंका उपस्थित होती है कि सम्यग्दर्शन होने पर संसार की स्थिति अर्द्धपुद्गलपरावर्तन रह जाती है या जब अर्द्धपुद्गलपरावर्तन स्थिति रह जाती है तब सम्यग्दर्शन होता है? समाधान सम्यग्दर्शन होने के प्रथमसमय में संसार की अनन्तस्थिति कटकर अर्द्धपुद्गलपरावर्तनमात्र रह जाती है। अनादिमिथ्यादृष्टि के प्रथमोपशमसम्यग्दर्शन की

उत्पत्ति का और संसारस्थिति कटकर अर्द्धपुद्गलपरावर्तन संसारकाल रह जाने का एक ही समय है। यद्यपि इस एक समय की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि अर्द्धपुद्गल-परावर्तनकाल शेष रहने पर सम्यग्दर्शन होता है, तथापि कार्य-कारण की दृष्टि से देखा जाय तो सम्यग्दर्शन परिणाम में ही यह शक्ति है कि अनादिमिथ्यादृष्टि का अनन्त संसार (अंतरहित संसारकाल) काटकर अर्द्धपुद्गलपरावर्तनसंसारकाल रह जाना कार्य है। कहा भी है “एगो अणादिय मिच्छादिट्ठी अपरित्तसंसारो अधापवत्तकरणं अपुव्वकरणं अणियट्ठिक्कणमिदि एदाणि तिण्णि करणाणि कादूण सम्मत्तंगहिदपढमसमए चेव सम्मत्तगुणेण पुव्विल्लो अपरित्तो संसारो ओहट्ठिदूण परित्तो पोग्गलपरियट्ठस्स अद्धमेत्तो होदूण उक्कसेण चिट्ठदि”।

“एक अनादिमिथ्यादृष्टि अपरीतसंसारी (जिसके संसार की अवधि न हो अथवा अंत न हो) जीव, अधःप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण तीनोंकरणों को करके सम्यक्त्व ग्रहण के प्रथमसमय में ही सम्यक्त्वगुण के द्वारा पूर्ववर्ती अन्त-रहित संसार को छेदकर परीत (सान्त, सावधि) संसार हो, अधिक से अधिक अर्द्धपुद्गलपरावर्तन काल तक संसार में रहता है।”

इस संबंध में कुछ और आगम प्रमाण नीचे दिया जाना प्रासंगिक है:-

“एक्को अणादियमिच्छादिट्ठी तिण्णि करणाणि करिय सम्मत्तं पडिवण्णो। तेण सम्मत्तेण उप्पज्जमाणेण अणंतो संसारो छिण्णे संतो अद्धपोग्गलपरियट्ठमेत्ते कदो।” (धवल पृ.479) अर्थ:- एक अनादिमिथ्यादृष्टि भव्यजीव तीनोंकरणों को करके सम्यक्त्व को प्राप्त हुआ। उत्पन्न होने के साथ ही उस सम्यक्त्व से अनन्त (अंतरहित) संसार छिन्न होता हुआ अर्द्धपुद्गलपरावर्तनकाल मात्र कर दिया गया।

“एक्केण अणादियमिच्छादिट्ठाणा तिण्णि करणाणि कदूण उवसमसम्मत्त पडिण्णपढमसए अणंतो संसारो छिण्णी अद्धपोग्गलपरियट्ठमेत्तों कदो।” (धवल पृ. 5 पृ. 11, 12, 14, 15, 16, 19) अर्थ:- एक अनादिमिथ्यादृष्टि भव्यजीव ने अधः प्रवृत्तादि तीनों करण करके, उपशमसम्यक्त्व को प्राप्त होने के प्रथमसमय में अनन्त (अन्त रहित अमर्यादित) संसार को छिन्नकर अर्द्धपुद्गलपरावर्तनमात्र किया।

“अप्पडिवण्णे सम्मत्ते अणादिअणंतो भविय-भावो अंतादीदसंसारदो; पडिवण्णे सम्मत्ते अण्णे भवियभावों उप्पज्जइ, पोग्गलपरिट्ठरस अद्धमेत्तसंसारावट्ठाणादो।” (धवल पृ. 7 पृ. 177) अर्थ- जब तक सम्यक्त्व ग्रहण नहीं किया तब तक जीव का भव्यत्व अनादि-अनन्तरूप है, क्योंकि तब तक उसका संसार अंतरहित है, किंतु सम्यक्त्व के ग्रहण कर लेने पर अन्य ही भव्यभाव उत्पन्न हो जाता है, क्योंकि सम्यक्त्व उत्पन्न हो जाने पर फिर केवल अर्द्धपुद्गलपरावर्तनकाल तक संसार में स्थिति रहती है।

“अणादियमिच्छादिट्ठमि तिण्णि वि करणाणि काऊण उवससम्मत्तं पडिवण्णमि अणंतसंसारं छेत्तूण दविद-अद्धपोग्गलपरियदिमि।” (जयधवला पु.2 पृ.253) अर्थ- अनादि मिथ्यादृष्टि जीव तीनों करणों को करके “उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त हुआ और अनन्त (अंतरहित) संसार को छेदकर संसार में रहने के काल को अर्द्धपुद्गल परावर्तन प्रमाण किया।”

“एगो अणादिय मिच्छादिट्ठी तिण्णि वि करणाणि काऊण पढमसम्मत्त पडिवण्णो। तत्थ सम्मत्तं पडिवण्णपढमसमए संसारमणंत सम्मतत्तगुणेण छेत्तूण पुणो सो संसारो तेण अद्धपोग्गल-परियट्ठमेत्ता कदो।” (जयधवल पु. 2 पृ. 391) अर्थ-एक अनादि मिथ्यादृष्टि भव्यजीव तीनों करणों को करके प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त हुआ। “तथा सम्यक्त्व के प्राप्त होने के प्रथम समय में सम्यक्त्व गुण के द्वारा अनन्त संसार को छेदन कर उसने संसार को अर्द्धपुद्गलपरावर्तन मात्र कर दिया।”

“संसारतटे निकटः सम्यक्त्वोत्पत्तिः उत्कृष्टेन अर्द्धपुद्गलपरावर्तनकालपर्यन्तं संसार-स्थायीत्यर्थः।” (स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा)। अर्थ- जिसका संसार तट निकट हो अर्थात् सम्यग्दर्शन की उत्पत्तिकाल से जिसकी संसार स्थिति का उत्कृष्ट काल अर्द्धपुद्गलपरावर्तन मात्र रह गया हो।

“मिथ्यादर्शनपक्षयेऽसंयतसम्यग्दृष्टरूटेरनन्तसंसारस्य क्षीयमाणत्वसिद्धेः।” (श्लोकवार्तिक 1/1/105)। अर्थात्- मिथ्यादर्शन (दर्शनमोहनीय) कर्म के उदय का अभाव हो जाने पर (सम्यक्त्व उत्पन्न हो जाने पर) अनन्त संसार का क्षय हो जाता है।

काललब्धि के प्रकरण में तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय 2 सूत्र 3 की टीका में सर्वार्थसिद्धिकार ने स्पष्ट लिखा है कि तीन प्रकार की काललब्धियाँ हैं जो प्रथम सम्यक्त्व ग्रहण की योग्यताओं को बताती हैं। कोई भी भव्य आत्मा अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल शेष रहने पर प्रथम सम्यक्त्व ग्रहण करने योग्य होता है इससे अधिक काल शेष रहने पर नहीं होता यह एक काललब्धि है। दूसरी काललब्धि तब होती है जब कर्मों की बंध व सत्त्व वाले कर्मों की स्थिति एक कोड़ा कोड़ी सागर से कम है। तीसरी काललब्धि भव संबन्धी योग्यताओं से संबन्धित है। यह जीव भव्य संज्ञी, पर्याप्तक जाग्रत ज्ञानी व योगी और सर्व विशुद्ध है तथा आदि शब्दसे उसमें जाति स्मरणादिक योग्यता भी है। वह प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति के योग्य होता है। धवलादि ग्रंथों के प्रमाणों से सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के पश्चात् अर्द्धपुद्गल परावर्तन संसार भ्रमण का काल शेष रह जाता है। इस प्रकार इस परस्पर विरोधी जैसे प्रतीत होने वाले कथनों के विषय में श्री रतनचंद जी मुख्तार ने यह कहा है कि-

इनमें तृतीय काललब्धि अर्थात् अन्तः कोटी कोटी प्रमाण कर्म स्थिति अनेक बार हो सकती है। द्वितीय काललब्धि संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त विशुद्ध परिणाम भी अनेक बार होता है। इसी प्रकार है प्रथम काललब्धि भी अनेक बार प्राप्त होती है। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि एक अर्द्धपुद्गलपरावर्तन काल में से आधा काल बीत जाने के पश्चात् अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल शेष रह जाता है तब उस जीव की प्रथम काललब्धि प्रारंभ होती है। यदि उस अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल में सम्यक्त्वोत्पत्ति नहीं हुई तो वह काललब्धि समाप्त हो जाती है। फिर दूसरा पुद्गल परावर्तन काल प्रारंभ होता है। इस दूसरे पुद्गल परावर्तन काल में से जब आधा काल बीत जाता है और आधा अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल शेष रहता है तब इस जीव के पुनः प्रथम काललब्धि का प्रारंभ होता है। यदि इस अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल में भी सम्यक्त्वोत्पत्ति नहीं होती यह प्रथम काललब्धि पुनः दूसरी

बार भी समाप्त हो जाती है। इस प्रकार प्रत्येक पुद्गल परावर्तन के आधा काल बीत जाने पर और शेष आधा काल रह जाने पर प्रथम काललब्धि पुनः आती रहती है। सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाने पर संसार के स्थिति अर्द्ध पुद्गल परावर्तन मात्र शेष रह जाती है। इस प्रकार अर्थ करने पर सर्वार्थसिद्धिकार के अर्थ की एवं ध्वलादि ग्रंथों के कथनों की भी संगति बैठ जाती है। सर्वार्थसिद्धि टीका के शब्द है :-

“कालेऽर्द्धपुद्गलपरिवर्तनापरावर्तनाख्येऽवशिष्टप्रथमसम्यक्त्वग्रहणस्य योग्यो भवति नाधिके इति। इयमेका काललब्धिः।” अर्थ- अर्द्धपुद्गल परिवर्तन काल अवशिष्ट रहने पर प्रथम सम्यक्त्व ग्रहण की योग्यता होती है। अधिक काल अवशिष्ट रहने पर नहीं रहती, यह एक काललब्धि है।

यहां यह ध्यान देने योग्य विशेष बात है कि इस कथन में संसार शब्द नहीं है। अतः “संसारकाल अर्द्धपुद्गल परावर्तन अवशिष्ट रहने पर” ऐसा अर्थ किस आधार पर किया जा सकता है ? यदि पूज्यपादस्वामी एवं श्री अकलंक देव को संसार के अर्द्ध पुद्गल परावर्तन कालके शेष रहने की बात इष्ट होती तो वे संसार शब्द का प्रयोग अवश्य करते। जैसा कि ध्वल ग्रंथ के उद्धरणों में सर्वत्र संसार शब्द का प्रयोग किया गया है। अन्यत्र भी जैसे “तद्विविधपरिणामे उत्कृष्टः अर्द्धपुद्गलपरावर्तनकालसंसारे स्थित्वा पश्चात् मुक्तिं गच्छतीत्यर्थः।” इस वाक्य में संसार शब्द का प्रयोग किया गया है। इस वाक्य का अभिप्राय यह है कि प्रथम सम्यक्त्व से मिथ्यात्व उदय के कारण गिरकर अधिक से अधिक अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल तक संसार में रहकर पश्चात् मोक्ष जाता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि यह सम्यक्त्व परिणाम में ही शक्ति है कि व अनंत संसार काल को छोड़कर अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल कर देता है।

सम्यक्त्वोत्पत्ति की योग्यता का कथन कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा 307 में है जो इस प्रकार है:-

चदुग्गदि-भव्वो सण्णी सुविसद्धो जग्गमाण-पज्जते।

संसार-तडे णियडो णाणी पावेइ सम्मत्तं॥ 307॥ (स्वा. का.)

इनकी संस्कृत टीका में “संसार तट निकट” का अर्थ निम्न प्रकार दिया है:-

“संसारतटे निकटः सम्यक्त्वोत्पत्तिः उत्कृष्टेन अर्द्धपुद्गलपरावर्तनकालपर्यंत संसार स्थायीत्यर्थः” अर्थ- संसारतट निकट” इस का अभिप्राय है कि सम्यक्त्वोत्पत्ति से उत्कृष्ट संसारस्थिति अर्द्ध पुद्गल परिवर्तन काल पर्यंत रह जाती है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि सम्यक्त्व हो जाने पर उत्कृष्ट संसार काल अर्द्ध पुद्गल परावर्तन मात्र रह जाता है न कि सम्यक्त्वोत्पत्ति से पूर्व संसार काल अर्द्धपुद्गल परिवर्तन मात्र रह जाता है; क्योंकि सम्यक्त्व परिणाम में ही वह शक्ति है कि अनंत संसार काल को काटकर अर्द्धपुद्गल परावर्तन मात्र कर देता है। यह ही सम्यक्त्व का वास्तविक महत्त्व है।

जहाँ भी आचार्यों ने “संसार” शब्द का प्रयोग नहीं किया है, वहाँ “अर्द्धपुद्गल

परावर्तन काल अवशिष्ट रहने पर” उक्त वाक्यांश का अर्थ संसार काल अर्द्धपुद्गल परावर्तन अवशिष्ट रहने पर कैसे किया जा सकता है। इस वाक्यांश का “संसार काल” अर्थ करना विचारणीय है। वास्तव में जो सम्यक्त्व में अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल संसार शेष रखने की सामर्थ्य होने से जो अवश्य सम्यक्त्व को प्राप्त करेगा।

जो सम्यक्त्व को अवश्य प्राप्त करने वाला है ऐसे सातिशय मिथ्या दृष्टि को भी यह कह दिया जाता है कि इसके अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल शेष रहा है क्योंकि निकट भविष्य में (अंतर्मुहूर्त के बाद) अवश्य ही सम्यक्त्व की सामर्थ्य का वर्तमान मिथ्यात्व दशा में उपचार किया है। अथवा अनंत कालीन संसार मिथ्यात्व दशा (करण लब्धि दशा में अथवा सातिशय मिथ्यात्व दशा) में सांत हो जाता है, यह भी एक मत है। दूसरे मत के अनुसार प्रथमोपशम सम्यक्त्व के पूर्ण होने वाले करण लब्धि के द्वारा दर्शन मोहनीय की मिथ्यात्व प्रकृति द्रव्य तीन भाग सम्यक्त्व, प्रकृति एवं सम्यमिथ्यात्व एवं मिथ्यात्व प्रकृति एवं अमर्यादित संसार स्थिति को छेदकर अर्द्धपुद्गल परावर्तन मात्र संसार स्थिति कर देता है। तथा उत्कृष्ट कर्म स्थिति को काटकर अंतः कोड़ाकोड़ी कर देता है। अतः इस मतानुसार यह कहा जाता है कि अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल शेष रहने पर कर्म स्थिति अंतः कोड़ाकोड़ी प्रमाण रह जाने पर सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है।

सर्वार्थसिद्धि अ. 2 सूत्र 3 की टीका में काललब्धि बतलाते समय कहते हैं कि कर्म युक्त कोई भी भव्य आत्मा अर्द्धपुद्गलपरावर्तन नाम के काल के शेष रहने पर प्रथमसम्यक्त्व के ग्रहण करने की योग्यता रखता है। अर्थात् जिस जीव के संसार में रहने का इतना काल शेष रहा है। उसे सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो सकती है। पर इतने काल के शेष रहने पर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होना ही चाहिये, ऐसा कोई नियम नहीं है। तो भी इसके पहले सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होती इतना सुनिश्चित है। अस्तु, यहां प्रश्न उठता है कि यदि संसार में रहने का काल अभव्यजीव की अपेक्षा अनादिअनंत है और भव्यजीव की अपेक्षा अनादिसांत है तो यह सांतकाल सम्यक्त्व की प्राप्ति से ही प्राप्त होने वाला है देखो कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रंथ में संसारानुप्रेक्षा के प्रकरण में पुद्गलपरावर्तनसंसार के वर्णन करते समय कहते हैं कि ‘इस पुद्गलपरावर्तनसंसार में जीव अनन्तबार पुद्गलपरावर्तनरूप संसार का उपयोग लेकर त्याग किया है।’ और भी कहते हैं कि ‘जब तक इस जीव को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होती तब तक इस जीव की संसार से समाप्ति नहीं होती। इससे यह स्पष्ट सिद्ध है, कि सम्यग्दर्शन प्राप्ति के समय से लेकर यह जीव इस संसार में रहे तो अधिक से अधिक अर्द्धपुद्गलपरावर्तनकाल तक रह सकता है। परन्तु सर्वार्थसिद्धि की टीका में लिखा है कि अर्द्धपुद्गल परावर्तनकाल शेष रहने पर या रहा है उसे ही सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो सकती है। यह कैसे संभव है? इसलिए प्रश्न है कि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बाद अधिक से अधिक अर्द्धपुद्गलपरिवर्तनकाल इस संसार का रहता है या संसार का अर्द्धपुद्गलपरावर्तनमात्र काल शेष रहने पर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है? इसका स्पष्ट उत्तर चाहिये। यदि इतने कालके शेष रहने पर सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है तो फिर इतने काल के शेष रहने पर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होनी ही चाहिए ऐसा कोई नियम नहीं

है। ऐसा क्यों लिखा है? और भी प्रश्न खड़ा होता है कि भव्यजीव की अपेक्षा संसार का सांतकाल किस कारण से प्राप्त होता है? इस सम्यक्त्व के सिवाय और कोई दूसरा कारण हो तो अवश्य बतलाना चाहिए। इस विषय में पंचाध्यायी उत्तरार्ध में श्लोक 43 में लिखा है कि 'जीव और कर्म का संबन्ध अनादि से चला आया है इसी संबन्ध का नाम संसार है, अर्थात् जीव की रागद्वेषरूप अशुद्ध अवस्था का ही नाम संसार है। यह संसार बिना सम्यग्दर्शन आदि भावों के छूट नहीं सकता है? इसका अभिप्राय यह कि जबतक सम्यग्दर्शन नहीं होता तबतक मिथ्यात्वकर्म आत्मा के स्वाभाविक भावों को ढके रहता है। परन्तु जब सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाता है तब वह मिथ्यात्व नष्ट हो जाता है। इस तरह सम्यग्दर्शन आदि भावों से ही संसार छूटता है।

भावार्थ:- 'संसरणं संसारः' परिभ्रमण का नाम संसार है। चारों गतियों में जीव उत्पन्न होता रहता है, इसी को संसार कहते हैं। इस परिभ्रमण का कारण कर्म है। यह संसार तभी छूट सकता है जब कि संसार के कारणों को हटाया जाय। संसार के कारण मिथ्यादर्शनादि हैं। इनके प्रतिपक्षी सम्यग्दर्शनादि हैं जब ये सम्यग्दर्शनादि भाव आत्मा में प्रकट हो जाते हैं तो फिर इस जीव का संसार भी छूट जाता है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध है कि, सम्यग्दर्शन प्राप्ति के समय से लेकर संसार का काल अर्द्धपुद्गलपरावर्तन रह सकता है। परन्तु सर्वार्थसिद्धि में अर्द्धपुद्गल परावर्तनकाल शेष रहने पर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो सकती है ऐसा कैसे कहते हैं ?

समाधान:- सर्वार्थसिद्धि अ. 2 सूत्र 3 की टीका में बतलाया है कि 'अनादिमिथ्यादृष्टिभव्य के काललब्धि आदि के निमित्त से मोहनीयकर्म का उपशम होता है। यहां पर काललब्धि तीन प्रकार की बतलाई है। (1) अर्द्धपुद्गलपरावर्तन नामक काल के शेष रहने पर प्रथमसम्यक्त्व के ग्रहण करने योग्य होता है। (2) जब बंधनवाले कर्मों की स्थिति अन्तःकोड़ाकोड़ीसागर पड़ती है औ विशुद्ध परिणामों के वश से सत्ता में स्थित कर्मों की स्थिति संख्यातहजारसागरकम अन्तः कोड़ाकोड़ीसागर प्राप्त होती है तब यह जीव प्रथमसम्यक्त्व के योग्य होता है। (3) जो भव्य है, संज्ञी है, पर्याप्तक है और सर्वविशुद्ध है यह प्रथमसम्यक्त्व को उत्पन्न करता है।

इन तीन काललब्धियों में से तीसरी काललब्धि (भव्य, संज्ञी पर्याप्तक, सर्वविशुद्ध) का समय से कोई संबन्ध नहीं है। इसका संबन्ध तो नाम कर्मोदय तथा आत्मपरिणामों से है। दूसरी काललब्धि का भी कोई संबन्ध समय से नहीं है, किंतु आत्मपरिणामों की विशुद्धता से है, क्योंकि विशुद्धपरिणामों के कारण ही अन्तःकोड़ाकोड़ीसागरप्रमाण कर्मस्थिति का बंध होता है और पूर्व बंध हुए कर्मों की स्थिति का घात होकर संख्यातहजारसागर कम अन्तःकोड़ाकोड़ीसागरप्रमाण स्थिति रह जाती है। अतः यहां पर काललब्धि का अर्थ है "शुद्धात्मस्वरूपाभिमुख परिणाम की प्राप्ति।" पंचास्तिकाय टीका में कहा भी है:-

“आगमभाषया कालादिलब्धिरूपं अध्यात्मभाषया शुद्धात्माभिमुखपरिणामरूपं।”

‘काल’ शब्द का अर्थ ‘विचाररूप परिणाम’ करना अयुक्त भी नहीं है, क्योंकि

कालशब्द कल धातु से बना है। कल धातु का अर्थ 'विचार करना' ऐसा भी पाया जाता है।

‘अर्द्धपुद्गलपरावर्तन नामक काल के शेष रहने पर’ इसका ऐसा अर्थ करना- ‘संसारकाल के अर्द्धपुद्गलपरावर्तनपमात्र शेष रह जाने पर’ युक्त नहीं है, क्योंकि आचार्य-वाक्य में ‘संसार’ शब्द नहीं है। इसका अभिप्राय यह भी हो सकता है- “प्रत्येक पुद्गलपरावर्तन में” अर्द्धपुद्गल परावर्तन नामक काल के शेष रहने पर प्रायोग्यलब्धि में जिस प्रकार सत्ता में स्थित कर्मों की स्थिति का, आत्माभिमुख परिणामों के द्वारा, घात करके संख्यातहजारसागरकम अन्तःकोड़ाकोड़ीसागरप्रमाण कर्मस्थिति कर दी जाती है, उसी प्रकार आत्माभिमुखी परिणामों के द्वारा पंचलब्धि में या सम्यक्त्व के प्रथमसमय में अनन्तानन्तकालप्रमाण संसारस्थित को काटकर अर्द्धपुद्गलपरावर्तनमात्र कर देता है।

जिस जीव ने पंचलब्धि में अनन्तसंसारस्थिति को काटकर अर्द्धपुद्गलपरावर्तनमात्र कर दिया उस जीव अर्द्धपुद्गलपरावर्तनसंसारकाल शेष रहने पर सम्यग्दर्शन होता है। अन्यथा सम्यक्त्वोत्पत्ति के प्रथमसमय में ही अनन्तसंसारस्थिति काटकर अर्द्धपुद्गलपरावर्तनमात्र हो ही जावेगी।

-लुहाड़िया भवन

मदनगंज - किशनगंज (राज.)

चोर जगा रहे हैं?

चोरी क्यों होती है और किसकी होती है? ये सोचने की बात है। जिन-भगवान वीतराग है, मन्दिर और मंदिर के उपकरण सभी उनके नहीं। ये तो शुभ-रागियों द्वारा शुभ-रागभाव में निर्मित रागियों के भवन हैं और उनके बहुमूल्य भौतिक उपकरण भी रागियों के हैं। जिन-शासन में वीतराग-भाव की महिमा है और वीतरागभाव के साधन जुटाने के उपदेश।

अब परम्परा कुछ ऐसी बनती जा रही है कि लोग मन्दिरों और मूर्तियों में भौतिक सम्पदा देखने-दिखाने के अभ्यासी बन रहे हैं-वे सांसारिक विभूति का मोह छोड़ने के स्थान पर, वीतराग-भाव की प्राप्ति में साधनभूत-मन्दिरों, मूर्तियों में सांसारिक विभूति देखने लगे हैं। कोई चांदी, सोने और हीरे की मूर्तियाँ बनवाते हैं तो कोई बहुमूल्य छत्र-चमर सिंहासन आदि और यह सब होता नाम, ख्याति, यश और प्रतिष्ठा के लिए। लोग चाहते हैं नाम लिखाना आदि। यह मार्ग सर्वथा त्याज्य है।

जब लोगों ने राग-त्याग के वीतरागी उपदेश की अवहेलना की तब चोरों ने थप्पड़ मारकर उन्हें सचेत किया और वे मार्ग पर आने को मजबूर होने लगे हैं। अब वे कह रहे हैं

सादा मन्दिर में सादा मूर्ति, वह भी विशाल पाषाणनिर्मित होनी चाहिए-जिससे वीतरागता झलके।

लोगों की इस प्रक्रिया से क्या हम ऐसा मान लें कि जिन्होंने वीतरागता की अवहेलना की उन्हें चोरों ने थप्पड़ मारकर सीधे मार्ग पर लाने का उपाय ढूँढा है। असली बात क्या है? जरा सोचिए?

जैन-दर्शन नास्तिक नहीं

डॉ. शिवकुमार शर्मा

मिस्र को पराजित करने के बाद, जूलियस सीजर ने मिस्रवासियों की बावत कहा- “यह लोग पुस्तकों की सहायता से जीवन को स्वप्न में व्यतीत कर देते हैं, जीना नहीं जानते।” भारतवासियों की बावत भी कुछ विदेशियों का ख्याल ऐसा ही है। जब वे हमें दार्शनिकों की जाति कहते हैं, तो यह सम्मान के नहीं, अपितु तिरस्कार के शब्द होते हैं। कुछ वर्ष पहले जापानी कहते थे कि भारतवासी राजनीतिक-निर्वाण की अवस्था में है। दार्शनिक विवेचन मस्तिष्क का काम है। यदि उज्ज्वल मस्तिष्क के साथ, पवित्र हृदय और बलिष्ठ बाहु विद्यमान नहीं होते, तो यह मस्तिष्क का दोष नहीं। प्राचीन भारत से जो पैतृक संपत्ति हमें प्राप्त हुई है उसमें भारतीय-दर्शन एक अनमोल भाग है।¹

पाश्चात्य दार्शनिक अरस्तु का कथन है- “दर्शन का प्रारंभ आश्चर्य से होता है” वस्तुतः इस चित्र- विचित्र विश्व और विश्व के क्रिया-कलाप को देखकर मानव मस्तिष्क चकित रह जाता है तथा वह यह विचार करने के लिये बाध्य हो जाता है कि सुप्रतिष्ठित तथा सुव्यवस्थित इस जगत् का कर्ता कौन है? यह विश्व कहाँ से आया है? हम कहाँ से आये हैं? यथार्थ सत्ता क्या है? आदि। इसी प्रकार के अंकगणित विस्मयकारी प्रश्नों के समाधानार्थ मानवमस्तिष्क अनवरत रूप से विचारशील रहता है। निरंतर चिंतन की इस कला का नाम ही दर्शन है।²

दृश् धातु से करण अर्थ में ल्युट् प्रत्यय करने पर दर्शन शब्द बनता है जिसका अर्थ है देखना।” दृश्यते अनेनेति दर्शनम्” अर्थात् जिसके द्वारा देखा जाये अर्थात् विचार किया जाये वह दर्शन है। संक्षेप में तत्त्वों के युक्तिपूर्वक सूक्ष्म ज्ञान के प्रयास को दर्शन कहा जाता है। अनेक भारतीय दर्शनों में प्रयुक्त सम्यग्दर्शन इसी अर्थ का द्योतक है।

द्रष्टव्य- सम्यक्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्निबध्यते।

दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते॥

-मनुस्मृति 6/74

वैदिक और अवैदिक भारतीय दर्शन की ये दो प्रमुख शाखायें हैं। इन्हें ही प्राचीन वर्गीकरण के आधार पर आस्तिक और नास्तिक कहा जाता है। अवैदिक दर्शनों को नास्तिक कहने का कारण यह है कि ये वेदों को प्रामाणिक नहीं मानते हैं। (नास्तिको वैदिनिन्दकः) किन्तु यदि सूक्ष्मदृष्टि से चिंतन करें तो हम देखते हैं कि सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक दर्शनों की उत्पत्ति भी पूर्णतया लौकिक विचारों से हुई है। वेद का विरोध न करने वाले होने पर भी इनकी उत्पत्ति वैदिक विचारधारा से नहीं मानी जा सकती।³ अतः अवैदिक दर्शनों में जैन और बौद्ध दर्शन को नास्तिक कहना उचित नहीं है। क्योंकि ये दर्शन, स्वर्ग,

नरक, मुक्ति आदि पारलौकिक तत्वों में विश्वास करते हैं। यदि पारिभाषिक रूप में वेद विरोधी होने से कुछ दर्शनों को नास्तिक कहा जाता है तो चार्वाक, बौद्ध तथा जैन दर्शनों को नास्तिक कोटि में रखा जाना आश्चर्यजनक नहीं है, क्योंकि वास्तव में ये तीनों दर्शन वैदिक विचारधारा से सहमत नहीं हैं।

कुछ लोग ऐसा समझने लगे हैं कि भारतीय दर्शन की दो शाखाएं हैं- आस्तिक और नास्तिक। तथा कथित वैदिक दर्शनों को आस्तिक और जैन, बौद्ध दर्शनों को नास्तिक दर्शन कहते हैं। वास्तव में यह वर्गीकरण मिथ्या है। आस्तिक और नास्तिक शब्द “अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः”^{१४} इस पाणिनि सूत्र के अनुसार बने हैं। उनका मौलिक अर्थ यही था कि परलोक की सत्ता को मानने वाला आस्तिक और परलोक की सत्ता को न मानने वाला नास्तिक कहलाता है। इस अर्थ में जैन दर्शन को नास्तिक कहा ही नहीं जा सकता। शब्द प्रमाण की निरपेक्षता से वस्तु तत्त्व पर विचार करने के कारण अन्य दर्शनों की अपेक्षा जैन दर्शन का अपना एक आदरणीय वैशिष्ट्य है। वैदिक दार्शनिक दृष्टि से जैन दर्शन की सारी दार्शनिक दृष्टि भिन्न है। इसमें कोई संदेह नहीं, किन्तु जैन दर्शन का महत्त्व उसकी प्राचीन परंपरा को छोड़कर दूसरे महत्त्व के आधारों पर भी है। किसी भी दार्शनिक विचारधारा का महत्त्व तब होता है, जबकि वह बिना किसी पूर्वाग्रह के प्रकृत वास्तविक समस्याओं पर वस्तुतः उन्हीं की दृष्टि से विचार करे अन्य भारतीय दर्शनों में शब्द प्रमाण की जो प्रमुखता है। वह एक प्रकार उनके महत्त्व को कुछ कम ही कर देता है। उन दर्शनों के अध्ययन से ऐसा लगता है कि विचारधारा की स्थूल रूपरेखा का अंकन तो शब्द प्रमाण कर देता है तथा तत्तद्दर्शन केवल उसमें अपने रंगों को ही भरना चाहते हैं। इसके विपरीत जैन-दर्शन के अध्ययन से ऐसा आभास होता है, जैसे कोई बिल्कुल साफ प्लेट पर लिखना शुरू करता है। दार्शनिक दृष्टि के विकास के लिये आवश्यक है कि स्वतंत्र विचारधारा की भित्ति पर अपने विचारों का निर्माण करें और परंपरागत पूर्वाग्रहों से स्वयं को सुरक्षित रख सकें।

जैन धर्मरूपी महल चार स्तम्भों पर स्थित है। आचार में अहिंसा, विचार में अनेकान्त, वाणी में स्याद्वाद और समाज में अपरिग्रह। समय- समय पर तीर्थंकरों ने इसी महल का जीर्णोद्धार किया और इसे युगानुकूलता देकर इसके समीचीन स्वरूप को स्थिर किया। संसार का प्रत्येक सत् कभी, समूल नष्ट नहीं होता है, परिवर्तन अवश्य होता है। वह उत्पाद व्यय तथा ध्रौव्यात्मक है। इस प्रकार विलक्षण है। चेतन या अचेतन कोई भी इस नियम का अपवाद नहीं। यह “त्रिलक्षण परिणामवाद” जैन दर्शन की आधारशिला है। अनेकान्त दृष्टि और स्याद्वाद पद्धति के खम्भों से जैन-दर्शन का तोरण बँधा है। विविधा नय, सप्तभंगी, आदि इसकी झालरें हैं।^{१५} नेमिनिर्वाण महाकाव्य के पन्द्रहवें सर्ग में भी, जैन दर्शन का बहुशः उल्लेख हुआ है। जैन दर्शन में जीव, अजीव, आम्रव बन्ध संवर, निर्जरा, मोक्ष इन सात तत्वों के यथार्थ ज्ञान को मुक्ति-मार्ग माना है।^{१६} जैनाचार्य ने इन सात तत्वों में पुण्य और पाप इन दो का जोड़कर, नौ पदार्थ माने हैं।

मुक्ति-मार्ग में रत्नत्रय

जैन दर्शन में सम्यक्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यकचरित्र की “रत्नत्रय” संज्ञा है। “समयसार

एवं “नयचक्र” में रत्नत्रय को आत्मा रूप कहा है।⁷ जैन सिद्धांत के अनुसार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चरित्र से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है।⁸ ये तीनों “तैल वर्तिकादीपकन्याय” से मोक्ष के कारण माने गये हैं। प्रायः सभी भारतीय चिंतकों ने मुक्ति को जीवात्मा का साध्य या परमपुरुषार्थ निरूपित किया है। मुक्ति मार्ग के ज्ञान के बिना मुक्ति की प्राप्ति संभव नहीं है। यदि कारागृह में पड़े व्यक्ति को बन्धन के कारणों का कथन किया जाये तो वह भयभीत होने लगता है, किन्तु यदि उसे वहां से मुक्ति का उपाय बताया जाये तो वह आशान्वित होने लगता है। आचार्य उमास्वामी ने सम्यक् दर्शन सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र की एकरूपता को मुक्ति का मार्ग स्वीकार किया।⁹ क्षत्र-चूडामणि में महाकवि वादीभ सिंह सूरि ने भी इन तीनों के समूह को मुक्ति का मार्ग माना है।¹⁰

सम्यग्दर्शन-

तत्त्वों के यथार्थ श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा जाता है। जीव, अजीव, आम्रव, बन्, संवर, निर्जरा, एवं मोक्ष ये सात तत्त्व माने गये हैं।¹¹ समयसार आदि में इन सात के अतिरिक्त “पुण्य” एवं “पाप” को भी ग्रहण करने से नौ संख्या स्वीकार की गयी है।¹² भाव यह है कि इन तत्त्वों के स्वरूप को भलीभाँति जानकर उन पर वैसी ही श्रद्धा करना सम्यक् दर्शन कहलाता है। सम्यक् दर्शन, का यह स्वरूप विवेचन जैनागम के द्रव्यानुयोग के अनुसार है। प्रथमानुयोग तथा चरणानुयोग के अनुसार तो यथार्थ देव, शास्त्र गुरु के श्रद्धान को सम्यक् दर्शन कहा जाता है।¹³

सम्यक्-ज्ञान-

नयचक्र¹⁴ और द्रव्यसंग्रह¹⁵ के अनुसार-आत्मा एवं अन्य वस्तुओं के स्वरूप को ज्ञान की न्यूनाधिकता से हीन तथा सन्देह एवं विपरीतता से रहित, ज्यों का त्यों जानना सम्यग्ज्ञान कहलाता है। “विरुद्धानेककोटिस्पर्शिज्ञानं संशयः” अर्थात् “ऐसा है कि ऐसा है” इस प्रकार परस्पर विरुद्धता पूर्वक दो प्रकार रूप ज्ञान को संशय कहते हैं। जैसे आत्मा अपना कर्त्ता हे या पर का, यह सीप है या चांदी, रस्सी है या सर्प, टूट या या पुरुष आदि। “विपरीतकोटिनिश्चयो विपर्ययः” अर्थात् वस्तु-स्वरूप से विरुद्धता-पूर्वक ऐसा ही है। इस प्रकार का एक रूप ज्ञान विपर्यय है। जैसे शरीर को आत्मा, जानना। जैनाचार्यों ने इसके पाँच भेद बताये हैं। -मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययः और केवलज्ञान। प्रथम दो ज्ञानों को परोक्ष तथा बाद के तीन ज्ञानों को प्रत्यक्ष ज्ञान कहा गया है। मुक्ति की प्राप्ति में सम्यक् ज्ञान उपादान कारण है।

सम्यक् चारित्र-

जो दोष रहित सम्यक् गुणों से युक्त है, सुख-दुःख में भी समान रहता है, आत्मा के ध्यान में लीन रहता है। राग-द्वेष और मोह को हटाकर जो स्वरूप को जानता है वही सम्यक् चारित्र होता है।¹⁶ वस्तुतः संसार को बढ़ाने वाले राग-द्वेषादि अन्तरंग क्रियाओं और हिंसा आदि बहिरंग क्रियाओं से विरक्त होकर आत्मा का अपने स्वरूप में स्थिर हो जाना सम्यक्चरित्र कहलाता है। क्षत्र चूडामणि में कहा गया है कि सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान

का आत्मा में अटल रूप से धारण करना सम्यक् चारित्र है।¹⁷

सप्ततत्त्वों का विवेचन-

“नेमिनिर्वाण” काव्य के पंचदश सर्ग में सात तत्त्वों का वर्णन आया है जिनका पृथक्-पृथक् वर्णन भी हुआ है। इसमें जीव अजीव, आश्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, और मोक्ष इन सातों तत्त्वों का वर्णन करते हुए कहा है कि उन तत्त्वों से तीनों लोक व्याप्त हैं और इनके ज्ञान से ही अन्ततः मुक्ति प्राप्त होती है। यह भगवान् जिनेन्द्र ने कहा है।

ध्यान-

चिन्ता के निरोध को ध्यान कहते हैं। यद्यपि ध्यान की स्थिति उत्तम संहनन वाले को अन्तर्मुहूर्त तक ही होती है।¹⁹ किन्तु ध्यान की भावना चलती रहती है। इस लिए बदलते हुए ध्येय की भावना के साथ ध्यान अधिक समय तक भी रह सकता है। पं. टोडरमल ने लिखा है “एक का मुख्य चिन्तन होय अर अन्य चिन्ता रुके, ताका नाम ध्यान है। जो सर्व चिन्ता रुकने का नाम ध्यान होय तो अचेतन मन हो जाये। बहुरि ऐसी भी विविधता है जो संतान अपेक्षा नाना ज्ञेय का भी जानना होय, परन्तु यावत् वीतरागता रहे, रागादि करि आप उपयोग को भ्रमावे नाही तावत् निर्विकल्प दशा कहिये है।”²⁰ गति की अपेक्षा जीव के नारकीय, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव ये चार भेद करते हुए उनकी प्रवृत्तियों के संबन्ध में नेमि निर्वाण में ध्यानों का विवेचन हुआ है।²¹ ध्यान के चार भेद हैं- आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल। इनमें अंतिम दो ध्यान मोक्ष के कारण हैं।²² प्रारंभ के दो ध्यान अप्रशस्त हैं और संसार के कारण हैं।

तप-

जैन दर्शन में कर्मों का क्षय करने के लिए तप का महत्वपूर्ण स्थान है। इच्छा के निरोध अथवा चैतन्य के प्रतपन के लिए तप कहा गया है। तप को धर्म के दशलक्षणों में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। जिस प्रकार सोने के तपाने से उसका मैल दूर हो जाता है इसी प्रकार तप के प्रभाव से आत्मा का कर्मों रूपी मैल दूर हो जाता है। तप इन्द्रिय जन्य और कामभाव के नाश का प्रमुख कारण है। क्षत्रचूड़ामणि में मुक्ति की प्राप्ति के लिए तप को अत्यन्त आवश्यक माना गया है। वहाँ कहा गया है कि मुनिराज जैसे महापुरुष इन्द्रपने के योग्य विभूति को भी छोड़कर मुक्ति के हेतु तपों को तपते हैं, उनके लिये बारम्बार नमस्कार हो।²³ जैन दर्शन में तप को कर्मों की निर्जरा का कारण मानते हुए बाह्य और आभ्यन्तर के भेद दो प्रकार का माना गया है। इसमें बाह्य तप छः प्रकार का और आभ्यन्तर तप छः प्रकार के हैं। अनशन, अवमौदर्य, वृत्ति परिसंख्यान, रस परित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश यह छः प्रकार का बाह्य तप है।²⁴ प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग, और ध्यान, ये अन्तरंग तप हैं।²⁵ तप के विषय में ध्यातव्य है कि शास्त्र विहित तप ही कार्यकारी है। पंचाग्नि तप आदि को महाकवि वादीभसिंह सूरि हेय तपों में गिनते हैं। उनका कहना है-

“पञ्चाग्निमधमस्थानं, ततो नैवोचितं तपः।
जन्तुमारणहेतुत्वादाजवञ्जवकारणम्॥

क्षत्रचूडामणि 6/13

जैन दर्शन में सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सहित होकर 5 अणुव्रत, 3 गुणव्रत और 4 शिक्षा व्रतों के धारी तथा स्थूल पंचपाप के त्यागी होते हैं, वे ही गृहस्थ (श्रावक) कहलाते हैं। मद्यत्याग मांसत्याग, मधुत्याग, हिंसा त्याग (अहिंसाणुव्रत), असत्य त्याग (सत्याणुव्रत), चौर्यत्याग (अचौर्याणुव्रत), स्वदारसंतोष (ब्रह्मचर्याणुव्रत) और परिग्रहत्याग (परिग्रहपरिमाणुव्रत) ये श्रावक के अष्ट मूल गुण हैं।

अणुव्रत-

गृहस्थाश्रम में पालनीय व्रत पूर्णतः त्यागी नहीं हो सकता है। अतएव एक देश व्रतों का पालन करने वाला होता है। एक-देश व्रती अहिंसाणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत, परिग्रहपरिमाणुव्रत का अच्छी प्रकार पालन करता है।²⁶ संकल्प पूर्वक सब जीवों की हिंसा का परित्याग करना अहिंसाणुव्रत कहलाता है। गृहस्थ जीवन में हिंसा चार तरह से होती है। संकल्पी, विरोधी, आरंभी और उद्योगी हिंसा। आचार्य सोमदेव के शब्दों में-

“यः शस्त्रवृत्ति समरे रिपु स्यात्, यः कंटको वा निजमण्डलस्य।
अस्त्राणि तमेव नृपाः क्षिपन्ति, न दीप कानीन शुभाशयेषु॥

अर्थात् दूसरों का भाव घात हो, इस प्रकार के स्थूल असत्य को जो नहीं बोलता और दूसरों को उस प्रकार के प्राणीवधात्मक असत्य को बोलने में प्रेरणा नहीं देता तथा धर्म संकट या प्राणघात प्रसंग में सत्य बोलने का भी जो आग्रह नहीं करता उसे मुनिगण स्थूल झूठ वचन से विरक्ति होना कहते हैं।²⁷ रखे हुए, गिरे हुए या भूले हुए पराये धन को बिना देखे जो न तो स्वयं लेता है और न उठाकर दूसरों को देता है, उसे स्थूल चोरी से विरक्त होना अर्थात् अचौर्याणुव्रत कहते हैं।²⁸ विवाहित स्त्री छोड़कर इतर समस्त स्त्रियाँ परस्त्री कहलाती हैं। अपनी स्त्री को छोड़कर पाप के भय से परस्त्रियों के प्रति स्वयं गमन नहीं करना स्व दूसरों को गमन करने की प्रेरणा नहीं करना, परदार निवृत्ति नामक ब्रह्मचर्याणुव्रत है इसे स्वदार संतोष नामक अणुव्रत भी कहते हैं।²⁹ धन धान्यादि परिग्रहों को अपनी आवश्यकता के अनुसार सीमित कर इतर सर्वपरिग्रहों में निस्पृहता धारण करना यह परिमित परिग्रह नामक व्रत कहलाता है इसे इच्छापरिमाण नाम से भी कहते हैं। संसार के समस्त धनधान्य संपत्ति स्त्री, पुत्रादि में यह मेरे है, मेरा उपकार करने वाले हैं, ऐसी परिणति रखना परिग्रह है।³⁰

गुणव्रत-

व्रती श्रावक को पंच अणुव्रतों में गुणों की अभिवृद्धि के लिये तीन गुणव्रतों के पालन करने की आवश्यकता है, गुणों की अभिवृद्धि कराने वाले होने के कारण गुणव्रत संज्ञा सार्थक है।³¹ आचार्य समन्तभद्र स्वामी गुणव्रतों का वर्णन करते हुए कहते हैं- गुणव्रतों के तीन भेद हैं, दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोग परिमाणव्रत। तीनों के द्वारा व्रतों में गुणों

की वृद्धि होती है।³² इसलिए इन्हें गुणव्रतों के नाम से महापुरुष कहते हैं। इन गुणव्रतों के पालन से व्रती साधक अनेक पापों से बचता है। इतना ही नहीं उसके जीवन में अनन्त आकांक्षाओं का अन्त होने के कारण आत्म सन्तोषी हो जाता है।

आठ मूलगुण-

मूलगुण- स्वस्थ शरीर एवं निर्मल मन के आधार-श्रावक की स्थिति में मूल या नीवरूप होने से तथा मोक्ष के मूल कारण होने से श्रावक के प्रमुख गुणों की मूलगुण अन्वर्थ संज्ञा है। इसी प्रकार साधु के प्रमुख गुणों को भी मूलगुण कहा गया है।

“मांसाशिषु दया नास्ति, न सत्यं मद्यपायिषु। आनृशंस्यं न मर्त्येषु, मध दुम्बरसेविषु।” उपर्युक्त विवेचन से सुस्पष्ट है कि शरीर की स्वस्थता एवं मन की निर्मलता के लिए श्रावक की आचार संहिता में निर्दिष्ट मूलगुणों का पालन आवश्यक है। इसी में समाज की स्वस्थता है।³³ मद्यत्याग, मांसत्याग और मधुत्याग के साथ पांच अणुव्रतों के परिपालन को वादीभसिंह ने श्रावक के आठ मूल गुण माने हैं।³⁴

शिक्षाव्रत-

अणुव्रतों का धारण और गुणव्रतों का पालन जिस प्रकार आवश्यक है उसी प्रकार श्रावक को चार शिक्षाव्रतों का पालन भी आवश्यक है क्योंकि इन से महाव्रत की शिक्षा मिलती है। इसलिये इनका नाम शिक्षाव्रत सार्थक है। श्रुत ज्ञान रूपी नेत्र को धारण करने वाले श्रावक को उचित है कि वह देशावकाशिक आदि शिक्षा शिक्षाव्रतों को अवश्य धारण करें।³⁵ शिक्षाव्रत, चार प्रकार के हैं- देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और अतिथिसंविभाग।³⁶

कर्म-

मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग के कारण जिन पुद्गल वर्णणाओं का बन्ध होता है उन्हें कर्म कहते हैं। क्षत्रचूडामणि में अनेक स्थलों पर कर्म और ताज्जन्य फलों का विवेचन हुआ है।³⁷ ये कर्म आठ प्रकार के हैं- ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय।³⁸

अनुप्रेक्षा-

जैन दर्शन में संवर के प्रसंग में अनुप्रेक्षाओं का विवेचन किया गया है।³⁹ मिथ्या दर्शन आदि कर्मों के आगमन रूप आस्रव द्वारों के निरोध को संवर कहते हैं। जिस प्रकार अच्छी तरह से बन्द किये गये द्वारों वाला नगर शत्रुओं के द्वारा अगम्य हो जाता है उसी प्रकार अनुप्रेक्षा आदि के द्वारा अच्छी तरह संवर को प्राप्त आत्मा कर्म-रूपी शत्रुओं के द्वारा अगम्य हो जाता है। अनुप्रेक्षाओं में संसार शरीर आदि के स्वरूप को बार-बार चिंतन किया जाता है। ताकि संसार शरीर आदि के प्रति मुमक्षु का अनासक्त भाव हो तथा वह कर्मों का संवर कर सकें। अनुप्रेक्षाओं को जैनदर्शन में भावना भी कहा गया है इनकी संख्या चिंतन योग्य विषयों के आधार पर मानी गयी है।

अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्त्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म।⁴⁰ आचार्य अमृतचन्द सूरि ने मुनि और श्रावक दोनों को ही इन बारह अनुप्रेक्षाओं के निरन्तर चिंतन करने का उपदेश दिया है।⁴¹

इन 12 भावनाओं के चिंतन से साधु अपने वैराग्यमय जीवन को सुदृढ़ करता है। इसलिये इन्हें संवर का कारण कहा जाता है। इन अनुप्रेक्षाओं से जीव उत्तम क्षमादि धर्मों का पालन करते हैं और परिषहों को जीतने में उत्साह उत्पन्न होता है।

अनेकान्त-

अनेकांत का अर्थ है परस्पर विरोधी दो तत्त्वों का एकत्र समन्वय। तात्पर्य यह है कि जहाँ दूसरे दर्शनों में वस्तु को केवल सत् या असत् सामान्य या विशेष, नित्य या अनित्य, एक या अनेक और भिन्न या अभिन्न स्वीकार किया गया है। वहाँ जैन दर्शन में वस्तु को सत् और असत्, सामान्य और विशेष, नित्य और अनित्य, एक और अनेक तथा भिन्न और अभिन्न स्वीकार किया गया है और जैन दर्शन की यह मान्यता परस्पर विरोधी दो तत्त्वों के एकत्र समन्वय को सूचित करती है।

संदर्भ-

1. दर्शन संग्रह (प्रस्तावना) डॉ. दीवानचन्द्र।
2. वेदान्त-सार (भूमिका) डॉ. कृष्णकान्त त्रिपाठी।
3. द्रष्टव्य- भारतीय दर्शन (एन इंस्ट्रुक्शन टू इण्डियन फिलास्फी का हिन्दी अनुवाद) चट्टोपाध्याय एवं दत्त पृ. 3-4
4. अष्टाध्यायी 4/4/30
5. क्षत्र-चूडामणि: एक अध्ययन- पृष्ठ 160
6. नेमिनिर्वाण 15/6 तथा 15/46
7. नयचक्र 323 एवं समयसार गाथा 1/16
8. स्यात् सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र त्रितयात्मकः। मार्गो मोक्षस्य भव्यानां युक्त्यागमसुनिश्चितः॥ तत्त्वार्थसार 1/3
9. द्रष्टव्य समयसार 1/7 एवं नयचक्र 321
10. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः। तत्त्वार्थसूत्र 1/1
इतित्रयी तु मार्गः स्यादपवर्गस्य नापरम्। क्षत्रचूडामणि 6/21
11. तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। जीवाजीवाश्रवबन्धसंवर निर्जरा मोक्षास्तवम्॥
12. भूदत्थेणामिगदा जीवाजीवाय पुण्णपाव च। आसवसंवरणिज्जर बंधो मोक्खो य सम्मतं॥ समयसार 1/13
13. श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्। त्रिमूढापोढमष्टां सम्यग्दर्शनमस्मयम्
14. वत्थूण जंसहावं जहट्टियं (ण्यपमण तह सिद्धं) तंतह व जाणणे इह सम्मं पाणं जिगाविति॥
15. द्रव्यसंग्रह 42
16. उपेक्षणं तु चारित्रं तत्त्वार्थानां सुनिश्चितम्। तत्त्वार्थसार- 1/4
19. वृत्तं च तद् द्वयस्यात्मन्यस्खलद् वृत्तिधारणम्। क्षत्रचूडामणि 6/20
18. जीवाजीवाश्रवा बन्धसंवरौ निर्जरान्वितौ। मोक्षश्च तानि तत्त्वानि व्याप्नुवन्ति जगत्रयम्। नेमिनिर्वाण 15/51

19. उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधोऽध्यानमान्तर्मुहूर्तात्। तत्त्वार्थसूत्र 9/27
20. मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ-211
21. नेमिनिर्वाण 15/56-61
22. आर्तरौद्रधर्मशुक्लानि। परेमोक्षहेतू। तत्त्वार्थसूत्र 28-29
23. अतएव हि योगीन्द्रा अपीन्द्रत्वाहंसम्पदम्। त्यक्त्वा तपांसि तप्यन्ते मुक्त्यै तेभ्यो नमो नमः॥ क्षत्रचूडामणि 3/25
24. अनशनावमौदर्य- वृत्तिपरि संख्यान्-रसपरित्यागः विविक्त-शयासन-कामक्लेशाः बाह्यं तपः। तत्त्वार्थसूत्र 9/19
25. प्रायश्चित्त-विनय-वैयावृत्त-स्वाध्याय व्युत्सर्ग ध्यानान्युत्तरम्। तत्त्वार्थसूत्र 9/20
26. अहिंसा सत्यमस्तेयं स्वस्त्री मितवसुग्रहौ। क्षत्रचूडामणि 7/22
27. स्थूलमलीकं न वदति, न परान् वादयति सत्यमपि विपदि। यतद्वदन्ति सन्तः स्थूलमृषावादवैरमरणम्॥ रत्नकरण्डश्रावकाचार-55
28. निहितं वा पतितं वा सुविस्मृतं वा परस्वसविसृष्टम्। न हरति यत्र च दत्ते तदकृशचौर्यादृपारमणम्॥ रत्नकरण्डश्रावकाचार-56
29. न तु परदारान् गच्छति न परान् गमयति च पापभीतेर्यत्। सा परदार-निवृत्तिः स्वदारसंतोष नामापि॥ रत्नकरण्डश्रावकाचार- 59
30. धन्यधान्यदिग्रन्थं परिमाय तता धिकेषु निस्पृहता। परिमित परिग्रहः स्यादिच्छापरिमाणनामापि। रत्नकरण्डश्रावकाचार- 61
31. भोगोपभोगसंहारोऽनर्थदण्डव्रतान्वितः। गुणावृहणाद् ज्ञेयं दिग्ब्रतेन गुणान्वितम्॥ क्षत्रचूडामणि 7/24
32. दिग्ब्रतमनर्थ दण्डव्रतं च भोगोपभोगपरिमाणं। अनुवृहणाद् गुणानामाख्याति गुणव्रतान्यार्याः॥ रत्नकरण्डश्रावकाचार 67
33. नयन जागृति (त्रैमासिक पत्रिका जनवरी 2010) डॉ. जयकुमार जैन, पृ. संख्या 21
34. अहिंसा सत्यमस्तेयं स्वस्त्रीमितवसुग्रहौ। मद्यमांसमधुत्यागै- स्तेषां मूलगुणाष्टकम्॥ क्षत्रचूडामणि 7/23
35. शिक्षाव्रतानि देशावकाशिकादीनि संश्रयेत्। श्रुतिचक्षुस्तानि शिक्षाप्रधानानि व्रतनिहि॥ सागरधर्मामृत 24/5
36. सप्रोषधोपसासेन व्रतं सामयिकेन च। देशवकाशिकेन स्याद् वैयावृत्यं तुशिक्षकम्॥ क्षत्रचूडामणि 7/22
37. क्षत्रचूडामणि 1/19, 71, 3/26 आदि
38. आद्यो ज्ञान दर्शनावरण- वेदनीय- मोहनीयायु नामगोत्रात्तरायाः। तत्त्वार्थसूत्र- 8/4
39. स गुप्तिसमिति- धर्मानुप्रेक्षापरिषहजयचारित्रैः। तत्त्वार्थसूत्र 9/2
44. अनित्याशरण-संसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्त्रवसंवर- निर्जरा। लोक-बोधिदुर्लभ- धर्मस्वाख्यातत्वामुचिन्तनमनुप्रेक्षाः। तत्त्वार्थसूत्र-119/7
41. अध्रुवमशरणमेकत्वमन्यताऽशौचमास्त्रवोजन्म। लोकवृषबोधिसंवरनिर्जराः सततमनुप्रेक्षाः॥ पुरुषार्थ सिद्धुपयाय- 205

प्रधानाचार्य
नेहरु स्मारक इण्टर कालेज
गेटर नोएडा (उ.प्र.)

आचार्य कुन्दकुन्द के साहित्य में धर्म

-निर्मला जैन

स्वभाव धर्म है। जीव का स्वभाव आनन्द है, ऐन्द्रिय सुख नहीं, अतीन्द्रिय आनन्द ही जीव का धर्म है। जिन कार्यों को करने में आनन्द प्राप्त होता है वह धर्म है। धर्म दो प्रकार का है- एक बाह्य दूसरा अन्तरंग। पूजा, दान, शील, त्याग आदि करना बाह्य धर्म तथा साम्यता व वीतराग भाव की अधिकाधिक साधना करना अन्तरंग धर्म/ निश्चय धर्म है। जो प्राणियों को संसार दुःख से उठाकर उत्तम सुख वीतरागता को धारण कराता है वह धर्म है। वीतराग धर्म अधर्म का विनाशक है।¹

तत्त्वार्थ सूत्र की प्राचीन टीका सर्वार्थसिद्धि में आचार्य पूज्यपाद ने कहा है- “इष्ट स्थाने धत्ते इति धर्मः”² जो इष्ट स्थान में धरता है वह धर्म है अर्थात् जो स्वर्ग/मोक्ष में धारण करता है। निज शुद्ध भाव ही धर्म है। यह संसारी जीवों की चतुर्गति दुःखों से रक्षा करता है।³ “मिथ्यात्वादि संसरण रूपेण भाव संसारे प्राणिनमुद्धृत्य निर्विकारशुद्धचैतन्ये धरतीति धर्मः”⁴ मिथ्यात्व व रागादि में संसरण करने रूप भाव संसार से प्राणी को उठाकर जो निर्विकार शुद्ध चैतन्य में धारण करा दे, वह धर्म स्वभाव से अपनी आत्मा में सुख अमृत रूपी शीतल जल से संसार दुःख का कारण काम क्रोधादि रूप अग्नि के लिए शान्त भाव है।

निश्चय से संसार में रत आत्मा को जो धारण करे वह विशुद्ध ज्ञान दर्शन भावना रूप धर्म है। व्यवहार नय से उसके साधन के लिए इन्द्र चक्रवर्ती का पद वन्दन योग्य है, उसे प्राप्त करने का उत्तम क्षमादि दश प्रकार का धर्म है।⁵ जो धर्मात्मा पुरुषों को नीच पद से उच्च पद में धारण कराता है वह धर्म है। संसार नीच पद और मोक्ष उच्च पद है।⁶

अहिंसा: धर्म स्वरूप-

जैनागम में सर्वत्र अहिंसा को महत्त्व दिया गया है। अहिंसा को परम धर्म भी कहा गया। “अयं जिनोपदिष्टो धर्मोऽहिंसालक्षणः सत्याधिष्ठितो विनयमूलः। क्षमाबलो ब्रह्मचर्यं गुप्त उपशमप्रधानी नियति लक्षणो निष्परिग्रहतालम्बनः।

अर्थात् जिनेन्द्र देव ने जो यह अहिंसा लक्षण धर्म कहा है, सत्य उसका आधार है, विनय उसकी जड़ है, क्षमा उसका बल है, ब्रह्मचर्य से रक्षित है, उपशम उसकी प्रधानता है, नियति उसका लक्षण है, निष्परिग्रहता उसका अवलम्बन है।⁷ धर्म दया से विशुद्ध/ निर्मल होता है। जहाँ दया है, वह धर्म है दया में अहिंसा, करुणा, मैत्री आदि का भी समावेश हो जाता है। “सो धम्मो जत्थ दया” तथा “धम्मो दयाविशुद्धो”⁸

“जीवाणं रक्खणं धम्मो”, जीवों की रक्षा करना धर्म है।

**धम्मो वत्थुसहावो खमादिभावो य दसविहो धम्मो।
चारित्तं खलु धम्मो जीवाणं रक्खणं धम्मो॥⁹**

वस्तु का स्वभाव धर्म है। दस प्रकार- क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य आदि भाव धर्म है। रत्नत्रय को धर्म कहते हैं और जीवों की रक्षा करने को धर्म कहते हैं। यहां पर आचार्य ने धर्म के विविध स्वरूपों को बतलाया है। जीव आदि पदार्थों के स्वरूप का नाम धर्म है। जैसे शुद्ध बुद्ध चैतन्य स्वरूप है, यही चैतन्य उसका धर्म है। अग्नि का स्वभाव उष्णता है और जल का स्वभाव शीतलता है। यही उसका धर्म है तथा उत्तम क्षमादि रूप आत्मपरिणाम भी धर्म है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य रूप तीनों रत्न भी धर्म है। इस प्रकार प्राणियों की रक्षा करना धर्म है।

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वराः विदुः।¹⁰ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य धर्म है ऐसा भी कहा गया है।

व्यवहार धर्म और निश्चय धर्म स्वरूप-

व्यवहार धर्म- “पंचपरमेष्ठ्यादि भक्तिपरिणामरूपो व्यवहार-धर्मस्तावदुच्यते। पंच परमेष्ठी आदि की भक्ति के परिणाम से व्यवहार धर्म होता है। जिसे पुण्य भी कहा गया है।

“धर्मशब्देनात्र पुण्यं कथ्यते।”¹²

“गृहस्थानामाहारदानादिकमेव परमो धर्मस्तेनैव सम्पत्त्वपूर्वेण परंपरया मोक्षं लभन्ते।”¹³ आहार दान आदि चतुर्विध दान गृहस्थों का परम धर्म है। सम्यक्त्व धर्म से परंपरागत मोक्ष की प्राप्ति होती है। “व्यवहारधर्मं च पुनः षडावश्यकदिलक्षणे गृहस्थापेक्षया दानपूजादि- लक्षणे वा शुभोपयोग स्वरूपे रतिं कुरु।”¹⁴ साधुओं की दृष्टि से भी षडावश्यक धर्म है तथा गृहस्थों की दृष्टि से दान, पूजादि शुभ उपयोग व्यवहार धर्म है।

निश्चय धर्म स्वरूप-

आत्मधर्म, विशुद्धधर्म है, यह विशुद्धता भी उत्तम परिणामों से आती है। जिसके विषय में सभी आचार्यों ने स्पष्ट कथन किया है कि आत्म परिणाम से समभाव उत्पन्न होता है यही अतिशयता को प्राप्त होता है।

“चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिदिट्ठो।

मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हि समो।”¹⁵

अपने स्वरूप का आचरण चारित्र्य है। वह धर्म वस्तु का स्वभाव धर्म है। जो समभाव है चंचलता से रहित आत्मा का परिणाम है। वीतराग चारित्र्य, धर्म, सम परिणाम, आत्मा का परिणाम एकार्थ वाचक है।

मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो।¹⁶

अर्थात् मोह व क्षोभ रहित (राग द्वेष व योगों से रहित) आत्मा के परिणाम धर्म है। वस्तुस्वरूप की अपेक्षा रागादि ही हिंसा, अधर्म व अव्रत है और उनका त्याग ही अहिंसा

धर्म व व्रत है। रागादि समस्त दोषों से रहित होकर आत्मा में ही रत होना धर्म है।¹⁷ प्रवचनसार/तत्त्वार्थ दीपिका में स्पष्ट किया है-

“वस्तुस्वभाववत्त्वाद्धर्मः। शुद्ध चैतन्याप्रकाशनमित्यर्थः। ततोऽयमात्मा धर्मेण परिणतो धर्म एव भवति।”¹⁸

अर्थात् वस्तु का स्वभाव धर्म है। इसका अर्थ है- शुद्ध चैतन्य का प्रकाश करना। इसलिए धर्म से परिणत आत्मा ही धर्म है।

“रागादिदोषों से रहित तथा शुद्धात्मा की अनुभूति सहित निश्चय धर्म होता है।”¹⁹
धर्म भेद-प्रभेद-

“उत्तम खममद्दवज्जवसच्चसउच्चं च संयमं चेव। तवतागकिंचणहं वम्हा इति दसविहं होदि।”²⁰

अर्थात् उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन और ब्रह्मचर्य धर्म के दश भेद हैं।

“संपूर्णदेशभेदाम्यां स च धर्मो द्विधा भवेत्।”²¹

संपूर्ण और एक देश से धर्म के दो प्रकार हैं। मुनि व गृहस्थ धर्म या अनगार व सागार धर्म भी इसी प्रकार के हैं। दया धर्म गृहस्थ और मुनि दोनों ही पालन करते हैं। वही धर्म सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप उत्कृष्ट रत्नत्रय कहलाने लगता है तथा उत्तम क्षमादि के भेद से दश प्रकार का हो जाता है।²²

जीव के शुभ, अशुभ तथा शुद्धधर्म-

जो वस्तु जिस समय, जिस रूप परिणमित होती है, वह उसका स्वभाव हो जाता है। वह स्वभाव शुभ, अशुभ और शुद्ध होता है। जिसके विषय में कहा है-

**जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वसुहो असुहो।
सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणाम सभावो॥**

जब यह जीव शुभ अथवा अशुभ परिणामों को करके परिणमता है तब वह शुभ व अशुभ होता है। अर्थात् जब यह दान, पूजा व्रतादिरूप शुभ परिणामों से परिणमता तब शुभ धर्म होता है, और जब विषय, कषाय, अव्रतादिरूप अशुभ भावों को करके परिणत होता है तब अशुभ धर्म होता है। जब यह जीव आत्मिक वीतराग शुद्ध भाव स्वरूप परिणमता है तब शुद्ध धर्म होता है। जब जीव शुभ धर्म करता है तो स्वर्ग सुख को प्राप्त करता है और जब यह जीव वीतराग आत्मिक धर्म अर्थात् शुद्ध धर्म करता है तो मोक्ष प्राप्त करता है। यही जीव जब विषय कषायादि करता है तो संसार भ्रमण करता है।

धर्म शब्द निश्चय से जीव का शुद्ध परिणाम है। उसमें ही नय विभाग रूप से वीतराग सर्वज्ञ प्रणीत सर्वधर्म अन्तर्भूत हो जाते हैं। जब जीव के शुद्ध भाव होते हैं यह शुद्ध कहलाने लगता है। उत्तम क्षमादि धर्म भी जीव के शुद्ध भाव हैं। रत्नत्रय धर्म भी शुद्ध हैं राग द्वेष मोह के अभाव रूप लक्षण वाला धर्म भी जीव का शुद्ध स्वभाव है। वस्तु स्वभाव भी शुद्ध

धर्म ही है।²⁴

इस प्रकार विविध चिन्तन से स्पष्ट है कि धर्म आत्मा का स्वभाव है, जो सदैव बना रहता है, किन्तु अपने अपने जीव के परिणाम से वह विविध रूप को प्राप्त होता है। इसलिए परिणामों की अपेक्षा शुभ, अशुभ और शुद्ध उपयोग वाला जो धर्म है वह इस बात की ओर संकेत करता है कि सभी के चिन्तन के पश्चात् शुभ और अशुभ दोनों ही मोक्ष में सहायक नहीं है। परमात्म की दृष्टि से विचार करने पर धर्म आत्मा का स्वभाव है इसलिए शुद्ध भाव युक्त आत्मा मोक्ष प्राप्त करता है।

संदर्भ:-

1. रत्नकरण्ड श्रावकाचार 12
2. सर्वार्थसिद्धि 9/2/789
3. परमात्म प्रकाश 2/68 (महापुराण 47/382), (चारित्रसागर 3/1)
4. प्रवचनसार/ तात्पर्यवृत्ति 7/9/9
5. द्रव्य संग्रह /टीका 35
6. पंचाध्यायी उत्तरार्ध 7/5
7. बोधपाहुड 25 (नियमसार/तात्पर्यवृत्ति 6 में उद्धृत) (दर्शन पाहुड टीका 2/2/20)
8. सर्वार्थसिद्धि 9/7/8/0/2
9. कार्तिकेयानुप्रेक्षा 478 (दर्शन पाहुड/टीका/9/8)
10. रत्नकरण्ड श्रावकाचार 3
11. प्रवचनसार/ तात्पर्यवृत्ति 8/9/18
12. परमात्मप्रकाश- 2/3/116/10
13. परमात्मप्रकाश/ टीका 2/11-4213/14
14. परमात्मप्रकाश/ टीका 2/134/251/2
15. प्रवचनसार 7
16. भावपाहुड 83 (परमात्मप्रकाश 2/68)
17. भावपाहुड 85
18. प्रवचनसार/ तत्त्वप्रदीपिका 7,8
19. पंचास्तिकाय/ तात्पर्यवृत्ति 85/143
20. बारस अणुपेक्षा/ 60, (तत्त्वार्थसूत्र 9/6), भगवती आराधना/वि.46/154/10
21. पद्मनन्दि पंचविंशतिका 6/4 (बारस अणुपेक्षा/68), (कार्तिकेयानुप्रेक्षा/304), (चारित्रसार 3/1), (पंचाध्यायी उत्तरार्ध 7/7)
22. पंचविंशतिका 1/7 (द्रव्य संग्रह टीका 35/145/3)
23. प्रवचनसार 9
24. परमात्म प्रकाश/ टीका 2/68/190/8

-साक्षी, 23, शान्ति नगर, ए-ब्लॉक,
केशवनगर रोड, अक्षांश काम्पलेक्स के सामने,
उदयपुर (राजस्थान)

जैन न्याय एवं दर्शन: एक अध्ययन

-डॉ. ज्योतिबाबू जैन

भारतीय परंपरा में चिंतन को विशेष महत्व दिया गया है, जिसमें बौद्धिक व्यवहारिक एवं धार्मिक चिंतन के साथ-साथ दार्शनिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर विचार किया गया और जिसमें प्रत्येक युग की परिस्थिति वातावरण आदिपर प्रकाश डाला गया है। दर्शन के क्षेत्र में कोई सीमा नहीं रही इसमें मानव बुद्धि द्वारा जितना भी चिंतन हुआ है वह विविध मूल्यों के लिए हुए अत्यन्त वैज्ञानिक तथा जीवन और जगत के गंभीर रहस्य को प्रतिपादित करने वाला है। इसमें यथार्थ के साथ-साथ आदर्श का निरूपण भी हुआ है और सामान्य दृष्टि से जब उसके मूल्य पर विचार करते हैं तो दर्शन की दृष्टि से वस्तु स्वरूप के चिंतन तथ्य निरूपण एवं प्रमाण और नय की विवक्षा भी की गयी है।

भारतीय दर्शन आत्मधर्म प्रधान दर्शन है। इसमें इनके विचारकों ने आत्म तत्त्व के गवेषणा में अपनी शक्ति लगाई है। जिसकी धुरी पर संसार चक्र घूमता है।

इसके दृष्टिकोण में सभी प्रकार के विचारों का मंथन है, यह जहां आत्मतत्त्व की ओर ले जाता है वहीं व्यक्ति को 'आत्मा है' इसी को केन्द्रित करके दार्शनिक इसकी उत्पत्ति स्थिति तथा उससे मुक्ति की ओर गतिशील हो जाता है। वह भूत में समाहित होकर पुनर्जन्म के कथन में भी अलग-अलग दृष्टिकोण को खोल लेता है- आत्मा है, आत्मा जीवन है, आत्मा ज्ञान है, आत्मा परम ज्ञान है, परमात्मा है, इत्यादि एक ही चिंतन जीवन के लिए नये-नये आदर्श उपस्थित करा जाता है यही दर्शन का एक पक्ष है आत्मा संबन्धी दृष्टिकोण के विविध रूपों को मानव मस्तिष्क में स्थान बना लेता है जिसे दर्शन की दृष्टि से न्याय तर्क या बुद्धि का एक ही वस्तु पर विशेष चिंतन कहा जाता है।

दर्शन शब्द और उसकी व्यापकता-

दर्शन-चिंतन का नाम है जिसमें मानव विचारों के सभी पक्ष रहते हैं। दर्शन दृष्टि धातु से बना ऐसा जब कथन करते हैं तब दृष्टि का अर्थ देखना अवलोकन करना या वस्तु का निरीक्षण करना होता है जिसे न्याय की दृष्टि से दर्शन नहीं कह सकते।

दार्शनिकों ने दर्शन को जहाँ “दृश्यतेऽनेन इति दर्शनम्” अर्थात् जिसके द्वारा देखा जाता है, वहीं पर दर्शन के लिए चिंतन का विषय भी कहा है।

दर्शन आत्म दृष्टि का नाम है जिसे अंतर दृष्टि भी कहते हैं। जो सूक्ष्म दृष्टि प्रज्ञा चक्षु ज्ञान चक्षु और दिव्य दृष्टि भी कही जाती है।¹ डॉ. महेन्द्र कुमार जैन ने जैन दर्शन के विषय प्रवेश में दर्शन के यथार्थता पर प्रकाश डालते हुए कथन किया है कि दर्शन का मोटा और स्पष्ट अर्थ है “साक्षात्कार करना प्रत्यक्षज्ञान से किसी वस्तु का निर्णय करना”² जैन दर्शन के प्रसिद्ध विचारक एवं चिंतनशील महामना डॉ. दरबारी लाल कोठिया ने दर्शन को चिंतन

का विषय माना है और कहा है धर्म का / वस्तु स्वरूप का जिन विचारों द्वारा समर्थन किया जाता है वह विचार दर्शन है।⁴

सिद्धान्त की दृष्टि से दर्शन-

रुचि प्रत्यय श्रद्धा और दर्शन ये सभी समानार्थक शब्द हैं। इस दृष्टि से आप्त, आगम और पदार्थ के प्रति जो रुचि होती है वह दर्शन कहा जाता है। धवलाकार ने जिसे आप्त आगम एवं पदार्थों के प्रत्यय में रुचि श्रद्धा उनके प्रति दृष्टि भाव स्पर्श भाव को दर्शन कहा है।⁵

“दर्शनम् तत्त्वरोचकम्”⁶ दर्शन का नाम तत्त्व रुचि है” जीव अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व कहे गये हैं। इनके प्रति रुचि या श्रद्धा का नाम दर्शन है, दूसरी ओर वस्तु का यथार्थ श्रद्धान को दर्शन कहा जाता है।⁷

दर्शन का नाम आत्म परिणाम भी है जो दर्शन मोहनीय कर्म के क्षय क्षयोपशम से उत्पन्न होता है जिसे दृष्टि भी कहते हैं। इसमें यह भाव भी निहित है कि जितने भी जीव जगत के पदार्थ हैं वे सभी हमारे द्वारा जाने जाते हैं उनका अनुभव किया जाता है और उनके रहस्य को समझने के लिए जिस दृष्टि का उपयोग किया जाता है वह भी दर्शन है।

उपयोग की दृष्टि से दर्शन-

जीवो उवयोगमायो⁸ जीव को उपयोग स्वरूप माना गया है। उपयोग में ज्ञान और दर्शन दोनों ही समाहित हैं प्रसिद्ध दार्शनिक सिद्धसेन दिवाकर ने इसी आधार पर दर्शन का अर्थ सामान्य ग्रहण किया है।⁹ यथार्थ में जीव स्वभाव से सामान्य प्रधान है जो कारण विशेष से अर्थ की ओर प्रवृत्त होता है इसलिये उसे दर्शन कहा जाता है।¹⁰ सामान्यबोधो दर्शनम्” जिसे सामान्य अर्थात् वस्तु के संपूर्ण विषय का बोध होता है उसे दर्शन कहते हैं अवलोकन वृत्ति का नाम भी दर्शन है धवलाकार ने इस लिये कहा है “स्वरूपसंवेदनं दर्शनम्”¹¹

दर्शन का नाम न्याय-

ऋषि परंपरा के विषय में विचार करते हैं तो सूत्रपाहुड का सूत्र संपूर्ण स्थिति को स्पष्ट कर देता है।

अरहंतभासियत्थं गणहरदेवेहिं गंथियं सम्मं।

सुत्तत्थमगणत्थं सवणा साहंति परमत्थं।¹²

अर्थात् केवलज्ञान प्राप्त होने पर अरिहंत अवस्था में जो कुछ कथन किया जाता है उसमें अर्थ ही रहता है अर्थ का वास्तविक स्वरूप रहस्य है जिसमें संपूर्ण लोका लोक के विषय का यथार्थ चित्रण किया होता है उनके शिष्य उस चित्रण को प्रस्तुत करते हुए उनकी जो व्याख्यायें की जाती हैं। ये विविध क्षेत्रों में विविध रूपों को धारण करती हुई जग-जन को ओलोकित करती हैं। श्रुति तीर्थगत है जिनमें धर्म दर्शन और न्याय तीनों ही समाहित होते हैं।

(क) धर्म - वस्तु स्वरूप का यथार्थ चित्रण

- (ख) दर्शन- वस्तु तत्त्व का विचारों द्वारा समर्थन
- (ग) न्याय- विचारों के सूत्रों को खण्डन मंडन एवं शंका समाधान रूप में दृढ़ करना।

न्याय दर्शन-

विचारों को हेतु पूर्वक प्रस्तुत करना न्याय की प्रमुखता है। आचार्य देवसेन ने दर्शनसार तत्त्वसार आदि ग्रंथों में वस्तु स्वरूप को प्रतिपादित करने के लिए स्वमत और पर मत दोनों को ही आधार बनाया है, जो वैदिक एवं श्रमण परंपरा में सर्वत्र विद्यमान है। क्योंकि उन्होंने प्रत्येक युग के अनुसार वस्तु स्वरूप को समझा और अपने युग तक आते-आते दर्शन के चिंतन को न्याय संगत बनाने के लिए जो तर्क शैली प्रस्तुत की है वह शाश्वत संपूर्ण एवं वस्तु के हर पक्ष को प्रस्तुत करने वाला है।

जैन न्याय का विकास-

आगम का विषय अत्यन्त ही गंभीर है जिन्हें श्रुत कहा गया है। वे श्रुत अंग आगम उपांग आगम आदि के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनमें सर्व प्रथम निम्न न्याय संबन्धी विषयों का समावेश हुआ।

- (1) आत्मवादी दृष्टिकोण।
- (2) लोकवादी / जीवजगत और विश्व संबन्धी विचार का दृष्टिकोण।
- (3) कर्मवादी दृष्टिकोण।

जो इनके मूल विषय में है वह प्रश्न और उत्तर दोनों ही लिये हुए हैं आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्या प्रज्ञप्ति आदि अंग आगम ग्रंथों में प्राकृत में ही उनके प्रश्न किये गये और प्राकृत में ही उनके उत्तर दिये गये। प्रश्नोत्तर की वस्तु स्थिति में सामान्य और विशेष दोनों ही विद्यमान है। किं वत्थु अत्थि? जब यह प्रश्न किया जाता है तब मात्र अस्ति या मात्र नास्ति ही उपस्थित नहीं होते उस समय नित्य, अनित्य, असत्, भेद, अभेद तद् अतद् निराकर साकार आदि की दृष्टि भी सामने आती है।

षट्खण्डागम, कषायपाहुड एवं अन्य अन्य आचार्यों के ग्रंथों में अपेक्षाकृत वस्तु का व्यवहार हुआ है। वहां संख्यात असंख्यात गुण पर्याय उत्पाद व्यय ध्रुव सत् असत् सामान्य विशेष नित्य अनित्य इत्यादि तर्क गर्भित प्रश्नोत्तर न्याय की ओर ले जाते हैं।

न्याय युग का विभाजन-

- (क) आदियुग ई. 200 ई. 650 समंतभद्र काल
- (ख) मध्यकाल ई. 650 से 1050 अकलंक काल
- (ग) अंतकाल ई. 1050 से ई. 1700 प्रभाचन्द्र काल

न्याय युग का अन्य विभाजन-

- (1) आगमयुग का न्याय
- (2) आगम का व्याख्यायुग और उसका न्याय
- (3) प्रमाण शास्त्र व्यवस्था का युग और उसका न्याय नवीन न्याय युग

आधुनिक न्याय युग-

उक्त दृष्टि से भी न्याय की परंपरा को प्रतिपादित किया जाता है। तीर्थंकर परंपरा से लेकर अब तक जो कुछ भी जिनागम का सार है या जिसे जन जन तक पहुँचाया जा रहा है उसमें तत्त्वार्थ सूत्र के कर्ता उमा स्वामी के सूत्रात्मक प्रयोगों में जो न्याय का प्रवर्तन हुआ है वह चिंतन के सूत्रों पर आधारित है। आचार्य कुन्द कुन्द ने पंचास्तिकाय की व्यवस्था में संपूर्ण जीवजगत की वस्तु स्थिति का निरूपण किया है। स्वसमय और पर समय की व्याख्या के सूत्रों से जुड़ा समयसार आत्म तत्त्व का यथार्थ चित्रण करता है। ज्ञान ज्ञेय, कुन्द-कुन्द के प्रिय विषय हैं परन्तु प्रवचन सार में ये तीनों मत-मतांतरों को लेकर स्वसमय का विवेचन करते हैं। पर समय के चिंतन को भी सामने रखते हुए अपने विषय में गंभीर विचार किया। उन्होंने प्रमाण, नय, निक्षेप, आदि को स्याद्वाद एवं अनेकान्त की दृष्टि से खण्डन-मण्डन पर विशेष बल दिया। समंतभद्र के पश्चात् पूज्यपाद, सिद्धसेन आदि आचार्यों ने न्याय की परंपरा को बढ़ाया। अकलंक ने अपने बुद्धि से तर्क का एक ऐसा आधार बनाया जिसमें सभी पक्ष खुल कर सामने आये। वैदिक एवं श्रमण परंपरा के जैन और बौद्ध तथा अन्य सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक की समग्र दृष्टि ने तर्क को विशेष महत्व दिया।

प्रभाचन्द्र, सिद्धसेन, हेमचन्द्र, धर्मभूषण, यशोविजय, हरिभद्र आदि के विकास क्रम के साथ-साथ न्याय की परंपरा सत्रहवीं अठारहवीं शताब्दी तक निरंतर ही चलती रही।

उन्सवीं बीसवीं शताब्दी में न्याय-

आचार्य शांतिसागर से पूर्व श्रुत अध्ययन एवं अध्यापन की दृष्टि में क्या भेद था यह स्पष्ट नहीं, परन्तु आचार्य शांति सागर ने तत्त्व आचार विचार एवं व्यवहार की दृष्टि से युग को नई पहिचान दी। आचार्य देशभूषण आचार्य ज्ञान सागर, आचार्य अजित सागर एवं अन्य आचार्यों ने तर्क को विशेष महत्व दिया। बीसवीं शताब्दी में आचार्य ज्ञान सागर ने अनेक ग्रंथों की रचनायें कीं और उनके मूल में तार्किक शैली को आधार बनाकर वस्तु तत्त्व का विवेचन किया। उनकी प्रवचनसार टीका एवं तत्त्वार्थसूत्र टीका में न्याय के सभी पक्ष विद्यमान हैं। इससे पूर्व न्यायाचार्य गणेश प्रसाद वर्णी एवं अन्य विद्वानों ने न्याय के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। जिनेन्द्र वर्णी का नय दर्पण एक सुन्दरतम कृति है न्यायाचार्य माणिकचन्द्र जी कौन्देय, पं. सुखलाल सिंघवी, पं. बंशीधर जी व्याकरणाचार्य, डॉ. महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य, डॉ. गुलाब चन्द्र दंडी, पं. दलसुख मालवणियां, पं. बंशीधर न्यायालंकार, पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, पं. जुगलकिशोर मुख्तार, पं. बालचन्द्र शास्त्री, पं. जगन्मोहनलाल शास्त्री, पं. हीरालाल शास्त्री, पं. पन्नालाल साहित्याचार्य, पं. माणिकचन्द्र, पं. अमृतलाल शास्त्री, आचार्य विद्यानंद, पं. जवाहरलाल सिद्धान्तशास्त्री, डॉ. दरबारीलाल कोठिया, पं. उदयचन्द्र जैन, पं. फूलचन्द शास्त्री, आर्यिका ज्ञानमति, आर्यिका विशुद्धमति, आर्यिका सुपाश्वर्ममति, आदि का जैन न्याय के विकास में उल्लेखनीय योगदान है।

नय की विविध परिभाषायें-

- श्रुतज्ञान के आश्रय को लिए हुए ज्ञानी का जो विकल्प वस्तु के अंश को ग्रहण

करता है उसे नय कहते हैं। उस ज्ञान से जो युक्त होता है वह ज्ञानी है।¹³

- सम्यक्ज्ञान को प्रमाण और ज्ञाता के हृदय के अभिप्राय को नय कहते हैं।¹⁴
- ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते हैं।¹⁵
- प्रमाण के अवयव नय है।¹⁶
- प्रमाण के द्वारा ग्रहण की हुई वस्तु के एक अंश को ग्रहण करें वह नय है। इसी बात को वीरसेन आचार्य इस प्रकार कहते हैं।
- प्रमाणपरिगृहीतार्थकदेशे वस्त्वध्यवसायो नयः।¹⁷
- प्रमाण के द्वारा ग्रहण की गयी वस्तु के एक अंश में वस्तु का निश्चय करने वाला ज्ञान नय है।
- तावद्वस्तुन्यनेकान्तात्मन्यविरोधेन हेत्वर्पवात्साध्यविशेषस्य यथात्म्यप्रापणप्रवण प्रयोगो नयः। अनेकान्त वस्तु में विरोध के बिना हेतु की मुख्यता से साध्य विशेष की यथार्थता के प्राप्त कराने में समर्थ प्रयोग को नय कहते हैं।¹⁸
- वस्तु के अनेक स्वरूप में उनमें से किसी एक निश्चित स्वरूप को ग्रहण करने वाला ज्ञान नय कहलाता है।¹⁹

नय का स्वरूप एवं भेद-

किसी वस्तु के विषय में ज्ञाता का जो अभिप्राय होता है वह नय है। कहा है “ज्ञातुरभिप्रायो नयः” वस्तु के विषय में ज्ञाता का जो अभिप्राय होता है वह नय है। नय वस्तु के अंश को जानता है जबकि प्रमाण समग्र वस्तु को जानता है इसलिये एक अंशग्राही ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते हैं। सभी वस्तुएं अनन्तधर्मात्मक होती हैं ज्ञाता अपने प्रयोजन के अनुसार उन अनन्त धर्मों में से से किसी एक धर्म को ग्रहण करता है। एक ही वस्तु में विभिन्न ज्ञाताओं के विभिन्न धर्मों को लेकर विभिन्न अभिप्राय हो सकते हैं। ये सभी अभिप्राय नय कहलाते हैं। प्रत्येक नय या अभिप्राय वस्तु के केवल एक धर्म को ग्रहण करता है परंतु वह दूसरे धर्मों का निराकरण नहीं करता अपितु अन्य धर्म सापेक्ष होता है इसी कारण यह सुनय कहलाता है। यदि अन्य धर्मों का निराकरण करने लगे तो उसका अभिप्राय दुर्नय हो जाता है, इन नय प्रमाणों और निक्षेपों के द्वारा जीवादि पदार्थों का यथार्थ ज्ञान होता है।

वर्तमान उपलब्ध नय विषयक स्वतंत्रकृति आचार्य देवसेन की है। आचार्य देवसेन द्वारा रचित नयचक्र प्राकृत भाषा में है। इस नयचक्र में आचार्य देवसेन ने संपूर्ण नयों का वर्णन किया है।

जं णाणीण वियप्पं सुयभेयं वत्थुंअंस संगहणं।
तं इह णयं पउत्तं णाणी पुण तेहि णाणेहिं॥
जह्मा ण ण्ण विणा होइ णरस्स सियवाय पडिवत्ती।
तह्मा सो बोहव्वो एअंतं हंतुकामेण॥²⁰

ज्ञानी का जो विकल्प है उसे नय कहते हैं। अथवा श्रुत ज्ञान के भेद को नय कहते

हैं। या वस्तु एक अंशग्राही को ज्ञानियों ने नय कहा है इसलिए नय न पूर्ण ज्ञान है न अज्ञान है परन्तु ज्ञानांश है। नय में द्रव्य का पूर्ण ज्ञान नहीं होता अपितु केवल वस्तु अंशग्राही होता है।

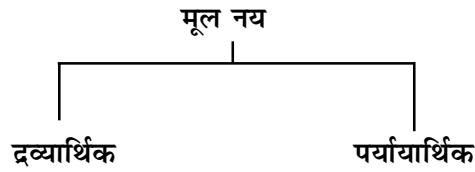
नय के बिना स्याद्वाद की सिद्धि नहीं होती है। इसलिए स्याद्वाद सिद्धि एवं एकान्त खंडन के लिये नय की अपेक्षा आवश्यक है, क्योंकि “णयमूलो अणयंतो” अनेकांत का मूल नय है। वस्तु अनंकांत स्वरूप है। अनेकांत को जानने पर ही वस्तु के स्वरूप को जान सकते हैं। जब वस्तु के स्वरूप को जानेंगे तभी सम्यक्दृष्टि हो सकते हैं।

जे णयदिट्ठविहीणां तेसिं ण हु वत्थुरूवउवलद्धि।

वत्थुसहावविहूणा सम्माइट्ठी कहं हुंति।²¹

नय दृष्टि से रहित व्यक्ति वस्तु स्वरूप को प्राप्त नहीं कर सकता है। वस्तु स्वभाव रहित जीव सम्यक् दृष्टि नहीं हो सकता।

नयनिरूपण:-



प्रत्येक वस्तु द्रव्य एवं पर्यायात्मक है। द्रव्य को विषय करने वाला द्रव्यार्थिक नय है। इन्ही दोनो मूल नयों में शेष नयों का अन्तर्भाव हो जाता है। वैसे जितने भी वचन भाग है, उतने ही नय है अतः नयों की संख्या असंख्यात है वे असंख्यात नय द्रव्यार्थिक नयों के ही भेद है क्योंकि उन सबका विषय या तो द्रव्य होता है या पर्याय।

दो चेव मूलिमणया भणिया दव्वत्थपज्यत्थगया।

अण्णं असंखसंखा ते तब्भेया मुणेयव्वा।²²

नय श्रुत ज्ञान के भेद है और वे नैगम आदि के भेद से सात प्रकार के हैं वे नय द्रव्य और पर्याय मूलक है अर्थात् इन नयों का मूल द्रव्य और पर्याय है। द्रव्य वह पर्याय है जिसमें एकत्व और अन्वय का अनुगमन पाया जाता है। द्रव्य एकत्व के द्वारा स्व पर्यायों का तथा अन्वय के द्वारा द्रव्यांतरों का अनुगमन करता है। यहाँ एकत्वानुगम के द्वारा भेदकान्त का निषेध किया है और अन्वयानुगम शब्द के द्वारा सब द्रव्यों में एकत्व का निरास किया गया है वह द्रव्य निश्चयात्मक होता है। संशयादि का व्यवच्छेद करके ग्रहण करने का नाम निश्चय है और इस प्रकार का जिसका स्वभाव है उसे निश्चयात्मक कहते हैं। केवल द्रव्य ही निश्चयात्मक नहीं है; किन्तु पर्याय भी निश्चयात्मक होती है। इसके अतिरिक्त पर्याय व्यतिरेक और पृथक्त्व का अनुगमन करती है। परस्पर व्यावृत्ति को व्यतिरेक कहते हैं। स्वद्रव्य की पर्यायांतरों की अपेक्षा से पर्यायों में व्यतिरेक पाया जाता है तथा द्रव्यांतरों की अपेक्षा से पृथक्त्व पाया जाता है। इस प्रकार पर्यायों में व्यतिरेक और पृथक्त्व दोनों बातें पायी जाती है। द्रव्यार्थिक नय का मूल निश्चय है और पर्यायार्थिक नय का मूल व्यवहार है। जीव-अजीव द्रव्य का जो सत् स्वभाव है जो कभी नष्ट नहीं होता। उसको अवलम्बन करने

वाला नय निश्चय नय है तथा जो स्वभाव नष्ट हो जाता है उसका अवलम्बन करने वाला व्यवहार (पर्यायार्थिक) नय है। द्रव्यार्थिक नय द्रव्य के आश्रित है और पर्यायार्थिक नय पर्याय के आश्रित है।²³

नय का स्वरूप-

जैन सिद्धांत के सभी विचारकों ने नय का निरूपण किया है और उसकी सार्थकता पर भी प्रकाश डाला है नय वस्तु/ पदार्थ के अर्थ विशिष्ट प्रयोजन, विशिष्ट कारक, व्यंजक भाव अभिप्राय आदि को प्रस्तुत करने वाला होता है इसमें जटिल से जटिल समस्याओं का समाधान होता है और वक्ता के अभिप्राय को भी स्पष्ट किया जाता है। इसमें संशय को स्थान नहीं दिया जाता वक्ता जो कुछ कहता है या विचारक जो कुछ विचारता है वह वस्तु को नहीं ज्ञान को रखकर बोलता या विचारता है।²⁴ वक्ता का प्रयोजन नय है।

प्रमाणपरिगृहीत अर्थ के एकदेश का जो अध्यवसाय होता है वह नय है।²⁵ ध्वला एवं जयध्वला में ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहा गया है। अभिप्राय से ही प्रमाण परिगृहीत अर्थ के एक देश का अध्यवसाय/चिंतन अर्थ होता है जो युक्ति एवं प्रमाण से सिद्ध है कि अर्थग्रहण द्रव्य और पर्यायों के अनन्तर ही होता है प्रमाण के द्वारा जाना गया विषय जब एक देश में वस्तु की ओर ले जाता है तब नय कहलाता है।²⁶

एक देश विशिष्टोऽर्थो नयस्य विषयो मतः²⁷

अर्थात् एक देश के विशिष्ट अर्थ का नाम नय है ऐसा माना गया।

लोयाणं ववहारं धम्म-विवक्खाइ जो पसा जो पसाहेदि।

सुय-णाणस्स वियप्पो सो वि णओ लिंगं संभूदो²⁸

जो वस्तु के एक धर्म की विवक्षा को साधता है वह नय है।

नयचक्रकार आचार्य देवसेन ने स्वयं निम्न परिभाषा दी है-

जं णाणीय वियप्पं सुयभयं वत्थुयंससंगहणं।

तं इह णयं पउत्तं णाणी पुण तेहि णाणेहि²⁹

श्रुत ज्ञान के आश्रय को लिये हुए ज्ञानी का जो विकल्प वस्तु के अंश को ग्रहण करता है उसे नय कहते हैं।

इस परिभाषा से आशय निकलता है कि श्रुत ज्ञान के आधार से ही नय की प्रवृत्ति होती है। श्रुतज्ञान प्रमाण होने से सकलग्राही होता है, उसके एक अंश को ग्रहण करने वाला नय है। इसी से नय विकल्प रूप कहा जाता है। प्रतिपक्षी अर्थात् विरोधी धर्मों का निराकरण न करते हुये वस्तु के एक अंश या धर्म को ग्रहण करने वाला ज्ञाता का अभिप्राय नय है अथवा नाना स्वभावों से वस्तु को पृथक् करके जो एक स्वभाव में वस्तु को स्थापित करता है वह नय है।³⁰

नय का अर्थ:-

- णीञ् प्रापणे तस्य नय इति रूपम्

- वक्तैव सूत्रार्थप्रापणे गम्ये परोपयोगान्नयति नयः
- नीयते चानेन अस्मिन् वेति नयनं वा नयः
- वस्तुनः पर्यायाणां संसम्भवाऽधिगमनमिथ्यर्थः।³¹

णीज् प्रापणे धातु से नय की उत्पत्ति हुई है नी का अर्थ ले जाना भी होता है जो वक्ता के अभिप्राय को या सूत्र के अर्थ की ओर लगाता है उसका नाम ही नय है।

व्युत्पत्ति-

नीयते गम्यते श्रुतपरिच्छिन्नार्थक देशोऽनेनेति नयः।³² अर्थात् जिससे श्रुत प्रसिद्ध प्रमाण को विषय बनाकर एक अंश विशेष का एक देश कथन नय है।

1 नयनं नयो नीयते परिच्छिद्यते अनेनास्मिन्स्मादिति वा नयः।³³

जो अनन्त धर्मात्मक अध्यवसाय की ओर ले जाता है उसका नाम ही नय है।

नय के पर्यायवाची-

नय को प्रापक, कारक, साधक, निवर्तक, निर्भासक, उपलम्भक और व्यञ्जक³⁴ ये सभी नय के एकार्थवाची शब्द हैं। उतराध्ययन चूर्णि में कारक, दीपक, व्यञ्जक, भावक और उपलम्भक³⁵ को भी एकार्थवाची कहा है।

जिनेन्द्र वर्णी ने प्रयोजन अभिप्राय, लक्ष्य, दृष्टि, अपेक्षा, मुख्यतः और नय³⁶ को एकार्थवाची माना है। नय उसी का नाम है जिसे किसी प्रयोजन या कारण को दृष्टि में रखकर प्रयोग किया जाता है। इसलिए सर्वसाधारण व्यक्तियों को होनी असंभव है। इसका यथार्थ प्रयोग प्रमाण ज्ञानी या सम्यक्दृष्टि कर सकता है।

प्रयोजन विशेष को दृष्टि में रखकर बोला गया वाक्य ही श्रोता के जीवन में हित उत्पन्न कर सकता है या श्रोता को वस्तु व्यवस्था समझाने में सफल हो सकता है, परन्तु यह तभी संभव है जबकि श्रोता स्वयं मुख्य करके कहे गये एक अंग को समझ कर हृदय कोष में जमा करता जाए और इस प्रकार धीरे-धीरे संपूर्ण अंगों को धारण करके अंत में परस्पर मिलाकर एक रस कर दे। ज्यों-ज्यों वह आगे के अंगों को धारण करेगा- त्यों- त्यों उसे वस्तु की निकटता प्राप्त होगी इसीलिये प्रयोजन वश बोला गया नयवाक्य श्रोता को वस्तु के निकट पहुंचाने या ले जाने की शक्ति रखता है³⁷

नय के भेद:-

प्रयोजन या वक्ता के अभिप्राय के कारण से जितने भी वचन व्यवहार होते हैं उतने नय कहे जाते हैं।

जावदिया वयण वहा तावदिया चेव होंति णयवाया।

जावदिया णयवाया तावदिया चेव परसमया॥³⁸

जितने भी प्रकार के वचन हैं उतने ही नयवाद होते हैं और जितने नयवाद उतने ही अन्य मत हैं।

तत्त्व नाना धर्मात्मक है ऐसा आचार्य देवसेन ने स्वयं कहा है और उसी आधार पर

नय की व्यवस्था करते हुए अनेक भेदों का उल्लेख किया है। यहाँ तक कि उन्होंने नय विभाजन में दो से लेकर दस तक ही संख्या को महत्व दिया है। प्राचीन परंपरा के आचार्यों की दृष्टि में नय की व्यवस्था को लेकर नय का इस तरह विभाजन किया है।

मूल नय भेद और उनका स्वरूप-

सामान्य से नय के दो भेद हैं

दो चेव मूलिमणया भणिया दव्वत्थपज्जयत्थगया
अण्णं असंखसंखा ते तब्बेया मूणेयव्वा।³⁹

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक में दो ही मूल नय कहे गये हैं। अन्य संख्यात संख्या को लिए हुए उन दोनों के ही भेद जानने चाहिए।

णिच्छयववहारणया मूलिभेया णायाण सव्वाणं।
णिच्छय साहणहेऊ दव्वयपज्जत्थिया मुणह॥

संपूर्ण नयों के निश्चय नय और व्यवहार नय ये मूल भेद हैं निश्चय का हेतु द्रव्यार्थिक नय है साधन का हेतु अर्थात् व्यवहार का हेतु पर्यायार्थिक नय है।⁴⁰

ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो॥

व्यवहार नय अभूतार्थ है और शुद्धनय भूतार्थ है ऐसा ऋषिवरों ने दिखलाया है जो जीव भूतार्थ के आश्रित है वह जीव निश्चय कर सम्यक्दृष्टि है।⁴¹

आचार्य सिद्धसेन ने सामान्य विशेषात्मक रूप से नयों का कथन किया है। तीर्थकरों के वचन सामान्य, विशेषात्मक है। वे सामान्य रूप से द्रव्य के प्रतिपादक हैं और विशेष रूप से पर्याय के द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों से मूल वस्तु की व्याख्या की गई है। शास्त्रों में जिन सात नयों का वर्णन मिलता है, वह इन नयों का विस्तार है। सभी नय द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दो नयों में गर्भित हैं। इनमें द्रव्यार्थिक नय का विस्तार नैगम, संग्रह एवं व्यवहार रूप है तथा पर्यायार्थिक नय का विस्तार ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत रूप है। मूल में जिनवाणी का विवेचन करने वाले दो ही नय हैं।⁴²

नय उपनयों के भेद एवं स्वरूप-

जो पर्याय को गौण करके द्रव्य को ग्रहण करता है उसे द्रव्यार्थिकनय कहते हैं और जो द्रव्य को गौण करके पर्याय को ग्रहण करता है उसे पर्यायार्थिक नय कहते हैं।⁴³

अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय-

जो सब रागादिभावों को जीव का कहता है या रागादिभावों को जीव का कहता है वह कर्मोपाधि सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय है।⁴⁴

पर्यायार्थिक नय और उसके भेद-

जो द्रव्य को गौण करके पर्याय को ग्रहण करता है वह पर्यायार्थिक नय है। जो

अकृत्रिम और अनिधन अर्थात् अनादि अनन्त चन्द्रमा सूर्य आदि पर्यायों को ग्रहण करता है उसे जिन भगवान ने अनादि नित्य पर्यायार्थिक नय कहा है।

सादि नित्य पर्यायार्थिक नय-

जो पर्याय कर्मों के क्षय से उत्पन्न होने के कारण सादि है और विनाश का कारण न होने से अविनाशी है, ऐसा सादिनित्य पर्याय को ग्रहण करने वाला सादिनित्य पर्यायार्थिक नय है।

अनित्य शुद्ध पर्यायार्थिक नय-

जो सत्ता को गौण करके उत्पाद व्यय को ग्रहण करता है, उसी अनित्य स्वभाव को ग्रहण करने वाला शुद्ध पर्यायार्थिक नय है।

सत् का लक्षण आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में इस प्रकार किया है-
“उत्पादव्ययध्रौव्युक्तं सत्”

सत् का लक्षण उत्पाद- व्यय-ध्रौव्य है। प्रत्येक वस्तु प्रति समय उत्पन्न होती है, नष्ट होती है और ध्रुव भी रहती है। इनमें से जो नय ध्रौव्य को गौण करके प्रति समय होने वाले उत्पाद व्यय रूप पर्याय को ही ग्रहण करता है वह नित्य शुद्ध पर्यायार्थिक नय है।

अनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिक नय-

जो एक समय में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त पर्याय को ग्रहण करता है वह अनित्यअशुद्धपर्यायार्थिक नय है।

निरपेक्ष अनित्यशुद्धपर्यायार्थिक नय-

जो संसारी जीवों की पर्यायों को सिद्धों के समान शुद्ध कहता है वह अनित्य शुद्ध पर्यायार्थिक नय है।

सापेक्ष अनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिक नय-

जो चार गतियों के जीवों की अनित्य अशुद्ध पर्याय का कथन करता है वह विभाव अनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिक नय है।⁴⁵

आचार्य उमास्वामी ने जिन (नैगमादि) सात नयों का वर्णन तत्त्वार्थसूत्र में किया है उन्हीं को आचार्य देवसेन ने भी नयचक्र एवं आलापपद्धति में वर्णित किया है।

आचार्य देवसेन ने नयचक्र एवं आलापपद्धति में समान रूप से नयों, उपनयों के स्वरूप का कथन किया है। नयों के स्वरूप एवं भेदों में अन्य आचार्यों से समानता है। आलापपद्धति में उपसंहाररूप में नयों का कथन अध्यात्मभाषा से किया है।

नयों के मूल भेद है-

एक निश्चयनय और दूसरा व्यवहारनय। निश्चय नय का विषय अभेद है और व्यवहार नय का विषय भेद है।

निश्चय नय के दो भेद हैं शुद्ध निश्चयनय व अशुद्ध निश्चयनय। शुद्ध निश्चय की अपेक्षा जीव के न बन्ध है न मोक्ष है और न गुणस्थान आदि है।

शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा बंध है ही नहीं, इसी प्रकार शुद्ध निश्चय की अपेक्षा बंधपूर्वक मोक्ष भी नहीं है यदि शुद्ध निश्चय की अपेक्षा बंध होवे तो सदा ही बंध होता रहे मोक्ष न हो।⁴⁶

इस प्रकार शुद्ध निश्चय नय अभेद है एवं जो नय कर्मजनित विकार सहित गुण और गुणी को अभेद रूप से ग्रहण करता है वह अशुद्ध निश्चय नय है जैसे मतिज्ञानादि स्वरूप जीव।⁴⁷

व्यवहार नय दो प्रकार का है-

सद्भूत व्यवहार नय और असद्भूत व्यवहार नय। एक वस्तु को विषय करने वाला सद्भूत व्यवहार नय है और भिन्न वस्तुओं को विषय करने वाला असद्भूत व्यवहार नय है।

सद्भूत व्यवहार नय दो प्रकार का है-

उपचरित और अनुपचरित। कर्मजनित विकार सहित गुण और गुणी भेद को विषय करने वाला उपचरित सद्भूत व्यवहार नय है। जैसे- जीव के मतिज्ञानादि गुण।

उपाधिरहित जीव में गुण और गुणी के भेदरूप विषय को ग्रहण करने वाला अनुपचरित सद्भूत व्यवहार है। जैसे जीव के केवलज्ञानादि गुण।

उपचरित और अनुपचरित के भेद से असद्भूत व्यवहार नय भी दो प्रकार के हैं। उनमें से संश्लेष संबंध रहित, ऐसी भिन्न वस्तुओं का परस्पर में संबंध ग्रहण करना उपचरित सद्भूत व्यवहार नय का विषय है जैसे- देवदत्त का धन।

संश्लेष सहित वस्तु को विषय करने वाला अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय है, जैसे जीव का शरीर इत्यादि।

जीव और शरीर का संबंध संश्लेष संबंध है जीव जिस शरीर को धारण करता है, संकोच या विस्तार होकर आत्म प्रदेश उस शरीर प्रमाण आकार रूप हो जाते हैं जैसा कि द्रव्य संग्रह में कहा है- संकोच तथा विस्तार से यह जीव अपने छोटे और बड़े शरीर के प्रमाण रहता है।⁴⁸

शरीर, वचन, मन और प्राणापान-यह पुद्गलों का उपकार है ऐसा आचार्य उमास्वामी ने कहा है-

शरीरवाङ्मनप्राणापानाः पुद्गलानाम्⁴⁹ शरीर, वचन और मन की क्रिया का योग है और वह आस्रव है।

इस प्रकार अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय की अपेक्षा जीव और शरीर का संश्लेष संबंध है यदि यह संश्लेष संबंध या जीव और शरीर का संबंध न माना जाये तो शरीर के वध से हिंसा के अभाव का प्रसंग आ जायेगा।

इस प्रकार आचार्य देवसेन ने आलापपद्धति और नयचक्र में विभिन्न नयों एवं उपनयों का विवेचन कर उनकी उपयोगिता प्रदर्शित की है। तत्त्वज्ञान की यथार्थवता प्रमाण और नय के यथार्थ बोध से ही सम्भव है।

संदर्भ-

1. न्यायाचार्य महेन्द्र कुमार जैन दर्शन पृष्ठ 27 प्रकाशन, गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रंथकार वाराणसी द्वितीय संस्करण 1966
2. आचार्य देवेन्द्र मुनि जैनदर्शन स्वरूप और विश्लेषण पृष्ठ 3, प्रकाशन-तारकगुरु जैन ग्रंथालय उदयपुर 1996
3. जैन दर्शन पृष्ठ 28
4. डा. महेन्द्र कुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति ग्रंथ पृ. 4
5. धवला पुस्तक -6 पृ. 38 प्रकाशन, सोलापुर
6. चन्द्रप्रभु चरित्र 18/124
7. भगवती आराधना विजयोदय-टीका पृ. 16
8. द्रव्यसंग्रह गाथा 2
9. सन्मति सूत्र 2/1
10. ललित विस्तार पृ. 63 देखे जैन लक्षणावली पृ. 509
11. धवला पुस्तक 1 पृ. 383
12. आचार्य कुन्दकुन्द- सूत्रपाहुड गाथा 1
13. आचार्य देवसेन- दर्शनसार गाथा 2
14. गाणं होदि पमाणं, णओ वि णादुस्स हिदय-भावत्थो गाथा 83, आचार्य यति वृषभ प्रणीत-तिलोयपण्णत्ति 1/83, सं. तृतीय सन् 1997, प्र- चन्द्रप्रभु दि. जैन अतिशय क्षेत्र-तिजारा
15. आचार्य देवसेन- आलापपद्धति- ज्ञातुभिप्रायो वा नयः (सूत्र 181)
16. वही सूत्र 39
17. आचार्य वीरसेन- धवला पु. 1 पृ. 83
18. आचार्य पूज्यपाद सवार्थसिद्धि 1/33
19. आचार्य जिनसेन- हरिवंशपुराण 58/39
20. नयचक्र गाथा नं. 2/3 आचार्य देवसेन प्रका, साहित्याचार्य डॉ. पं. पन्नालाल जैन ग्रंथमाला श्री वर्णी दिग. जैन गुरुकुल, पिसनहारी मढ़िया, जबलपुर
21. नयचक्र आचार्य देवसेन गाथा-10
22. लघुनयचक्र आचार्य देवसेन गाथान, 11 पृ. 8
23. न्यायकुमुदचन्द्र गाथा नं. 66-67 आचार्य प्रभाचन्द्र
24. वर्णी जिनेन्द्र नय दर्पण पृ.-135 प्रकाशन, जिनेन्द्र वर्णी ग्रंथमाला भेलूपुर वाराणसी 1984
25. धवला पुस्तक- 1, पृष्ठ 83
26. वही पुस्तक 9 पृ. 162, 163
27. न्यायावतार 29
28. कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा 263 पृ. 188 प्रकाशन, श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, श्रीमद राजचन्द्र आश्रम आगास 1997
29. आचार्य देवसेन लघुनयचक्र गाथा-2

30. वही पृष्ठ- 2
31. उत्तराध्ययन चूर्णि पृष्ठ- 9
32. स्याद्वादरत्नाकर 1/1 पृष्ठ-8
33. अनुयोगद्वार मलयवृत्ति पृष्ठ-59
34. तत्त्वार्थ भाष्य 1/35 प्रकाशन, श्रीमद राजचन्द्र-ग्रंथमाला आगास
35. उत्तराध्ययन चूर्णि पृष्ठ-9
36. नयदर्पण पृष्ठ 138
37. वही पृष्ठ- 138, 139
38. सम्मद्भुतं 3/47 प्रकाशन, भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली सन् 2003
39. लघुनयचक्र- आचार्य देवसेन गाथा 11 पृष्ठ-8
40. आचार्य देवसेन-आलापपद्धति सूत्र- 40 गाथा-4
41. आचार्य कुन्दकुन्द समयसार गाथा-11
42. तित्थयरवयणसंगहविसेसपत्थरमूलवागरणी। दव्वटिठयो य पज्जवणयो य सेसा वियप्पा सिं॥
आचार्य सिद्धसेन-सम्मद्भुतं गाथा 3
43. नयचक्र गाथा- 17,18
44. वही गाथा 21
45. नयचक्र- 27-32
46. बंधश्च शुद्धनिश्चयनयेन नास्ति, तथा बंधपूर्वको मोक्षोऽपि। यदि पुनः शुद्धनिश्चयेन बंधो
भवति तदा सर्वदैव बंध एव, मोक्षोनास्ति, आचार्य ब्रह्मदेव बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा 57 टीका
47. आचार्य देवसेन अलापपद्धति- सूत्र 219
48. अणुगुरुदेहपमाणो, उवसंहारप्पसप्पदो चेदा
आचार्य नेमिचन्द्र-द्रव्यसंग्रह
49. आचार्य उमास्वामी-तत्त्वार्थसूत्र 5/19

- 21, महावीर भवन सर्वत्रस्तु
विलास, उदयपुर
(राजस्थान)

भूल तो सदा कचोटती रहेगी !

वे रूढ़ियाँ जो सदियों से चली आ रही हैं और जिन्होंने धर्म के मूल-रूप को आत्मसात् कर लिया है- ढंक लिया है, इतनी गाढ़ी हो गई हैं कि उनका रंग सहज छटने का नहीं। ऐसी रूढ़ियों में एक रूढ़ि है अपरिग्रह को उपेक्षित कर 'अहिंसा को मूल जैन-संस्कृति' प्रचारित करने की।

यू तो संसार के सभी मत-मतान्तर हिंसा को पाप और अहिंसा को धर्म बतलाते हैं। पर, जैनी इसमें सबसे आगे हैं। जब कभी कहीं अहिंसा का प्रसंग उठता है, जैनी बांसों उछलते हैं और गर्व के वेग में कहते हैं कि- जैनियों द्वारा मान्य अहिंसा सर्वोपरि है जहाँ दूसरों में अहिंसा के व्यावहारिक रूपों को सर्वोच्च मान्यता प्राप्त है वहाँ जैन इसके मूल तक पहुँचे हैं उन्होंने संकल्पित, कृत कारित, अनुमोदित, मन, वचन, काय की प्रवृत्ति- रूपों में भी हिंसा के त्याग को उपदेश दिया है, और 'सम्यग्योग निग्रहो गुप्ति का उपदेश दिया है, आदि। निःसंदेह जैनियों की अहिंसा पर सबको गर्व है। पर, इस गर्व में कहीं सब इतने तो नहीं फूल गये हैं कि उनके द्वारा जाने-अनजाने में जैन संस्कृति के मूल अपरिग्रह पर ही चोट हो रही हो ?

- श्री पदमचंद जैन शास्त्री
संपादक- अनेकान्त, वर्ष 37, किरण-3 से साभार

JAINS IN KERALA

Prof. Prakash C. Jain

This article presents a brief history of the development of Jainism in Kerala along with a demographic profile of the contemporary Jain community there. Compared to the other Jain communities in South India, the Jains in Kerala constitute a very small community whose demography has just begun to lose its equilibrium.

Jainism in Kerala

Jainism was introduced to the South in about 300 BC by Emperor Chandragupta Maurya (321&297 BC) and a Jain saint- Bhadrabahu who had migrated to Shravanbelagola in present-day Karnataka due to a twelve-year long famine in North India in 297 B.C. From there it spread to Tamilnadu and Kerala in about 200 BC. Evidence of the presence of Jains in Kerala comes from the indisputable fact that many Hindu temples in Kerala were originally Jain Shrines. For example, at Kallil, near Perumbavur, we can still see the images of Parasvanth, Mahavira and Padmavati; even though it is considered a Bhagavati temple today. Similarly, several places in Wayanad have Jain temples indicating that North Malabar was once a flourishing center of Jainism.

In ancient times Jainism and Buddhism enjoyed high prestige till the late seventh century A.D. In 642 A.D., When Hsuan Tsang visited the area he found "heretical sects" of Buddhism and Jainism flourishing in South India. The most characteristic feature of this period was the brisk literary activity in Tamilakam. The eighteen minor works (Kilkanku or Prabhandas), Silappathikarm, Manimekhala and other works were written by acclaimed votaries of the heretical sects" (Nair 1986; 147). The contribution of the Jains to the Kannada Language and literature is even more pronounced. In the words of the great Kannada scholar R. Narsimhacharya, "the earliest cultivators of the Kannada language were Jainas. The oldest works of any extent and value that have come down to us are all from the pen of the Jains. The period of the Jainas' predominance in the literary field may justly be called the 'Augustan Age of Kannada Literature'. Jaina authors in Kannada are far more numerous than in Tamil. To name only a few, we have Pampa, Ponna, Ranna, Gunavarman,

Nagachanda, Janna, Andayya, Bandhuvarma and Medhura, whose works are admired as excellent specimens of poetical composition. It is only in Kannada that we have *Ramayana* and Bharata based on the Jaina tradition in addition to those based on Brahmanical tradition. Besides *kavyas* written by Jain authors, we have numerous works by them dealing with subject, such as grammar, rhetoric, prosody, mathematics, astrology, medicine, veterinary science, coodery and so forth. In all, the number of Jaina authors in Kannada is nearly two hundred")Sangave, 2006: 125).

Jainism received royal patrons as well, notably in Ilango Adikal, better known for his Tamil epic *Silappadikaram*. He lived in Trikanamatilakam, which became a famous centre of Jain religion and learning. There were several other Jain shrines too, which were subordinate to the one at Matilakam. Even the Kutalmanikyam temple at Irinjalakuda, dedicated to Bharata is believed to have been originally a Jain shrine named after a Digambara Jain saint Bharateshwara. It was converted into a Hindu temple like several other Jain shrines in Kerala, following the decline of Jainism which started in the 8th century due to the Saivite and Vaishnavite movements. Jainism seems to have lingered on till the 16th century and then it almost disappeared.

Historical accounts suggest that a large number of Bhatta Brahmins entered Kerala in the seventh and their ideological and administrative system found favour with the kings and local chieftains of the period. Royal patronage to Brahmins brought about radical changes in the social, political and cultural landscape of Kerala. A society which was largely egalitarian was revamped by the Varna and caste system. Sanskrit became more popular. A virtual monopoly over education and erudition made it easier for the Brahmins to suppress and assimilate old deities like Shasta (Buddha) and folk heroes like Mavele (King Mahabali) and Ayyappa (King Ayyan Adigal) into the Hindu pantheon.

Scholars like Guru Prabhakara and Shankaracharya (788-820 A.D.) reinforced their supremacy. This led to the promotion of Vaishnavism by the Kulashekaras kings of the second Chera Empire that was spread to over three centuries between 8th and 10th century A.D. by the Salva Nayanars and Vaishnava Alvars, Buddhist and Jain temples .received magnificent gifts and donations from the rulers and chieftains of Kerala (Nair 1986:169).

During the Aryanization period of Kerala, about 8,000 Jain Monks were done to death in Madurai in extremely brutal manner by the follow-

ers of Shankaracharya. Jain temples were destroyed across South India, including Kerala. Many of them were converted into Hindu temples, and the followers of Buddhism and Jainism were converted into Hinduism and Islam. A Jain temple built by Vikaramaditya Varaguna at Tichchanattunilai was converted into a Bhagavathi temple by the beginning of the 13th century (Nair 1986: 168). Similarly, the nagaraja temple at Nagercoil continued to be a Jain temple till the latter half of the 16th century during when it had received donations from the Travancore king.... This temple became Hindu in its nature and worship subsequent to the reign of Udaya Marthanda Varman (Nair 1986: 168). There were six images of Jain Thirthankars in this temple.

Both Jainism and Buddhism had begun to wane in Kerala in the 9th century A.D., and by the end of the 12th century the eclipse was almost practically total. Jainism seems to have completely disappeared from Kerala by the 16th century. The foreign visitors from Europe do not mention the Jains in their travelogues. One lasting contribution of Jainism to Kerala is that the architecture of the Hindu temples and the Muslim mosques of North Malabar were influenced by the architecture of the Jain temples. While Jainism did hardly leave any impression on Kerala society other than the temple architecture, Buddhism was absorbed in Hinduism in respect of some of its ceremonies and forms of worship. The main vestiges of Jainism in Kerala today are the Jain shrines at Kallil Mundur, Palghat and Sultan's Battery. Besides these, some old Jain families live in the Waynad and Kasargod area in north Kerala. There is a five hundred years old Jain temple in Palakkad which was renovated in 1993. It is dedicated to Bhagwan Neminath and is located near the railway station.

Perhaps it would not be out of place here to mention the existence of Nam Dhari Jains in South India. Like the Saraks of Eastern India, there is a sizeable community of Nam Dhari Jains in South India, in south Karnataka, Tamil Nadu, and Kerala. They put a big 'Tikka' on their forehead called "Nam". Hence they are known as "Nam Dhari". They are vegetarians. In ancient times they were followers of Jainism but then they got converted to Hinduism. According to jainsamaj.org/magazine (May 2006), in the old documents of their forefathers their religion is written as Jain. With the initiative of Bhattarak Shree Bhuvan Bhanu Keerti, the chief of Kanakgiri Jain Bhattarak Peeth, many of them are now returning back to Jainism. In their villages Jain community is helping them for their education and employment. Jain temples are being built in each of their villages.

Other Jains in the area are also making matrimonial realations with them.

According to Anthropological Survey of India's "People of India" Project Report, "In Kerala the Jains are locally known as Jainar or Jainanwar. They belong to the Digambara sect and are concentrated in Wyanand and kasargod districts. They speak the Kannada language and use the Kannada script for intra-group communication. They are pure vegetarian and their dress is similar to other local communities of the area. They have three sub-group: the Brahmin Jain or Purohit Jain who use the title Swamy and perform all priestly funcitons: the Vaisya Jain refered to as Tarakan are traders by tradition and use the title Shettur: the Kshatriya Jains referred to as Gouders were the warriors" (Singh 1998: 1336). For a significant number of Jains "coffee plantation is the chief source of income. They have good access to daily market in the neraby towns and transactions are done in cash" (Singh 1998: 1337).

Although the Digambar Jains constitute a majority in Kerala, a very small number of Swetambar Families too have been residing in most other cities and towns of Kerala. A significant concentration of them is found in Ernakulam where about 80 Swetambar Jain Families with a combined strength of around 350 members have been residing. Many of them had settled in the 1970s whereas some others had migrated there from Kutch in Gujarat as early as 1932. They are organized under the asociation Shri Swetambar Jain Murtipujak Sangh, Ernakulam.

Any account of Jains in Kerala will not be complete without mentioning the name and work of author, political leader and parliamentarian Shri Veerendra Kumar, a former Member of Parliament and Union Minister. Born at Kalpattan in Waynard district on 22nd July 1936, Veerendra Kumar earned his M.A. degree in Philosophy from Madras Vivekanand College and a MBA from the US. He is the Chairman and Managing Director of Mathrubhoomi Printing and Publishing Company Ltd, Kozhikode for the last 18 years. The Comany publishes a very popular and influentioal daily newspapaer by the sam name from Khozicode, Kannur and Kottayam.

Veerendra Kumar inherited politics from his father who was a prominent socialist leader in Kerala. Veerendra Kumar served as national secretary of the Socialist Party and state president of the Janata Dal. He was elected to the state legislative assembly and later on to the Lok Sabha from Kozikode. He served as the Minister of State for finance in the Deva Gouda Ministry, and the Minister of State for employment in the I. K. Gujral Ministry.

A well-known writer in Malayalam literature, Veerendra Kumar is also proficient in English and Kannada languages. married with three daughters and a son, Mr. Kumar has been steering the socio-cultural and political scenario of kerala for a long lime. Besides Mathribhumi he is also the publisher of a number of magazines in the fields of sports, health, films, career guidance, life style, etc. He also runs a number of educational instiutions in Calicut, Cochin and Thiruananthapuram. His son Shreyas Kumar is a member of the Kerala Legislative Assembly.

Jain Population in Kerala

Since the ancient times, the population of Jains in Kerala has always been small compared to other South Inidian states. Thus as late as in 1951 there were only 1,398 Jains in Kerala, Their numbers increased to 2,967 in 1961, 3,336 in 1971 and 3,605 in 1981. The last figure represents a slight decrease in the Jain population in Kerala during the 1970s. Almost negligible increase was recorded between 1981 and 1991 with the figure of 3,641 in 1991. But it was significant during the period 1991-2001 reaching the figure to 4,528 the highest level in modern era of Kerala,s history.

The State of Kerala has the smallest Jain population in South India: only 4,528 as per the 2001 census of India. The population is almost equally divided into males (2,268) and females(2,260), giving rise to a balanced sex ratio. In terms of residence, a little more Jains live in towns and cities (2,328) than in rural areas (2,200). The 2001 census enumerations in Kerala further suggest that 21.0 per cent of Jain population in Kerala is cultivations, another 7.7 per cent of them are agricultural workers, 3.6 per cent are househodl industry workers, and over two-third of the Jain population in Kerala is occupationally engaged in services, professions and trade and commercial activities, etc.

Table: 1
Population of Jains in Kerala, 1951-2001

1951	1961	1971	1981	1991	2001
1,388	2,967	3,336	3,605	3,641	4,528

Source: Census of India 2001, First Report of Religious Data, Registrar General Office, New Delhi, 2005, p.xxxvi.

Table: 2
Jains in Kerala: Select Demographic Indicators, 2001

	India	Kerala
Total Population	1,029million	31.8million
Jain Population	4,225,053	4,528
Proportion Population	0.4%	0.14
Sex Ratio	940	996
Sex Ratio (0-6 years)	870	845
Proportion of Child Population in age group (0-6)	10.6	9.7
Literacy Rate	94.1	95.5
Female Literacy Rate	90.6	93.4
Work Participation Rate	32.9	36.0
Male Work Participation Rate	55.2	59.7
Female Work Participation	9.2	12.3

Source: Census of India 2001, First Report of Religious Data, Registrar General Office, New Delhi 2005.

Jains in Kerala presently display a very healthy sex ratio in the state. The literacy and work participation rates are also better compared to those for jains in many other states in India. However, two demographic indicators, namely the sex ratio in the 0-6 years age group, and the proportion of child population in age group 0-6 years clearly suggest that there is a serious imbalance in the child sex ratio in Kerala of Jain population. At the same time the Jain population in Kerala is also exhibiting a tendency of lower birth rate that does not augur well for the future of the community.

Reference:

1. Census of India 1991 paper No. I of 1995, Religion, R.G. Office, New Delhi.
2. Census of India 2001 First report of Religion Data, R. G. Office, New Delhi, 2005

3. Nair, Adoor K. K. Ramchandam, Gazetteer of India: Kerala State gazetteer, Vol. II. Government of Kerala, Trivandrum, 1986.
4. Raghav Varier, M. R., Jainism in Kerala. M. Phil. Dissertation. Centre for Historical Studies, School of Social Sciences, Jawaharlal Nehru University, New Delhi, 1979
5. Sangave, V A., Aspects of Jaina Religion. Fifth Edition, Bhartiya Jnanpith, New Delhi, 2006
6. Singh, K. S. "Jain"; pp. 1327-1338, India's Communities, H-M (people of India National Series Vol. V). Anthropological Survey of India and Oxford University Press, Delhi, 1998.

F-109, East of Kailash
New Delhi- 110 065
pcjain1@hotmail.com

Corpus Cundacundae

By Prof. Natalia

This book is the first research essay in the Russian Indology, dedicated to Kundakunda's doctrine- one of the most authoritative representatives of the Digambara trend of the Jainism. Jain tradition attributes to Kundakunda, or Kundakundacharya, about 84 treatises, which I unite under the term **Corpus Cundacundae**. In this book all texts of the Corpus Cundacundae are considered as an united entity (because the Jain tradition takes them as one author's treatises). But at the same time I understand clearly that probably all these text belonged to different authors and even compiled in different ages. The analysis of Kundakunda's doctrine is based on 4 main philosophical and religious texts: **Pravacana-sara**- "Essence of the doctrine's exposition", **Pancastikaya-sara**- "Essence of the doctrine's of five extended substances"; **Niyama-sara**- "Essence of the abstinence's doctrine", **Samaya-sara**- "Essence of the Teaching".

The monograph is devoted to examining a number of problems related to the Corpus Cundacundae: (1) the proper names under which the Digambara teacher is known in the Jaina tradition" (2) the traditional lives of Kundakunda in the two extant versions; (3) the teachers' tradition of Kundakunda, connected with **Bhadrabahu**, the last jaina "master of the scripture;" (4) the dating of the life and activities of Kundakunda himself, where, based on an analysis of the scholarly literature on the history of Jainism, the author provisionally singles out two "strategies," within the frame work of which attempts can be made to establish the probable date of Kundakunda. The *First approach* is based on the analysis of historical, including epigraphical, materials: the earliest mentions of Kundakunda, lists of teachers, the commentatorial tradition, etc. This "strategy" is adhered to by the overwhelming majority of historians of Jainism when they make attempts to substantiate their hypotheses. Within the framework of this "strategy" based on the study of sources external in relation to Kundakunda himself- one may make the cautious supposition that the time of Kundakunda's flourishing was approximately the 2nd-3rd cc. A.D. The *second approach* is based on the analysis of texts attributed to Kundakunda himself. This "strategy" finds its partial reflection in the works

of W. Schubring, A. N. Upadhye and W. J. Johnson. It should be pointed out here, however, that not a single student of Jainism has undertaken a full-fledged text-critical investigation of all the works attributed to Kundakunda. Therefore the conclusions possible within the framework of this "strategy" are very tentative, as they are only based on the study of a few separate texts by the Digambara author.

It is quite evident that the analysis of the historical data extant today can only enable us to make the conclusion about the existence of a teachers, tradition associated with Kundakunda, to whom the authorship of a group of religious-philosophic treatises in Prakrit came to be attributed later in the Digambara branch of Jainism. Answering the question whether these works belong to the "pen" of the renowned teacher Kundakunda or they are the fruit of the labours of a later author (or even several authors) will be only possible after the careful philological analysis of the whole group of treatises and comparing them with other texts, both from the Jaina tradition itself and from the other trends of Indian philosophical thought that were engaged in polemic with it.

The major part of this research work is dedicated to analysis of the categorial system of Jain ontology, epistemology and ethics as they are represented in Kundakunda's treatises. At the same time methods and ways of the description of reality are considered too. It is an illustration of my thesis that in Kundakunda's works we deal with the great philosophical doctrine having developed system of categories and methods of investigation and explanation of the reality, for example, *two truths doctrine*. According to this theory reality can be treated from two completely different points of view. One of them is true, pure (**nischay, suddha naya**) while the other is practical, impure (**vyavahara, asuddha naya**). The problem is that interprets the theory of two truths in two different ways. On the one hand, the eternal verity can't be comprehended without the practical truth. On the other hand, the same practical truth is considered to be false. In order to explain this contradiction we should take into account that the only treatise dealing with the most paradoxical conclusions of the *two truths doctrine* is **Samayasara** (Essence of Teaching). Its analysis shows that this work formally and substantially differs from the other works believed to be written by Kundakunda. So some parts of Samayasara may be written (or arranged) by another author. But there may be another solution to the problem discussed. We may apply the main principles of two truths doctrine to the theory itself. We may sup-

pose that from the practical point of view two approaches to the reality are necessary but in fact only the pure point of view is true. Application of this methodology to the description of interrelations of two absolutely ontologically different substances: karmic matter (**karmapudgala**) and soul (**jiva**) leads the author of *Corpus Cundacundae* to the fundamental conclusion that karmic matter joins and binds soul only on the level of the ordinary practice. But from the real point of view this assumption of the connection of the soul and matter is error and delusion of soul, soiled by passions.

By this way Kundakunda tries to prove the idea that karma is neither absolutely identical to the matter, nor completely different from it (thesis "identity-in-difference"). From this affirmation two conclusions follow. Firstly, soul by its own nature does not belong to the exclusive circle of births and deaths because **samsara**- self-reproducing system of the delusions: wrong ideas and beliefs produce wrong states of the consciousness. These untrue conditions in their turn produce influx of karmic matter into the soul and et cetera. Secondly, connection between soul and karma destroys as soon as soul realizes that binding ignorance is the delusion of true nature of the relationship (more correctly, absence of it) between two substance. In other words, for binding is an error or delusion of consciousness so karma does not explain anything in cause-consequence chain. In *Corpus Cundacundae* Path of Liberation is considered not only as ascetic practice which includes different psychophysical trainings, rituals and ceremonies but at the same time realizing of the soul of its own pure nature.

Kundakunda's theoretical approach to formulation of basic theses and principal ideas have played a significant role in the comprehension of **Mahavira's** doctrine. We may consider Kundakunda as one of the first (together with (**Umasvati**) Jain thinkers, who has set about the task of conceptualization of problematical field of Jain philosophy. The Kundakunda's ideas about the nature and attributes of spiritual substance and the methods, by which we can describe the substantial base of reality, have been in use as a fundament of the building of Jain universe for future Jain philosophers.

The monograph is concluded with translation from Prakrit and Sanskrit versions of four Kundakunda's treatises, of **Umasvati** "**Tattvartha-adhigama-sutra**", Indices of Notions, Names, Texts and Bibliography.

BOOK REVIEW

*I EDITON 1922, REPRINT 2010, PAGES-394, PRICE-600,
THE BOOKS IS AVAILABLE AT VIR SEWA MANDIR
ISBN NO- 978-81-7722-031-0*

CONFLUENCE OF OPPOSITES

-by Champat Rai Jain

"Confluence of opposites" by Barrister C. R. Jain is a scientific study of comparative religions-of Hinduism, Christianity, Islam and Jainism. He was convinced that all these religions contain the same tenets, the same doctrines, and the same instructions: but it requires a regular study of Religions as a Science and of the poetical style of the compositors of the sacred works to understand this unity.

As time passed, the knowledge and wisdom of the sacred books was expressed in metaphorical thought by Hindus, Parsis, Jews, Christians and Mohammedans. They went on allegorizing the doctrines of the spiritual science regardless of consequences. The author says that as no one is born with an understanding of allegories therefore soon the real purpose of these poetical pictures became unintelligible to men. Ignorant of true meaning these allegories and the mythological compositions of sacred books were interpreted literally. This book is a collection of 13 lectures turned into 13 chapters. These chapters are connected with each other. In chapters I to IV, The author argues that Comparative religion is a science. He analyses that important tenets of Jainism, Vedism, Hinduism, Buddhism, Christianity & Islam and undertakes their comparative study with unbiased mind. In chapter IV, he discusses the religious metaphysics of six Hindu schools. He argues that there is a failure of scholars to unravel mythological thought. So he unravels the mystery of Muslim allegories in chapter V. He gives solution to Hindu allegories in chapter VI, Jewish allegories in chapter VII and Christian allegories in chapter VIII. In rest of the chapters he discusses the concept of God, their rituals and practices and gives his summary and conclusions.

The author argues that prayer, pilgrimage, meditation, and purification are common in all religions. The differences among religions are only at outwardly level. But when ancient mythological scriptures of Hinduism, Islam and Christianity are analysed scientifically, by deciphering the

differences disappear and true spiritual signi-ficance gets revealed in eternal splendour. Most of the allegories which hide their true meaning from the common man have been decoded by the author in this book providing the real key of knowledge in your hands. I give some of the interesting examples- Krishna denotes Divine Ideal: Gopi (the soul): Ganesh riding a rat (symbol of cutting and analysis-Discrimination) and Ekadanta of Ganesh (Monistic view of God): Surya (Omniscience), Indra (Ego), Agni (Tapas): Rama (Divine Knowledge), Lashmana (Discrimination), Shatrughna (Meditation), Bharata (Renunciation), Sita (Divine Tranquility or bliss), Bow (Ego), Narada (Detached Action), Garden of Eden (attributes of Soul), Adam (Individual ego), Eve (sensual pleasure). Thus there is a narrative description of a subject under the guise of another having similarities. These are some of the examples given in the book.

In the present work the author argues that the apparently conflicting religions can be reconciled by Jain principle of ANEKANTAVADA (many sidedness or non-absolutism). A non-Jaina thought would insist on the truth of his own faith EKANTAVADA (Absolutism or one sidedness) and would absolutely deny the validity of an opposite view. The Jain view would actually go out in search of the point of view from which the opposite view might be maintained. Jain Siddhanta presents a very happy agreement among all religions by applying the principle of mutual tolerance.

Some of the matter dealt in this book has already appeared in 'key of knowledge' and in 'Gems of Islam' (in 2 parts) by the same author. First edition of the present book was published in 1922. The book has been out-of-print since long. Even today reading this book is a literary delight. The book is really an ocean of wisdom. Reading this book in itself is a life time experience.

-Prof. M. L. Jain
(Advisor-Academics)
prof.m.1.jain@gmail.com

मूल जैन-संस्कृति : अपरिग्रह एक समीक्षा

-डॉ. कमलेश कुमार जैन

विगत मई (9से 11) मास में मुझे श्री गणेश वर्णी दि० जैन संस्कृत महा-विद्यालय, सागर (म.प्र.) के शताब्दी समारोह (सन् 1905 से 2005) में जाने का अवसर प्राप्त हुआ। वहाँ मुझे श्रीमान पं. पद्मचन्द्र शास्त्री (वीर सेवा मंदिर, नई दिल्ली) द्वारा लिखित एक लघुपुस्तक मिली है जिसका नाम है- **मूल जैन-संस्कृति: अपरिग्रह**। उक्त पुस्तक का यह तृतीय संस्करण है, जो वीर सेवा मंदिर, 21, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002 द्वारा अभी सन् 2005 में प्रकाशित किया गया है, जिसका मूल्य स्वाध्याय है।

लेखक पं. पद्मचन्द्र शास्त्री ने पुस्तक के प्रारंभ में -‘समर्पण’ शीर्षक में लिखा है कि- “हम इकट्ठा करने में (लगे) रहे और सब कुछ खो दिया- यह एक ऐसा सत्य है जिसे लाखों-लाख प्रयत्न के बाद भी झुठलाया नहीं जा सकता। हम जैसे-जैसे जितना परिग्रह बढ़ाते रहे वैसे- वैसे उतना जैन हमसे खिसकता गया और आज स्थिति यह है कि हम जैन होने के साधनभूत श्रावकोचित आचार-विचार में भी शून्य जैसे हो गये।”

आगे वे लिखते हैं कि- “आत्मा की कथा करने वाले बड़े-बड़े वाचक भी परिग्रह-संचयन में लगे रहे और वे भी अहिंसा, दान आदि के विविध आयामों से विविध रूपों में परिग्रह-संचयन और मान-पोषण आदि में लीन रहे, जिससे वीतरागता का प्रतीक ‘अपरिग्रहत्व जैनत्वं’ लुप्त होता रहा।”

आदरणीय पण्डित जी का यह कथन हमें सोचने के लिए बाध्य करता है। क्योंकि अभी तक हम जैन-संस्कृति का मूल पञ्च पापों में प्रथम पाप हिंसा के विरोधी अहिंसा को ही मानते रहे हैं और शेष चार पापों- झूठ, चोरी, कुशील तथा अपरिग्रह के विरोधी-सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह को अहिंसाव्रत के पालन में सहयोगी। अब तक मुख्य रूप से अहिंसा को ही केन्द्र बिन्दुओं में रखकर प्रायः विचार किया जाता रहा है और इसे ही जैनधर्म का प्राण भी माना गया है। सत्य और तथ्य भी कुछ ऐसा ही है। क्योंकि पञ्च व्रतों में से किसी एक व्रत का भी पूर्णतया पालन करने से अहिंसा महाव्रत की प्रतिष्ठा स्वतः हो जाती है। अर्थात् जो पूर्ण अचौर्यव्रत का पालन करेगा, वह अहिंसक होगा। जो पूर्ण ब्रह्मचर्यव्रत (शीलव्रत) का पालन करेगा, वह अहिंसक होगा। जो पूर्ण अपरिग्रहव्रत का पालन करेगा, वह अहिंसक होगा। मैं समझता हूँ कि इसीलिये आचार्यों ने अहिंसा को प्रथम स्थान दिया है।

यद्यपि पाँच पापों के त्याग रूप पांच व्रतों में से किसी एक को केन्द्र-बिन्दु में रखकर शेष चार व्रतों को सहायक के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। इसमें कोई कठिनाई

भी नहीं है, किन्तु यह सब व्याख्या-सापेक्ष कथन होगा। अर्थात् हम सत्यव्रत को केन्द्र-बिन्दु में रखकर शेष चार व्रतों को सहायक मानकर भी व्याख्या कर सकते हैं। इसी प्रकार अचौर्यव्रत, ब्रह्मचर्यव्रत और अपरिग्रहव्रत में से भी किसी एक को केन्द्र-बिन्दु में रखकर शेष चार व्रतों को सहायक के रूप में स्वीकार कर सकते हैं और इसमें किसी प्रकार की कोई हानि भी नहीं है, बशर्ते हम लक्ष्यभ्रष्ट न हों। व्याख्या के रूप में हमारी दृष्टियाँ भिन्न-भिन्न हो सकती हैं, किन्तु हमारा लक्ष्य/दृष्य/दर्शनीय एक है और वह है आत्मतत्त्व-दर्शन। इसी आत्मतत्त्व-दर्शन में स्वपर कल्याण निहित है।

आचार में अहिंसा, विचारों में अनेकान्त, कथन में स्याद्वाद शैली और समाज में अपरिग्रह- ये चार हमारी जैन संस्कृति के मूल स्तम्भ हैं और इन्हें यदि हम अपने जीवन में उतार सकें तो सच्चे जैन कहलाने के अधिकारी हो सकते हैं। किन्तु इन चारों में से हमने किसी एक को भी अपने जीवन में पूर्णतः क्या आंशिक भी नहीं अपनाया है। अतः हम कहने मात्र को जैन रह गये और जैनत्व हमसे दूर होता गया।

उपर्युक्त चार स्तम्भ हमारे जैनत्व की कसौटी है, इनके पालन करने में जो खरा उतरा सो सच्चा जैन है। प्रथम तीन का संबन्ध प्रायः व्यक्तिगत जीवन से अधिक है, जबकि चौथे स्तम्भ अपरिग्रह का संबन्ध समाज से जुड़ा हुआ है। समाजदर्शन के बिना व्यक्ति-दर्शन और व्यक्तिदर्शन के बिना समाजदर्शन अधूरा है। व्यक्ति और समाज एक दूसरे पर आश्रित है। इन्हें पृथक्-पृथक् रूप में देखना जैन संस्कृति का अपमान है। फिर भी व्यक्ति-व्यक्ति से मिलकर समाज बनता है, अतः व्यक्तिपरक कार्यों का असर अन्ततः समाज पर पड़ता ही है। इसीलिये समाजशुद्धि के लिये व्यक्तिशुद्धि अपेक्षित है।

इसी व्यक्तिशुद्धि के लिये यदि हम सूक्ष्म दृष्टि से चिंतन करें तो हमें अहिंसा से लेकर अपरिग्रह तक की यात्रा करनी होगी। अर्थात् अहिंसा हमारी यात्रा का प्रथम बिन्दु है और अपरिग्रह अंतिम पड़ाव। अपरिग्रही हुऐ बिना पूर्ण जैनत्व संभव नहीं है। जैसे लोभ कषाय क्रोधादि कषायों का मूल है वैस ही हिंसादि पापों का मूल परिग्रह है। इसलिये अपरिग्रह की कठोर साधना के बिना आत्म कल्याण संभव नहीं है।

उपर्युक्त लघु पुस्तक में पं. पदमचन्द्र शास्त्री ने इन्हीं बिन्दुओं को ससन्दर्भ उजागर करने का सफल प्रयास किया है।

विचारणीय प्रसंग- मूल जैन-संस्कृति अपरिग्रह नामक इसी पुस्तक के अन्त में दो लेखों का समावेश किया गया है, जो क्रमशः 'भरतक्षेत्र के सीमन्धर दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्द' और 'दिगम्बरत्व को कैसे छला जा रहा है' नामक शीर्षकों में निबद्ध हैं। प्रथम लेख में लेखक पं. पदमचन्द्र शास्त्री ने आचार्य कुन्दकुन्द को ही सीमाओं को धारण करने के कारण सीमन्धर सिद्ध किया है। उनका चिन्तन है कि बारह वर्षीय अकाल के कारण शिथिलाचार पनपा और जैनों के दिगम्बर और श्वेताम्बर- ये दो भेद हो गये।

दिगम्बर और श्वेताम्बर के विवाद को सुलझाने के लिये आचार्य कुन्दकुन्द ने पर्याप्त प्रयास किया और इस प्रयास के अन्तर्गत उन्होंने बिखरी हुई मर्यादाओं/सीमाओं की रक्षा की, जिससे वे मूलाचार्य कहलाये तथा हमें कुन्दकुन्दान्वयी होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

पं. पदमचन्द्र शास्त्री का अभिमत है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने वीतराग धर्म की सीमाओं को विलुप्त होने से बचाया है, अतएव सीमाओं को धारण करने के कारण वे स्वयं सीमन्धर थे, किन्तु लोगों ने कल्पना कर डाली कि वे विदेहक्षेत्र के तीर्थाकर सीमन्धर स्वामी के पास गये थे।

अभी तक की यही मान्यता रही है कि आचार्य कुन्दकुन्द विदेहक्षेत्र गये थे और विद्वानों द्वारा इसकी पुष्टि का एकमात्र आधार है आचार्य देवसेन संकलित दर्शनसार की एक गाथा, जो इस प्रकार है-

जड़ पउयणंदिणाहो सीमन्धरसामि दिव्वणणाणेण।

ण विवोहइ तो समणा कहं सुभग्गं पयाणंति॥43॥

इस गाथा की पं. नाथूराम प्रेमी कृत (अथवा परंपरा से प्राप्त) संस्कृतच्छाया इस प्रकार है-

यदि पद्यनन्दिनाथः सीमन्धरस्वामिदिव्यज्ञानेन।

न विबोधति तर्हि श्रमणाः कथं सुमार्गं प्रजानन्ति॥

पं. नाथूराम प्रेमी ने उपर्युक्त गाथा का हिन्दी अनुवाद इस प्रकार किया है-विदेहक्षेत्र के वर्तमान तीर्थकर सीमन्धर स्वामी के समवसरण में जाकर श्री पद्यमनन्दिनाथि या कुन्दकुन्द स्वामी ने जो दिव्यज्ञान प्राप्त किया था उसके द्वारा यदि वे बोध न देते तो मुनिजन सच्चे मार्ग को कैसे जानते ?

इस गाथा टिप्पणी करते हुये पं. नाथूराम प्रेमी ने आज से 88 वर्ष पूर्व जैन हितैषी के मई-जून अंक के पृष्ठ 274 पर 'दर्शनसार विवेचना' शीर्षक के अन्तर्गत लिखा है कि-
“गाथा 43 से मालूम होता है कि कुन्दकुन्द स्वामी के विषय में जो यह किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि वे विदेहक्षेत्र गये थे और वहां के वर्तमान तीर्थकर सीमन्धर के समवसरण में जाकर उन्होंने अपनी शंकाओं का समाधान किया था सो विक्रम की नवमी-दशवीं शताब्दी में भी सत्य मानी जाती थी। अर्थात् यह किंवदन्ती बहुत पुरानी है। इसी की देखा-देखी लोगों ने पूज्यपाद के विषय में भी एक ऐसी ही कथा गढ़ ली।”

पं. नाथूराम प्रेमी हिन्दी साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् थे। उन्होंने अपने पुरुषार्थ से हिन्दी साहित्य का प्रकाशन तो किया ही है, सांगि ही उन्होंने अनेक संस्कृत एवं प्राकृत भाषा आदि के ग्रंथों का संपादन, मुद्रण एवं प्रकाशन किया है। उन ग्रंथों पर यथास्थान टिप्पणियाँ भी की हैं। अतः आदरणीय प्रेमी जी हमारे सम्मान के पात्र हैं। सिरमौर हैं, किन्तु जहां कहीं वे शोध-खोज में चूके हैं तो उनका विस्तृत एवं खोजपूर्ण समाधान वीर सेवा मंदिर के संस्थापक आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार ने समय-समय पर किया है।

दर्शनसार की मूल प्राकृत गाथा 43, उसकी संस्कृतच्छाया और स्वकृत हिन्दी अनुवाद को ध्यान में रखते हुये आचार्य कुन्दकुन्द के उपर्युक्त विदेहक्षेत्र गमन को लेकर आदरणीय पं. नाथूराम प्रेमी ने जो टिप्पणी की है वह एक पक्ष है, किन्तु इतना तो सत्य है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने ग्रंथों में इस घटना का कहीं कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है और न ही कोई अस्पष्ट संकेत दिया है। वे अपने कथन को सुयकेवली भणियं' (श्रुतकेवली

कथितम्) अवश्य कहते हैं। सीमन्धर कथितम्' नहीं। कुन्दकुन्दाचार्य जैसा श्रेष्ठ आचार्य जिसे हम तीर्थंकर महावीर स्वामी एवं गौतम गणधर स्वामी के पश्चात् श्रद्धापूर्वक मंगलस्वरूप स्वीकार करते हैं, अपने परोपकारी विदेहक्षेत्रस्थ विद्यमान बीस तीर्थंकरों में प्रथम सीमन्धर स्वामी को स्मरण न करें यह संभव प्रतीत नहीं होता है। कहीं न कहीं कोई भूल अवश्य है।

एक बात और। संस्कृत पद्यों अथवा प्राकृत गाथाओं की संरचना में शब्दों को आगे-पीछे कहीं भी रखा जा सकता है, किन्तु जब पद्य अथवा गाथा का अर्थ करते हैं तब उन शब्दों को व्यवस्थित। अन्वय करके अर्थ किया जाता है। दर्शनसार की पूर्वोक्त गाथा-जड़ पउमणदिणाहो आदि में 'सीमन्धरसामि' को 'पउमणदिणाहो' को विशेषण मान लें तो यही अर्थ निकलेगा कि- सीमन्धर स्वामी पद्यनन्दि महाराज (कुन्दकुन्दाचार्य) यदि दिव्यज्ञान के द्वारा संबोधन न देते तो श्रमण (साधुजन) सुमार्ग (मोक्षमार्ग) का ज्ञान कैसे प्राप्त करते ?

उस समय परिस्थितियाँ ऐसी हो गई थीं कि सब कुछ गड़मगड़ हो गया था, ऐसे समय में सीमाओं/ मर्यादाओं को धारण करने/ कराने में समर्थ कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने दिव्यज्ञान से संबोधित कर श्रमणों को मोक्षमार्ग में लगाया था।

जो कुछ भी हो, पर इतना अवश्य है कि पं. नाथूराम प्रेमी ने जब दर्शनसार की उक्त 43वीं गाथा का हिन्दी अनुवाद किया होगा तो उनके मन में जाने-अनजाने कुन्दकुन्दाचार्य के विदेहक्षेत्र गमन की किंवदन्ती अवश्य काम कर रही होगी और तदनुकूल उन्होंने हिन्दी अर्थ कर दिया तथा उस पर अपनी टिप्पणी भी लिख दी।

पं. पदमचन्द्र शास्त्री ने सीमन्धर स्वामी को पद्यनन्दिनाथ का विशेषण बनाकर जो अर्थ किया है उसको भी प्रथम दृष्ट्या झुठलाया नहीं जा सकता है।

संयम धारण किये बिना सवस्त्र मुक्ति प्राप्त करने के उद्देश्य से सही किन्हीं को यदि कुन्दकुन्दाचार्य का विदेहक्षेत्र गमन इष्ट हो तो इससे लौकिक अभीष्ट की सिद्धि हो सकती है, प्रसिद्धि भी हो सकती है, किन्तु पारमार्थिक सिद्धि न तो अभी संभव है और न कभी संभव होगी।

अतः विद्वानों से मेरा विनम्र अनुरोध है कि वे इसे विवाद का विषय न बनायें, अपितु शोध का विषय बनाये और निष्पक्ष दृष्टि से विचार कर तथ्यों को ग्रहण करें।

- प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
जैन-बौद्धदर्शन विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी (उत्तरप्रदेश)

सामान्य विशेषात्मक वस्तु की श्रद्धा सम्यक्दर्शन है

- बाबूलाल जैन

वस्तु सामान्य विशेषात्मक है। सिर्फ सामान्य या सिर्फ विशेष को होना असंभव है। वस्तु सामान्य रहित विशेष नहीं हो सकती और विशेष रहित मात्र सामान्य भी नहीं होती। फिर भी सामान्य विशेष नहीं होता और विशेष सामान्य नहीं होता। वस्तु का सामान्य अंश जहाँ एक और द्रव्यार्थिकनय या द्रव्यदृष्टि का विषय है, वहीं दूसरी ओर वस्तु की लगातार बदलती अवस्थाएं, पर्याय या विशेष पर्यायार्थिकनय या पर्यायदृष्टि के विषय हैं। इस प्रकार ये दोनों ही प्रतिपक्षीनय या दृष्टियाँ वस्तु के सामान्य व विशेष करती हैं। जबकि नयों या दृष्टियों के पक्ष से रहित प्रमाण का विषय सर्वदेश अथवा संपूर्ण वस्तु है और वही प्रमाण का विषय सम्यक्ज्ञान है।

आत्म वस्तु के मात्र सामान्य अंश का अथवा विशेष अंश का ज्ञान और श्रद्धान कभी भी संपूर्ण वस्तु का ज्ञान श्रद्धन नहीं होता है। सामान्य ज्ञान विशेष के ज्ञान बिना अधुरा है, सम्यक् नहीं, और विशेष का ज्ञान सामान्य के ज्ञान बिना अधुरा है, सम्यक् नहीं। दोनों ही एक दूसरे से निरपेक्ष होकर सम्यक् नहीं होते हैं। मात्र पर्यायदृष्टि का ज्ञान पर्यायमूढ़पना है। इसी प्रकार मात्र द्रव्यदृष्टि का ज्ञान द्रव्यमूढ़पना है।

जहाँ भी शास्त्रों में भगवान आचार्यों के द्वारा यह कहा गया है कि द्रव्यदृष्टि का श्रद्धान करना सम्यक्त्व है वहाँ निश्चयपूर्वक यह समझना चाहिए कि यह कथन पर्यायमूढ़ को लक्ष्य करके कहा गया है। जो पर्यायमूढ़ थे उनको द्रव्यदृष्टि के सम्यक् एकान्त द्वारा द्रव्य के सामान्य विशेषात्मक श्रद्धान करने के लिए उपदेश दिया गया है। यह कथन प्रतिपक्षी नय से निरपेक्ष नहीं है।

पर्यायदृष्टि के विषय की मिथ्यादृष्टि की मान्यता-

- (1) शरीर आत्मा में एकपना
- (2) रागादिभावों में अपना स्वभावपना
- (3) द्रव्यकर्म के साथ कर्ताकर्मपना (उपादपना)
- (4) बाहरी निमित्तों में कर्तापना
- (5) संयोगी वस्तुओं में एकत्व बुद्धि (जो अहंकार को पुष्ट करती है)

द्रव्यदृष्टि के विषय की मिथ्याश्रद्धानी की मान्यता-

- (1) पर्यायदृष्टि के वस्तु अंश को असत्यार्थ मानना
- (2) रागद्वेषादिक भावों से रहित अपने को मानना
- (3) शरीर के सत्य संयोग को न मानना
- (4) द्रव्यकर्म के साथ निमित्त जैमैत्तिक संबंध भी न मानना
- (5) बाहरी निमित्तों को साधन भी न मानना।

सही सम्यक्त्व मान्यता-

- (1) शरीर आत्मा में एकत्वपना नहीं, संयोग मानना
- (2) रागादिभाव आत्मा का विभाव है, स्वभाव नहीं है।
- (3) कर्म के निमित्त- नैमित्तिक संबंध मानना, कर्ताकर्म संबंध न मानना।
- (4) बाहरी निमित्त साधन हो सकता है कारण नहीं है।

द्रव्यदृष्टि विषय की एकान्त मान्यता तो यह जीव किसी दूसरे का एकान्त उपदेश पाकर करता है। आचार्यों का उपदेश जो सम्यक् एकान्त की दृष्टि से दिया गया है उसे एकान्त रूप मान लेता है। पर्यायदृष्टि विषयवस्तु अंश को वहां अभूतार्थ भी कहा है— क्योंकि द्रव्यदृष्टि के विषय के अन्तर्गत पर्यायदृष्टि के विषय का अभाव है। इसलिए रागादि, शरीरादि समस्त संयोगों को आत्म स्वरूप न होने से अभूतार्थ सत्यार्थ कहा है। यह पर्यायदृष्टि से भी उन संयोगों को, निमित्त-नैमित्तिक संबंधों को मंजूर नहीं करता है।

पर्यायदृष्टि का एकान्त तो जन्म-जन्मांतर से चला आ रहा है। शरीर आत्मा में एकपना होने से सभी शरीर संबंधी संयोगों में भी एकपना आ जाता है। उनके नाश से अपना नाश उनकी उत्पत्ति से सअपनी उत्पत्ति मानता है। समस्त संयोगों को इष्ट अनिष्ट मानकर रागद्वेष करने का अभिप्राय बनाये रखना है।

द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु कीरसही श्रद्धा होने से जब द्रव्य स्वभाव में एकत्वपना आता है तब पर्याय के साथ एकत्वपना नहीं रहता। जब स्वभाव में नित्यपना आता है तब पर्याय के साथ नित्यपना नहीं रहता। जब स्वभाव में नित्यपना आता है तो विभाव में अनित्यपना आ जाता है। जब स्वभाव को ध्रुव मानता है तो पर्याय अध्रुव हो जाती है। इस प्रकार द्रव्य-पर्याय की सापेक्षता बनती है। मात्र पर्याय को अनित्य मानने पर भी वास्तविक अनित्यपना नहीं आयेगा। वह तो स्वभाव को नित्य मानने पर ही पर्याय का अनित्यपना निश्चित होगा। दोनों की तो स्वभाव को नित्य मानने पर ही पर्याय का अनित्यपना निश्चित होगा। दोनों की ऐसी सापेक्षता है कि स्वभाव की सही श्रद्धा करे तो पर्याय की सही श्रद्धा हो।

अध्यात्म चरणानुयोग की एकता-

चरणानुयोग का समूचा कथन बाहरी साधन का विषय है। उसको साधन तो मानना चाहिए। कारण मानना चाहिए। साधन नहीं मानेंगे तो उसका अवलम्बन नहीं लेंगे और कारण मानने पर उससे कार्य उत्पन्न होना ही चाहिए जबकि ऐसा नहीं है। साधन उसे कहते हैं जिसका अवलम्बन लेकर हम पुरुषार्थ करके कार्य करें। कारण उसे कहते हैं जो कार्य उत्पन्न कर दे। जैसा अमृतचन्द्र स्वामी ने प्रवचनसार के चरणानुयोग अधिकार के शुरु में लिखा है। उन्होंने सम्यक्दर्शन-सम्यक्ज्ञान-सम्यक्चारित्र्य व सम्यक् तप के समूचे व्यवहार को साधन मानकर उसका अवलम्बन लेकर पुरुषार्थ पूर्वक अपने आत्म-स्वभाव में लगने को मंजूर किया है।

यह द्रव्यदृष्टि का ही प्रताप है कि उसके द्वारा जीव को अपनी पर्याय में होने वाली पराधीनता का सही ज्ञान होता है। इसलिए द्रव्यदृष्टि के विषयभूत वस्तु के ज्ञान के साथ साथ, इस जीव को पर्यायदृष्टि की अपेक्षा अपनी हीनता, अपना विकार दिखाई न दे तो इसके द्रव्यदृष्टि विषय ज्ञान को सही नहीं कहा जायेगा। अपनी पर्याय की हीनता दूर करने के लिए एक ओर जो अवलम्बन उस हीनता को बढ़ाने में साधन है उससे हरना चाहिए और ऐसे साधनों में लगना जरूरी है।

-बी-137, विवेक विहार

दिल्ली- 110095

Year-63, Volume-3
July - September 2010

RNI No. 10591/62
ISSN 0974-8768

अनेकान्त

(जैनविद्या एवं प्राकृत भाषाओं की त्रैमासिक शोध पत्रिका)

ANEKĀNTA

(A Quarterly Research Journal for Jainology & Prakrit Languages)

सम्पादक

डॉ. जयकुमार जैन, मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)

Editor

Dr. Jaikumar Jain, Muzaffarnagar (U.P.)

Mobile : 09760002389

वीर सेवा मन्दिर, नई दिल्ली-110 002

Vir Sewa Mandir, New Delhi-110 002

अनेकान्त

ANEKĀNTA

(जैनविद्या एवं प्राकृत भाषाओं की त्रैमासिक शोध पत्रिका) (A Quarterly Research Journal for Jainology & Prakrit Languages)

संस्थापक

Founder

आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

Acharya Jugalkishor Mukhtar 'Yugveer'

सम्पादक मण्डल

Editor

प्रो. फूलचन्द जैन 'प्रेमी', वाराणसी

Prof. Phoolchand Jain 'Premi', Varanasi,

प्रो. कमलेश कुमार जैन, वाराणसी,

Prof. Kamlesh Kumar Jain, Varanasi,

प्रो. उदयचन्द जैन, उदयपुर

Prof. Udaychand Jain, Udaipur,

डॉ. हुकुमचन्द जैन, दिल्ली

Dr. Hukumchand Jain, Delhi,

प्रो. एम.एल. जैन, नई दिल्ली

Prof. M.L. Jain, New Delhi

सदस्यता शुल्क/ Subscription

एक अंक-रुपये 20/- वार्षिक - रु. 80/-

This issue - Rs. 20/- Yearly - Rs. 80/-

सभी पत्राचार पत्रिका एवं सम्पादकीय हेतु पता -

वीर सेवा मंदिर (जैन दर्शन शोध संस्थान)

21, अंसारी रोड दरियागंज, नई दिल्ली-110 002.06

All correspondence for the journal & editorial on-

Vir Sewa Mandir (A Research Institute for Jainology)

21, Ansari Road, Daryaganj, New Delhi-110002.06

फोन नं. 011-30120522, 23250522, 09311050522

e-mail-virsewa@gmail.com

विद्वान् लेखकों के विचारों से सम्पादक मंडल का सहमत होना आवश्यक नहीं है। लेखों में दिये गये तथ्यों और सन्दर्भों की प्रामाणिकता के संबंध में लेखक स्वयं उत्तरदायी हैं सभी प्रकार के विवादों का निपटारा दिल्ली न्यायालय के अधीन होगा।

संबोधन

कहा परदेसी को पतियारो।
मन मानै तब चलै पंथ कों, साँझि गिनै न सकारो।
सबै कुटुम्ब छाँड़ि इतही, पुनि त्यागि चलै तन प्यारो॥1॥

दूर दितावर चलत आपही, कोउ न राखन हारो।
कोऊ प्रीति करौ किन कोटिक, अंत होयगो न्यारो॥2॥

धन सौं रुचि धरम सों भूलत, झूलत मोह मझारो।
इहि विधि काल अनन्त गमायो, पायो नहिं भव पारो॥3॥

सांचे सुख सौं विमुख होत हैं, भ्रम मदिरा मतवारो।
चेतहु चेत सुनहु रे 'भैया' आप ही आप संभारो॥4॥
कहा परदेसी को पतियारो॥

गरब नहिं कीजै रे ए नर निपट गँवार।
झूठी काया झूठी माया, छाया ज्यों लखि लीजै रे।
कै छिन साँझ सुहागरु जोबन, कै दिन जग में जीजै रे॥
बेगहि चेत बिलम्ब तजो नर, बंध बढै थिति कीजै रे।
'भूधर' पल-पल हो है भारी, ज्यों ज्यों कमरी भीजै रे॥

- कविवर भूधरदासजी

विषयानुक्रमणिका

विषय	लेखक का नाम	पृष्ठ संख्या
संबोधन	-	3
विषयानुक्रमणिका	-	4
1. आस्रव स्वरूप और कारण	- डॉ. श्रेयांस कु. जैन	5-15
2. जैन वाङ्मय को उनका अवदान	- डॉ. आनन्दकुमार जैन	16-21
3. प्राचीन ग्रन्थों के आलोक में वर्तमान कर-व्यवस्था	- डॉ. अरुणिमा जैन	22-26
4. सर्वार्थसिद्धि में वर्णित नय विमर्श	- डॉ. नरेन्द्र कुमार जैन	27-38
5. श्रावक और गुणव्रत	- डॉ. सारिका त्यागी	39-47
6. जैनधर्म में वर्णित अहिंसा: गृहस्थ के परिप्रेक्ष्य में	- अमित कुमार जैन	48-52
7. वैदिक आचार और जैन आचार	- डॉ. जय कुमार जैन	53-64
8. स्वरूप संबोधन में आत्मा का विधि-निषेध और मूर्तत्व-अमूर्तत्व	- डॉ. कमलेश कुमार जैन	65-69
9. दुःख का विवेचन: जैनाचार्यों की दृष्टि में	- कुलदीप कुमार	70-73
10. जैन चम्पू साहित्य और उसका वैशिष्ट्य	- प्रो. भागचन्द जैन 'भागेन्दु'	74-84
11. धर्म स्वरूप	- डॉ. उदयचन्द्र जैन	85-93
12. पुस्तक समीक्षा	- डॉ. अनेकान्त कुमार जैन	94-96

आस्रव स्वरूप और कारण

-डॉ. श्रेयांस कुमार जैन

संसार-भ्रमण के प्रमुख हेतु आस्रव और बन्ध हैं। कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है। इसलिए संसाररूपी कार्य को जानने के लिए उसके कारण आस्रव एवं बन्ध को जानना आवश्यक है। आस्रव पूर्वक बन्ध होता है आस्रव को समझने के लिए आस्रव के कारणों पर विचार किया जा रहा है। गीले वस्त्र में आने वाली धूल की तरह कषाय के कारण आत्मा में कर्मों का चिपकाव होता है। गीला कपड़ा जैसे हवा के साथ लाई गई धूल को चारों ओर से चिपटा लेता है उसी प्रकार कषाय से रज्जित आत्मा योग के निमित्त से आई हुई कर्मरज को संपूर्ण आत्मप्रदेशों द्वारा खींच लेता है। इसे दूसरे उदाहरण द्वारा भी समझा जा सकता है जैसे वहि संतप्त लोहे को पानी में डाला जाय तो वह चारों तरफ से जल को अपने में खींचता है उसी प्रकार कषाय से संतप्त आत्मा योग के द्वारा आई हुई कर्मण वर्गणाओं को चारों तरफ से खींचता है। कर्मों का आत्मा द्वारा ग्रहण करना या कर्मों का आकर्षण ही तो आस्रव है।

इसी प्रकार आस्रव को तत्त्वार्थवार्तिककार ने उदाहरण सहित इस प्रकार समझाया है-“तत्प्रणालिकया कर्मास्रवणादास्रवाभिधानं सलिलद्म वाहद्वारवत्। पद्मसरःसलिलवाहि द्वारं तदास्रवकारणत्वात् आस्रव इत्याख्यायते तथा योगप्रणालिकया आत्मनः कर्म आस्रवतीति योग आस्रव इति व्यपदेशमर्हति” अर्थात् जैसे तालाब के जलागमन द्वार से पानी आता है, वह जलागमन द्वार जल के आने का कारण होने से आस्रव कहलाता है, उसी प्रकार योग-प्रणाली से आत्मा में कर्म आते हैं अतः योग को ही आस्रव कहते हैं।

काय, वचन और मन की क्रिया को योग कहते हैं¹। यही योग आस्रव कहा है² मनोवर्गणा, वचनवर्गणा, कायवर्गणा का आश्रय लेकर योग होता है। जो कर्म के आगमन का कारण है उसकी योग संज्ञा है। सभी योगों को आस्रव नहीं कहते हैं। इसी को स्पष्ट करने हेतु आचार्य उमास्वामी ने “कायवाद् मनः कर्म योगः” और ‘स आस्रवः’ दो सूत्रों की रचना की जिनसे ज्ञात होता है कि सभी योग आस्रव नहीं हैं। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए आचार्य भास्करनन्दि ने लिखा है “यदि ऐसा अर्थ इष्ट नहीं होता तो “कायवाद् मनः कर्म योग आस्रवः” ऐसा एक सूत्र बनता और स शब्द नहीं रहने से सूत्र लाघव होता है एव इष्ट अर्थ भी सिद्ध हो जाता है। सभी योग आस्रवरूप नहीं हैं। इसका अर्थ यह है कि सयोगकेवली जब केवली समुद्घात करते हैं तब दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण रूप आत्मप्रदेशों का फैलना होता है, इस क्रिया स्वरूप जो योग हैं, वह कर्मबन्ध का कारण नहीं है। यहाँ प्रश्न है कि सयोगी जिनके उस केवली समुद्घात अवस्था में कर्मबन्ध का

कारण (अर्थात् आस्रव रूप का समय वाला सातावेदनी कर्म के बंध का कारण) कौन होता है? इसका समाधान करते हुए कहा गया है कि काय वर्गणा का आलंबन लेकर जो आत्मप्रदशों में परिस्पन्द हुआ है उस स्वरूप जो योग है, वह सयोगकेवली के समुद्धात काल में बन्ध का कारण है। अतः तीनों योग एक साथ बन्ध में कारण होते हैं ऐसा नहीं है। इस आस्रव व्यवस्था पर जैनाचार्यों ने ही मुख्यरूप से विचार किया है। जैनदर्शन में विशेष वर्णन है जैसे प्रो. योकोबी ने लिखा है कि आस्रव संवर तीनों शब्द जैनधर्म के समान ही प्राचीन है। बौद्धों ने उनमें से अधिक महत्त्व वाले आस्रव को उधार लिया है। वे इसका उपयोग लगभग इसी भाव में करते हैं परन्तु उसके शब्दार्थ में नहीं करते। क्योंकि वे कर्म को एक वास्तविक पदार्थ नहीं मानते हैं और आत्मा को अस्वीकार करते हैं जिसमें आस्रव का होना संभव है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि कर्मवाद जैनों का एक मौलिक व महत्त्वपूर्ण वाद है और वह बौद्धधर्म की उत्पत्ति की अपेक्षा प्राचीन है।

आस्रव तत्त्व का विशद वर्णन संसार व्यवस्था का परिज्ञान का मुख्य कारण है। इसलिए तात्त्विक विवेचना का मुख्य विषय आस्रव है। इसके ज्ञान के बिना कर्मबन्ध से बचना संभव नहीं है यही कारण है कि आस्रव के स्वरूप और कारण पर विचार करना आवश्यक है।

आस्रव में कषाय की भूमिका का महत्त्वपूर्ण स्थान है इसलिए जैनाचार्यों ने कषाय सहित और कषाय रहित जीव की आस्रव व्यवस्था को दिखलाया है। इस विषय में तत्त्वार्थसूत्रकार कहते हैं- सकषाय (कषाय सहित) जीवों के साम्परायिक और अकषाय (कषाय रहित) जीवों के ईर्यापथ आस्रव होता है। स्वामी की विवक्षा से आस्रव की दो प्रकार की प्रसिद्धि है। जो कषाय सहित है वे सकषाय है। इनकी सत्ता दशम गुणस्थान तक है तथा जो- कषाय रहित हैं, वे अकषाय हैं ये दशम गुणस्थान के ऊपर होते हैं। अतः आस्रव के अनन्त भेद होने पर भी सकषाय और अकषाय इन दो स्वामियों की अपेक्षा आस्रव के भी दो प्रकार माने गये हैं- साम्परायिक और ईर्यापथ।

१- साम्परायिक आस्रव-

सम्पराय (संसार) ही जिसका प्रयोजन है, वह साम्परायिक है। क्रोधादिक विकारों के साथ होने वाले आस्रव को साम्परायिक आस्रव कहते हैं। यह आस्रव अनादिकाल से आत्मा में चल रहा है। जब तक कषाय का संबन्ध रहता है तब तक साम्परायिक आस्रव ही होता है। कषाय स्निग्धता का प्रतीक है। जैसे तेल सिक्त शरीर में धूलि चिपककर लम्बे समय तक चिपकी रहती है, वैसे ही कषाय सहित होने वाला यह आस्रव भी दीर्घकाल तक स्थायी रहता है। इसी को भट्टारक अकलंकदेव ने समझाया है कि सम्पराय कषाय का वाची है। मिथ्यादृष्टि से लेकर सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान तक कषाय के उदय से आर्द्र परिणाम वाले जीवों के योग के द्वारा आये हुए कर्मभाव से उपड्विष्यपान वर्गणाएँ गीले चर्म या वस्त्र पर आश्रित धूलि की तरह चिपक जाती हैं, उनमें स्थिति बन्ध हो जाता है, वही साम्परायिक आस्रव है।² यह चार कषायों पांच अव्रतों और सम्यक्त्व आदि पच्चीस क्रियाओं द्वारा जीव निरन्तर करता है।³

२. ईर्यापथ आस्रव-

ईर्यापथ अर्थात् योगगति जो कर्म मात्र योग से ही आते हैं, वे ईर्यापथ आस्रव हैं।¹ सकषाय जीव के साम्प्रदायिक और अकषाय जीव के ईर्यापथ आस्रव होता है। उपशान्तकषाय क्षीणकषाय, क्षीणमोह और सयोगकेवली के योग क्रिया से आये हुए कर्मों का संश्लेषण न होने से सूखी दीवाल पर पड़े हुए धूलि की तरह द्वितीय क्षण में ही झड़ जाते हैं। इस प्रकार की क्रिया ईर्यापथ आस्रव है। कषायों का आस्रव हो जाने के कारण यह दीर्घकाल तक नहीं ठहर पाती। इसकी स्थिति एक समय की होती है। ग्यारहवें से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक के जीव कषाय रहित हैं इसलिए उनके अकषायरूप ईर्यापथ आस्रव होता है।

दोनों प्रकार के आस्रव में से कोई भी आस्रव की सत्ता जीव के सत्ता में पायी जाती है तो वह संसारी ही है। संसार में रहते हुए अघातिया कर्मों की स्थिति शेष रहने के कारण जीव बद्ध होता हुआ भी अबद्ध ही है। संसारी मुक्त होने के कारण सयोग केवली अवस्था सकल परमात्मा के पद को भी प्राप्त रहती है। आस्रव संसार अवस्था तक है। उसके अभाव होने पर मुक्तावस्था की प्राप्ति निश्चित है।

जीवों के आस्रव की विशेषता भी पायी जाती है। योग प्रत्येक संसारी जीव के होता है। योग होने पर भी संपूर्ण जीवों के आस्रव समान नहीं होता। क्योंकि जीवों के परिणामों के अनन्त भेद हैं जैसा कहा भी गया है “**णाणा जीवा णाणा कम्माणि णाणविह हवे लब्धि**”² अर्थात् संसार में अनेक जीव हैं, उनके कर्म भी अनन्त हैं। इसलिए उनकी लब्धि या भी नाना प्रकार की होती हैं। आस्रव की विशेषता के कारणों को दर्शाते हुए उमास्वामी आचार्य लिखते हैं “तीव्रमन्दज्ञाताज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेष्यस्तद्विशेषः”³ अर्थात् तीव्रभाव, मन्दभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, अधिकरण और वीर्य विशेष के भेद से आस्रव की विशेषता होती है।

आस्रव में उक्त कारणों से विशेषता पायी जाती है, क्योंकि कारण पूर्वक ही कार्य होता है जिस आस्रव का जैसा कारण है, उसके अनुसार ही कर्मास्रव की व्यवस्था निश्चित है। अतः द्रव्यकर्मों के निमित्त से होने वाले आस्रव को दिखलाने के लिए कर्म की मूल आठ प्रकृतियों ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय कर्मों के हेतुओं को दिखलाया जा रहा है-

ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म के आस्रव के कारण- ज्ञान को जो आवृत करता है, वह ज्ञानावरणीय कर्म है और दर्शन गुण का आवरण करने वाला दर्शनावरणीय कर्म है। इन दोनों कर्मों के आस्रव के कारण निहव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादन और उपघात है³ इन आस्रव निमित्तों के स्वरूप भट्टकलंकदेव ने विस्तार से समझाये हैं, उन्हीं के अनुसार प्रस्तुत हैं-

प्रदोष- किसी के ज्ञानकीर्तन (ज्ञान की महिमा जानने/सुनने) के बाद मुख से कुछ न कहकर अन्तरंग में पिशुनभाव होना, ताप होना प्रदोष है। मोक्ष की प्राप्ति के साधनभूत

मति, श्रुत आदि पांच ज्ञानों की अथवा ज्ञान के धारी की प्रशंसा करने पर अथवा उसकी प्रशंसा सुनने पर मुख से कुछ नहीं कह करके मानसिक परिणामों में पैशून्य होता है अथवा अन्तःकरण में उसके प्रति ईर्ष्या का भाव होता है, वह प्रदोष कहलाता है। ज्ञानावरणकर्म का आस्रव का कारण है।

निहव- दूसरे के अभिसन्धान से ज्ञान का अपलाप करना निहव है¹। यात्किञ्चितपरमित को लेकर किसी बहाने से किसी बात को जानने पर भी मैं इस बात को नहीं जानता हूँ इस प्रकार ज्ञान को छिपाना ज्ञान के विषय में वंचन करना निहव है।

मात्सर्य- किसी कारण से आत्मा के द्वारा भक्ति, देने योग्य ज्ञान को भी योग्य पात्र के लिए नहीं देना मात्सर्य है।

अन्तराय- ज्ञान का व्यवच्छेद करना अन्तराय है। कलुषता के कारण ज्ञान का व्यवच्छेद करना, कलुषित भावों के वशीभूत होकर ज्ञान के साथ पुस्तकादि का विच्छेद करना/ नाश करना किसी के ज्ञान में विघ्न डालना अन्तराय है।

उपघात- प्रशस्त ज्ञान में दूषण लगाना उपघात है। स्वकीया बुद्धि और हृदय की कलुषता के कारण प्रशस्त ज्ञान भी अप्रशस्त, युक्त भी अयुक्त प्रतीत होता है। अतः समीचीन ज्ञान में भी दोषों का उद्भावन करना, झूठा दोषारोपण करना उपघात कहलाता है सामान्य रूप से दोनों (उपघात और आसादना) आस्रवों का समान स्वरूप प्रतीत होता है, किन्तु इनमें मूलभूत अन्तर है- आसादना में विद्यमान ज्ञान की विनय प्रकाशन न करना। दूसरे के सामने ज्ञानवान् की प्रशंसा न करना आता है किन्तु उपघात में दूसरे के ज्ञान को अज्ञान मानकर उसके नाश करने का अभिप्राय रखा जाता है।

इनके अतिरिक्त आगम विरुद्ध बोलना, अनादर पूर्वक अर्थ का सुनना अध्ययन में आलस्य, शास्त्र बेचना, आचार्य के प्रतिकूल चलना, धर्म में रुकावट डालना, ज्ञानीजनों का तिरस्कार, धूर्तता का व्यवहार करना ये सब ज्ञानावरण कर्म के आस्रव के कारण हैं⁴।

ज्ञान के विषय में ऊपर कहे गये प्रदोषादिक यदि ज्ञान-ज्ञानी और उसके साधनों के विषय में किये गये हों तो ज्ञानावरण कर्म के आस्रव होते हैं और दर्शन तथा दर्शन के साधनों के विषय में किये गये हों तो दर्शनावरण कर्म के आस्रव होते हैं। इसके अतिरिक्त नेत्रों का उखाड़ना, बहुत काल तक सोना, दिन में सोना, नास्तिकता का भाव रखना, सम्यग्दृष्टि जीव में दूषण लगाना, कुगुरुओं की प्रशंसा करना और समीचीन तपस्वी गुरुओं में ग्लानि करना दर्शनावरण कर्म के आस्रव हैं।

वर्तमान में उक्त ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म के आस्रव के निमित्तों को श्रावक ने तो परिणामों की मलिनता के वशीभूत होकर अपना ही रखा है। खेद है साधु भी ज्ञान होते हुए भी इन आस्रवों से अपने को नहीं बचा रहा है। सभी का प्रयत्न होना चाहिए कि उक्त निमित्तों से अपने को बचावें।

वेदनीय कर्म- जीव को जो कर्म सुख अथवा दुःख का वेदन कराता है, वह वेदनीय कर्म है। मिथ्यात्व आदि प्रत्ययों के वश से कर्म पर्याय में परिणत और जीव के साथ

समवाय संबंध को प्राप्त सुख-दुःख का अनुभव करने वाले पुद्गल स्कन्ध ही वेदनीय नाम से कहे जाते हैं।¹ वेदनीय कर्म को समझाने के लिए शहद लिपटी तलवार का उदाहरण दिया जाता है। जिस प्रकार मधुलिप्त खड्ग की धार को चाटने से पहले अल्प सुख और फिर अधिक दुःख होता है। अर्थात् जिह्वा कट जाने पर तीव्र वेदना होती है। उसी प्रकार पौद्गलिक सुख में दुःखों की अधिकता होती है।² सुख के कारणभूत साता वेदनीय और दुःख के कारणभूत असाता वेदनीय कर्म है।

असाता वेदनीय कर्म के आस्रव के कारण- अपने या दूसरे में या दोनों में विद्यमान दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध और परिदेवन ये असातावेदनीय कर्म के आस्रव के कारण हैं। पीड़ा लक्षण परिणाम को दुःख कहते हैं। अनुग्राहक के संबंध का विच्छेद होने पर वैकल्य विशेष शोक कहलाता है। परिवादादि निमित्त के कारण कलुश अन्तःकरण का तीव्र अनुशयताप है। परिताप से उत्पन्न अश्रुपात, प्रचुर विलाप आदि से अभिव्यक्त होने वाला क्रन्दन ही अक्रन्दन है। आयु, इन्द्रिय, बल, श्वासोच्छ्वास आदि का वियोग करना वध है। अतिसंक्लेश पूर्वक स्व-पर अनुग्राहक, अभिलषित विषय के प्रति अनुकम्पा-उत्पादक रोदन परिदेवन है।³

क्रोधादि के आवेश से दुःखादि आत्मा पर उभयस्थ होते हैं। ये दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध और परिदेवन स्व-पर और उभय में होते हैं। जब क्रोधादि से आविष्ट आत्मा अपने में दुःख शोकादि उत्पन्न करता है, तब वे क्रोधादि उभयस्थ होते हैं और जब समर्थ व्यक्ति कषायवश पर ये दुःखादि उत्पन्न करता है, तब वे परस्थ होते हैं और जब साहूकार कर्ज लेने वाले से ऋण वसूल करने आते हैं तब तज्जनित भूख-प्यास आदि के कारण दुःखित होते हैं, वे उभयस्थ होते हैं।

प्रश्न यह है कि असाता वेदनीय के आस्रव निमित्त उक्त ही हैं और भी हो सकते हैं। इसका समाधान करते हुए आचार्य अकलंकदेव लिखते हैं- “इन कारणों के अतिरिक्त अन्य कारण इस प्रकार हैं-अशुभ प्रयोग, पर परिवाद, पैशुन्य, अनुकम्पा का अभाव, परपरिताप, अंगोपांगच्छेद, भेद, ताडन, त्रासन, तर्जन, मर्त्सन, लक्षण, विशंसन, बन्धन, रोधन, मर्दन, दमन, शरीर, को रूखा कर देना, परनिन्दा, आत्मप्रशंसा, संक्लेशप्रादुर्भावन, निर्दयता, हिंसा, महारम्भ, अधिक परिग्रह का अर्जन, विश्वासघात, कुटिलता, पापकर्म जीवित्व, अनर्थदण्ड, बाण पाश यन्त्र आदि दुःख शोकादि से गृहीत होते हैं। ये स्व-पर और उभय में रहने वाले दुःखादि परिणाम निश्चित रूप से असाता वेदनीय के आस्रव के कारण हैं।⁴ पर की तरह अपनी बुद्धि से अपनी वस्तु का त्याग करना दान है। उपकार भावना से अपनी वस्तु अर्पण करना दान है।

सातावेदनीय कर्म के आस्रव के कारण- भूतानुकम्पा, व्रत्यनुकम्पा, दान, सराग संयम, योग, क्षान्ति और शौच सातावेदनीय के आस्रव हैं। इनको इस प्रकार समझना चाहिए। आयुर्कर्म के उदय से होने वाले भूत है अर्थात् संपूर्ण प्राणी भूत कहलाते हैं किसी प्यासे, भूखे, दुःखी प्राणी को देखकर जो वास्तव में जीव का मन दुःखित होता है उसे प्राणियों की कृपा कहते हैं, वही अनुकम्पा है। व्रतियों पर अनुकम्पा रखना व्रत्यनुकम्पा है। सरागी

की अशुभ कर्मों से निवृत्ति सराग संयम है। क्रोधादि कषायों की शुभ परिणाम भावनापूर्वक निवृत्ति करना शान्ति है। स्वद्रव्य का ममत्व नहीं छोड़ना, दूसरे के द्रव्य का अपहरण करना, धरोहर को हड़पना आदि लोभ के अन्तर्गत आते हैं। उपर्युक्त लोभ के उपरम (त्याग) को शौच कहा जाता है। इन सभी शुभ क्रियाओं से व्यक्ति सातावेदनीय कर्म का आस्रव करता है जिसके बन्ध से जीव सुखी होता है।

मोहनीय कर्म के आस्रव के कारण-

जिसके द्वारा मोहा जाता है वह मोहनीय कर्म है। जैसे धतूरा, मदिरा, कोदों आदि का सेवन करने से व्यक्ति मूर्च्छित सा हो जाता है, इसमें इष्ट- अनिष्ट, हेय-उपादेय को जानने का विवेक नहीं रहता उसी प्रकार मोहनीयकर्म प्राणियों को इस प्रकार मोहित कर देता है कि जीव को पदार्थ का यथार्थ बोध होने पर भी वह तदनुसार कार्य नहीं कर पाता। मोहनीयकर्म सभी कर्मों में प्रधान कर्म माना गया है क्योंकि इसके अभाव में शेष कर्मों का सत्त्व असत्त्व के समान हो जाता है। जन्म-मरण की परंपरा रूप संसारोत्पादन की सामर्थ्य मोहनीय के अभाव में अन्य कर्मों की नहीं रहती। यह मोहनीय कर्म दर्शन मोहनीय और चरित्र मोहनीय भेद की विवक्षा से दो प्रकार का है।

आत्मा, आगम या पदार्थों में रुचि या श्रद्धा को दर्शन कहते हैं। उस दर्शन को जो मोहित करता है अर्थात् विपरीत कर देता है उसे दर्शन मोहनीय कर्म कहते हैं। गुणवान् और महत्त्वशालियों में अपनी बुद्धि और हृदय की कलुषता से अविद्यमान दोषों का उद्भावन करना अवर्णवाद है। अथवा जिसमें जो दोष नहीं है उनका उसमें उद्भावन करना अवर्णवाद है। केवली, श्रुत, संघ, धर्म और देवों का अवर्णवाद (अविद्यमान दोषों का प्रचार) दर्शन मोहनीय कर्म के आस्रव के कारण हैं।

इन्द्रिय और क्रम के व्यवधान से रहित ज्ञान वाले केवली होते हैं। मोह राग द्वेषादि दोषों से रहित केवली के द्वारा कथित और बुद्धि आदि ऋद्धियों के अतिशयों के धारी गणधर के द्वारा अवधारित श्रुत कहा जाता है। रत्नत्रय से युक्त मुनियों का समूह संघ कहलाता है। सर्वज्ञ द्वारा प्रतिपादित आगम में उपदिष्ट अहिंसा आदि का आचरण धर्म है। दिव्यता के धारक देव होते हैं। उक्त की निन्दा अवर्णवाद से ही जीव मिथ्यात्व का बन्ध करता रहता है।

चारित्र मोहनीय के आस्रव के कारण-

आत्मस्वरूप में आचरण करना चारित्र है उसका घात करने वाला कर्म चारित्र मोहनीय है। चारित्रमोह का कार्य आत्मा को चारित्र से च्युत करना है। क्योंकि कषायों के उद्रेक से ही आत्मा चारित्र से च्युत होता है कषायों के अभाव में नहीं। कषाय के उदय से होने वाले तीव्र परिणाम चारित्र मोहनीय कर्म के आस्रव के कारण हैं। चारित्र मोहनीय कषाय वेदनीय और अकषाय वेदनीय रूप होता है। कषाय वेदनीय अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान, संज्वलन के भेद से चार प्रकार की है फिर प्रत्येक के क्रोध, मान, माया, लोभ चार प्रकार होने से 16 प्रकार का होता है। अकषाय को नोकषाय भी कहा गया है। यह हास्य, रति,

अरति शोक, भय जुगुप्सा, पुंवेद, स्त्रीवेद, नपुसंकवेद के भेद से नौ प्रकार का है। जगदुपकारी, शीलव्रती, तपस्वियों की निन्दा करना, धर्म का ध्वंस करना, धार्मिक कार्यों में अन्तराम करना, किसी को शीलगुण, देश संयम ओर सकल संयम से च्युत करना, मद्य-मांस आदि से विरक्त जीवों को उनसे विचकाना, चारित्र और चारित्रधारी में दूषण लगाना, संक्लेश उत्पादक वेषों और व्रतों को धारण करना, स्व-पर में कषायों का उत्पादन आदि क्रियाएँ एवं भाव कषाय वेदनीय के आस्रव के कारण हैं। उक्त निमित्तों को व्यक्ति सहज में जोड़ता रहता है जिससे चारित्र मोहनीय कर्म का बन्ध होता है। इन कारणों को जानकर जो सतत इनसे बचने का उपाय सोचता है और बचता है, वही मोक्षमार्ग पर बढ़ पाता है।

आयुर्कर्म-

जो कर्म जीव को नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव में से किसी शरीर में निश्चित अवधि तक रोके रखता है, उस अवधारण के निमित्त कर्म को आयुर्कर्म कहते हैं।⁴ आयुर्कर्म का उदय जीव को उसी प्रकार रोके रखता है जिस प्रकार एक विशेष प्रकार की सांकल या काष्ठ का फन्दा अपने छिद्र में पग रखने वाले व्यक्ति को रोके रखता है। आयुर्कर्म के चार भेद हैं नरकायु, तिर्यञ्चायु, मनुष्यायु, देवायु। बहुत आरंभ और बहुत परिग्रह रखने का भाव नरकायु का आस्रव का कारण है।⁵ इसके अलावा हिंसा आदि की निरन्तर प्रवृत्ति, दूसरे के धन अपहरण का भाव इन्द्रियों के विषयों की अति आसाक्ति, मरते समय कृष्णलेश्या और रौद्रध्यान का होना आदि भी नरकायु के आस्रव के निमित्त हैं।⁶ चारित्र मोह के उदय से कुटिल भाव होता है, वह माया है। मायाचार करना ही तिर्यञ्चायु के आस्रव में निमित्त बनता है। तत्त्वार्थवार्तिकार ने विस्तार से बताया है “मिथ्यात्व युक्त अधर्म का उपेक्ष, अतिवञ्चना, कूटकर्म, छल-प्रपंच की रुचि, परस्पर फूट डालना, अनर्थोद्भावन, वर्ण, रस, गन्ध आदि को विकृत करने की अभिरुचि, जातिकुलशीलसंदूषण, विसंवाद में रुचि, मिथ्या जीवित्व, किसी के सद्गुणों का लोप, असद्गुणख्यापन, नील एवं कापोत लेश्या के परिणाम आर्द्रध्यान और मरणकाल में अर्त्तरौद्र परिणाम इत्यादि तिर्यञ्चायु के आस्रव के कारण हैं।¹

अल्प आरंभ और अल्प परिग्रह मनुष्यायु के आस्रव के कारण हैं।² विस्तार से इस प्रकार जानना चाहिए- मिथ्यादर्शन सहित बुद्धि, विनीत स्वभाव, प्रकृतिभद्रता, मार्दव-आर्जवपरिणाम, अच्छे आचरणों में सुख मानना रेत की रेखा के समान क्रोधादि सरल व्यवहार, अल्पांरंभ, अल्पपरिग्रह, संतोष में रति, हिंसा से विरक्ति, दुष्ट कार्यों से निवृत्ति, स्वांगत तत्परता, कम बोलना, प्रकृति मधुरता, सबके साथ उपकार बुद्धि रखना, औदासीन्यवृत्ति, ईर्ष्या रहित परिणाम, अल्पसंक्लेश, गुरु देवता अतिथि की पूजा सत्कार में रुचि, दानशीलता, कापोत-पीतलेश्या के परिणाम सराग संयम से धर्मध्यान परिणति आदि लक्षण वाले परिणाम मनुष्यायु के आस्रव के कारण हैं।³

मनुष्य भव धारण की चाह वालों को उक्त कार्य ही करना चाहिए, जिससे मनुष्यायु का आस्रव हो और बन्ध हो। आयुबन्ध होने पर छूटता नहीं है अतः मनुष्यायु प्राप्त होगी

ही होगी।

सरागसंयम, संयमासंयम, अकाम, और बालतप ये देव आयु के आस्रव के कारण हैं।⁴ पांच महाव्रतों के स्वीकार कर लेने पर भी रागांश का बना रहना सरागसंयम है। इसका सद्भाव दशवें गुणस्थान तक है। व्रताव्रत रूप परिणाम संयमासंयम है। इसके निमित्त से गृहस्थ के त्रस हिंसा से विरति रूप और स्थावर हिंसा से अविरतिरूप परिणाम होते हैं। परवशता के कारण भूख-प्यास की बाधा सहना, ब्रह्मचर्य पालन, जमीन पर सोना, मल-मूत्र को रोकना आदि अकाम कहलाता है और इस कारण जो निर्जरा होती है, वह अकाम निर्जरा है। बाल अर्थात् आत्मज्ञान से रहित मिथ्यादृष्टि व्यक्तियों का पञ्चाग्नितप, अग्निप्रवेश, नख-केश का बढ़ाना, ऊर्ध्वबाहु होकर खड़े रहना, अनशन अर्थात् कषायवश भूखे रहना बाल तप है। सम्यक्त्व भी देवायु के आस्रव का कारण है।⁵ अर्थात् सम्यक्त्व के सद्भाव में देवायु का बन्ध है।

नामकर्म के आस्रव के कारण-

आत्मा के नमाने वाला अथवा जिसके द्वारा आत्मा नमता है, उस कर्म को भी नामकर्म कहा जाता है। नमन रूप स्वभाव के कारण ही यह कर्म जीव के शुद्ध स्वभाव को आच्छादित करके उसका मनुष्यत्व, तिर्यञ्चत्व, देवत्व और नारकादि पर्याय भेद को उत्पन्न करता है। जीव को शुभकार्यों से शुभनामकर्म और अशुभकार्यों से अशुभनामकर्म का आस्रव/बन्ध होता है।

मन, वचन और काय की कुटिल वृत्तिरूप योगवक्रता तथा विसंवादन ये अशुभनामकर्म के आस्रव के कारण हैं। मन में कुछ सोचना, वचन से दूसरे प्रकार से कहना और काय से भिन्न से ही प्रवृत्ति कराना, वस्तु के स्वरूप का अन्यथा प्रतिपादन करना अर्थात् श्रेयोमार्ग पर चलने वालों को उस मार्ग की निन्दा करके बुरे मार्ग पर चलने को कहना विसंवादन है।⁷ जैसे कोई पुरुष सम्यक् अभ्युदय ओर निश्चयस् की कारणभूत क्रियाओं में प्रवृत्ति कर रहा है। उसे मन वचन, काय के द्वारा विसंवाद कराता है कि तुम ऐसा मत करो, ऐसा करो इत्यादि प्रवृत्ति ही विसंवादन है। ये अशुभनामकर्म के आस्रव के कारण हैं, इससे शरीर आदि की रचना, वर्ण आदि छोटे मिलते हैं अतः ऐसे कार्यों से बचना चाहिए।

योग की सरलता और अविसंवादन ये शुभनाम के आस्रव हैं। अथवा मन वचन काय की सरलता और अविसंवादन शुभनामकर्म के आस्रव के कारण हैं। धर्मात्मा पुरुषों के दर्शन करना, आदर सत्कार करना, उनके प्रति सद्भाव रखना संसारभीरुता, प्रमाद का त्याग, निश्छल चारित्र का पालन आदि भी शुभ नामकर्म के आस्रव के कारण हैं। शुभनामकर्म प्रकृतियों में सर्वश्रेष्ठ तीर्थंकर प्रकृति है अतः इसके आस्रवकारण स्वतंत्र रूप से वर्णित करते हैं- दर्शन विशुद्धि, विनय संपन्नता, शील और व्रतों में अतिचार नहीं लगाना, अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग, संवेग, यथाशक्तित्याग, यथाशक्ति तप, साधुसमाधि, वैयावृत्यकरण, अर्हद्भक्ति, आचार्यभक्ति, बहुश्रुतभक्ति, प्रवचनभक्ति, आवश्यकों को नहीं छोड़ना, जिनमार्ग की प्रभावना करना, और प्रवचन वत्सलता ये तीर्थंकर प्रकृति के आस्रव के कारण कहे गये हैं। इन पर ग्रंथों में विस्तार से चर्चा है। यहां स्थान और आलेख विस्तारभय से पृथक् पृथक्

को स्पष्ट नहीं किया जा रहा है। उक्त नामकर्म के आस्रव कारणों को जानकर मानव को अगले भव सुधार हेतु प्रवृत्ति करना ही श्रेयस्कर है।

गोत्र कर्म के आस्रव के कारण-

सन्तान क्रम से चले आने वाले जीव के आचरण को गोत्र संज्ञा दी गई है। जैसे कुम्हार छोटे अथवा बड़े घड़ों को बनाता है वैसे ही गोत्रकर्म जीव को उच्च अथवा नीच कुल में उत्पन्न करता है। नीच और उच्च के भेद से गोत्र दो प्रकार का है।

जिसके द्वारा आत्मा नीच स्थान में पायी जाती है या जिससे आत्मा नीच व्यवहार में आती है, वह नीच गोत्र है। दूसरों की निन्दा करना, अपनी प्रशंसा करना, दूसरों के सद्गुणों का छादन तथा अपने अविद्यमान गुणों का उद्भावन करना, नीच गोत्र के आस्रव के निमित्त है। इनके अतिरिक्त अपनी जाति, कुल, बल, रूप, विद्या, ऐश्वर्य, आज्ञा और श्रुत का गर्व करना, दूसरों की अवज्ञा व अपवाद करना, दूसरों की खोज को अपनी बताना, दूसरों के श्रेय पर जीना आदि ये नीच गोत्रकर्म के आस्रव के कारण हैं। इनको जानकर इनसे बचना श्रेयस्कर है।

नीच गोत्र के आस्रव के कारणों के विपरीत कारण (आत्मनिन्दा², परप्रशंसा⁴, परसद्गुणोद्भावन, आत्मसद्गुण आच्छादन) गुणीजीवों के प्रति नम्र वृत्ति, अहंकार का अभाव तथा उद्दण्ड स्वभाव नहीं होना, ये सब उच्च गोत्र के आस्रव के कारण हैं।⁵

उपरोक्त कारणों के अतिरिक्त कुछ और उच्च गोत्र के निमित्त हैं- जैसे जाति, कुल, बल, सौन्दर्य, वीर्य, ज्ञान, ऐश्वर्य और तपादि की विशेषता होने पर भी अपने में अहंकार का भाव नहीं आने देना, पर का तिरस्कार नहीं करना, उद्दण्ड नहीं होना, पर की निन्दा नहीं करना, किसी से अशुभ, किसी का उपहास, बदनामी आदि नहीं करना, मान नहीं करना, धर्मात्माओं का सम्मान करना, विशेष गुणी होने पर भी अहंकार नहीं करना, निरहंकार नम्रवृत्ति, भस्म से ढकी हुई अग्नि की तरह अपने ढके हुए माहात्म्य का प्रकाशन नहीं करना और धार्मिक साधनों में अत्यन्त आदरबुद्धि रखना आदि कार्यों से भी उच्च गोत्र का आस्रव होता है। अतः उक्त कार्य की प्रवृत्ति बहुत श्रेष्ठ है, उसे करना चाहिए।

अन्तराय कर्म के आस्रव के कारण-

अन्तराय शब्द का अर्थ विघ्न है। अन्तर अर्थात् मध्य में- विघ्न बनकर आने वाला कर्म अन्तरायकर्म कहलाता है।⁶ यह कर्म भण्डारी की तरह जीव के दान लाभ आदि कार्यों में बाधक बन जाता है। बाधक बनना या विघ्न डालना अन्तरायकर्म का आस्रव का कारण है।⁷ दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य में बाधा अन्तराय के आस्रव हैं। इनके अतिरिक्त ज्ञान का प्रतिषेध, सत्कारोपघात, स्नान, आभूषण, भक्ष्य आदि कार्यों में विघ्न करना, किसी के वैभव समृद्धि में विस्मय करना, द्रव्य का त्याग नहीं करना, द्रव्य के उपयोग के समर्थन में प्रमाद करना, देवता के लिए निवेदित किये गये या अनिवेदित किये गये द्रव्य का ग्रहण करना, देवता का अवर्णवाद करना, निर्दोष उपकरणों का त्याग, दूसरों की शक्ति का अपहरण, धर्म का व्यवच्छेद करना, दीक्षित को दिए जाने वाले दान को रोकना, कृपण,

दीन, अनाथ आदि को दिए जाने वाले वस्त्र, पात्र, आश्रय आदि को रोकना, प्राणिवध आदि अन्तरायकर्म के आस्रव के कारण हैं।

उक्त कारणों को जानकर दूसरों के बाधा पहुँचाने वाले कार्यों को नहीं करना चाहिए क्योंकि दूसरों को बाधाकारक कार्यों के करने से स्वयं को अगले भवों में हानि उठानी पड़ती है।

यहाँ कर्म की मूल प्रकृतियों के आस्रव के कारणों पर जो विशद चर्चा की है उसका मुख्य ध्येय यह है कि आस्रव और बन्ध दोनों ही संसार के हेतु हैं। इनको जानकर ही प्राणी संसारवृद्धि के कार्यों से अपनी रक्षा कर सकता है।

संदर्भ-

1. कायवाङ्मनःकर्म योगः। तत्त्वार्थसूत्र 6/1
2. सः आस्रवः 1-तत्त्वार्थसूत्र 6/2
3. सकषायकषाययोः साम्प्राययिकेर्यापथयोः। तत्त्वार्थसूत्र 6/4
4. तत्त्वार्थवार्तिक 6/4 पृष्ठ 258 (भाग-2)
5. इन्द्रियकषायान्नतक्रियाः पञ्चचतुःपञ्चविंशतिसंख्या पूर्वस्य भेदाः। तत्त्वार्थसूत्र 6/5
6. तत्त्वार्थवार्तिक 6/4/1-7
7. पञ्चास्तिकाय
8. तत्त्वार्थसूत्र 6/6
9. तत्प्रदोष निहवमात्सर्याऽन्तरायाऽऽसादनोपघातज्ञानदर्शनावरणयोः। तत्त्वार्थसूत्र 6/10
10. पराभिसन्धानतो ज्ञानव्यपलापो निहवः । तत्त्वार्थसूत्र 6/10/1
11. ज्ञानव्यवच्छेदकरणम् अन्तरायः। तत्त्वार्थसूत्र 6/10/4
12. प्रशस्तज्ञानदूषणमुपघातः। तत्त्वार्थ सूत्र 6/10/6/1
13. तत्त्वार्थसार 4/13/10
14. धवला पु. 6 पृ. 10
15. बृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा 33 की टीका
16. दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थन्यसद्वेद्यस्य। तत्त्वार्थसूत्र 6/11
17. संक्लेशप्रवणं स्वपरानुग्रहाभिलाषविषयमनुकम्पाप्रायं परिदेवनम्॥ तत्त्वार्थसूत्र 6/11/1-6
18. तत्त्वार्थसूत्रवार्तिक 6/11 पृ. 301 (हिन्दी टीका आ. सुपाश्वर्यश्री भाग-2)
19. भूतव्रत्यनुकम्पा सरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्य। त.सूत्र 6/12
20. जन्ममरणप्रबन्धलक्षणसंसारोत्पादसामर्थ्यमन्तरेण तत्सत्त्वस्यासत्त्वसमानत्वात्। धवला पु. भाग-1 पृष्ठ-43
21. केवलीश्रुतसंघर्षधर्मदेवाऽवर्णवादो दर्शनमोहस्य। तत्त्वार्थ सूत्र 6/13
22. कर्मग्रन्थ प्र. भा. गाथा 13
23. कार्य चारित्रमोहस्य चारित्राच्युतिरात्मनः। पञ्चाध्ययी उत्तरार्ध श्लोक. 690
24. गोम्मटसार कर्मकाण्ड जीवतत्त्वप्रदीपिका गाथा 33
25. बहवारम्भपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः। तत्त्वार्थसूत्र 6/15
26. तत्त्वार्थवार्तिक 6/15/3
27. तत्त्वार्थवार्तिक पृष्ठ 138 (भाग-2) आर्यिका सुपाश्वर्यमती कृत टीका
28. अल्पावर्णपरिग्रहत्वं मानुषस्य। तत्त्वार्थसूत्र 6/17
29. तत्त्वार्थवार्तिक 6/17/14

30. सरागसंयमसंयमासंयमऽकाम निर्जराबालतपांसि देवस्य। तत्त्वार्थसूत्र 20/6/20
31. सम्यक्त्वञ्च। तत्त्वार्थसूत्र 6/21
32. कायवाङ्मनसां कौटिल्येन वृत्तियोगवक्रता। तत्त्वार्थसूत्र 6/22/1
33. तद्विपरीतं शुभस्य। तत्त्वार्थसूत्र 6/23
34. दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्ताशीलव्रतेष्वनातिचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधिवैयावृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकपरिहाणिमार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य। तत्त्वार्थसूत्र 6/24
35. बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा 37 ब्रह्मदेव टीका
36. परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणच्छादनोद्भावने च नीचगोत्रस्य। तत्त्वार्थसूत्र 6/25
37. तद्विर्पययोनीचवृत्यनुसेकौ चोत्तरस्य। तत्त्वार्थसूत्र 6/26
38. दोषोद्भावनेच्छा निन्दा। तत्त्वार्थवार्तिक 6/25/1
39. धवला पु. 3 भाग 5, पृष्ठ-389
40. विघ्नकरणमन्तरायस्य। तत्त्वार्थसूत्र 6/27

- अध्यक्ष संस्कृत विभाग
दिगम्बर जैन कालेज
बड़ौत (बागपत)
उत्तरप्रदेश

भद्रं भद्रमिति ब्रूयाद्यद्रमित्येव वा वदेत् ।
शुष्कवैरं विवादं च न कुर्यात्केनचित्साह ॥

मनुस्मृति, 4/139

मनुष्य भद्र शब्द का ही प्रयोग करे। सामान्यतया 'अच्छा है, ऐसा ही कहे।
अकारण ही किसी के साथ भी वैर और विवाद न करे।

तत्त्वार्थसूत्र के कर्त्ता एवं जैन वाङ्मय को उनका अवदान

-डॉ. आनन्दकुमार जैन

तत्त्वार्थसूत्र जैन परंपरा का सर्वमान्य एवं प्रामाणिक ग्रन्थ है, जिसे द्वितीय शताब्दी के आचार्य उमास्वाति ने संस्कृत भाषा की सूत्र शैली में निबद्ध किया है। इसमें सात तत्त्वों का विधिवत् विवेचन है। इस ग्रंथ के कर्त्ता के नाम और ग्रंथ के मंगलाचरण आदि अनेक विषयों पर दिगम्बर और श्वेताम्बर परंपरा में अनेक धारणायें हैं, जिन पर प्रस्तुत शोधालेख में सप्रमाण विचार-विमर्श किया गया है। इस लेख का आधार साहित्य तत्त्वार्थसूत्र, सर्वार्थसिद्धि, सभाष्यतत्त्वार्थाधिगम, जैन शिलालेख संग्रह, पं. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य लिखित तात्पर्यवृत्ति की प्रस्तावना, पं. सुखलाल संघवी कृत तत्त्वार्थसूत्र की प्रस्तावना, डॉ. सागरमल जैन कृत तत्त्वार्थसूत्र और उसकी परंपरा और अन्य विभिन्न शोधालेख हैं। सर्वप्रथम यहाँ ग्रंथ के मंगलाचरण पर विचार किया गया है।

१. मंगलाचरण-

‘मोक्षमार्गस्य नेतारं...’ यह श्लोक तत्त्वार्थसूत्र का मंगलाचरण है या नहीं, यह एक विवादित पक्ष है, किन्तु इसका समाधान श्रुतसागरसूरि (1487-1533ई.) की तात्पर्यवृत्ति से होता है, जहां ग्रंथ की उत्थानिका में आचार्य लिखते हैं कि-द्वैयाक नामक भव्य के प्रश्न का उत्तर देने के लिए आचार्यवर्य (उमास्वाति) इष्टदेवता को नमस्कार करते हैं अर्थात् मंगलाचरण लिखते हैं।¹ इनसे पूर्व का एक प्रमाण आचार्य विद्यानन्द की आप्तपरीक्षा में मिलता है।² इस श्लोक में आप्तपरीक्षाकार ने ‘सकलमलभिदे’ विशेषण से इंगित किया है, जो कि तत्त्वार्थसूत्र के मंगलाचरण को सूचित करता है। साथ ही इस तथ्य का समर्थन ग्रंथ के उपसंहार से भी होता कि उन्हें (आचार्य विद्यानन्द को) यह मंगलाचरण तत्त्वार्थसूत्रकार का ही मान्य है।³ आचार्य अभयनन्दी ने भी तत्त्वार्थसूत्र की तात्पर्यवृत्ति में इसे ग्रंथ का मंगल श्लोक माना है।

कुछ विद्वानों का मत है कि सर्वार्थसिद्धि में इस मंगलाचरण का कर्त्ता आचार्य उमास्वाति मान्य होते तो वे निश्चित रूप से मंगलाचरण की उत्थानिका एवं व्याख्या लिखते, अतएव मंगलाचरण एवं उसकी टीका पूज्यपादाचार्य की रचना है। यह तर्क तो ग्राह्य करने योग्य लगता है, किन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा होता तो सर्वार्थसिद्धि का तत्त्वार्थवार्तिक नामक वृहद् टीका लिखने वाले आचार्य अकलंकदेव इसको सर्वार्थसिद्धि पर मंगलाचरण मानकर इसकी उत्थानिका एवं व्याख्या का निरूपण अवश्य करते, किन्तु आचार्य अकलंक ने ऐसा नहीं किया। इसका कारण यह हो सकता है कि पूर्वाचार्यों के

प्रति सम्मान एवं बहुमान के कारण ही अकलंकदेव ने भी आचार्य पूज्यपाद का अनु -

करण कर इसकी व्याख्या न की हो। जिस प्रकार आचार्य पूज्यपाद ने व्याख्या नहीं लिखी, उसी प्रकार अकलंकस्वामी ने भी नहीं लिखी और इसी परंपरा का निवर्हन आगे आचार्य विद्यानन्द ने भी किया है।

समस्त श्वेताम्बर आचार्यों ने न ही इस मंगल श्लोक को ग्रंथ में स्थान दिया है और न ही किसी तत्त्वार्थसूत्र की श्वेताम्बरीय व्याख्या में इसका वर्णन किया है। इस आधार पर अनुमान से यह कहा जा सकता है कि किन्हीं दिग्म्बर विद्वान् ने तत्त्वार्थसूत्र की प्राचीन पाण्डुलिपियों के आधार पर श्वेताम्बर प्रभाव से मंगलाचरण रहित ग्रंथ की प्रतिलिपि की होगी, जिसके आधार पर बाद में अन्य पाण्डुलिपियां कराई गई होंगी और वर्तमान में उपलब्ध छपे ग्रंथों का आधार ये ही प्रतिलिपियाँ रही हों और इसी आधार पर मंगलाचरण के विषय में विवाद उत्पन्न हुआ होगा।

अतः उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मंगलाचरण तत्त्वार्थसूत्र का है तथा इसके रचयिता आचार्य उमास्वाति हैं।

२. तत्त्वार्थसूत्रकर्ता का नाम:-

आचार्य विद्यानन्द ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में गृद्धपिच्छाचार्य को तत्त्वार्थसूत्र का रचयिता कहा है- एतेन गृद्धपिच्छाचार्यपर्यन्तमुनिसूत्रेण व्यभिचारता निरस्ता। यद्यपि इस पंक्ति में 'मुनिसूत्रेण' पद प्रयुक्त है, जिससे साक्षात् तत्त्वार्थसूत्र अर्थ नहीं निकलता है और वर्तमान काल में गृद्धपिच्छ की सूत्ररूप में अथवा समग्ररूप में एक ही रचना मान्य है, जिसे हम तत्त्वार्थसूत्र नाम से संबोधित करते हैं। एक अन्य रचना आप्तपरीक्षा की स्वोपज्ञ टीका में लिखा है- 'तत्त्वार्थसूत्रकारैरुमास्वातिप्रभृतिभिः....' इस श्लोक में तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता का नाम आचार्य उमास्वाति उद्धृत किया है। अतः यह निश्चित है कि आचार्य विद्यानन्द को गृद्धपिच्छ तथा उमास्वाति- ये दोनों नाम अभीप्सित थे। इनके पश्चाद्वर्ती आचार्य वीरसेन, जिनका काल (883 ई. से 923 ई.) नौवीं शताब्दी है, ने धवला के जीवस्थान के कालानुयोगद्वारा में तत्त्वार्थसूत्र और उसके कर्ता गृद्धपिच्छाचार्य का नामोल्लेख एक सूत्र में किया है- तह गृद्धपिच्छाङ्गिरियप्पयासिदत्तच्चत्थसुत्ते वि 'वर्तनापरिणामक्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य' इति दव्वकालो परूविदो। इसी क्रम में आचार्य वादिराजसूरि ने पार्श्वनाथचरित के एक श्लोक में लिखा है-

अतुच्छगुणसम्पातं गृद्धपिच्छं नतोऽस्मि तम्।

पक्षीकुर्वन्ति यं भव्या निर्वाणायोत्पत्तिष्णवः॥^३

उपर्युक्त श्लोक में ग्यारहवीं शताब्दी के आचार्य वादिराजसूरि ने गृद्धपिच्छ शब्द लिपिबद्ध किया है। इतना अवश्य है कि इस श्लोक में गृद्धपिच्छ का नाम आया है और उनसे जुड़ी किसी कथा का कुछ संकेत इसमें नहीं है। इन साक्ष्यों के अतिरिक्त जैनधर्म की प्राचीनता एवं प्रामाणिकता के अनगिनत साक्ष्य श्रवणबेलगोला में यत्र-तत्र बहुधा मिलते हैं। ये साक्ष्य वहाँ के मंदिरों एवं पर्वतों पर शिलालेख के रूप में आज भी प्राचीन कन्नड़

भाषा में लिपिबद्ध हैं। इनमें शिलालेख संख्या 40,42,43,47 और 50 में गृद्धपिच्छाचार्य इस पद का उल्लेख आया है। किन्तु इसी क्रम में शिलालेख संख्या 105 और 108 में उमास्वाति नाम भी उत्कीर्ण किया हुआ मिलता है। शिलालेख इस प्रकार है-

श्रीमानुमास्वातिरयं यतीशस्तत्त्वार्थसूत्रं प्रकटीचकार,
यन्मुक्तिमार्गाचरणोद्यतानां पाथेयमर्घ्यं भवति प्रजानाम्।
तस्यैव शिष्योऽजनि गृद्धपिच्छद्वितीयसंज्ञस्य बलाकपिच्छः,
यत्सूक्तिरत्नानि भवन्ति लोके मुक्ताङ्गनामोहनमण्डनानि॥^१

इसके अतिरिक्त पं. फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री ने स्वविवेचित तत्त्वार्थसूत्र में इस ग्रंथ के रचयिता के नाम पर विस्तृत विचार किया है। इसमें उन्होंने उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर प्रचलित चार धारणाओं पर मन्तव्य प्रस्तुत किया है। ग्रंथकर्ता के नाम पर गृद्धपिच्छ, वाचक उमास्वाति, गृद्धपिच्छ उमास्वाति और गृद्धपिच्छ उमास्वामी- ये चार विचारधारायें हैं। इनमें से पण्डितजी ने गृद्धपिच्छ नाम ही स्वीकार किया है। ग्रंथकार के नाम के संबंध में उपलब्ध प्राचीनतम साक्ष्यों से लेकर वर्तमान विद्वत्-विचार-अम्बुधि तक जितने भी साक्ष्य प्राप्त हुए हैं, उनके आधार पर प्राचीनता की दृष्टि से आचार्य विद्यानन्द सर्वाधिक प्रामाणिक हैं। अतः ग्रंथकार का नाम उमास्वाति तथा गृद्धपिच्छ सर्वाधिक प्राचीन प्रमाण है।

दिगम्बर परंपरा इन्हें कुन्दकुन्द स्वामी का शिष्य मानती है। जबकि श्वेताम्बर परंपरा के अनुसार प्रज्ञापनासूत्र के रचयिता, श्यामाचार्य के गुरु हारितगोत्रीय 'स्वाति' ही तत्त्वार्थसूत्र के प्रणेता हैं।¹ 16वीं-17वीं शताब्दी के धर्मसागर की तपागच्छ की पट्टावली को यदि अलग कर दिया जाय तो अन्य किसी श्वेताम्बर ग्रंथ या पट्टावली आदि में ऐसा निर्देश भी नहीं है कि उमास्वाति श्यामाचार्य के गुरु थे। पं. जुगलकिशोरजी मुख्तार तथा पं. नाथूराम प्रेमी- इन दोनों विद्वानों ने दशवीं शताब्दी से पूर्व का कोई साक्ष्य उपलब्ध हुआ नहीं माना है।² तत्त्वार्थसूत्र की उमास्वामिकृत प्रशस्ति इस प्रकार है-

वाचकमुख्यस्य शिवश्रियः प्रकाशयशसः प्रशिष्येण॥

शिष्येण घोषनन्दिक्षमणस्यैकादशाङ्गविदः ॥ १॥

वाचनया च महावाचकक्षमणमुण्डपादशिष्यस्य॥

शिष्येण वाचकाचार्यमूलनाम्नः प्रथितकीर्तेः ॥ २॥

न्यग्रोधिकाप्रसूतेन विहरता पुरवरे कुसुमनाम्नि।

कौभीषिणिना स्वातितनयेन वात्सीसुतेनार्घ्यम् ॥ ३॥

अर्हद्वचनं सम्यग्गुरुक्रमेणागतं समुपधार्य॥

दुःखार्तं च दुरागमविहतमतिं लोकमवलोक्य ॥ ४॥

इदमुच्चैर्नागरवाचकेन सत्त्वानुकम्पया दृब्धम्॥

तत्त्वार्थाधिगमाख्यं स्पष्टमुमास्वतिना शास्त्रम् ॥ ५॥

यस्तत्त्वाधिगमाख्यं ज्ञास्यति च करिष्यते च तत्रोक्तम्॥

सोऽव्याबाधसुखाख्यं प्राप्स्यत्यचिरेण परमार्थम् ॥ ६॥

अर्थ- जिनके दीक्षागुरु ग्यारह अङ्ग के धारक 'घोषनन्दि' क्षमण थे और प्रगुरु

वाचकमुख्य 'शिवश्री' थे; वाचना (विद्याग्रहण) की दृष्टि से जिसके गुरु 'मूल' नामक वाचकाचार्य और प्रगुरु महावाचक 'मुण्डपाद' थे; जो गोत्र से 'कौभीषणि' थे; जो 'स्वाति' पिता और 'वात्सी' माता के पुत्र थे; जिनका जन्म 'न्यग्रोधिका' में हुआ था और जो 'उच्चनागर' शाखा के थे; उन उमास्वाति वाचक की गुरु-परंपरा से प्राप्त श्रेष्ठ आर्ह उपदेश को भली प्रकार धारण करके तथा तुच्छ शास्त्रों और हतबुद्धि दुःखित लोक को देखकर प्राणियों की अनुकम्पा से प्रेरित होकर यह 'तत्त्वार्थाधिगम' नाम का स्पष्ट शास्त्र विहार करते हुए 'कुसुमपुर' नामक महानगर में रचा है। जो इस तत्त्वार्थशास्त्र को जानेगा और उसके कथनानुसार आचरण करेगा, वह अव्याबाधसुख नामक परमार्थ मोक्ष को शीघ्र प्राप्त होगा।

डॉ. हर्मन जैकोबी ने जर्मन अनुवाद तत्त्वार्थ में तत्त्वार्थसूत्र पर कार्य किया है ये इस प्रशस्ति को उमास्वातिकृत स्वीकारते हैं।

उपर्युक्त प्रशस्ति में दिगम्बर मान्य किसी भी विचारधारा से सहमति नहीं प्रतीत होती है। चाहे कुन्दकुन्द को गुरु स्वीकार करना हो, या गोत्र का विषय हो दिगम्बर प्रसिद्ध कोई भी मान्यता इस प्रशस्ति से पुष्ट नहीं होती है।

चूँकि कुन्दकुन्द का समय ई.पू. प्रथम शताब्दी मान्य है, अतः इस आधार पर इनका समय भी ई.पू. प्रथम शताब्दी से लेकर टीकाकार आ. पूज्यपाद के 5-6वीं शताब्दी के मध्य मानना ही उचित है।

३. सूत्रकार के रूप में उमास्वाति:

दिगम्बर परंपरा में आचार्य उमास्वाति की मान्यता जन-मानस के पटल पर एक सूत्रकार के रूप में ही अंकित है। इसका एक मात्र कारण यह है कि इस परंपरा में तत्त्वार्थसूत्र के अतिरिक्त इनकी अन्य कोई रचना मान्य नहीं है। संस्कृत भाषा में निबद्ध सूत्र शैली के इस ग्रंथ का महत्त्व तो इसका अर्थवेत्ता ही समझ सकता है। मात्र 'च' पद का प्रयोग करके इन्होंने कितने ही विषय का संक्षिप्तीकरण किया है। इस ग्रंथ के प्रथम अध्याय के आठवें सूत्र में प्रथम बार 'च' पद का प्रयोग ग्रंथकर्ता ने किया है तथा अंतिम बार दशवें अध्याय के छठें सूत्र में इसका प्रयोग किया है। श्वेताम्बर मान्य पाठ में भी 'च' पद का प्रथम प्रयोग प्रथम अध्याय के आठवें सूत्र में है तथा अंतिम प्रयोग दशवें अध्याय के छठें सूत्र में है। इसी क्रम में इस सूत्र-ग्रंथ का सबसे छोटा सूत्र 'नाणोः' है तथा सबसे दीर्घ सूत्र 'गतिजातिशरीरांगो....' इत्यादि है। सूत्रकार आचार्य उमास्वाति ने जिस प्रवीणता के साथ इस ग्रंथ का सृजन किया है, उतनी ही चतुराई से तदाधारित सर्वार्थसिद्धि के रचयिता आचार्य पूज्यपाद ने उसका स्पष्टीकरण किया है। प्रत्येक स्थल पर पूज्यपादस्वामी ने पाठक के अन्तस्थ में उत्पन्न होने वाली समस्त शंकाओं का निर्मूलन किया है। वैसे भी सूत्रशैली के ग्रंथ का प्ररूपण करना कोई सामान्य कार्य नहीं है, किन्तु आचार्य उमास्वाति का समय तथा उनसे संबन्धित पूर्वापर काल इस प्रकार की रचनाओं के लिए प्रसिद्ध है- यथा पातञ्जलसूत्र, योगसूत्र, सांख्यसूत्र, न्यायसूत्र, वैशेषिकसूत्र, ब्रह्मसूत्र, परीक्षामुखसूत्र इत्यादि। जैन साहित्य में सूत्र शैली की यह परंपरा उमास्वाति से प्रारंभ होकर ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी तक अस्तित्व में रही है यद्यपि वर्तमान समय में इसका अभाव ही देखने में आता

है, किन्तु इसका कारण भी स्पष्ट है कि इस प्रकार की रचना के लिए बुद्धि की अतीव प्रखरता, विषय की अद्भुत पकड़ तथा जिस भाषा में रचना करनी हो उस पर व्याकरणात्मक दृष्टि से असाधारण नियंत्रण होना चाहिए, तभी इस प्रकार का कोई ग्रंथ मूर्तरूप ग्रहण कर सकता है और यह लिखने में जरा भी संकोच नहीं हो रहा कि इन सभी लक्षणों से आचार्य पूज्यपाद परिपूर्ण थे, जिससे ऐसी अद्भुत रचना का अमृतपान आज जन-सामान्य कर रहा है।

४. उमास्वामी/उमास्वाति का व्यक्तित्व एवं कृतित्व:

व्यक्तित्व- प्राचीन समय के किसी भी आचार्य के व्यक्तित्व का परिचय उनकी रचनाओं से होता था, अथवा उनके शिष्य, प्रशिष्य स्व-रचनाओं में गुरु का महिमा-मण्डन करते थे, अथवा परवर्ती ग्रंथकार आदर-ज्ञापन हेतु पूर्वाचार्यों का उल्लेख करते थे। किन्तु गृद्धपिच्छाचार्य के निजी जीवन के संबन्ध में स्वयं गृद्धपिच्छाचार्य ने कुछ नहीं लिखा है। श्वेताम्बर परंपरा में पं. सुखलालजी संघवी ने तत्त्वार्थसूत्र की प्रस्तावना में इन्हें उत्तर भारत के निर्ग्रन्थ संघ के कोटिकगण की उच्चनागरी शाखा का कहा है तथा वास्तविक नाम वाचक उमास्वाति लिखा है। इन्होंने गृद्धपिच्छ विशेषण को बहुत बाद का मानते हुए 9वीं-10वीं शताब्दी का माना है। इनका जन्मस्थल सतना के निकट स्थित नागौद नामक ग्राम कहा है। पश्चात् में ये उच्चैर्नागर शाखा में दीक्षित हुए। यह शाखा भी सतना के समीप उँचेहरा (उच्च-नगर) नामक नगर से प्रारंभ हुई है। पं. नाथूराम 'प्रेमी' ने नगरतालु (मैसूर) के शिलालेख सं.46 में उद्धृत श्लोक के आधार पर उमास्वामी को यापनीय माना है। इस श्लोक में उमास्वामी 'श्रुतकेवलिदेशीय' विशेषण लगा है और यही विशेषण यापनीय संघाग्रणी शाकटायन आचार्य के साथ भी जुड़ा है। इसी आधार पर पं. नाथूरामजी प्रेमी ने उन्हें यापनीय माना है।

कृतित्व- दिगम्बर-परंपरा मात्र तत्त्वार्थसूत्र को ही इनकी रचना मानती है। परवर्तीकाल में लिखित उमास्वामी श्रावकाचार भी इनकी कृति मानी जाती थी, किन्तु बीसवीं शताब्दी के कई विद्वानों ने सूक्ष्मता से विचार करके इस तथ्य का निरसन किया है। जबकि श्वेताम्बर-परंपरा में तत्त्वार्थसूत्र के अतिरिक्त तत्त्वार्थाधिगमभाष्य तथा प्रशमरतिप्रकरण भी इनकी रचना के रूप में स्वीकृत है।

५. ग्रंथ का नामकरण:

सर्वार्थसिद्धि के प्रत्येक अध्याय के अन्त में लिखा है "इति तत्त्वार्थवृत्तौ सर्वार्थसिद्धिकायां...अध्यायः समाप्तः" इस पंक्ति से ग्रंथ का नाम तत्त्वार्थ स्पष्ट होता है। पं. फूलचन्द सिद्धांतशास्त्री ने भी तत्त्वार्थ नाम ही माना है। सर्वार्थसिद्धि की पुष्पिका में (938) तत्त्वार्थवृत्ति नाम भी दिया है-

स्वर्गापवर्गसुखमाप्तुमनोभिरार्यैर्जैनेन्द्रशासनवरामृतसारभूता।

सर्वार्थसिद्धिरिति सुद्रिरूपात्तनामा, तत्त्वार्थवृत्तिरनिशं मनसा प्रधार्या ॥१॥

इस श्लोक में सर्वार्थसिद्धि का अन्य नाम तत्त्वार्थवृत्ति कहा है, जिससे मूल ग्रंथ का नाम तत्त्वार्थ स्पष्ट होता है। परवर्ती आचार्य विद्यानन्द ने 'मुनिसूत्रेण' तथा 'तत्त्वार्थसूत्रकारैः'

पद का क्रमशः तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक तथा आप्तपरीक्षा की स्वोपज्ञ टीका में प्रयोग किया है। इसके बाद के आचार्य वीरसेन ने धवला में 'तच्चत्थसूत्रे' अर्थात् तत्त्वार्थसूत्र का प्रयोग किया है। श्रवणबेलगोला के शिलालेखों में भी तत्त्वार्थसूत्र शब्द लिखा है।

पूर्वापर इस धारा को देखें तो प्राचीनतम प्रमाण स्वयं में सर्वार्थसिद्धि है। अतः प्राचीन नाम तो तत्त्वार्थ ही प्रतीत होता है, किन्तु सूत्र शैली में निरूपित होने से पश्चाद्वर्ती काल में सूत्र शब्द तत्त्वार्थ के साथ रूढ़ हो गया होगा, क्योंकि परवर्ती सभी आचार्यों एवं ग्रंथकारों ने तत्त्वार्थसूत्र पद का प्रयोग किया है।

इस आलेख का निष्कर्ष यह है कि तत्त्वार्थसूत्र का मंगलाचरण आचार्य उमास्वाति द्वारा विरचित है। तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता का नाम उमास्वाति तथा गृद्धपिच्छ मानना उचित है। सूत्रकार के रूप में आचार्य उमास्वाति की एक मात्र रचना तत्त्वार्थसूत्र ही स्वीकार है। ग्रंथ का नाम तत्त्वार्थ है, किन्तु परवर्ती काल में इसका सूत्र शब्द के साथ प्रयोग रूढ़ हो गया है। इसके बाद अतिरिक्त भी अनेक ऐसे विषय हैं जिन पर अभी पुनः शोध की आवश्यकता है। दोनों परंपराओं के सूत्रों पर तर्क-संगत तुलनात्मक अध्ययन भी इसी क्रम में अपेक्षित है।

संदर्भ-

1. ...निर्गन्थाचार्यवर्यः अतिनिकटीभवत्पमनिर्वाणेनासानभव्येन द्वैयाकनाम्ना भव्यवरपुण्डरीकेण स्पृष्टः। भगवन् किमात्मनेहितम्? इति। भगवानपितृप्रश्नवशात् 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणोपक्षितसन्मार्गसम्प्राप्त्यो मोक्षो हितः' इति प्रतिपादयितुकाम इष्टदेवता विशेषं नमस्करोति-मोक्षमार्गस्य नेतारं भेतारं कर्मभूताम्। ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये॥-तात्पर्यवृत्ति, पृ.1
2. श्रीमततत्त्वार्थशास्त्रभट्टतसलिलनिधेरिद्धरत्नोद्भवस्य,
प्रोत्थानारम्भकाले सकलमलभिदे शास्त्रकारैः कृतं यत्।
विद्यानन्दैः स्वशक्त्या कथमपि कथितं सत्यवाक्यार्थसिद्ध्यै॥- आ.प., श्लोक 123
3. किं पुनस्तत्त्वपरमेष्ठिनो गुणस्तोत्रं शास्त्रादौ सूत्रकारः प्राहुरिति निगद्यते।
4. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ. 6
5. आप्तपरीक्षा, श्लोक 119
6. धवला, पु.5/316
7. पार्श्वनाथचरित, 1/16
8. जैन शिलालेख संग्रह, प्रथम भाग, शि. सं. 198
9. आर्यमहागिरेस्तु शिष्यौ बहुल-बलिस्सहौ यमल-भ्रातरौ तत्र बलिस्सहस्य शिष्यः स्वातिः,
तत्त्वार्थादयो ग्रंथास्तु तत्कृता एव सम्भाव्यन्ते। तच्छिष्यः प्रज्ञापनाकृत् श्रीवीरात् षट्सप्तत्यं
कशतत्रये (376) स्वर्गभाक्। धर्मसागरीय पट्टावली
10. जैन शिलालेख संग्रह 40,42,43,47,50 तथा 108 नं. शिलालेख।
11. तत्त्वार्थाधिगमभाष्य की प्रशस्ति।
12. 'तत्त्वार्थसूत्र में प्रयुक्त च पद' लेखक- श्री आनन्द कुमार जैन ऋषभदेव ग्रंथ माला,
श्री दिगम्बर जैन आशिय क्षेत्र मंदिर संघी जी, सांगानेर, जयपुर
13. तत्त्वार्थसूत्रकर्तारम् उमास्वामिमुनीश्वरम्। श्रुतिकेवलदेशीयं वन्देऽहं गुणमन्दिरम्॥

प्राचीन ग्रन्थों के आलोक में वर्तमान कर-व्यवस्था

डॉ. अरुणिमा रानी

वैदिक अर्थव्यवस्था का मूलमंत्र है- प्रजारंजन, रक्षण और संवर्द्धन। ऋग्वेद में कर-संग्रह के लिए निर्देश है- 'जो राजा सूर्य और मेघ के स्वभाव वाला होकर आठ मास प्रजाओं से कर लेता है और चार मास यथेष्ट पदार्थों को देता है, इस प्रकार सब प्रजाओं का रंजन करता है, वही सब प्रकार से ऐश्वर्यमान् होता है।'¹ प्रस्तुत शोध-पत्र का उद्देश्य प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध कष्ट न देने वाली कर-संग्रह-पद्धति का वर्णन कर आधुनिक बोझिल कर-पद्धति की ओर संकेत करना है।

मनु महाराज समाज-व्यवस्थाओं के प्रवर्तक थे। एक राजा के रूप में उन्होंने अन्य व्यवस्थाओं की ही भाँति कर-व्यवस्था का भी निर्धारण किया। मनु महाराज की कर-व्यवस्था प्रजाओं के कष्ट-निवारण हेतु थी। कौटिल्य अर्थशास्त्र में इस वचन की पुष्टि में कहा है- 'मात्स्यन्यायाभिभूताः प्रजाः मनुं वैवस्वतं राजानं चक्रिरे। धान्यषड्भागं पण्यदशभागं हिरण्यं चास्य भागधेयं प्रकल्पयामासु। तेन भूताः राजानः योगक्षेमवहाः। तेषां किल्बिषं दण्डकरा हरन्ति, योगक्षेमवहाश्च प्रजानाम्।'² मात्स्यन्याय अर्थात् जैसे बड़ी मछली छोटी निर्बल मछली को खा जाती है, इसी प्रकार बलवान् लोगों ने निर्बलों का जीना मुश्किल कर दिया। इस अन्याय से पीड़ित हुई प्रजाओं ने अपनी सुरक्षा और कल्याण के लिए मनु महाराज को अपना राजा बनाया और तभी से प्रजाओं ने अपनी कृषि की उपज का छठा भाग, व्यापार की आमदनी का दसवाँ भाग व कुछ सुवर्ण राजा को कर के रूप में देना निश्चित किया। इस कर को पाकर राजाओं ने प्रजाओं की सुरक्षा और कल्याण का सारा उत्तरदायित्व अपने ऊपर स्वीकार किया। इस प्रकार मनु-निर्धारित कर-व्यवस्था प्रजाओं के कष्टों का निवारण करने और उनका कल्याण करने में सहायक सिद्ध है। कौटिल्य के इस वचन से जहाँ कर-व्यवस्था के उद्भव और प्रयोजन पर प्रकाश पड़ता है वहीं यह भी स्पष्ट होता है कि कर-व्यवस्था प्रजा के रंजन, रक्षण व संवर्धन के लिए होती है।

मनु महाराज की कर-व्यवस्था प्रजा के कष्टों का निवारण करने व उनके कल्याण के लिए है। उन्होंने ऐसे राजा की निन्दा की है जो राजा प्रजाओं की बिना रक्षा किए उनसे बलिञ्जनादि का छठा भाग, कर, शुल्क व व्यापारियों से लिया जाने वाला, प्रतिभाग चुंगी और दण्डजुर्माना ग्रहण करता है। ऐसा राजा शीघ्र ही नरकत्रिविध दुःख को प्राप्त होता है।³ वास्तव में वह प्रजा का ध्यान न रखने के कारण उनके असहयोग से किसी-न-किसी कष्ट

से आक्रान्त हो जाता है। मनु महाराज का कथन है कि जैसे जोंक, बछड़ा और भंवरा थोड़े-थोड़े भोग्य पदार्थ को ग्रहण करते हैं वैसे ही राजा प्रजा से थोड़ा-थोड़ा वार्षिक कर लेवे।⁴ उन्होंने कर की किसी शाश्वत व्यवस्था का निर्धारण नहीं किया अपितु उनका कथन है कि जिस भी प्रकार से राजा, राजपुरुष व प्रजाजन सुखरूप फल से युक्त हों वैसे विचार करके राजा तथा राज्यसभा राज्य में कर-स्थापन करें।⁵ मनु महाराज का स्पष्ट वचन है कि वस्तु-स्थितियों का विचार करके ही राजा कर-संग्रह करे। राजा व्यापारी से कर लेते समय इन बातों पर अवश्य ही विचार करे कि उसकी खरीद और बिक्री, भोजन व मार्ग की दूरी, भरण-पोषण का व्यय और लाभ, वस्तु की प्राप्ति एवं सुरक्षा और जन-कल्याण की स्थिति कैसी है।⁶ राजा को पशुओं और सोने के लाभ में से पचासवां भाग और अन्नों का छठा, आठवां या अधिक से अधिक बारहवां भाग ही लेना चाहिए। गोंद, मधु, घी और गंध, औषधि रस तथा फूल, मूल और फल, इनका छठा भाग कर में लेना चाहिए। वृक्षपत्र, शाक, तृण, चमड़ा, मांसनिर्मित वस्तुएं, मिट्टी के बने बर्तन और सब प्रकार के पत्थर से निर्मित पदार्थ, इनका भी छठा भाग ही कर में लेना चाहिए।⁷ कर-ग्रहण में अतितृष्णा राजा व प्रजा दोनों के लिए ही पीड़ादायक है।

महाभारत में भी अनेकत्र अपीड़ादायक-कर-संग्रह-पद्धति के दर्शन होते हैं। वहां राजा को उपदेश देते हुए कहा गया है कि जैसे भंवरा फूलों की रक्षा करता हुआ ही उनके रस का ग्रहण करता है उसी प्रकार राजा भी प्रजा को बिना कष्ट पहुंचाए उनसे कर-संग्रह करे।⁸ जैसे गोसेवक गाय के बछड़ों का ध्यान रखते हुए थनों को बिना कुचले दुग्धदोहन करता है। उसी प्रकार राजा प्रजा की रक्षा करते हुए, उन्हें बिना कष्ट पहुंचाए, उनके ही कल्याण व संवर्धन के लिए राष्ट्ररूपी गौ का दोहन करे। शान्तिपर्व में राजा को कर-संग्रह करते हुए जोंक, व्याघ्री व चूहे के सदृश व्यवहार करने का उपदेश है। जैसे जोंक बहुत ही कोमलता से मनुष्य के शरीर का रक्त पीती है ठीक वैसे ही राजा मृदु उपायों से ही राष्ट्र का दोहन करे। जैसे तीखे दांतों वाला चूहा सोए हुए मनुष्य के पैर के मांस को ऐसी मृदुता से काटता है कि उसे पीड़ा का भान ही नहीं होता। उसी प्रकार राजा कोमल उपायों से ही कर संग्रह करे, जिससे प्रजा को पीड़ा न हो।¹¹ वहीं पर ही राजा को उपदेश देते हुए कहा है- 'मालाकारोपमो राजन् भव मार्गारिककोयमः।' ¹² अर्थात् हे राजा! कर-संग्रह करते हुए आपकी चेष्टा मालाकार (माली) के सदृश होनी चाहिए, आंगारिक (कोयला बनाने वाले) के सदृश नहीं। जिस प्रकार एक माली वृक्षों की सेवा करता हुआ ही उसके पुष्पादि का उपयोग करता है उसी प्रकार प्रजा की सेवा व रक्षा करते हुए ही कर-संग्रह युक्तियुक्त है। दूसरी ओर, एक कोयला बनाने वाला पहले वृक्ष को काटता है फिर उसे सुखाकर व जलाकर कोयला बनाता है, ऐसा आचरण सर्वथा निषिद्ध है।

व्यवहारभाष्य के अनुसार कर का निर्धारण मनुस्मृति की ही भांति पैदावार की राशि, फसल की कीमत, बाजार-भाव और खेती की जमीन आदि पर निर्भर करता है। सामान्य रूप से पैदावार के दसवें हिस्से को कानूनी टैक्स स्वीकार किया गया है।¹³ जैनसूत्रों में अठारह प्रकार के करों का उल्लेख मिलता है-गोकर, महिषकर, उष्ट्रकर, पशुकर,

छगलीकर, तृणकर, पलालकर, बूसकर, काष्ठकर, अंगारकर, सीताकर (हल पर लिया जाने वाला कर), जंघाकरज्जंगाकर (चारागाह पर लिया जाने वाला कर), बलीवर्दकर, घटकर, चर्मकर, और अपनी इच्छा से दिया जाने वाला कर।¹⁵

जैन-आगम-साहित्य में तात्कालिक पीड़ादायी कर-संग्रह-पद्धति के भी दर्शन होते हैं। बृहत्कल्पभाष्य में एक कथा आती है कि राजगृह में किसी वणिक् ने पक्की ईंटों का घर बनवाया, लेकिन गृहनिर्माता पूरा होते ही वणिक् की मृत्यु हो गयी। वणिक् के पुत्र बड़ी मुश्किल से अपनी आजीविका चला पाते थे। लेकिन नियमानुसार उन्हें राजा को एक रुपया कर देना आवश्यक था। ऐसी हालत में कर देने के भय से वे अपने घर के पास एक झोपड़ी बनाकर रहने लगे; अपना घर उन्होंने जैनश्रमणों को रहने के लिए दे दिया।¹⁶ वहीं पर शुल्क ग्रहण करने वालों की निर्दयता का वर्णन करते हुए कहा है कि 'शूर्पारिक का राजा व्यापारियों से कर वसूल करने में जब असमर्थ हो गया तो अपने शुल्कपालों को भेजकर उसने उनके घर जला देने का आदेश दिया।'¹⁷ इस प्रकार ऐसी स्थितियों को देखकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उस समय की कर-पद्धति भी आज के सदृश बोझिल हो चुकी थी।

आज हमारे देश की कर-व्यवस्था बोझिल होने के साथ-साथ अव्यवस्थित भी हो गयी है। 'द इकोनोमिक टाइम्स' के अनुसार केवल हमारे देश के 2: लोग ही टैक्स देते हैं। ये 2: लोग भी धनाढ्य नहीं हैं अपितु मध्यमवर्गीय ही हैं।¹⁸ ये मध्यमवर्गीय भी केवल वे लोग हैं जो वेतनभोगी हैं और जिनकी आय का लेखा-जोखा सरकार के पास है।

यहां यह भी ध्यातव्य है कि केवल दक्षिण अफ्रीका को छोड़कर दुनिया के लगभग सभी देशों की तुलना में हमारा भारत देश सबसे अधिक टैक्स चुकाता है। 'द इकोनोमिक टाइम्स' ने एक सर्वेक्षण कराया और उसमें दुनिया के अलग-अलग देशों के वे सभी लोग जिनकी वार्षिक आय डेढ़ से दो लाख भारतीय रुपये के तुल्य है, उनके द्वारा देय टैक्स की दर जानने का यत्न किया गया। आय को समतुल्य स्तर पर पहुंचाने के लिए सर्वेक्षणकर्ताओं ने प्रत्येक देश की मुद्रा को उसकी वस्तु-क्रय-क्षमता और अन्तर्राष्ट्रिय विनिमय दर के आधार पर निर्धारित किया। जिनमें 9: से 15: कर चुकाने (डेढ़ से दो लाख की आय पर सरचार्ज मिलाकर) वाले देशों में सिंगापुर, थाईलैण्ड, ताइवान, अर्जेन्टीना आदि देशों के साथ अमेरिका भी शामिल है। पाकिस्तान व बांग्लादेश क्रमशः 20: व 18: कर चुकाते हैं। इंग्लैण्ड में यह दर 22: है तथा चीन में 25: है। लेकिन इन सब देशों से बढ़कर भारत अपने मध्यमवर्गीय सरकारी वेतनभोगी व्यक्ति से 30% की दर से कर वसूल करता है।¹⁹

महदाश्चर्य तो तब होता है जब 'द इकोनोमिक टाइम्स' के इस सर्वेक्षण की ओर दृष्टि जाती है जिसमें यह बताने का यत्न किया है कि कौन सा देश कितना प्रतिशत कर-संग्रहीत-धन कहाँ व्यय करता है। हमारे देश की सरकार हमसे जो टैक्स वसूल करती है उस धन का 91: धन अपने व अपनी नौकरशाही के भोग-विलास में लुटा देती है। केवल 9: धन स्वास्थ्य, शिक्षा, समाज कल्याण व सड़कादि निर्माण में व्यय किया जाता

है। ब्रिटेन में स्वास्थ्यादि पर प्रजा के कर का 58:; अमेरिका में 55: तथा मलेशिया में 43: धन व्यय किया जाता है।²⁰ वास्तव में यह सर्वेक्षण चौंका देना वाला है कि हम भारतवासी दुनिया के सभी देशों की अपेक्षा (केवल दक्षिण अफ्रीका को छोड़कर) अधिक कर चुकाते हैं लेकिन हमारे धन का अत्यल्प (जो सभी देशों से कम है) ही प्रजा के रक्षण, रंजन, व संवर्धन के काम आता है।

इस प्रकार उक्तानुशीलन से यही निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि इस चरमराती हुई कर-व्यवस्था के प्रयोजन की ओर ध्यान धरकर इसमें अपेक्षित परिवर्तन किए जाएं। सरकारी वेतनभोगी लोगों से भिन्न वे बड़े किसान, उद्योगपति, व्यापारी, अभिनेता, सरकारी नेता इत्यादि जो बड़ी ही आसानी से टैक्स देने से बचे रहते हैं वे सब भी ईमानदारी से कर का भुगतान अवश्य करें। अन्यथा 'नवभारत टाइम्स' के संपादक की यह टिप्पणी 'हर खच्चर की पीठ पर एक हाथी लदा है।'²¹ तो मूर्तिमान है ही। जब देश का प्रत्येक व्यक्ति जो कर देने की श्रेणी में आता है, कर-भुगतान करेगा तो स्वतः सभी को अपनी आय कुछ ही प्रतिशत कर देना होगा। जिससे समाज में वैषम्य की स्थिति का किंचित् ह्रास अवश्य होगा। सरकार भी मनुस्मृति व महाभारतादि के वचनों को साररूप में स्मृतिपथ पर अंकित कर ले कि जो राजा बिना प्रजा की रक्षा किए कर-ग्रहण करेगा वह उसी भाँति अपराधी है जैसे कोई क्षीरार्थी गाय के थन को काटकर दुग्ध प्राप्त करना चाहे।²² अतः कर-संग्रह में नृशंसता का परित्याग ही श्रेयस्कर है।²³

संदर्भ—

1. ऋग्वेद, दयानन्दभाष्य 5.30.11
2. अर्थशास्त्र पृ. 8, अ. 12
3. विशुद्ध मनुस्मृति- डॉ. सुरेन्द्र कुमार, 8.307; योऽरक्षन्बलिमादत्ते करं शुल्कं च पार्थिवः। प्रतिभागं च दण्डं च सः सद्यो नरकं व्रजेत्॥
4. वही, 7.129, यथाल्पाल्पमदन्त्याद्यं वार्योकोवत्सष्टपदाः। तथाल्पाल्पो ग्रहीतव्यो राष्ट्रादाज्ञाब्दिकः करः॥
5. वही, 7.128; यथा फलेन युज्येत राजा कर्ता च कर्मणाम्। तथावेक्ष्य नृपो राष्ट्रं कल्पयेत्सततं करान्॥
6. वही, 7.127; क्रयविक्रयमध्वानं भक्तं व सपरिव्ययम्। योगक्षेमं च संप्रेक्ष्य वणिजो दापयेत्करान्॥
7. वही, 7.130-132
8. महाभारत, उद्योगपर्व 34.17; यथा मधु समादत्ते रक्षन् पुष्पाणि षट्पदः। तद्वदर्थान्मनुष्येभ्य आदद्यादविहिंसया॥
9. महा. शान्तिपर्व 89.4; वत्सापेक्षी दुहेच्चैव स्तनांश्च न विकृन्तयेत्।
10. वही, 89.5) जलौकावत् पिबेत् राष्ट्रं मृदुनैव नराधिपः। व्याघ्रीव च हरेत् पुत्रमदृष्ट्वा मा पतेदिति॥
11. वही, 89.6) यथा शल्यकवानाखुः पादं धूनयते सदा। अतीक्ष्णेनाभ्युपायेन तथा राष्ट्रं समापिबेत्॥
12. वही, 72.20) तथा वही, उद्योगपर्व 34.18
13. व्यवहारभाष्य 11, पृ. 128-अ

14. बृहत्कल्पभाष्य 3.4770
 15. आवश्यकनिर्युक्ति, 1078; कौटिल्य अर्थशास्त्र में बाईस प्रकार के राजकर बताए हैं-2.6.242
 16. बृहत्कल्पभाष्य 3.4770; पडनिर्युक्तिटीका, 87; पृ.32-अ में प्रत्येक घर से प्रतिवर्ष दो द्रम्म लिए जाने का उल्लेख है।
 17. बृहत्कल्पभाष्य 1.2506
 18. The economic Times, August 27, 2002; only 2% of the population pays these taxes and it is not even the highest 2%.
 19. दक्षिण अफ्रीका - 32%. न्यूजीलैण्ड - 19.5%.
भारत - 30.6%. बांग्लादेश - 18%.
ऑस्ट्रेलिया - 30%. हांगकांग - 17%.
फिलिपीन्स - 30%. इंडोनेशिया - 15%.
ब्राजील - 28%. अमेरिका - 15%.
चीन - 25%. अर्जेंटीना - 14%.
इंग्लैण्ड - 22%. ताइवान - 13%.
जापान, पकिस्तान - 20%. थाइलैण्ड - 9%.
- (ऐसे व्यक्ति जिनकी आय डेढ़ से दो लाख तक है वे अपने अपने देश के अनुसार उपर्युक्त टैक्स भुगतान करते हैं।)
20. The Economic Times August 27, 2002; Nearly 90% is spent on consumption fattening a blouted, inefficient bureaucracy being one of the main expenses. With Inida spending less and less on investment, the quality of state-founded health care, education, social services and Physical infrastructure like roads and irrigation networks is dismal. Britain puts about 58% of government spending on social services, America's share is about 55% while Malaysia's is about 43%. India's share is nearly 9%.
 21. नवभारत टाइम्स, अगस्त 28, 2002; (यहाँ खच्चर वे मध्यमवर्गीय सरकारी वेतनभोगी कर्मचारी हैं, जो टैक्स देते हैं तथा हाथी उन सब बड़े-बड़े उद्योगपति व व्यापारियों का प्रतिनिधित्व कर रहा है, जो आसानी से टैक्स देने से बचे रहते हैं।)
 22. महाभारत शान्तिपर्व 72.16; ऊधृश्छिन्धाद्धि यो धेन्वाः क्षीरार्थी न लभेत् पयः। एवं राष्ट्रमयोगेन पीडितं न विवर्धते॥
 23. वही, 70.3; अनृशंश्चचरेदर्थम्।

-प्रवक्ता- संस्कृत विभाग
एस. डी. कालेज,
मुजफ्फरनगर (उत्तरप्रदेश)

सर्वार्थसिद्धि में वर्णित नय विमर्श

-डॉ. नरेन्द्रकुमार जैन

नयप्रक्रिया में तीर्थंकरों की तीर्थ परम्परा सुरक्षित है, जिसे अर्थाधिगम के लिए ज्ञान-प्रमाण की तरह ही स्वीकार किया गया है। विभिन्न विचारधाराओं के सामान्य और विशेष वर्गीकरण के मूल में समन्वय समग्रता तथा विश्लेषण-आंशिक सत्यताएं ही दृष्टिगोचर होती हैं। परन्तु जब इनमें से प्रस्फुटित अवान्तर विचारधाराएं विभिन्न विचारधाराओं को लेकर प्रमुखता से एकान्तिक पक्ष की ओर बढ़ने लगती हैं तब अनेक वादविवाद उत्पन्न हो जाते हैं। अतीत के दार्शनिक साहित्य पर दृष्टिपात करें तो इस तरह की अनेक विचारधाराओं का अस्तित्व पाया जाता है। जैसे ब्रह्माद्वैतवादियों का झुकाव सामान्य की ओर रहा है, जिन्होंने अन्तिम निष्कर्ष में भेदों को नकार दिया। बौद्धों ने अभेदों को मिथ्या बताया। अनेक द्रव्यों को मानने वाले सांख्य प्रकृति पुरुषवाद के रूप में उनकी नित्यता और व्यापकता के एकान्त का परित्याग नहीं कर सके। किसी ने धर्म धर्मी, गुण गुणी आदि में एकान्त माना इत्यादि अनेक मतों में परस्पर विरोधी विचारधाराएं दृष्टिगोचर होती हैं। इन सभी विरोधी दृष्टियों का समन्वय माध्यस्थभाव से जैनदर्शन की अनेकान्त दृष्टि ने किया है। इसी अनेकान्त दृष्टि से नयवाद का उद्भव हुआ। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि नयव्यवस्था का मूलाधार अनेकान्तवाद है। स्याद्वाद और सप्तभंगी भी अनेकान्त से फलित सिद्धान्त हैं।

अनन्तधर्मात्मक वस्तु के परस्पर विरोधी धर्मों का प्रतिपादन नयव्यवस्था के बिना संभव नहीं है। वह प्रत्येक वस्तु के धर्म का दृष्टिकोण से पृथक्करण, यथोचित विन्यास आदि अनेक अपेक्षाओं से सिद्ध होता है। अपेक्षाओं का सृजन, मन की सहज रचना, उस पर पड़ने वाले आगन्तुक संस्कार और चिन्त्य वस्तु के स्वरूप आदि के मिलने पर होता है। ऐसी अपेक्षाएं अनेक होती हैं, जिसका आश्रय लेकर वस्तु का विचार किया जाता है, वही अपेक्षाएं दृष्टिकोण के नाम से अभिहित होती हैं। ये दृष्टिकोण एक दूसरे के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए अपने अंश में सत्यता सिद्ध करते हैं। इन सत्यांशों के ही प्रतिपादक नय होते हैं तथा सभी अपेक्षाओं का समुच्चय अनेकान्तदर्शन बन जाता है।

अर्थाधिगम का साधन नय-

जैनतर दर्शनों में अर्थाधिगम के रूप में मात्र प्रमाण को ही स्वीकार किया गया है, परन्तु जैनदर्शन में अर्थाधिगम के लिए प्रमाण के साथ नय को भी आवश्यक माना गया है।¹ क्योंकि नय के बिना वस्तु का ज्ञान अपूर्ण है। नय ही विविध वादों, समस्याओं, प्रश्नों आदि का समाधान तथा वस्तुस्वरूप का यथार्थ मूल्यांकन प्रस्तुत करता है। प्रमाण विविध

वादों को सुलझा नहीं सकता। समस्त वचन प्रयोग और लोक व्यवहार नयाश्रित हैं। षट्खण्डागम में वस्तुव्यवस्था के लिए नय विवक्षा की अनिवार्यता को स्वीकार किया गया है। अनुयोगद्वारा में स्पष्ट बताया गया है कि कौन नय किन कृतियों को विषय करते हैं।² एतदर्थ वहाँ 'नयविभाषणता' नामक एक स्वतंत्र अनुयोग द्वार का भी उल्लेख प्राप्त होता है।³ आचार्य पूज्यपाद ने बताया है कि प्रमाण से ही नय की उत्पत्ति हुई है।⁴ आचार्य समन्तभद्र ने भी प्रमाण और नय दोनों को वस्तु का प्रकाशक कहा है।⁵

प्रमाण के अंश नय-

आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में स्पष्ट किया है कि प्रमाण के अंश नय हैं।⁶ जैनदर्शन में प्रमाण ज्ञान रूप है तथा वही अर्थ परिच्छेदक भी है। अन्य परंपराओं में इन्द्रियव्यापार, ज्ञातृव्यापार, कारकसाकल्य, सन्निकर्ष आदि को प्रमाण माना गया है। जैनदर्शन की दृष्टि में ज्ञान, अर्थप्रमिति में अव्यवहित साक्षात् कारण है, इन्द्रियसन्निकर्ष आदि व्यवहित परंपरा से कारण हैं। इसलिए अव्यवहित कारण को ही प्रमा का जनक स्वीकार करना युक्तिसंगत है। दूसरे प्रमिति अर्थप्रकाश अज्ञाननिवृत्तिरूप है, वह ज्ञान द्वारा ही संभव है, इन्द्रियसन्निकर्ष आदि द्वारा नहीं। मति, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान इन पाँचों ज्ञानों को प्रमाण कहा गया है और इनसे अधिगम होता है। नय से भी प्रमाण की तरह अर्थाधिगम होता है।

यहाँ प्रश्न उत्थित होते हैं कि क्या ज्ञान नयरूप है या नहीं, यदि ज्ञानरूप है, तो क्या वे प्रमाण हैं या अप्रमाण, यदि प्रमाण हैं तो उसे प्रमाण से अलग अर्थाधिगम का उपाय बताने की क्या आवश्यकता थी, यदि अप्रमाण है तब उससे यथार्थ अधिगम कैसे हो सकता है, यदि नय ज्ञानरूप नहीं है तब उसे सन्निकर्ष आदि की तरह ज्ञापक स्वीकार नहीं किया जा सकता है। इन सभी प्रश्नों का समाधान आचार्य पूज्यपाद के इस कथन से हो जाता है कि नय, प्रमाण के अंश हैं। इसलिए वह न प्रमाण है और न अप्रमाण अपितु ज्ञानात्मक प्रमाण का एकदेश है।⁷ इसको आचार्य विद्यानन्द ने समुद्र का उदाहरण देते हुए स्पष्ट किया है कि समुद्र से लाया गया घट भर जल न समुद्र है और न असमुद्र, अपितु समुद्रैकदेश है। यदि उसे समुद्र माना जाता है तो शेष जल असमुद्र कहा आयेगा अथवा समुद्रों की कल्पना करनी पड़ेगी। यदि उसे असमुद्र कहा जाता है तो शेषांशों को भी असमुद्र कहा जायेगा। इस स्थिति में समुद्र का व्यवहार कहीं भी नहीं हो सकेगा तथा समुद्र का ज्ञाता भी किसी को नहीं कहा जा सकता।

अतः नय न प्रमाण है, न अप्रमाण अपितु प्रमाणैकदेश है।⁸ सर्वार्थसिद्धि की ही तरह स्याद्वादमंजरी में भी प्रमाण से निश्चित किये गये पदार्थों के एक अंशज्ञान करने को नय कहा गया है।⁹ सर्वार्थसिद्धि में प्रमाण से ही नय की उत्पत्ति होने के कारण प्रमाण को श्रेष्ठ बताया गया है। नयचक्र में यद्यपि व्यवहार नय से निश्चयनय श्रेष्ठ माना गया है। परन्तु इन दो नयों से प्रमाण को श्रेष्ठ नहीं माना गया है, क्योंकि प्रमाण आत्मा को चैतन्य में स्थापित करने में असमर्थ है।¹⁰

श्रुत प्रमाण नय-

पूज्यपाद देवनन्दि ने सर्वार्थसिद्धि में प्रतिपत्ति भेद से भी प्रमाण भेदों का निरूपण कर उसमें नय का स्थान निर्धारित किया है। उनकी दृष्टि में प्रमाण दो प्रकार का है- स्वार्थ और परार्थ। श्रुतज्ञान को छोड़कर शेष मति, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान स्वार्थ प्रमाण है। परन्तु श्रुतज्ञान स्वार्थ और परार्थ दोनों प्रकार का है। ज्ञानात्मकश्रुत प्रमाण को स्वार्थप्रमाण और वचनात्मक श्रुतप्रमाण को परार्थप्रमाण कहते हैं।¹¹ परार्थप्रतिपत्ति का एकमात्र साधन वचन होने से मति आदि चारों ज्ञान वचनात्मक नहीं है। श्रुतज्ञान द्वारा स्वार्थ और परार्थ दोनों प्रतिपत्तियाँ होती हैं। ज्ञाता व वक्ता का वचनात्मक व्यवहार उपचार से परार्थ श्रुतप्रमाण है। श्रोता को जो वक्ता के शब्दों से बोध होता है, वह वास्तविक परार्थ श्रुतप्रमाण है। ज्ञाता या वक्ता का जो अभिप्राय रहता है और अंशग्राही है, वह ज्ञानात्मक स्वार्थ श्रुतप्रमाण है। इस तरह ज्ञानात्मक स्वार्थ श्रुतप्रमाण और वचनात्मक परार्थ श्रुतप्रमाण दोनों नय हैं।¹² यही कारण है कि दर्शनग्रंथों में ज्ञाननय और वचननय के भेद से दो प्रकार के नयों का भी विवेचन प्राप्त होता है।¹³ यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि नय की प्रवृत्ति मति, अवधि, मनःपर्यय ज्ञानों द्वारा ज्ञात सीमित अर्थ के अंश में नहीं होती है तो क्या नय को समस्त पदार्थों के समस्त अंशों में प्रवृत्त होने वाले केवलज्ञान का अंश माना जा सकता है। इसका समाधान आचार्य विद्यानन्द ने देते हुए लिखा है कि केवलज्ञान प्रत्यक्ष (स्पष्ट) रूप से पदार्थों के समस्त अंशों का साक्षात्कार करता है। नय परोक्ष (अस्पष्ट) रूप से समस्त पदार्थों के अंशों का एकैकशः निश्चय करता है। इसलिए नय केवलमूलक नहीं है। वह मात्र परोक्ष श्रुतप्रमाणमूलक ही है।¹⁴

श्रुतज्ञान के संबन्ध में आचार्यों ने यह भी लिखा है कि श्रुत के उपयोग होते हैं- स्याद्वाद और नय।¹⁵ वस्तु के संपूर्ण कथन को स्याद्वाद एवं वस्तु के एक देश कथन को नय कहते हैं। यही कारण है कि आचार्य समन्तभद्र ने स्याद्वाद को केवलज्ञान के बराबर माना है, दोनों में अन्तर मात्र प्रत्यक्ष और परोक्ष का बताया है।¹⁶ इससे स्पष्ट है कि श्रुतज्ञान के उपयोग में भी स्याद्वाद रूप प्रमाण का अंश नय है। ज्ञात हो आचार्य अकलंक ने श्रुत के तीन भेद किये हैं- प्रत्यक्ष, निमित्तक, अनुमान निमित्तक तथा आगम निमित्तक।¹⁷ जैनतर्कवार्तिककार प्रत्यक्षपूर्वक श्रुत को न मानकर परोपदेशज और लिंगनिमित्तक ये दो ही श्रुत मानते हैं।¹⁸ इन भेदों में लिंगनिमित्तक के अन्तर्गत पूज्यपाद के नय स्वरूप को रखा जा सकता है।

वक्ता या ज्ञाता का अभिप्राय नय-

ज्ञाता या वक्ता का अभिप्राय भी नय है।¹⁹ द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु के विषय में ज्ञाता का अभिप्राय भेद या अभेद को लेकर होता है। उदाहरणार्थ एक ज्ञानी वस्तु में स्थायित्व देखकर उसे नित्य कहता है। वस्तु में होने वाले परिवर्तन आदि को देखकर दूसरा उसे अनित्य कहता है। ये विभिन्न अभिप्राय नय या दुर्नय अथवा नयाभास कहे जाते हैं। जब अपने अपने अभिप्रायों को स्वीकार करते हुए भी दृष्टिभेद से दूसरे के अभिप्राय का निराकरण नहीं करते तब दोनों के ही उन अभिप्रायों को नय कहा जाता है। इसके विपरीत

एकांगी अभिप्राय नयाभास या दुर्नय हैं।²⁰

नय का तार्किक स्वरूप-

सर्वार्थसिद्धिकार आचार्य पूज्यपाद ने प्रमाण से नय की उत्पत्ति मानकर अपने पूर्वाचार्यों द्वारा प्रतिपादित पारंपरिक नय के स्वरूप का उल्लेख करते हुए लिखा है- **प्रगृह्य प्रमाणतः परिणतिविशेषादर्थवधारणं नयः** अर्थात् वस्तु को प्रमाण से जानकर अनन्तर किसी एक अवस्था द्वारा पदार्थ का निश्चय करना नय है। आगे वे एक स्थान पर लिखते हैं- **‘सकलादेशः प्रमाणाधीनो विकलादेशो नयाधीनः’**²¹ तत्पश्चात् उन्होंने दार्शनिक युग के प्रथम जैन नैयायिक आचार्य समन्तभद्र एवं उनके परवर्ती अनन्य तार्किक आचार्य सिद्धसेन दिवाकर आदि आचार्यों द्वारा हेतु- युक्तियों से परिपूर्ण नय स्वरूप को आधार बनाकर पूर्ण विकसित अकाट्य एवं युक्तियुक्तपूर्ण नय के स्वरूप का प्रतिपादन किया है। उन्होंने तत्त्वार्थसूत्र की व्याख्या के प्रसंग में लिखा है- **‘सामान्यलक्षणं तावदवस्तुन्यनेकान्तात्मन्यविरोधेन हेत्वर्पणात्साध्यविशेषस्य याथात्म्यप्रापणप्रणवः प्रयोगो नयः’**²² अर्थात् अनेकान्तात्मक वस्तु में विरोध के बिना हेतु की मुख्यता से साध्यविशेष की यथार्थता को प्राप्त कराने में समर्थ प्रयोग को नय कहते हैं।

आचार्य पूज्यपाद ने नय के इस स्वरूप को ऐसा प्रयोग बताया है, जो अनेकान्तात्मक वस्तु में अविरोध (अविनाभाव) रूप हेतु की मुख्यता से साध्य (अनेकान्तांश) की यथार्थता तक पहुंचाने में समर्थ हो। इससे स्पष्ट है कि उन्होंने नय के इस लक्षण में साध्य, हेतु, पक्ष, अविनाभावअन्यथानुपपन्नवत्त्व- अविरोध आदि का प्रयोग कर नय के स्वरूप में पूर्ण प्रामाणिकता स्थापित कर दी है। यहां हम नय को हेतुवाद के नाम से अभिहित कर सकते हैं। आचार्य अकलंकदेव ने लिखा है कि हेतु विशेष की सामर्थ्य की अपेक्षा प्रमाण के द्वारा निरूपित वस्तु के एक देश को ग्रहण करने वाला सम्यक् एकान्त नय कहलाता है।²³ दार्शनिक युग में पूज्यपाद से पूर्व आचार्य समन्तभद्र ने हेतु का प्रयोग कर नय के तार्किक स्वरूप का सर्वप्रथम सूत्रपात किया था। उन्होंने स्याद्वादरूप परमागम से विभक्त हुए अर्थविशेष का सधर्म द्वारा साध्य के साध्यम्य से जो अविरोधरूप से व्यंजक होता है, उसे नय बताया था।²⁴ आचार्य अकलंक ने समन्तभद्र के विचारों को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि नय का स्वरूप अनुमान और हेतु के बिना समझना कठिन है, स्याद्वादरूप परमागम से विभक्त हुए अर्थविशेष में जब एकलक्षणरूप हेतु घटित हो जाये, तब वह नय की कोटि में आ सकता है।²⁵ स्याद्वाद इत्यादि के द्वारा अनुमित अनेकान्तात्मक अर्थतत्त्व दिखाता है कि उससे नित्यत्वादि विशेष उसके अलग अलग प्रतिपादक हैं, ऐसा जो कहे वही नय कहा जा सकता है। अनेकान्त अर्थ का ज्ञान प्रमाण है और उसके एक अंश का ज्ञान नय है, जो दूसरे धर्मों की भी अपेक्षा रखता है। दुर्नय दूसरे धर्मों की अपेक्षा न रखकर उनका निराकरण भी करते हैं।²⁶ अनेकान्त के दो भेद होते हैं- सम्यक् और मिथ्या। जो प्रमाण के द्वारा गृहीत वस्तु के एक देश को सयुक्तिक प्रमाण ग्रहण करता है, वह सम्यक् एकान्त नय है। ऐसा मानने पर यदि एकान्त का लोप किया जायेगा और अनेकान्त को अनेकान्त ही माना जायेगा तब सम्यगेकान्त के अभाव में शाखादि के अभाव में वृक्ष के अभाव की

तरह तत्समुदयरूप अनेकान्त का भी अभाव हो जायेगा। यदि एकान्त ही माना जायेगा तब उस स्थिति में अविनाभावी इतरधर्मों का लोप होकर प्रकृत शेष का भी लोप हो जायेगा।²⁷ वस्तुतः अनेकान्त की प्रतिपत्ति प्रमाण है एवं एक धर्म की प्रतिपत्ति नय है।

स्याद्वादमंजरी में न्यायदर्शन के अनुमान के स्वरूप में अनुमान का निश्चयात्मक तृतीय ज्ञान 'परामर्श' जैसे शब्द का प्रयोग कर निश्चित प्रमाणांश को प्राप्त कराने वाली नीति को नय कहा गया है।²⁸ इसकी समानता सर्वार्थसिद्धि के नय स्वरूप से की जा सकती है।

आचार्यों के द्वारा 'नीयते एकविशिष्टोऽर्थः प्रतीतिनियमगामिरिति नीतयो नयः'²⁹ जीवादीन् पदार्थान् नयति, प्राप्नुवन्ति, कारयन्ति, साधयन्ति, निर्वर्तयन्ति, निर्भासयन्ति, उपालम्भयन्ति, व्यञ्जयन्ति इति नयः।³⁰ नानास्वभावेभ्यो व्यावर्त्य एकस्मिन्स्वभावे वस्तु नयति प्रापयतीति वा नयः।³¹ आचार्य विद्यानन्द ने 'नीयते गम्यते येन श्रुतांशो नयः'³² इस व्युत्पत्त्यर्थ के अनुसार जिस नीति से एकदेश विशिष्ट पदार्थ लाया जाता है अर्थात् प्रतीति के विषय को प्राप्त कराया जाता है, उसे नय कहा है। इन सभी नयों की व्युत्पत्तियों में नय का जो साधकतम करण हो उसे नय माना गया है। वस्तुतः नय प्रमाण के अंश होने के कारण नय में भी प्रमाणत्व अवश्य रहेगा। प्रमा का करण प्रमाण कहलाता है। जो साधकतम हो, वह करण होता है। प्रमा या जानने रूप क्रिया जैनागम में चेतन मानी गयी है। इसलिए उसमें साधकतम उसी का गुण ज्ञान ही माना जा सकता है। इस दृष्टि से नय क्रिया का भी साधकतम उसी का गुण ज्ञानांश होगा। जब 'नीयते य इति नयः' इस तरह कर्म साधन रूप व्युत्पत्ति की जायेगी, तब नय का अर्थ यह होगा कि नयों के द्वारा अर्थ ही जाने जाते हैं। आचार्य अकलंक ने ज्ञाताओं की अभिसन्धि प्रमाण और प्रमिति के एक देश का सम्यक् निर्णय कराने वाले को नय कहा है।³³ वस्तुतः नय भी ज्ञान की ही वृत्ति है। सर्वार्थसिद्धि में नय के स्वरूप में इन व्युत्पत्तियों का निहितार्थ संक्षेप में युक्तियुक्तरूप से गर्भित किया गया है।

नय सम्यग्दर्शन एवं पुरुषार्थ के हेतु

आचार्य पूज्यपाद ने लिखा है कि नय गौणमुख्यरूप से एक दूसरे की अपेक्षा करके सम्यग्दर्शन के हेतु हैं। जिस प्रकार तन्तु आदिक पुरुष की अर्थक्रिया और साधनों की सामर्थ्य से यथायोग्य निवेशित कर दिये जाने पर पट आदि की संज्ञा को प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार ये नय भी स्वतंत्र रहने पर अपेक्षा बुद्धि से कार्यकारी ही हैं³⁴ क्योंकि पूर्व पूर्व का नय उत्तर उत्तर के नय का हेतु बनकर कार्यकारी होता है। परस्पर निरपेक्ष अंश पुरुषार्थ के भी हेतु नहीं बन सकते, वे परस्पर सापेक्ष होकर ही व्यवहार में साधक हो सकते हैं क्योंकि उस रूप में उनकी उपलब्धि होती है।³⁵

मुख्य का नियामक नय

वधिरूप प्रमाण का प्रतिषेध के साथ तादात्म्य संबन्ध होने से इनमें एक प्रधान और दूसरा गौण होता है, जिसका निर्धारण एक अंश को ग्रहण करके भी अन्य अंशों को गौण रखकर उनका तिरस्कार न करते हुए तथा अपेक्षा बनाये रखने वाले, नय के द्वारा होता है।

इस दृष्टि से नय को मुख्य का नियामक हेतु माना गया है। नय दृष्टान्त का भी समर्थक होता है।³⁶

नय के भेद

आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में षट्खण्डागम आदि आगम ग्रन्थों की तरह समग्र विषयवस्तु को निक्षेपविधि में बांधकर नयदृष्टि से विचार किया है। परम्परा का निर्वाह करते हुए उन्होंने भाव निक्षेप, पर्यायार्थिक नय का विषय एवं शेष तीन नाम, स्थापना और द्रव्य निक्षेप, द्रव्यार्थिक नय के विषय बताये हैं। नय प्रकरण के स्वतंत्र विवेचन में उन्होंने नय के पूर्ण विकसित दार्शनिक स्वरूप के विवेचनपूर्वक परंपरागत नैगमादि सप्तनयों पर प्रकाश डाला है। ज्ञात हो प्रारंभ से अद्यावधि नय के विवेचन में सैद्धान्तिक पक्ष अक्षुण्ण रहा है, चाहे वह नय का विवेचन आगमिक हो या आध्यात्मिक हो या दार्शनिक हो या फिर स्वतंत्र। आगमिक दृष्टि मोक्षमार्ग के उपायों पर बल देती है। आगमिक दृष्टि में सीधे मोक्षमार्ग का वर्णन किया जाता है। दार्शनिकदृष्टि मोक्षमार्गोपयोगी होने के साथ वह पूर्ण न्यायवाक्य हेतु से साधित होती है। आगमिक और आध्यात्मिक दृष्टि को सिद्ध करने के लिए भी आचार्यों ने तार्किक और दार्शनिक पद्धतियों का आश्रय लिया है। स्वतंत्र दृष्टि में किसी भी पद्धति को आधार बनाकर स्वरूप का प्रतिपादन किया जाता है, परन्तु लक्ष्य मोक्षमार्ग या उसके उपाय ही रहते हैं।

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय

सर्वार्थसिद्धि के अनुसार 'द्रव्यमर्थः प्रयोजनमस्येत्यसौ द्रव्यार्थिकः'³⁷ अर्थात् द्रव्य है प्रयोजन जिसका वह द्रव्यार्थिक नय है। इसी ग्रंथ में अन्यत्र लिखा है 'द्रव्यं सामान्यमुत्सर्गः अनवृत्तिरित्यर्थः। तद्विषयो द्रव्यार्थिकः।' अर्थात् सामान्य, उत्सर्ग और अनवृत्ति को विषय करने वाला द्रव्यार्थिक नय होता है। अकलंक ने इसकी व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है- 'द्रवति द्रोष्यति अदुद्रवत् इति द्रव्यम्, तदेवार्थोऽस्ति यस्य सः द्रव्यार्थिकः'³⁸ अन्य आचार्यों ने भी प्रायः इसी तरह इसकी व्युत्पत्तियाँ की हैं।³⁹ जिसका यह लब्धार्थ है कि प्राप्ति योग्य अर्थात् जिसे अनेक अवस्थाएं प्राप्त होती हैं एवं जो सान्तरिक द्रव्यदृष्टि से गमन करता जाये, वह द्रव्य है, ऐसा द्रव्य जिसका प्रयोजन है, वह द्रव्यार्थिक नय है। सरल भाषा में सामान्य, अन्वय, एकत्व और अभेद को विषय करने वाले विचारमार्ग को द्रव्यार्थिक नय कहते हैं।

पर्यायार्थिक नय को स्पष्ट करते हुए पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में लिखा है कि 'पर्यायोविशेषो अपवादो व्यावृत्तित्यर्थः। तद्विषयः पर्यायार्थिकः'⁴⁰ अर्थात् पर्याय का अर्थ विशेष, अपवाद और व्यावृत्ति है और इसको विषय करने वाला नय पर्यायार्थिक कहलाता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि विशेष या भेद को ही लक्ष्य करके प्रवृत्त होने वाला जो विचारमार्ग है, वह पर्यायार्थिक नय है।⁴¹ द्रव्य एकत्वरूप अन्वयात्मक होता है। एक वस्तु में कालक्रम से होने वाली पर्यायों में अनुस्यूत एकत्व द्रव्य का स्वरूप है। द्रव्यत्व अन्य द्रव्यों में पाये जाने के कारण, वह अन्वयी है। पर्याय पृथक् एवं व्यतिरेक है। एक द्रव्य में कालक्रम से उत्पन्न पर्यायों परस्पर में एक दूसरे से भिन्न होती है। एक द्रव्य

मे गुणकर्म, सामान्यविशेष्य से पर्यायरूप पार्थक्य है और प्रत्येक क्षणवर्ती पर्याय अपने से भिन्न क्षणवर्ती पर्याय से भिन्न होती है। यही भिन्नता व्यतिरेक है। प्रतिक्षण अनन्तभेदों को आत्मसात् किये हुए संसारी जीव की क्रोध आदि व्यवहार पर्यायें हैं एवं ज्ञान आदि जीव की निश्चय पर्यायें हैं। तीर्थकरों के वचन इन्हीं दो द्रव्यार्थिक नयों में संग्रहीत हैं, अन्य कोई तीसरा प्रकार नहीं है। इन नयों की विशेषता यह है कि ये नीति, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान के भेद न होकर द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक के रूप में स्वतंत्र रूप से व्यवस्थित हैं।⁴²

ज्ञाननय, अर्थनय और शब्दनय

समस्त अर्थतत्त्व का संग्रह द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों में हो जाता है। जब प्रत्येक पदार्थ को अर्थ, शब्द और ज्ञान के आकारों में बांटते हैं, तब इनके ग्राहक ज्ञान भी स्वभावतः तीन श्रेणियों में विभक्त हो जाते हैं, जिन्हें क्रमशः ज्ञाननय, अर्थनय और शब्दनय कहा गया है।⁴³ दार्शनिक युग के आचार्यों ने सात नयों में प्रथम चार नयों को अर्थनय एवं उत्तर के तीन नयों को शब्द नयों के अन्तर्गत रखा है।⁴⁴ ज्ञाननय का स्वतंत्र उल्लेख नहीं पाया जाता, पर नैगम नय के संबन्ध में यह कहा जाता है कि जब वह अर्थ को विषय करता है, तब अर्थनय एवं जब संकल्प को ग्रहण करता है तब वह ज्ञाननय की कोटि में आ जाता है। ज्ञात हो आचार्य सिद्धसेन नैगम नय को नहीं मानते। पं.फूलचन्द सिद्धांतशास्त्री ने नय से संबन्धित विशेषार्थ में लिखा है कि सर्वार्थसिद्धि के विवेचन से यह पूर्ण रूप में परिलक्षित होता है कि पूज्यपाद को सप्तनयों का विभाजन उपचार नय, अर्थ नय, और शब्द नय के रूप में करना अभीष्ट रहा है। नय श्रुतज्ञान का भेद है। आलम्बन की प्रधानता से उसके सात भेद किये गये हैं। आलम्बन को उन्होंने उपचार, अर्थ और शब्द इन तीन भेदों में विभक्त करके लिखा है कि नैगम नय उपचार होकर भी अर्थ नय है, पर मुख्यतः वह उपचार नय ही है। शेष शब्द, समभिरूढ़ शब्द नय है।⁴⁵

‘नीयते अनेन इति नयः’ इस प्रकार नय की करण साधनरूप व्युत्पत्ति करने पर सभी नय ज्ञान रूप सिद्ध होते हैं एवं **‘नीयन्ते ये इति नयाः’** ऐसी कर्म साधन रूप व्युत्पत्ति करने पर सभी नय अर्थनय सिद्ध होते हैं, क्योंकि नयों के द्वारा अर्थ ही जाने जाते हैं। श्लोकवार्तिक के अनुसार श्रोताओं के प्रति वाच्य का अर्थ का प्रतिपादन करने पर सभी नय शब्दनय स्वरूप हैं और स्वयं अर्थ का ज्ञान कराने वाले सभी नय स्वार्थ प्रकाशी होने से ज्ञाननय है। विधीयमान वस्तु के अंशों का कथन करने से अर्थनय हैं। इस प्रकार प्रधान और गौणरूप से नय तीन प्रकार से व्यवस्थित हैं।

लघीयस्त्रय और श्लोकवार्तिक में नैगमादि चार नयों को एवं सन्मतिप्रकरण, राजवार्तिक आदि में संग्रह आदि तीन नयों को अर्थनय के अन्तर्गत समाहित किया गया है। स्याद्वादमंजरी में सप्तनयों के अर्थ और शब्द नय के रूप में विभाग के औचित्य को बताते हुए लिखा है कि ‘अभिप्राय प्रगट करने के दो ही द्वार हैं—अर्थ और शब्द। इनके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है, जो प्रमाता के अभिप्राय-अर्थ का प्ररूपण करने में प्रवीण हैं वे अर्थ नय है, जिनमें नैगमादि चार नय अन्तर्भूत हो जाते हैं तथा जो शब्दविचार चतुर हैं, वे शब्दादि

तीन नय हैं।⁴⁶

निश्चय और व्यवहार नय

सर्वार्थसिद्धि में निश्चय और व्यवहार नय की वैसी चर्चा नहीं पायी जाती जैसी की अध्यात्म ग्रंथों में उपलब्ध होती है। परन्तु अध्यात्मपरक आगमिक काल में इन नयों से भी होता रहा है। व्यवहार और एवंभूत नय से उक्त नयों का प्रयोजन सिद्ध हो ही जाता है। श्लोकवार्तिककार ने एवंभूत नय को निश्चय और व्यवहार नयों के द्वारा विवेचित किया है। दोनों पद्धतियाँ सिद्धान्त का ही निर्वचन करती हैं। दोनों में अन्तर शरीर और आत्मा जैसा है। एक दृष्टि शुद्ध सिद्धान्त का प्रतिपादन करती है तथा दूसरी दृष्टि सिद्धान्त तक पहुँचने का मार्ग प्रशस्त करती है। बात जब निश्चय और व्यवहार नय की आती तब इन नयों का प्रयोग प्रतिपाद्य की योग्यता के अनुसार होता है। आचार्य कुन्दकुन्द स्पष्ट लिखते हैं कि 'परमभाव शुद्धस्वभाव का अवलोकन करने वाले पुरुषों के द्वारा शुद्धस्वरूप का वर्णन करने वाला शुद्धनय निश्चयनय है और अपरमभाव में स्थित हैं वे व्यवहार नय से उपदेश देने के योग्य हैं।'⁴⁸ किसी एक नय के पक्षपातियों को अध्यात्म गुरु आचार्य अमृतचन्द्रसूरि के इस विचार को सदैव याद रखना चाहिए-

व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थः।

प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः।'⁴⁹

जो शिष्य व्यवहार और निश्चय को यथार्थरूप से जानकर मध्यस्थ रहता है, पक्षपात नहीं करता, वही शिष्य उपदेश का संपूर्ण फल पाता है।

अनेक आचार्यों ने निश्चयनय और व्यवहार नयों को मूल नय मानकर द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों को निश्चय हेतु में साधन माना है। उन्होंने यह भी लिखा है कि निश्चय नय ही द्रव्यार्थिक नय है अथवा द्रव्यार्थिक नय ही निश्चय नय है एवं व्यवहार नय पर्यायार्थिक नय है अथवा पर्यायार्थिक नय ही व्यवहार नय है। कारण और प्रयोजनों के कारण दोनों में अन्तर पाया जाता है, पर विषय भेद नहीं। संपूर्ण वस्तु के संबन्ध में उठे विवाद को प्रमाण के द्वारा ओर उसके एक अंश के विवाद को नय के द्वारा हल किया जाता है। नयों में सामान्य विषयवस्तु को द्रव्यार्थिक और पर्याय को पर्यायार्थिक विषय करता है। इसी तरह आत्मा के संबन्ध में उठे संपूर्ण विवाद को निश्चय नय समाप्त करता है। आत्मा से पर वस्तुओं में उत्पन्न हुए विवाद को व्यवहार नय समाप्त करता है। आचार्य अकलंक की दृष्टि में निश्चय और व्यवहार नय द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय के आश्रित नय हैं। प्रभाचन्द्र और अभयचन्द्रसूरि ने अकलंक के मत का समर्थन किया है।⁵⁰

सप्तनयों का स्वरूप

सप्तनयों के आन्तरिक स्वरूप और स्थिति का विवेचन इस आलेख के अर्थनय, शब्दनय आदि के प्रकरण में किया जा चुका है। सर्वार्थसिद्धि में सोदाहरण प्रत्येक नय के स्वरूप को भी स्पष्ट किया गया है।⁵¹ जिसकी विस्तृत व्याख्याएं अकलंक और विद्यानंद ने अपने ग्रंथों में की हैं। प्रसंगतः यहां सर्वार्थसिद्धि के अनुसार उनका संक्षिप्त स्वरूप प्रस्तुत है।

अनिष्पन्न अर्थ में संकल्प मात्र को ग्रहण करने वाला नय नैगम है। समस्त लोकव्यवहार के ऐसे विषय जो हुए नहीं हैं, उनके आलम्बन से जो संकल्प मात्र को ग्रहण करता है, वह नैगम नय कहलाता है। इसको यहां प्रस्थ का उदाहरण देकर स्पष्ट किया गया है।⁵² ज्ञात हो यह नय एक को विषय नहीं करता अपितु मुख्य गौणरूप से सभी को विषय करता है। नैगम नय को सिद्धसेन आदि आचार्य नहीं मानते हैं। इसमें यह तर्क दिया जाता है कि यह नय उपचार है। वस्तुस्पर्शी विकल्प और वस्तु में आरोपित विकल्प दोनों में बड़ा अन्तर है। वस्तुस्पर्शी विकल्पों को सम्यग्ज्ञान की कोटि में स्थान देना तो अनिवार्य है। किन्तु यदि वस्तु में आरोपित विकल्पों को सम्यग्ज्ञान की कोटि में स्थान दिया जाये तो अनवस्था की सीमा ही न रहे।⁵³

भेद सहित सब पर्यायों को अपनी जाति के अविरोध द्वारा एक मानकर सामान्य से सबको ग्रहण करने वाला नय संग्रह नय है। यथा सत्, द्रव्य घट आदि।⁵⁴ स्याद्वादमंजरी के अनुसार विशेषों की अपेक्षा न करके वस्तु को सामान्य से जानना संग्रहनय है।⁵⁵ अन्य आचार्यों ने भी प्रायः इसके इसी तरह के स्वरूप का विवेचन किया है।⁵⁶ वस्तुतः संग्रहनय एक ऐसी मनोवृत्ति है, जो विश्व के सभी गुणधर्मों आदि भेदों को विस्मृत कर एक अखण्ड स्वरूप पर ही विचार करती है। इस नय के दो भेद किये गये हैं- स्व और पर।⁵⁷ संग्रहनय के द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थों का विधिपूर्वक अवहरण अर्थात् भेद करना व्यवहार नय कहलाता है। इस नय में अर्थ का ग्रहण, शब्द के गुणधर्मों का ग्रहण किये बिना होता है। इस नय से लोक के समस्त भेदात्मक व्यवहारों का बोध होता है। इस दृष्टिकोण से 'सत्' अखण्ड न रहकर खण्डों में विभक्त हो जाता है।⁵⁸

पूज्यपाद ने ऋजु का अर्थ प्रगुण किया है अर्थात् जो सरलता को सूचित करता है, वह ऋजुसूत्र नय है।⁵⁹ यह नय भूत और भविष्य के चक्कर में न पड़कर मात्र वर्तमान काल के पदार्थों को ग्रहण करता है। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि यह नय वर्तमान पर्याय द्वारा वस्तु का ग्रहण करता है। शब्दादिक नयों में शब्दों द्वारा वर्तमान पर्याय का ग्रहण होता है।

लिंग, संख्या और साधन आदि के व्यभिचार की निवृत्ति करने वाला शब्दनय है। व्यभिचार का वास्तविक अर्थ है, शब्द भेद होने पर अर्थभेद नहीं मानना, ऐसे व्यभिचारों को पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में अनेक उदाहरण देकर स्पष्ट किया है। नाना अर्थों का समारोहण करने वाला होने से समभिरूढ़ नय कहलाता है। इसको स्पष्ट करते हुए पूज्यपाद ने लिखा है कि नाना अर्थों को 'सम्' अर्थात् छोड़कर प्रधानता से जो एक अर्थ में रूढ़ होता है, वह समभिरूढ़ नय है। इस नय में पर्यायवाची शब्दों के अर्थ में व्युत्पत्तिभेद में से भेद बतलाये जाते हैं। जैसे- इन्द्र, पुरन्दर, शक्र आदि पर्याय शब्दों के अर्थ भेद की दृष्टि समभिरूढ़ नय है। जो वस्तु जिस पर्याय को प्राप्त हुई है, उसी रूप निश्चय कराने वाले नय को एवंभूतनय कहते हैं।⁶⁰

अनेक नय

सर्वार्थसिद्धि में आचार्य पूज्यपाद ने स्पष्ट किया है कि नैगमादि नय सूक्ष्म विषय वाले

होने के कारण पूर्व पूर्व नय उत्तर उत्तर का हेतु है तथ पूर्व पूर्व विरुद्ध महाविषयवाले और उत्तरोत्तर अनुकूल अल्प विषय वाले हैं। द्रव्य की अनन्त शक्ति है। इसीलिए प्रत्येक शक्ति की अपेक्षा भेद को प्राप्त होकर ये अनेक विकल्प वाले हो जाते हैं।⁶¹ प्रस्तुत ग्रंथ में पूज्यपाद ने पूर्वोत्तर भाव प्रज्ञापन नय, पूर्वभाव प्रज्ञापन, नय, भूतग्राहि नय, प्रत्युत्पन्न नय, भूतप्रज्ञापन नय एवं भूतपूर्व नय आदि अनेक नयों का उल्लेख किया है।⁶² श्लोकवार्तिक के अनुसार भूत और भावि नय द्रव्यार्थिक-नैगमादि तीन नयों में और वर्तमान नय पर्यायार्थिक नय-ऋजुसूत्र आदि चार नयों में समाहित हो जाते हैं।⁶³ ऋजुसूत्र नय और तीन शब्द नय प्रत्युत्पन्न नय कहलाते हैं। आचार्य समन्तभद्र ने नयों और उपनयों की चर्चा कर संख्यात नयों की ओर संकेत किया है।⁶⁴ धवला एवं सन्मतिप्रकरण आदि ग्रंथों में स्पष्ट उल्लेख है कि जितने वचनों के मार्ग हैं उतने ही नयवाद हैं और जितने नयवाद हैं उतने ही परसमय हैं।⁶⁵ वस्तुतः किसी भी वस्तु के एक अंश को अवलम्बित करके उससे संबन्धित प्रवृत्त होने वाले सभी विचार उस दृष्टिकोण से नय हैं। तत्त्वार्थवार्तिक में अकलंक ने स्पष्ट करते हुए लिखा है कि शब्द की अपेक्षा नयों के एक से लेकर असंख्यात विकल्प होते हैं परन्तु सप्तभेदात्मक नय अज्ञानी और मध्यम रुचि वाले शिष्यों की अपेक्षा से कहे गये हैं।⁶⁵

निष्कर्ष

अनन्तधर्मात्मक वस्तु के संबन्ध में चिन्तन की प्रारंभिक अवस्था में सामान्य-विशेषात्मक दो दृष्टियाँ रहीं हैं। चिन्तन के इस क्रम में किसी परिस्थिति, मर्यादा, रुचि आदि समग्र सत्य के अंशों तक न पहुँच पाने के कारण अपने उस अंश को ही सत्य मान लेना, अन्य की उपेक्षा आदि करना सत्य की असमग्रता या ऐकान्तिकता का बोध कराती है। नयदृष्टि समग्र सत्यांश में सत्यांश समझती है। दार्शनिक पृष्ठभूमि में जिसे प्रमाण के अंश के रूप में जाना जाता है। नय एक ऐसा दृष्टिकोण या मनोवृत्ति है, जिसे वक्ता या श्रोता का अभिप्राय भी कहा गया है। सत्य के किसी भी अंश का विरोध किये बिना यह दृष्टि एक एक अभिप्राय को शब्दों के द्वारा व्यवहारोपयोगी बनाती है। नय ज्ञापक और उपायतत्त्व दोनों है। किसी भी सिद्धांत के सर्वमान्यता का आधार उसके स्वरूप का न्यायिक होना आवश्यक है। इस दृष्टि से आचार्य पूज्यपाद ने ऐसे प्रयोग को नय कहा है जो अनेकान्त वस्तु में विरोध के बिना हेतु की मुख्यता से साध्य विशेष की यथार्थता को प्राप्त कराने में समर्थ हो। नय, प्रमाण और स्याद्वाद दोनों का अंश है। इसको श्रुतज्ञान का उपयोग भी कहा जाता है। नय सम्यग्दर्शन और पुरुषार्थ का हेतु होने के साथ साथ मुख्य का नियामक और दृष्टांत का समर्थक भी है। सापेक्ष दृष्टि को भी दूसरे शब्दों में नय से अभिहित किया जा सकता है। इनके मुख्य दो भेद हैं- द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। ये दोनों नय सप्त नयों का ही वर्गीकरण है तथा मति, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान के भेद न होकर स्वतंत्र रूप से व्यवस्थित हैं। सप्तनयों का ज्ञाननय, अर्थनय और शब्दनय में वर्गीकरण किया गया है। नैगमादि नय सूक्ष्म विषय वाले होने के कारण पूर्व पूर्व नय उत्तर उत्तर का हेतु है तथा द्रव्य की अनन्त शक्ति की अपेक्षा अनेक विकल्प वाले हो जाते हैं अर्थात् अनन्त नय हो सकते हैं।

इस प्रकार सर्वार्थसिद्धि में आचार्य पूज्यपाद ने सैद्धान्तिक पक्ष को अक्षुण्ण रखते हुए षट्खण्डागम आदि ग्रंथों की तरह समग्र विषयवस्तु को निक्षेपविधि में बांधकर नयदृष्टि से विचार किया है। चूँकि वे पूर्ण विकसित दार्शनिक एवं तार्किक युग के आचार्य थे, इसलिए उन्होंने नय संबन्धी विवेचन में उस युग के दार्शनिक साहित्य के लिए आवश्यक तत्त्वों साध्य साधन, हेतु, युक्ति आदि से युक्त न्यायवाक्यों का प्रयोग कर साध्य को सिद्ध किया है, जिसका प्रबल उदाहरण सर्वार्थसिद्धि में वर्णित नय विमर्श है।

संदर्भ—

1. प्रमाणनयैरधिगमः- तत्त्वार्थसूत्र, 1.6
2. षट्खण्डागम, सूत्र 4.1-50 (पु.9)
3. वही, 4,1,47,(पु.9)सूत्र4,2(पु.10)आदि
4. स. सि. 1.6,15
आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि, भारतीय ज्ञानपीठ इन्स्टी. एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली, सं.15 सन् 2009, सूत्र 1,6,15
5. समन्तभद्र, आप्तमीमांसा,101
6. प्रमाणैकदेशाश्च नयाः- स.सि. 1.32
7. आचार्य विद्यानंद, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकम्, पृ.123
8. वही, पृ.118
9. मल्लिषेण, स्याद्वादमंजरी, 28.390.9
10. नयचक्र/श्रुत/32,उद्धृत, क्षु.जिनवर्णी जैनेन्द्र सिद्धासन्त कोष, भाग 2 पृ. 516
11. स.सि. 1.6
12. द्रष्टव्य, कोठिया, द.लाल, अ. ग्रंथ 516
13. त.श्लो0वार्तिक, पृ. 142
14. वही, 1.6 पृष्ठ 124
15. आप्तमीमांसा 101,105, सिद्धसेन, न्यायावतार,30 अकलंक, लघीयस्त्रय, 62
16. आप्तमीमांसा 105
17. प्रमाणसंग्रह, 1
18. जैन, म0कु0 जैनदर्शन, पृ.266 गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रंथमाला, वाराणसी तृ.सं. 1974, पृष्ठ 266
19. अकलंक, लघीयस्त्रय, 52,55,62 एवं वृ.30
20. जैन, एन.के. समन्तभद्र अवदान, स्याद्वाद प्रसारिणी सभा, चैतन्य निलय, 3/359, न्यु विद्याधर नगर जयपुर, पृष्ठ 133
21. स0सि0 1,6
22. वही, 1,33
23. अकलंक, तत्त्वार्थवार्तिक, 1,6
24. सधर्मैणैव साध्यस्य साधर्म्यादविरोधतः।
स्याद्वादप्रविभक्तार्थविशेषव्यंजको नयः।आ0मी0105
25. दृष्टव्य, जैन न0कु0 स0अ0 पृ.133
26. त0वा0 1,6
27. स्याद्वाद मं. 28,310/9
28. वही, 27.305
29. तत्त्वार्थाधिगमभाष्य, 1,35
30. आप्तपरीक्षा, 9
31. त0श्लोकवार्तिक 1.33
32. सिद्धिविनिश्चयटीका,2.101.102
33. स0सि0 1.33
34. युक्त्यनुशासन,50 और स्वयंभूस्तोत्र,52
35. समन्तभद्र,स्वयंभूस्तोत्र, 61,62
36. स0सि0 1.6
37. अकलंक, लघीयस्त्रयवृत्ति, 30
38. द्रष्टव्य, न्यायवि0 114, त0वा01.5.8, 5.2426
39. स0सि0 1.6
40. जैन, न0कु0 जैनदर्शन, पृ0339
41. लघीयस्त्रय, 72, त0श्लोकवा0 1.33
42. जैन, म0कु0 जैनदर्शन, पृ. 339
43. लघीयस्त्रय,72, त0श्लोकवा0 1.33
44. स0सि0 विशेषार्थ, 1.33
45. स्या0मं0 28.310.319
46. त0श्लोकवा0 1.7.28
47. कुन्दकुन्द, समयसार, 13
48. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 13
49. समन्तभद्र अवदान, पृष्ठ 136
50. स0सि0 33
51. वही, 33
52. शास्त्री, फूलचन्द, स0सि0 विशेषे पृ0105
53. स0सि0 1.33
54. स्या0 मं0 28.311
55. त0वा0 133, श्लोकवा0 11.133
56. त0वा0 1.33

25. अकलंक, आ०मी०भाष्य, 106 न्यावि० 229

58. स०सि० 133

59. वही, 1.33

60. वही, 1.33

61. वही, 1.6

62. वही, 5.39, 2.6, 109 आदि

63. आप्तमीमांसा, 107

64. धवला, 1.1.1, 67 सन्मतिप्रकरण,
3.47 आदि

65. त०वा० 1.33

-एसोसियेट प्रोफेसर, संस्कृत
२-ए-७८, नेहरू नगर,
गाजियाबाद (उ.प्र.)

अनेकान्त-महिमा

‘अनंत धर्मणस्तत्त्वं पश्यन्ती प्रत्यगात्मनः ।

अनेकान्तमयीमूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम॥

जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा ण णिव्वडइ।

तस्स भुवनेक्कगुरुणो णमो अणेगंतवायस्स॥’

अर्थात् जिसके बिना लोक का व्यवहार सर्वथा ही नहीं बन सकता,
उस भुवन के गुरु-असाधारण, अनेकान्तवाद को नमस्कार हो।

श्रावक और गुणव्रत

-डॉ. सारिका त्यागी

श्रावक का स्वरूप-

‘श्रणोति गुर्वादिभ्यो धर्ममिति श्रावकः’ अर्थात् जो हितकारी वाक्यों को सुनने वाला है, वह श्रावक है। ‘श्रावक’ शब्द का समान्य जो प्रायः लोकचर्चित अर्थ है-श्रा-श्रद्धावान्, व-विवेकवान्, क-क्रियावान्। आचार्यों ने श्रावकों के लिये श्रद्धा गुण की मुख्यता बतलायी है।

श्रद्धा के साथ विवेक और क्रियावान् होने पर ही इसकी सार्थकता है। यह शब्द स्वयं में रत्नत्रय को समाहित किये हुए है। ‘श्र’ श्रद्धा अर्थात् दर्शन ‘व’ विवेक अर्थात् ज्ञान ‘क’ क्रिया अर्थात् चरित्र के वाचक है। तीनों वर्ण रत्नत्रय की सूचना देते हैं अतः इससे स्पष्ट है कि ‘श्रावक’ रत्नत्रय का धारक होता है।

श्रावक प्रज्ञप्ति नामक ग्रंथ में भी इसी प्रकार का कथन है-

समतं दंसणाई पर्यादहं जइजण सुणई या।

सामायारिं परमं जो खलु तं सावगं विन्ति॥^१

अर्थात् जो सम्यग्दर्शनादि युक्त गृहस्थ प्रतिदिन मुनिजनों आदि के पास जाकर परम समाचारी (साधु और गृहस्थों का आचार विशेष) को सुनता है, उसे श्रावक कहते हैं। ‘श्रावक’ नाम की निरुक्ति इस प्रकार की गयी है- ‘श्रान्ति पचन्ति तत्त्वार्थश्रद्धानं निष्ठां नयन्तीतिश्राः तथा वपन्ति गुणवत्सप्तक्षेत्रे- बुधनबीजानि निक्षिपन्तीति वाः तथा किरन्ति क्लिष्टकर्मरजो विक्षिपन्तीति काः ततः कर्मधारये श्रावका इति भवति।^२

इसका अभिप्राय यह है कि श्रावक इस पद में तीन शब्द है। इनमें से ‘श्रा’ शब्द तो तत्त्वार्थ- श्रद्धान की सूचना करता है, ‘व’ शब्द सप्त धर्म क्षेत्रों में धनरूप बीज बोने की प्रेरणा करता है और ‘क-’ शब्द क्लिष्ट कर्म या महापापों को दूर करने का संकेत करता है। इस प्रकार कर्मधारय समास करने पर यह श्रावक नाम निष्पन्न हो जाता है। कुछ विद्वानों ने ‘श्रावक’ शब्द का अर्थ इस प्रकार भी दिया है जो सम्यक्त्वी और अणुव्रती होने पर भी प्रतिदिन साधुओं से गृहस्थ और मुनियों के आचार धर्म को सुने, वह श्रावक कहलाता है।^३

श्रावक के व्रत

जीवनपर्यन्त हिंसा आदि पांच पापों के एकदेश या सर्वदेश निवृत्ति को व्रत कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है- अणुव्रत या महाव्रत। अणुव्रत श्रावक के लिये है और महाव्रत साधुओं के लिये होता है। सर्वार्थसिद्धि में आचार्य पूज्यपाद ने कहा है कि प्रतिज्ञा करके जो नियम लिया जाता है, वह व्रत है। यह करने योग्य है, यह नहीं करने योग्य है- इस प्रकार नियम करना व्रत है।^४ व्रत शब्द विरति के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है तथा प्रवृत्ति (वृत्तु वर्तने धातु से निष्पन्न होने के कारण) के अर्थ में भी होता है इसीलिये पण्डित

आशाधर जीने व्रत का स्वरूप इस प्रकार कहा है “किन्हीं पदार्थों के सेवन का या हिंसादि अशुभ कर्मों का नियत या अनियत काल के लिये संकल्प करके त्याग करना व्रत है या पात्रदान आदि अच्छे कर्मों में उसी प्रकार संकल्पपूर्वक प्रवृत्ति करना व्रत है।”⁶ इस कथन में व्रत में पाप से निवृत्ति तथा शुभ में प्रवृत्ति दोनों स्वीकार की गयी है। श्रावक के बारह व्रत कहे गये हैं- पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत। श्वेताम्बर परंपरा में पांच अणुव्रतों को मूलव्रत तथा शेष सात को उत्तरव्रत कहा गया है।⁷

गुणव्रत

गुणव्रत अणुव्रतों में विशेषता उत्पन्न करते हैं। अणुव्रती के गुणों की अभिवृद्धि कारक होने के कारण गुणव्रत संज्ञा सार्थक है। अणुव्रत स्वर्ण रूप है और गुणव्रत उस सोने पर चमक बढ़ाने वाले हैं। तीन गुणव्रत पांचों अणुव्रतों में शक्ति का संचार करते हैं। उनके परिपालन में सहायक होते हैं उनकी संरक्षा करते हैं। आचार्य समन्तभद्र स्वामी गुणव्रतों का वर्णन करते हुए कहते हैं-

दिग्व्रतमनर्थदण्डव्रतं च भोगोपभोगपरिमाणम्।

अनुवृहणाद् गुणानामाख्यान्ति गुणव्रतान्यार्याः॥⁸

अर्थात् दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोगपरिमाण व्रत इन तीनों को (अष्टमूलगुणों, अणुव्रतों) व्रतों की वृद्धि करने से आर्य पुरुष इन्हें गुणव्रत कहते हैं आचार्य सोमदेव सूरि ने उपासकाध्ययन में गुणव्रतों को दिग्विरति, देशविरति और अनर्थदण्डविरति के भेद से तीन गुणव्रत बताये हैं।

अणुव्रत मूलगुण रूप है और सप्तशील उत्तर गुण है। तत्त्वार्थभाष्य के उल्लेखानुसार श्रावक के शील और उत्तरगुण एकार्थक है। सूत्रकार गुणव्रत और शिक्षाव्रतों को शील संज्ञा देते हैं। किन्तु सोमदेव ने इन्हें उत्तरगुणों में परिगणित किया है। गुणव्रतों की तीन संख्या को प्रायः सभी आचार्यों ने स्वीकार किया है। किन्तु नाम की दृष्टि में मत वैभिन्न्य मिलता है।

तत्त्वार्थसूत्रकार दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत इन तीन को गुणव्रत की संज्ञा में अभिहित करते हैं। तत्त्वार्थसूत्र के अनुवर्ती चामुण्डराय, वसुनन्दि, अमितगति, सोमदेव, पं. मेधावी आदि हैं। समन्तभद्र स्वामी दिग्व्रत, भोगोपभोगपरिमाण व्रत और अनर्थदण्डव्रत इन तीन को गुणव्रत के भेद बतलाते हैं। पण्डित आशाधर जी ने भी समन्तभद्र स्वामी द्वारा प्रतिपादित गुणव्रतों को स्वीकार किया है केवल इतना भेद है कि तत्त्वार्थसूत्रकार और वसुनन्दि आदि तो देशव्रत को गुणव्रतों में परिगणित करते हैं किन्तु समन्तभद्र आदि आचार्य उसे देशावकाशिक शिक्षाव्रत नाम से व्याख्यायित करते हैं। भोगोपभोगपरिमाण व्रत को आचार्य समन्तभद्र ने गुणव्रत स्वीकार किया है किन्तु तत्त्वार्थसूत्र इसी व्रत को नामान्तर उपभोगपरिभोगव्रत से शिक्षाव्रत मानते हैं। विचारणीय है कि देशावकाशिक या देशव्रत को गुणव्रत माना जाये या शिक्षाव्रत? क्योंकि कुछ आचार्य तो गुणव्रत कहते हैं और कुछ शिक्षाव्रतों में परिगणित करते हैं। सभी श्रावकाचार्यों में देशव्रत का स्वरूप समान ही मिलता है- जीवनपर्यन्त के लिय किये हुए दिग्व्रत में काल की मर्यादा द्वारा अनावश्यक क्षेत्र में आने आने का परिमाण करना देशव्रत है।

१. दिग्व्रत

आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्डश्रावकाचार में कहा है कि दसों दिशाओं की मर्यादा करके सूक्ष्म पापों की निवृत्ति के लिये 'मैं इस मर्यादा से बाहर नहीं जाऊँगा' मरण-पर्यन्त के लिये यह प्रतिज्ञा करना दिग्व्रत है।¹⁰ आचार्य चामुण्डराय ने चारित्रसार में लिखा है पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व (ऊपर), अधो (नीचे), ईशान, आग्नेय, नैऋत्य और वायव्य ये दस दिशाएं कहलाती हैं। पर्वत, नदी, आदि प्रसिद्ध चिन्हों के द्वारा अथवा योजनादि के द्वारा उन दशों दिशाओं का परिमाण कर लेना और यह नियम लेना कि ये सब दिशाएं जो न हटाये जा सकें ऐसे छोटे-छोटे जीवों से भरी हुई हैं। इसीलिये इस किये हुए परिमाण के बाहर मैं नहीं जाऊँगा। परिमाण के बाहर आने जाने का त्याग करना दिग्विरति है। सकलकीर्ति के शब्दों में जो बुद्धिजीवी समस्त दिशाओं की मर्यादा नियत करके कभी भी उससे बाहर नहीं जाता है वह दिग्विरति व्रत होता है।¹¹

दिग्व्रत के अतिचार

ऊर्ध्वभागव्यतिक्रम, अधोभागव्यतिक्रम, तिर्यग्भाग व्यतिक्रम, क्षेत्रबुद्धि, और सीमा की विस्मृति ये पांच दिग्व्रत के अतिचार हैं। दिग्व्रत के पांच अतिचार भी सभी आचार्यों ने समान रूप से वर्णित किये हैं।

२. अनर्थदण्डव्रत

अनर्थदण्डव्रत अर्थात् निष्प्रयोजन पाप के त्याग का नाम अनर्थदण्डव्रत है। आचार्य पूज्यपाद ने उपकार न होने पर जो प्रवृत्ति केवल पाप का कारण है उसे अनर्थदण्ड कहा है।¹² पण्डित प्रवर आशाधर जी ने कहा है कि अपने और अपने संबन्धियों के मन, वचन एवं काय संबन्धी प्रयोजन के बिना पापोपदेश आदि के द्वारा प्राणियों को पीड़ा देना अनर्थदण्ड है और उसका त्याग अनर्थदण्डव्रत माना है।¹³ आचार्य समन्तभद्र ने दिशाओं की मर्यादा के अन्दर अन्दर निष्प्रयोजन पाप कारणों से विरक्त होने को अनर्थदण्डव्रत माना है।¹⁴ चारित्रसार में भी निष्प्रयोजन पापदान के हेतु को अनर्थदण्ड कहा गया है।¹⁵ जो पुरुष दिग्व्रत का पालन करता हुआ भी बिना किसी कारण के लगने वाले पापों का त्याग करता है वह अनर्थदण्डव्रत होता है।¹⁶ उमास्वामी श्रावकाचार में उमास्वामी ने स्पष्टतया प्रतिपादित किया है कि पापोपदेशादि अनर्थों का निरन्तर त्याग करने को मुनीश्वरों ने अनर्थदण्ड कहा है।¹⁷ अन्य श्रावकाचार विषयक चरणानुयोग के ग्रंथों ने भी कुछ शब्दभेद के साथ अनर्थदण्डव्रत का लगभग यही स्वरूप कहा है।

संसारी प्राणी का सर्वथा निष्पाप या निरपराध हो पाना संभव नहीं है। अपने स्वार्थ लोभ लालसा आदि की पूर्ति के लिये अथवा अपने संतोष के लिये यह प्रतिक्षण पापपूर्ण कार्यों को करता रहता है। यद्यपि राजकीय कानूनों के अधीन वह इन कार्यों के कारण अपराधी नहीं माना जाता है, तथापि धार्मिक दृष्टि से वह कदाचार का दोषी है।

अनर्थदण्ड के भेद

अनर्थदण्डव्रत पांच प्रकार का माना गया है क्योंकि अनर्थदण्ड या निष्प्रयोजन पाप पांच

कारणों से होता है वह कभी पाप आर्त एवं रौद्र ध्यान के कारण होता है, असावधानीवश आचरण के कारण होता है, कभी जीवहिंसा के कारण बनने वाली सामग्री को प्रदान करने से होता है तथा कभी वह पाप कामभोगवर्धक कथाओं आदि के सुनने से होता है। इसी आधार पर अनर्थदण्ड के पांच भेद माने गये हैं- पापोपदेश, हिंसादान, अपध्यान, दुःश्रुति और प्रमादचर्या।¹⁸ अनर्थदण्डों की संख्या में कहीं-कहीं अन्तर भी देखने को मिलता है। आचार्य अमृतचन्द्र ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में उक्त पांच अनर्थदण्डों में द्यूतक्रीड़ा को जोड़कर छः अनर्थदण्डों का वर्णन किया है।¹⁹ जबकि श्वेताम्बर परंपरा दुःश्रुति को पृथक् अनर्थदण्ड के रूप में उल्लिखित न करके इसका अन्तर्भाव अपध्यान (आर्त-रौद्र ध्यान) में करती प्रतीत होती है।²⁰

१. पापोपदेश

बिना किसी प्रयोजन दूसरों को पाप का उपदेश देना अर्थात् ऐसे व्यापार की सलाह देना जिससे प्राणियों को कष्ट पहुंचे अथवा प्रोत्साहन मिले पापोपदेश नामक अनर्थदण्ड कहलाता है। आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने तिर्यग्वाणिज्या, क्लेश वाणिज्या, हिंसा, आरंभ, ठगाई आदि की कथाओं के प्रसंग उठाने को पापोपदेश नामक अनर्थदण्ड माना गया है।²¹ कार्तिकेयानुप्रेक्षा के अनुसार कृषि, पशुपालन, व्यापार आदि आरंभ कार्यों का जो उपदेश दिया जाता है तथा स्त्री पुरुष के समागम आदि का उपदेश देना पापोपदेश नामक अनर्थदण्डव्रत होता है।²² पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा गया है कि निष्प्रयोजन किसी पुरुष को आजीविका के साधन विद्या, वाणिज्य, लेखनकला, कृषि, व्यवसाय और शिल्प आदि नाना प्रकार के कार्यों एवं उपायों का उपदेश देना पापोपदेश अनर्थदण्ड कहलाता है।²³ सागारधर्मावृत में पण्डित प्रवर आशाधर ने उन समस्त वचनों को पापोपदेश अनर्थदण्ड कहा है, जो हिंसा, झूठ आदि तथा खेती, व्यापार आदि से संबन्ध रखते हों उनका कहना है कि जो इन कार्यों से आजीविका चलाने वाले व्याध, ठग, चोर, कृषक, भील आदि हैं, उन्हें पापोपदेश नहीं देना चाहिये और न ही गोष्ठी में इस प्रकार की वार्तालाप का प्रसंग लाना चाहिये। उन्होंने लिखा है-

पापोपदेश यद्वाक्यं हिंसाकृष्यादिसंश्रयम्।

तज्जीविन्यो न तं तद्यान्नापि गोष्ठ्यां प्रसज्येत्॥²⁴

चामुण्डराय के अनुसार गाय, भैंस आदि पशुओं को इस देश से ले जाकर दूसरे देश में बेचने से अथवा किसी देश से लाकर यहां बेचने से बहुत धन का लाभ होगा ऐसा उपदेश निर्यग्वाणिज्या पापोपदेश है। इसी प्रकार अमुक देश में दासी-दास आसानी से मिल जाते हैं उन्हें वहां से खरीदकर अमुक देश में बेचने से पर्याप्त अर्थार्जन होगा ऐसा उपदेश देना क्लेशवाणिज्या पापोपदेश कहलाता है। शिकारियों से यह कहना कि हिरण, सुअर या पक्षी आदि अमुक देश में बहुत होते हैं, हिंसोपदेश या वधकोपदेश, पापोपदेश नामक अनर्थदण्ड कहलाता है। खेती आदि करने वालों को यह बताना कि पृथिवी, जल, अग्नि, पवन एवं वनस्पति आदि का संग्रह इन-इन उपायों से करना चाहिये, आरंभकोपदेश अनर्थदण्ड है। चारित्रसार में इन चार को चार प्रकार का अनर्थदण्ड कहा गया है।²⁵

२. हिंसादान

निष्प्रयोजन जहरीली गैस, अस्त्र-शस्त्र आदि उपकरणों का दान, जिनसे हिंसा उत्पन्न हो सकती है, हिंसादान नामक अनर्थदण्ड कहलाता है। समन्तभद्राचार्य के अनुसार फरसा, तलवार, कुदाली, अग्नि, आयुध, सींग, सांकल आदि हिंसा के उपकरणों का दान हिंसादान नामक अनर्थदण्ड है।²⁶ आचार्य पूज्यपाद ने भी इसी प्रकार विष, कांटो, शस्त्र अग्नि, रस्सी, चाबुक और डण्डा आदि हिंसा के उपकरणों के दान को हिंसादान अनर्थदण्ड कहा है।²⁷ अमृताचन्द्राचार्य ने लिखा है-

असिधेनुविषहुताशनलांगलकरवालकार्मुकादीनाम्।

वितरणमुपकरणानां हिंसायाः परिहरेद् यत्नात्॥²⁸

अर्थात् आरी, धेनु, विष, अग्नि, हल, कखाल, धनुष आदि हिंसा के उपकरणों को दान देने का प्रयत्नपूर्वक त्याग कर देना चाहिये। चारित्रसार में भी कहा गया है कि विष, शस्त्र, रस्सी, चाबुक, डण्डा आदि हिंसा के उपकरण देना हिंसादान अनर्थदण्ड है। यह विशेष ज्ञातव्य है कि प्रायः सभी श्रावकाचारों में जहाँ हिंसा के उपकरणों को देना हिंसादान अनर्थदण्ड कहा गया है, वहाँ कार्तिकेयानुप्रेक्षा में बिलाव आदि के दान को भी हिंसादान अनर्थदण्ड कहा गया है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में बिलाव आदि हिंसक पशुओं के पालन को भी इस अनर्थदण्ड में सम्मिलित किया गया है।²⁹

३. अपध्यान

आर्त, रौद्र, खोटे ध्यान की अपध्यान संज्ञा है। पीड़ा या कष्ट के समय आर्तध्यान तथा बैरिघात आदि के विचार के समय रौद्र ध्यान होता है ये ध्यान कभी नहीं करने चाहिये। किसी प्रसंगवश इनका ध्यान हो जाये तो इन्हें तभी दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये। दूसरों के बारे में गलत विचार अर्थात् खोटा विचार अपध्यान नामक अनर्थदण्ड कहलाता है। समन्तभद्राचार्य के अनुसार राग से अथवा द्वेष से अन्य की स्त्री आदि के नाश होने, कैद होने, कट जाने आदि के चिन्तन करने को अपध्यान नाम अनर्थदण्ड माना गया है।³⁰ स्वामी कार्तिकेय ने परदोषों के ग्रहण, परसंपत्ति की इच्छा, परस्त्री के समीक्षण तथा परकलह के दर्शन को अपध्यान नामक अनर्थदण्ड कहा है।³¹ सर्वार्थसिद्धि में आचार्य पूज्यपाद ने भी कहा है- 'परेषां जयपराजयवधबन्धनांगच्छेदपरस्वहरणादि कथं स्यादिति मनसा चिन्तनमपध्यानम्'³²।

अर्थात् दूसरों की हार-जीत, मारना, बाँधना, अंग छेदना, धन का अपहरण करना आदि कार्यों को कैसे किया जाये इस प्रकार मन से विचारना अपध्यान है।

४. दुःश्रुति

दुःश्रुति को अशुभश्रुति के नाम से लिखा गया है। श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्र जी ने अपने योगशास्त्र नामक ग्रंथ में अनर्थदण्ड के चार ही भेद किये हैं। दुःश्रुति को अलग भेद नहीं माना है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में स्वामी कार्तिकेय ने कहा है कि जिन ग्रंथों में गंदे मजाक, वशीकरण, काम-सेवन, आदि का वर्णन हो उनका सुनना तथा उनके दोषों की चर्चा सुनना

दुःश्रुति नामक अनर्थदण्ड है।³³ अमृतचन्द्राचार्य का कहना है कि राग-द्वेष आदि विभावों को बढ़ाने वाली, अज्ञानभाव से परिपूर्ण दूषित कथाओं को सुनना, बनाना या सीखना, दुःश्रुति अनर्थदण्ड है इन्हें कभी भी नहीं करना चाहिये।³⁴ पण्डित आशाधर जी का कथन है कि जिन शास्त्रों में काम, हिंसा आदि का वर्णन है, उसके सुनने से हृदय राग-द्वेष से कलुषित हो जाता है, उनके सुनने को दुःश्रुति कहते हैं उन्हें नहीं सुनना चाहिए।³⁵ कुछ शास्त्र ऐसे होते हैं, जिसमें मुख्य रूप से कामभोग विषयक या हिंसा, चोरी आदि का ही कथन होता है सुनने से काम-विकार उत्पन्न होता है तथा हिंसा, चोरी आदि की बुरी आदत पड़ जाती है। दुःश्रुति नामक अनर्थदण्डव्रत में ऐसे ग्रंथों के पढ़ने, सुनने, सुनाने आदि को छोड़ने की बात कही गयी है।

५. प्रमादचर्या

प्रमादचर्या अनर्थदण्ड का उल्लेख प्रमादाचारित नामक बिना प्रयोजन पृथिवी, जल, अग्नि और पवन के आरंभ करने को, वनस्पति छेदन को, पर्यटन करने-कराने को प्रमादचर्या अनर्थदण्ड कहते हैं।³⁶ आचार्य अमृतचन्द्र ने लिखा है कि निष्प्रयोजन भूमि को खोदना, पानी सींचना, फल फूल, पत्र आदि को तोड़ना आदि पूर्ण क्रियाओं को करना प्रमादचर्या अनर्थ दण्ड है।³⁷ आचार्य पूज्यपाद ने लिखा है- 'प्रयोजनमन्तरेण वृक्षादिच्छेदनभूमिकुट्टनसलिलसेचनाद्यवकर्म प्रमादाचारितम्।'³⁸ अर्थात् बिना प्रयोजन के वृक्षादि का छेदन, भूमि का कूटना, पानी का सींचना आदि पापकर्म प्रमादाचारित नामक अनर्थदण्ड है। धर्मोपदेशपीयूषवर्ष श्रावकाचार में कहा है कि भूमि, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति की वृथा विराधना करना तथा व्यर्थ गमनागमनादिक करना प्रमादचर्या है।³⁹ उमास्वामी जी के अनुसार वृक्षों को तोड़ना, भूमि का खोदना, जल का सींचना और फल-फूलों को तोड़ना संचय करना आदिक प्रमाद रूप आचरण का त्याग करना चाहिये।⁴⁰ श्री पद्मनन्द जी ने भी आचार्य उमास्वामी के तुल्य ही प्रमादचर्या का वर्णन किया है।

उक्त पांच अनर्थदण्डों के अतिरिक्त अमृतचन्द्राचार्य जी ने जुआ खेलने को भी अनर्थदण्ड माना है। उनका कहना है कि जुआ सब अनर्थों में प्रथम है, संतोष का नाश है और मायाचार का घर है, चोरी और असत्य का स्थान है अतः इसे दूर से ही त्याग देना चाहिये।⁴¹

अनर्थदण्डव्रत के अतिचार

१. कन्दर्प- हास्ययुक्त अशिष्ट वचनों का प्रयोग करना, 2. कौत्कुच्य- शारीरिक कुचेष्टापूर्वक अशिष्ट वचनों का प्रयोग करना, 3. मौखर्य- निष्प्रयोजन बोलते रहना या बकवाद करना, 4. असमीक्ष्याधिकरण- प्रयोजन के बिना कोई न कोई तोड़-फोड़ करते रहना या काव्यादि का चिन्तन करते रहना, तथा 5. उपभोग- परिभोगानर्थक्य- प्रयोजन न होने पर भी भोग-परिभोग की सामग्री एकत्र करना।⁴²

३. भोगोपभोगपरिमाण व्रत

आचार्य समन्तभद्र के अनुसार परिग्रह परिमाणव्रत में ली हुई मर्यादा के अन्दर भी राग

और आसक्ति के कृश करने के लिये प्रयोजनभूत इन्द्रियों के विषयों की संख्या को सीमित करने को भोगोपभोगपरिमाणव्रत कहते हैं जो पाँच इन्द्रियों के विषयभूत भोजनवस्त्र आदि पदार्थ एक बार भोगने के बाद छोड़ दिये जाते हैं भोग कहलाते हैं और जो एक बार भोग करके भी दोबारा भोगने योग्य होते हैं, वह उपभोग कहलाते हैं अर्थात् भोजन आदि पदार्थ भोग है और वस्त्र आदि उपभोग है।⁴³ पंडित मेधावी जी द्वारा रचित धर्मसंग्रह श्रावकाचार में कहा गया है कि इतने काल-पर्यन्त इतने भोग और उपभोग मेरे द्वारा सेवनीय है इस प्रकार नियम करके अधिक की इच्छा नहीं करने वाले पुरुष को भोगोपभोगपरिमाण व्रत होता है। जो पदार्थ एक ही बार भोग करने में आता है वह भोग कहलाता है और जो बार-बार भोग किया जाता है उसे उपभोग कहते हैं। भोग और उपभोग के प्रमाण करने को जिन भगवान् भोगोपभोगपरिमाण नामक गुणव्रत कहते हैं ऐसा जानना चाहिये।⁴⁴

भोगोपभोगपरिमाणव्रत के अतिचार

विषयरूपी विष की उपेक्षा नहीं करना अर्थात् आदर रखना, पूर्वकाल में भोगे हुए विषयों का स्मरण रखना वर्तमान के विषय भोगने में अतिशय लालसा रखना, भविष्य में विषय प्राप्ति की अतिशय तृष्णा रखना और विषय नहीं भोगते हुए भी विषय भोगता हूँ ऐसा अनुभव करना, ये पाँच भोगोपभोग परिमाण नामक व्रत के अतिचार हैं।⁴⁵

उपसंहार

श्रावकाचार विषयक संस्कृत साहित्य के अनुशीलन और अनुपालन से संस्कृत साहित्य का विशाल भण्डार और अधिक समृद्ध होगा तथा समाज नैतिक आचरण के द्वारा अपना मार्ग प्रशस्त करेगा।

संदर्भ-

1. सागारधर्माभूत 1/15 की स्वोपज्ञ टीका
2. श्रावकप्रज्ञप्ति गाथा
3. अभिधान राजेन्द्र कोश में 'सावय' शब्द
4. अभ्युपेतसम्यक्त्वः प्रतिपन्नाणुव्रतोऽपि प्रतिदिवसं यतिभ्यः।
सकाशात्साधूनामा गारिणां च समाचारी श्रणोतीति श्रावकः॥ (श्रावकधर्म प्र.गा.2)
5. 'व्रतमभिसन्धिकृतो नियमः इदं कर्तव्यमिदं न कर्तव्यमिति वा- सर्वार्थसिद्धि, 7/1
6. संकल्पपूर्वकः सेव्ये नियमोऽशुभकर्मणः।
निवृत्तिर्वा व्रतं स्याद्वा प्रवृत्ति शुभकर्मणिः॥ सागारधर्माभूत, 2/80
7. 'एभिश्च दिग्ब्रतादिभिरुत्तरव्रतैः संपन्नोऽगारी व्रती भवति'- 'अणुव्रतोऽगारी' सूत्र का तत्त्वार्थधिगम भाष्य
8. रत्नकरण्डश्रावकाचार, 67
9. दिग्देशान्दण्डनां विरतिस्त्रितयाश्रम्।
गुणव्रतत्रयं सदिभः सागारयतिषु स्मृतम्॥ उपासकाध्यन, 7/414
10. रत्नकरण्डश्रावकाचार, 68
11. प्रश्नोत्तर श्रावकाचार, 17/5
12. सर्वार्थसिद्धि, 7/21
13. पीडा पापोपदेशाद्यैर्देहाद्यर्थद्विनाऽङ्गिगनाम्।

- अनर्थ दण्डस्तत्यागोऽनर्थदण्डव्रतं मतम्॥ सागारधर्माभूत, 5/6
14. अभ्यन्तरं दिगवधेरपार्थकेभ्यः सापायोगेभ्यः।
विरमणमनर्थदण्डव्रतं विदुर्व्रतधरागुण्यः॥ रत्नकरण्डश्रावकाचार, 74
15. प्रयोजनं विना पापादानहेत्वनर्थदण्डः। चारित्रसार (बड़ौत), 16
16. प्रश्नोत्तरश्रावकाचार, 17/24
17. उमास्वामीश्रावकाचार, 399
18. पापोपदेशहिंसादानापध्यानुःश्रुतीः पञ्च।
प्राहु प्रमाचर्यामनर्थदण्डानदण्डधराः॥ रत्नकरण्डश्रावकाचार, 75
19. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय 141-146
20. द्रष्टव्य- यतीन्द्रसूरि अभिनन्दन ग्रंथ में 'आजनो जैन अनेगृहस्थ धर्म' लेख, लेखक-
पूनमचन्दनागरदास जोशी एवं द्रष्टव्य- योगशास्त्र हेमचन्द्राचार्य, 3/63-74
21. तिर्यकलेशवणिज्यहिंसारम्भलम्भनादीनाम्।
कथाप्रसंग प्रसवः स्मर्तव्य+ पाप उपदेशः॥ रत्नकरण्डश्रावकाचार, 76
22. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 44
23. विद्यावाणिज्यमणीकृतिसेवाशिल्पजीविनां पुंसाम्।
पापोपदेशदानं कदाचिदापि नैव वक्तव्यम्॥ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 142
24. सागारधर्माभूत, 5/7
25. चारित्रसार, पृष्ठ संख्या 17
26. परशुकृपाणखनित्रज्वलनायुध श्रृंगिश्रृंखलादीनाम्।
वधहेतुनां दानं सादानं ब्रुवन्ति बुधाः। रत्नकरण्डश्रावकाचार, 77
27. सर्वार्थसिद्धि, 7/21
28. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय 144
29. मज्जार पट्टिधरणं, आउहलोहादिविक्रणं जं च।
लक्खा- खलादिगहणं अणत्थदंडो हवे तुरियो॥ कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 46
30. वधबन्धच्छेदादेर्दूषाद् रागाच्च परकलत्रादेः।
आध्यानमपध्यानं शासति जिनशासने विशदाः॥ रत्नकरण्डश्रावकाचार, 78
31. परदोषाण वि गहणं परलक्ष्णीणं समीहणं जं च।
पर-इत्थी अवलोओ पर-कलहालोमणं पठमं॥ कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 43
32. सर्वार्थसिद्धि, 7/21
33. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 47
34. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 145
35. चित्तकालुष्यकृत्कामहिंसार्थश्रुततिम्।
न दुःश्रुति मपध्यानं नार्तरौद्रात्म चान्वियात्॥ सागारधर्माभूत, 5/9
36. रत्नकरण्डश्रावकाचार, 80
37. भूखननवृक्षमोट्टनड्वलदलनाम्बुसेचनादीनि।
निष्करणं न कुर्याद्दलफलकुसुमोच्छ्यानपि च॥ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 143
38. सर्वार्थसिद्धि, 7/21
39. धर्मोपदेशपीयूषवर्षश्रावकाचार, 4/117
40. तरुणां मोटनं भूमेः खननं चाम्बुसेचनम्।
फलपुष्पोच्चयश्चेति प्रमादाचरणं त्यजेत्॥ उमास्वामीश्रावकाचार, 405
41. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 146

42. तत्त्वार्थसूत्र, 7/32
43. रत्नकरण्डश्रावकाचार, 82, 83
44. धर्मसंग्रहश्रावकाचार, 4/16-18
45. रत्नकरण्डश्रावकाचार, 90

-शंकर नगर,
सहारनपुर (उ.प्र.)

संख्या बुद्धिमानी की निशानी है शक्कर मीठी है यह पानी में घुल- मिल जाती है तो अपना अस्तित्व व्यापक बना देती है। शक्कर के मिल जाने पर लोग कहते हैं 'जल मीठा है' पर वास्तविक बात तो यह है कि शक्कर की मिठास है। जैन भी अन्यो में घुल कर उनमें चुपचाप मधुरता भरते रहते हैं।''

- आचार्य विनोवाभावे, जैन भारती, वर्ष-15, अंक-16

जैनधर्म में वर्णित अहिंसा : गृहस्थ के परिप्रेक्ष्य में

-अमित कुमार जैन

जैनधर्म अहिंसा प्रधान धर्म है। अहिंसा जैनाचार की अनिवार्यता ही नहीं वरन् आत्मा है। किसी भी प्राणी का मन, वचन और काय से दिल न दुखाना, पीड़ा न पहुँचाना, उसके प्राणों का घात न करना अहिंसा है। आचार्य अमृतचन्द्र के अनुसार रागादि भावों का प्रकट न होना अहिंसा है।¹ यह अहिंसा की सर्वोत्कृष्ट परिभाषा है। आचार्य कार्तिकेय स्वामी लिखते हैं कि मन, वचन, काय और कृत-कारित-अनुमोदना से जीवों का घात नहीं करना अहिंसा है।² शुभचन्द्राचार्य ज्ञानार्णव में लिखते हैं- वचन, मन और शरीर से स्वप्न में भी त्रस-स्थावर जीवों के घात में प्रवृत्त नहीं होना अहिंसा है³ और संसार में धर्म का लक्षण अहिंसा के अतिरिक्त कोई दूसरा नहीं हो सकता।⁴ प्रोफेसर तान युन शान लिखते हैं कि “अहिंसा का पवित्र उपदेश गंभीरतापूर्वक सुव्यवस्थित रूप में चौबीस जैन तीर्थंकरों के द्वारा दिया गया था, जिनमें अन्तिम अर्थात् चौबीसवें तीर्थंकर वर्धमान महावीर का प्रमुख स्थान है।”⁵ वैसे अहिंसा को अगर जैन धर्म का पर्यायवाची कहें तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। अहिंसा के महत्व को प्रतिपादित करते हुए डॉ. वेणी प्रसाद ने लिखा है कि “सबसे ऊँचा आदर्श, जिसकी कल्पना मानव मस्तिष्क कर सकता है, अहिंसा है। अहिंसा के सिद्धांत का जितना व्यवहार किया जायेगा, उतनी ही मात्रा में सुख और शांति होगी। अहिंसा जहां, सूर्य समान प्रकाश प्रदात्री है वहीं हिंसा, भादों की गहन अध्यायी रात सी प्रतीत होती है। अहिंसा वह अद्भुत तंतु है जो सदियों से भारतीय संस्कृति रूपी पट में समाये हुए उसके अस्तित्व को कायम किये हुए है। यह तंतु संयम की कतली से तैयार किया गया है। आज विश्व ने अहिंसा के सर्वकल्याणकारी माहात्म्य को सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया है। परन्तु हिंसा के विराट स्वरूप के दिग्दर्शन हेतु उसके प्रतिपक्षी हिंसा की समीक्षा भी आवश्यक है।

संसार का प्रत्येक प्राणी सुखपूर्वक जीना चाहता है, पर विडम्बना यह है कि जीव स्वार्थ में आकंठ डूबकर स्वयं तो सुख चाहता है और दूसरे के सुख से द्वेष करता है। सुख, शांति और प्रेम से द्वेष करना, उसका प्रतिकार करना हिंसा है। आचार्य उमास्वामी के अनुसार प्रमाद युक्त मन, वचन और काय से स्व और पर के प्राणों का घात करना हिंसा है।² श्रावक धर्म प्रदीप में हिंसा के सस्वरूप चार भेद प्राप्त होते हैं- 1. उद्योगी हिंसा, 2. आरंभी हिंसा, 3. विरोधी हिंसा और 4. संकल्पी हिंसा।³

इस प्रकार की हिंसा में गृहस्थ (श्रावक) गृहस्थी के दायित्वों, धार्मिकों और धर्मयतनों की सेवा, सुरक्षा एवं परिवार के भरण-पोषण हेतु उपयोगी हिंसा, आरम्भी हिंसा और विरोधी हिंसा तो कर्तव्यपरायणता के लिये करता है (जिसे शुचिता के साथ जैनध

र्म में छूट दी गई है) लेकिन जैनागम में संकल्पी हिंसा के त्याग को अतीव आवश्यक माना है।

उद्योगी हिंसा-

गृहस्थ स्व और परिवारजनों एवं आश्रितों के लिये रोटी, कपड़ा और मकान संबन्धी मूलभूत आवश्यकताओं हेतु कृषि, शिल्प, उद्योग, व्यापार आदि आजीविका के साधनों में न चाहते हुए भी जो कमोवेश हिंसा होती है, वह उद्योगी हिंसा है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा के अनुसार श्रावक का व्यापार, दया और अहिंसा से युक्त होना चाहिए।⁴

आरम्भी हिंसा-

गृहस्थ घर-गृहस्थी के कार्यों में जैसे रसोई पकाना, अग्नि जलाना-बुझाना, बुहारी लगाना, पानी भरना, वस्त्र और शरीर को स्वच्छ करना, आवास बनाना, पशुपालन करना, रोगी की परिचर्या करना और जमीन खोदना आदि ऐसे अपरिहार्य कार्य हैं, जिनमें हिंसा होते हुए भी गृहस्थ इन कार्यों से निवृत्त नहीं हो सकता। सागारधर्माभूत में इन कार्यों को सदा अप्रमत्त और दयाभाव के साथ सतत जीव रक्षा हेतु सजग रहने का निर्देश प्राप्त होता है।⁵ पण्डिताचार्य आशाधर जी के अनुसार पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक इन पांच प्रकार के एकेन्द्रिय जीवों की पूर्णरूपेण रक्षा गृहस्थाश्रम में संभव नहीं है, क्योंकि मकान बनाने हेतु पृथिवी का खोदना करना होता है और साथ ही जल, वायु, अग्नि और वनस्पति का भी उपयोग करना पड़ता है। पर गृहस्थ की अहिंसा इसी में समाहित है कि वह इन जीवों के अनावश्यक घात से बचे।⁶

विरोधी हिंसा-

जब कोई आततायी हमारे शील, न्यायपूर्वक अर्जित धन और मातृभूति पर आक्रमण कर अपने अधीन करने की कोशिश करता है, ऐसी परिस्थिति में इन सबकी रक्षार्थ जो हिंसा होती है वह विरोधी हिंसा है।⁷ विरोधी हिंसा गृहस्थ का कर्तव्य है। जैनधर्म में वर्णित गृहस्थ की अहिंसा का पालन करते हुए जैन सम्राट खारवेल ने डेमेट्रियस को मथुरा से सिंधुतट तक खदेड़कर देश को पराधीन होने से बचाया था।⁸ जैनधर्म भौतिक और आध्यात्मिक दोनों तरह की पराधीनता के विरुद्ध रहा है। सुखशांति की वृद्धि के लिये, धर्म मार्ग को अक्षुण्ण रखने के लिये, अहिंसकों को प्रोत्साहित करने के लिए और सदाचार की वृद्धि के लिये दुष्टों का निग्रह करना धर्म है।

संकल्पी हिंसा-

मैं इसका प्राणान्त करूँगा या किसी दूसरे से करवाकर रहूँगा, ऐसी इच्छा से किसी जीव का वध करने के लिये उद्यत होना संकल्पी हिंसा है। संकल्पी हिंसा गृहस्थाचरण के सर्वथा प्रतिकूल है।⁹ संकल्पपूर्वक किसी प्राणी के प्राणों का हरण नहीं करना चाहिये। जो संकल्पी हिंसा का पूर्णतया त्यागी होता है, वस्तुतः वही जैन आगम की दृष्टि में सच्चा गृहस्थ है। आतंकवाद एवं मांसभक्षण के लिये की गई हिंसा एवं बलात्कार जैसे निंदनीय कृत्य इसी संकल्पी हिंसा के अंग हैं। जानबूझकर, अकारण और दुराग्रह आदि से की गयी

हिंसा संकल्पी हिंसा है। उद्योगी, आरंभी और विरोधी हिंसा जब अपनी सीमा का उल्लंघन करे तब ये संकल्पी हिंसा में परिवर्तित हो जाती है। सागारधर्माभूत के अनुसार बुद्धिमान मनुष्य को खेती (कृषि) आदि कार्यों में संकल्पी हिंसा को सदैव के लिये त्यागना चाहिए, क्योंकि असंकल्प पूर्वक बहुत से जीवों का घात करने वाले किसान की अपेक्षा जीवों को संकल्पपूर्वक मारने वाला धीवर अपेक्षाकृत अधिक पापी होता है।¹⁰ हेमचन्द्राचार्य के अनुसार हिंसा का फल पंगुपना, कुष्टिपना, कानापना आदि देखकर बुद्धिमान को निरपराध जीव जंतुओं की संकल्पी हिंसा छोड़ना चाहिए।¹¹

जैन शास्त्रों में हिंसा के दो भेद और मिलते हैं-1.द्रव्य हिंसा, 2. भाव हिंसा¹²

१. भाव हिंसा-

दूसरों के अथवा स्वयं के प्राणघात का जो विचार आता है, उसे भाव हिंसा कहते हैं। भाव हिंसा से आत्मीयता एवं मानसिक शांति भंग हो जाती है और आन्तरिक शुचिता मलिन होती है। जानबूझकर किसी की मानसिक शांति भंग करना भाव हिंसा है। आचार्य अमृतचन्द्र के अनुसार अभिमान, भय, जुगुप्सा, हास्य, रति, शोक, काम, क्रोध आदि भाव भावहिंसा की पर्यायें हैं।¹³

२. द्रव्य हिंसा-

शस्त्र, जहर, फंदा एवं आग आदि किसी भी प्राणघातक निमित्त से स्व और पर के प्राणों का व्यपरोपण (हरण) करना द्रव्य हिंसा है।

गृहस्थाश्रम में हिंसा से बचने के उपाय-

गृहस्थाश्रम मानव जीवन की एक ऐसी अवस्था है जिसमें प्रत्येक कार्य लगभग हिंसा पूर्ण होता है। लेकिन अगर उद्योग, व्यापार आत्मरक्षा और मातृभूमि की सुरक्षा करते हुए भी हृदय में शुचिता है, उद्देश्य में पवित्रता है तो कठोर लगने वाला व्यवहार अथवा प्रत्यक्ष में दिखाई पड़ने वाली हिंसा भी गृहस्थ की अहिंसा कहलायेगी। चीन से युद्ध के समय शांति सेना को उद्बोधन देते हुए विनोबा जी ने कहा था कि “आक्रामक के सामने अहिंसा वीरता नहीं कायरता है।” गृहस्थावस्था में गृहकार्यों को करते हुए हिंसा से कैसे बचा जाय इस पर जैन साहित्य में अनेक स्थलों पर सटीक वर्णन मिलता है। सागारधर्माभूतकार के अनुसार श्रावक को धन कमाने और बढ़ाने के उपाय ऐसे करना चाहिए जो छल-कपट से मुक्त और अहिंसा से युक्त हो।¹⁴ उनके द्वारा अहिंसात्मक जीवन-यापन हेतु कुछ व्यापारों का निषेध भी किया गया है जो द्रष्टव्य है- 1. वनजीविका, 2. अग्निजीविका, 3. शकटजीविका, 4. स्फोटजीविका, 5. भाटकजीविका, 6. यन्त्रपीडन, 7. निर्लाछन कर्म, 8. असतीपोषकर्म, 9. सरःशोष, 10. दवदान, 11. विषवाणिज्य, 12. लाक्षावाणिज्य, 13. दन्तवाणिज्य, 14. केशवाणिज्य और 15. रसवाणिज्य।¹⁵ इसके साथ आशाधर कहते हैं कि पशु-पक्षियों को कष्ट पहुंचाने वाले हिंसात्मक व्यापार का मन, वचन और कार्य से त्याग करते हुए¹⁶ फरसा, तलवार, फावड़ा, अग्नि, शस्त्र, सींग, सांकल, विष, कोड़ा, दण्ड, धनुष आदि हिंसा के साधनों को भी दूसरों को देने का निषेध किया है। हिंसा से बचने के

उपायों पर दृष्टिपात करने हुये सोमदेव सूरि लिखते हैं कि घर के सब काम देखभालकर करना और आसन, शय्या, मार्ग धान्य और जो भी अन्य वस्तुएं हैं। उनका यत्नाचारपूर्वक उपयोग करने से अनावश्यक हिंसा से बचा जा सकता है।¹⁷

अहिंसा की रक्षार्थ गृहस्थ को अपने खान-पान में शुद्धि रखना आवश्यक है। इसी संदर्भ में आचार्य समन्तभद्र कहते हैं कि गृहस्थ को अनावश्यक हिंसा से बचने के लिये मद्य, मांस और मधु के साथ बड़, पीपल, पाकर, ऊमर और कटूमर इन फलों का भी त्याग करना चाहिये।¹⁸ क्योंकि इन वस्तुओं में अतीव हिंसा होती है। पं. आशाधर जी के अनुसार जीव हिंसा और जलोदर आदि रोगों की प्रचुरता होने से मद्य, मांस, आदि की तरह रात्रिभोजन भी छोड़ना चाहिए और वस्त्र से छाने बिना जल का उपयोग नहीं करना चाहिए।¹⁹

उपसंहार-

अहिंसा धर्म मानव के साथ-साथ जीवमात्र के प्रति करुणा, दया, उदारता एवं परोपकारिता का उद्घोष करता है और मानवता का प्रस्फुटन कर जीवन को सही ढंग से जीना सिखाता है। जैनधर्म में सामाजिक संतुलन को प्रतिष्ठापित करने हेतु श्रावकाचार का निरूपण किया गया जो गृहस्थ जीवन की मानवीय आचार संहिता है। अहिंसा मानवीय आचार संहिता की आधारशिला है। जैनधर्म में अहिंसा धर्म का उल्लेख श्रमण (साधु) और श्रावक (गृहस्थ) दोनों की अपेक्षा से पृथक्-पृथक् किया गया है। जैन साधु अहिंसा का सर्वदेशपालन करते हैं। अतः किसी भी प्रकार की हिंसा में संलग्न नहीं होते। जबकि गृहस्थ अनिवार्य हिंसा को करते हुए भी उससे निवृत्त होने के प्रति सतत प्रयत्नशील रहता है। यशस्तिलक चम्पू के अनुसार गृहस्थ उन पर ही शस्त्र प्रहार करते हैं जो शस्त्र लेकर युद्ध में मुकाबला करता है। दीन, दुर्बल एवं सद्भावना वाले व्यक्तियों पर शस्त्र प्रहार नहीं करता।²⁰ श्रावक धर्म प्रदीप के अनुसार जैसे रोगी कड़वी औषधि पीना नहीं चाहता पर रोग से बचाव के लिये उसे पीनी पड़ती है, वैसे ही गृहस्थ हिंसा से बचना चाहता है पर वह पदस्थयोग्य निर्वाह के लिए उससे बच नहीं पाता।²¹ लेकिन यथाशक्ति सोच समझकर और क्रियाओं का सम्यक् रूप से करते हुए गृहस्थ जीवन में अहिंसा का पालन किया जा सकता है।

संदर्भ-

1. अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः॥ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, कारिका-44
2. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा-332
3. ज्ञानार्णव, प्रकरण-8, श्लोक-7
4. वही, श्लोक-30
5. जैनशासन से उद्धृत, पृष्ठ 163
5. हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता, पृष्ठ 613
6. प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा। तत्त्वार्थसूत्र, अ0-7, सूत्र-13

7. श्रावकधर्मप्रदीप, अ0-3, श्लोक-93
8. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा- 331
9. सागारधर्मामृत, अ0-2, श्लोक-82
10. वही, अ0- 4, श्लोक-10
11. श्रावकधर्मप्रदीप, अ0-3, श्लोक-94
12. जैनधर्म का सरल परिचय, पृ. 125
13. श्रावकधर्मप्रदीप, अ0-3, श्लोक-95
14. आरंभेऽपि सदा हिंसा सुधीः साङ्कल्पिकीं त्यजेत।
नतोऽपि कर्षकादुच्चैः पाप्मोऽन्नपि धीवरः॥ सागारधर्मामृत, अ0-2, श्लोक-82
15. योगशास्त्र, 2, 19
16. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, कारिका- 43
17. वही, कारिका-64
18. सागारधर्मामृत, अ0-6, श्लोक- 15
19. अ0-5, श्लोक-21-33
20. वही, श्लोक-7
21. वही, श्लोक-6
22. उपासकाध्यन, 321-22
23. मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रतमञ्चकम्।
अष्टौमूलगुणानाहुर्गृहिणां भ्रमणोत्तमाः॥ रत्नकरण्डश्रावकाचार, श्लोक-14
6रागजीववधापायभूयस्त्वात्तद्वदुत्सृजेत। रात्रिभक्तं तथा युज्यान्नपानीयमगालितम्॥
सागारधर्मामृत, अ0-2, श्लोक-66
24. यशस्तिलक चम्पू, उत्तरखण्ड, आशवास-4, श्लोक-55
25. श्रावकधर्मप्रदीप, अ0-3, श्लोक-96

संस्कृत विद्या एवं धर्म विज्ञान संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी- २२१ ००१(उ.प्र.)

वैदिक आचार और जैन आचार

-डॉ. जयकुमार जैन

आचार शब्द की व्युत्पत्ति

आचार शब्द 'आ' उपसर्ग पूर्वक 'चर्' धातु से 'धञ्' प्रत्यय का निष्पन्न रूप है। कोश के अनुसार आचरण, व्यवहार, चालचलन कर्तव्य आदि आचार शब्द के अर्थ हैं। 'आचर्यते यः स आचारः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रत्येक की जाने वाली क्रिया को आचार कहा जा सकता है किन्तु शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार मानव के व्यवहार की उत्कृष्टता का नाम आचार है। प्राणी मात्र में आहार, निद्रा, भय एवं मैथुन की समानता होने पर भी जो तत्त्व मानव को अन्य प्राणियों से उत्कृष्ट सिद्ध करता है, उसका नाम आचार है।

आचार शब्द में प्रयुक्त 'चर्' धातु व्याकरण में दो अर्थों में प्रयुक्त होती है- गति और भक्षण।¹ इन दोनों अर्थों में जो गति अर्थ है उसके गमन, ज्ञान और प्राप्ति ये तीन अर्थ होते हैं। फलतः आचार का तात्त्विक अर्थ हुआ कि जो खाने के लिए गति करता है वह पशु है तथा जो ज्ञान एवं मुक्ति प्राप्ति के निमित्त भक्षण करता है, वह मनुष्य है।

वेदों में 'चर्' धातु का आचार के संबन्ध में प्रयोग करते हुए कहा गया है करणीय का विधान और अकरणीय कर्म का निषेध आचार का विषय है। यथा-

'नकिर्देवा मिनीमसि नकिरा योपयामसि मन्यश्रुत्यं चरामसि'² न तो हम हिंसा करते हैं, न फूट डालते हैं; हम तो मंत्र के अनुसार आचरण करते हैं।

'स्वस्ति पन्थानमनु चरेम सूर्याचन्द्रमसाविव।

पुनर्ददताध्नता जानता सं गमेमहि॥³

हम सूर्य और चन्द्रमा के समान कल्याण के पथ का अनुसरण करें, बार-बार दानी, अहिंसक और ज्ञानी के साथ संगति करें

मनुस्मृति में आचार शब्द को सदाचार का द्योतक मानते हुए कहा गया है कि जिस देश में जो आचार परंपरागत है, उनका वह आचार सदाचार कहलाता है-

'तस्मिन् देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः।

वर्णानां वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते॥⁴

जैन परंपरा में भी आचार को सदाचार के अर्थ में ही प्रयुक्त किया गया है तथा आचार एवं विचार को अन्योन्याश्रित मानकर आचार के मूल अहिंसा और विचार के मूल में अनेकान्त को रखा गया है। अन्य भारतीय परंपराओं की तरह जैन परंपरा में भी आचार को धर्म तथा विचार को दर्शन कहा गया है और दोनों को परस्पर पूरक मानकर दर्शन रहित धर्म (आचरण) को अन्धा तथा आचार रहित विचार को पंगु कहा गया है।⁵

पं. आशाधर जी ने सागारधर्माभूत में स्पष्ट रूप से कहा है कि अपनी शक्ति के अनुसार निर्मल किये गये सम्यग्दर्शन आदि में जो प्रयत्न किया जाता है, उसे आचार कहते हैं।⁶

आचार का महत्त्व

वैदिक परम्परा में आचार महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए स्पष्ट घोषणा की गई है कि आचारहीन व्यक्ति को वेद भी पवित्र नहीं कर सकते हैं—

‘आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः।’⁷

जो आचार नहीं समझता है, वैदिक ऋचा उसका क्या कल्याण कर सकती है—

‘यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति।’

आचार ही परम धर्म है— ‘आचारः परमो धर्मः।’⁸

आचार के प्रमुख तत्त्व

आचारवान् व्यक्ति के लिए वैदिक परंपरा में सद्गृहस्थ एवं जैन परंपरा में श्रावक या उपासक शब्द का प्रायः प्रयोग किया गया है। आचार के प्रमुख तत्त्वों में दोनों ही परंपराओं में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह (सर्वसुख कामना) जैसे ब्रतों को प्रतिष्ठा मिली है, भले ही दोनों परंपराओं में व्यावहारिक रूप से पर्याप्त भेद दृष्टिगोचर होता है एवं शास्त्रीय विवेचना में भी अन्तर है। व्यसनों के त्याग एवं दान को भी एक सद्गृहस्थ के लिए दोनों परंपरायें आवश्यक मानती हैं।

(क) पञ्चव्रतपालन— प्रवृत्ति एवं निवृत्तिरूप व्रत पांच हैं— अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह।

(1) अहिंसा— किसी प्राणी को मन, वचन, काय, कर्म से पीड़ा न देना अहिंसा है। जो व्यक्ति इसको आचारण में लाता है, वह अहिंसक कहलाता है। वेदों में अहिंसा के अनेक उल्लेख मिलते हैं। कतिपय उल्लेख द्रष्टव्य हैं—

यन्नूनमश्यां गतिं मित्रस्य पापां पथा।

अस्य प्रियस्य शर्मण्यहिंसां नस्य सश्चिरे॥⁹

अहिंसक प्रिय मित्र की शरण में रहकर श्रेष्ठ जीवन पाते हैं। मैं भी अहिंसक मित्र के मार्ग पर चलूँ। जीवन में कभी भी हिंसक व्यक्ति के मार्ग पर न चलूँ।

यो नः कश्चिद् रिरिक्षति रक्षस्त्वेन मर्त्यः।

स्वैः प्व एवै रिरिषीष्टयुर्जनः॥¹⁰

जो राक्षसी आदत के कारण हिंसा करना चाहता है, वह अपने कर्मों से स्वयं ही मारा जाता है।

मा हिंसीस्तन्वाः प्रजाः। मा हिंसीः पुरुषम्। इदं मा हिंसीः द्विपादं पशुम्। अश्वं मा हिंसीः। अविं मा हिंसी। घृतं दुहानामदितिं जनाय मा हिंसीः।¹¹

अपने शरीर से प्रजा को मत मारो। मनुष्य की हिंसा मत करो। दुपाये मनुष्य और पशु को मत मारो। घोड़े को मत मारो। भेड़ ऊन देती है, उसे मत मारो। लोगों के लिए गाय दूध

देती है, उसे मत मारो।

हिंसा के दो कारण हैं- स्वार्थ और विद्वेष। अथर्ववेद में भी स्थान-स्थान पर प्रमाद एवं विद्वेष न करने का कथन किया गया है। यथा-

मा जीवेभ्यः प्रमदः।^{१३} जीवों से प्रमाद मत करो।)

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।

अन्यो अन्यमभिहृत्य वत्सं जातमिवाध्या॥^{१४}

(मैं तुम्हारे समान हृदय, समान प्रीतियुक्त मन तथा अविद्वेष भाव को स्थापित करता हूँ। तुम एक दूसरे से ऐसे प्यार करो जैसे गाय नवजात बछड़े को प्यार करती है।

उपर्युक्त संदर्भों में स्पष्ट है कि वेदों की मूल भावना अहिंसामय सुख शान्ति की ही है। वहां जहां राक्षसों की हिंसा का भी कथन है, वह सुख-शान्ति की स्थापना के लिए विरोधी हिंसा समझना चाहिए।

जैन धर्म की तो आधारशिला ही अहिंसा है। वहाँ अहिंसा का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। जैनाचार में प्रमाद के योग से स्व-पर के प्राणों के पीड़न को हिंसा माना गया है- 'प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा।'^{१५} आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने एक सद्गृहस्थ की अहिंसा का वर्णन करते हुए लिखा है-

संकल्पात् कृतकारितमननाद् योगत्रयस्य चरसत्त्वान्।

न हिनस्ति यत्तदाहुः स्थूलवधाद् विरमणं निपुणः॥^{१६}

मन, वचन, काय के संकल्प से और कृत, कारित, अनुमोदन से त्रस जीवों को जो नहीं मारता, वह स्थूल हिंसा से विरक्त होता है। अर्थात् हिंसाणुव्रत या एक सद्गृहस्थ की अहिंसा है।

हिंसा चार प्रकार की कही गई है- संकल्पी, उद्योगी, आरंभी और विरोधी। बिना किसी उद्देश्य के संकल्प प्रमाद से ही जाने वाली हिंसा संकल्पी है। एक जैन गृहस्थ चतुर्विध हिंसा में से संकल्पी हिंसा का नियम से त्याग करता है। शेष हिंसकों को वह हिंसा रूप तो समझाता है, किन्तु उनसे बच नहीं पाता है। सागारधर्माभूत में कहा गया है-

आरंभेऽपि सदा हिंसां सुधीः सांकाल्पिकीं त्यजेत्।

ध्वतोऽपि कर्णकादुच्चैः पापोऽघ्नन्नपि धीवरः॥^{१७}

बुद्धिमान मनुष्य आरंभ में भी संकल्पी हिंसा को सदा त्याग दे। क्योंकि असंकल्प पूर्वक जीवों को घात करने वाले किसान से संकल्प करके जीवों का घात न होने पर भी धीवर अधिक पायी है।

आचार्य शुभचन्द्र ने हिंसक पुरुष के निस्पृहता, महत्ता, निराशता, दुष्कर तप, कायक्लेश एवं दान आदि सभी धर्मकार्यों को व्यर्थ माना है।^{१८} मनुस्मृति में 'यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा'^{१९} कहकर जहां याज्ञिक हिंसा को पाप नहीं माना है, वहां जैनाचार किसी भी तरह की हिंसा को अपायरूप नहीं मानता है।

2. सत्य- सत्य को सभी भारतीय संस्कृतियों में मानव जीवन का प्रशस्ततम गुण माना

गया है। सत्य शब्द सत् से निष्पन्न होने के कारण मूलतः सत्ता वाला या वास्तविक अर्थ का वाचक है। ऋग्वेद के अनेक स्थलों पर सत्य का इसी रूप में प्रयोग हुआ है। यथा-

स किलासि सत्यः। ²⁰	(वह तू वास्तविक है।)
मरुतां महिमा सत्यो अस्ति। ²¹	(मरुत् देवों की महिमा वास्तविक है।)
तयोर्यत्सत्यम्। ²²	(उन दोनों में जो सच्चा है।)
त्वं सत्य इन्द्रः। ²³	(हे इन्द्र तुम सच्चे हो।)

शताधिक स्थानों पर वेदों में सत्य शब्द का प्रयोग सत्य की महत्ता का कथन करने में समर्थ है।

वेदों में ऋत शब्द का प्रयोग सत्य के लिए तथा अनृत शब्द का प्रयोग असत्य के लिए किया गया है, जो जैनाचार में भी है। वैदिक परंपरा के आचार्य शाकटायन के विचार में सत्य वह है जो वर्तमान पदार्थ का तात्त्विक बोध कराये।²⁴ यास्क के अनुसार 'सत्सु तायते सत्प्रभवं भवतीति वा'²⁵ अर्थात् जो सज्जनों में विस्तार को प्राप्त होता है, जो सज्जनों में प्रकट होता है वह सत्य है।²⁶ विदुर के अनुसार छल रहित वचन सत्य है²⁷—

तो कुल्लक भट्ट कहते हैं कि जैसा देखा सुना हो वैसा यथार्थ कहना सत्य है— 'यथा दृष्टं श्रुतं तत्त्वं ब्रूयात्'²⁸ वेदों में सत्य की बहुशः प्रशंसा की गई है। अथर्ववेद में सत्य पर बल देते हुए कहा गया है कि प्राण सत्यवादी को उत्तम लोक में स्थापित करते हैं²⁹ किन्तु असत्यवादी को वरुण के पाश बांध लेते हैं।³⁰

जैनाचार में सत्य का सामान्य कथन करते हुए कहा गया है— 'सत्सु प्रशस्तेषु जनेषु साधु वचनं सत्यमित्युच्यते'³¹ अच्छे पुरुषों के साथ साधु वचन बोलना सत्य है। एक श्रावक या सद्गृहस्थ के सत्य का विवेचन करते हुए आचार्य समन्भद्र स्वामी कहते हैं—

स्थूलमलीकं न वदति न परान्वादयति सत्यमपि विपदे।

यत्तद्वदन्ति सन्तः स्थूलमृषावादवैरमणम्॥³²

श्रावक स्थूल झूठ न तो स्वयं बोले, न दूसरों से बुलवावे तथा जिस वचन से विपत्ति आती हो ऐसा वचन यथार्थ भी कहे। सत्पुरुष इसे गृहस्थ का सत्य कहते हैं। इसमें 'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्। प्रियं च नानृतं ब्रूयादेषधर्मो सनातनः॥' की भावना यथावत् प्रकटीकृत है।

आचार्य शुभचन्द्र ने सत्य का माहात्म्य बताते हुए कहा है कि सत्य व्रत श्रुत एवं नियमों का स्थान है, विद्या और विनय का भूषण है तथा सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र्य उत्पन्न करने का कारण है³² ऋग्वेद में 'सा मा सत्योक्तिः परिपातु विश्वतः'³³ कहकर सत्य को विश्व का रक्षक प्रतिपादित करते हुए उसकी महत्ता का गान किया गया है।

3. अस्तेय या अचौर्य— ऋग्वेद में चोरी के प्रति घृणा का भाव व्यक्त करते हुए चोर को दण्डित करने का अनेकत्र उल्लेख है। कतिपय स्थल द्रष्टव्य हैं—

उत स्तैन वस्त्रमथि न तायुमनु कोशान्ति क्षितयो भरेषु।³⁴ (वस्त्रहरण करने वाले शरीर को देखकर लोग चीत्कार करते हैं) स्तेनं वद्धमिवादिते।³⁵ (वह चोर को

बांधकर दण्ड प्रदान करता है।)

यजुर्वेद में तो स्पष्ट रूप से चोर को हिंसक घोषित करते हुए अग्निदेव से उन्हें नष्ट करने की प्रार्थना की गई है।³⁶

विविध स्मृतियों में चोरों को की गई दण्ड व्यवस्था से सहज ही वैदिकाचार में चोरी को पाप एवं अस्तेय या अचौर्य को व्रत मानने की परंपरा का संकेत मिलता है।

जैनाचार में अदत्त वस्तु को ग्रहण करना चोरी कहा गया है- 'अदत्तादानं स्तेयम्'।³⁷ इसमें प्रमाद का योग रहता है। चोरी करने के उपाय बतलाना, चोरी का माल खरीदना, राज्य के नियमों के विरुद्ध कर आदि बचाना, माप-तौल को कमती-बढती रखना और अधिक मूल्य की वस्तु में कम मूल्य की वस्तु को मिलाना को अचौर्य के दोष कहक³⁸- जैनाचार में भारतीय दण्ड संहिता भी प्रायः सभी धाराओं का समावेश स्वतः ही हो गया है।

भगवती आराधना में तो यहाँ तक कह दिया गया है कि सुअर का घात करने वाला, मृग आदि को पकड़ने वाला और परस्त्री गमन करने वाला, इनसे भी चोर अधिक पापी है।³⁹ अचौर्य व्रत से संयम की वृद्धि होती है।

४. ब्रह्मचर्य- एक गृहस्थ की पूर्णता वैवाहिक जीवन से होती है। ऋग्वेद के सूर्यासूक्त में वर कन्या का कर ग्रहण करते हुए कहता है कि मैं सौभाग्य के लिए तेरा हाथ ग्रहण करता हूँ। तू मेरे साथ वृद्धावस्था को प्राप्त करे। तू गार्हपत्य कर्म अर्थात् धर्मसाधना के लिए प्रदान की गई है।⁴⁰ विवाह संपन्न हो जाने पर सभी उपस्थित जन वर वधू को आशीर्वाद देते हैं-

इहैव स्तं मा वियौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।

क्रीडन्तौ पुत्रैर्नपृथिर्मोदमानौ स्वे गृहे॥⁴¹

तुम दोनों यहीं रहो, कभी वियुक्त न हो, पुत्रों एवं प्रपौत्रों के साथ क्रीड़ा करते हुए अपने घर में प्रसन्न रहते हुए पूर्ण आयु को प्राप्त करो। अथर्ववेद में पत्नी की यह हार्दिक इच्छा प्रकट की गई है कि तुम केवल मेरे हो अन्य स्त्रियों की चर्चा भी मत करो।⁴² इस विवेचन से स्पष्ट है कि स्वपत्नी संतोष या स्वपतिसंतोष को गृहस्थ का ब्रह्मचर्य व्रत माना गया है। जैनाचार में भी ब्रह्मचर्याणुव्रत में यही भावना विशदता से अभिव्यक्त होती है।

जैनाचार में अध्यात्ममार्ग में ब्रह्मचर्य को सबसे प्रधान माना गया है। निश्चय से तो ब्रह्म या आत्मा में रमणता ही ब्रह्मचर्य है, किन्तु व्यवहार में परस्त्रियों के प्रति राग रूप परिणामों का त्याग करना ब्रह्मचर्य है।⁴³ गृहस्थ के ब्रह्मचर्याणुव्रत का कथन करते हुए आचार्य समन्तभद्र स्वामी का कथन है कि जो पाप के भय से न तो स्वयं परस्त्री के प्रति गमन करे न दूसरों को गमन करावे वह ब्रह्मचर्य अणुव्रत है।⁴⁴

स्याद्वादमंजरी में वैदिक परंपरा का एक श्लोक उद्धृत करते हुए कहा गया है-

एकरात्रौषितस्यापि या गतिब्रह्मचारिणः।

न सा क्रतुसहस्रेण प्राप्नु शक्या युधिष्ठिर॥⁴⁵

अर्थात् एक रात के ब्रह्मचर्य से रहने वाले पुरुष को जो उत्तम गति मिलती है, वह गति हजारों यज्ञ करने वालों को भी नहीं मिलती है। यह कथन दोनों परंपराओं में ब्रह्मचर्य की महत्ता सिद्ध करने में पर्याप्त है।

५. अपरिग्रह (परिग्रह परिमाण) बनाम सर्वसुख की कामना- जैनाचार के अपरिग्रहवाद में जहां साधु की निर्वाण प्राप्ति का भाव निहित है, वहां श्रावक में सर्वसुख की भावना छिपी हुई है। ऋग्वेद के 'संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्' (तुम्हारी संगति समान हो, तुम्हारी वाणी के कथन में समानता हो, तुम्हारे मन में विचार समान हों) में सर्वसुख की भावना दृष्टिगोचर होती है। यद्यपि वेदों में संपूर्ण परिग्रह वर्ग की आवश्यकता की पूर्ति के लिए जरूरत से अधिक वस्तुओं के असंग्रह का विधान अवश्य किया गया है। जबकि जैनाचार में परिमाण का विधान करते हुए कहा गया है कि लोभ कषाय को कम करके, संतोष रूपी रसायन से संतुष्ट होता हुआ, सबको विनश्वर जानकर दृष्ट तृष्णा को घात करता है और अपनी आवश्यकता को जानकर धन्य-धान्य, सुवर्ण क्षेत्र का परिमाण करता है, वह परिग्रह परिमाण अणुवृत्त है।⁴⁶

(ख) सप्तव्यसनत्याग

जो पुरुष को समीचीन मार्ग छोड़कर कुत्सित मार्ग में प्रवृत्ति कराते हैं, उन्हें व्यसन कहा जाता है। व्यसन शब्द यहां बुरी आदत का प्रतीक है। श्री पद्मनन्दि आचार्य ने लिखा है-

‘द्यूतमांससुरावेश्याखेटचौर्यपरांगना।

महापापानि सप्तेति व्यसनानि त्यजेद्बुधः॥’⁴⁷

अर्थात् जुआ खेलना, मांस खाना, मदिरा पीना, वेश्यागमन करना, शिकार करना, चोरी करना तथा परस्त्री सेवन करना ये सात व्यसन हैं। बुद्धिमान् व्यक्ति को इनका त्याग कर देना चाहिए।

1. द्यूत- ऋग्वेद में जुआरी के परिवार का चित्रण करते हुए कहा गया है कि जुआरी के माता-पिता, भाई भी उसके विषय में कहते हैं कि हम इसे नहीं जानते हैं, इसे बांध कर ले जाओ।⁴⁸ अक्षसूक्त में जुआरी की विविध दुर्दशाओं का वर्णन करते हुए अन्त में कहा गया है कि जुआ मत खेलो, खेती करो।⁴⁹

जैन परंपरा में कहा गया है कि जिस क्रिया में पासे आदि डालकर धन की हार जीत होती है, वह सब जुआ कहलाता है।⁵⁰ विविध श्रावकाचारों में जुआ की पर्याप्त निन्दा की गई है। आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी के अनुसार जुआ सब अनर्थों में प्रमुख है-

‘सर्वानर्थप्रथमं मथनं शौचस्य सद्य मायायाः।

दूरात्परिहरणीयं चौर्यासत्यास्पदं द्यूतम्॥’⁵¹

अर्थात् सभी व्यसनो में प्रमुख, पवित्रता या संतोष का नाशक, छलकपट का घर तथा चोरी एवं असत्य का स्थान ऐसे जुआ को दूर से ही त्याग देना चाहिए। पण्डितप्रवर आशाधर तो ‘क्व स्वं क्षिपति नानर्थे’⁵² कहकर जुआ को सभी अनर्थों में डालने वाला कहा है।

२. मांस- यजुर्वेद में विध्यात्मक अहिंसा के साथ निषेधात्मक हिंसा के विवेचन से मांसभक्षण को दुर्व्यसन के रूप में देखने का संकेत मिलता है। 'अश्वं मा हिंसीः'^{५३} 'मा हिंसीरेकशफं पशु'^{५४} अविं मा हिंसीः'^{५५}, 'इदमुर्णायुं मा हिंसीः'^{५६} 'धृतं दुहानामदितिं जनाय मा हिंसीः'^{५७} कथनों में अश्व, एकशफ पशु, बकरी, भेड़, गाय को मारने के निषेध आत्मक उक्त कथन यह स्पष्ट करते हैं कि वेदों में मांसभक्षण को बुरा एवं त्याज्य माना गया है।

जैनाचार के प्रमुख ग्रंथ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा गया है कि प्राणियों के घात के बिना मांस की उत्पत्ति नहीं हो सकती है, इसलिए मांसभक्षी को अनिवार्य हिंसा होती है। स्वयं मरे हुए भैंस, बैल आदि जीवों की हिंसा वहां पाई जाती है, क्योंकि तदाश्रित अनन्त निगोदिया जीवों की हिंसा वहां पाई जाती है। कच्ची, अग्नि में पकी या पक रही सभी मांसपेशियों में उसी जाति के अनन्त निगोदिया जीव प्रति समय उत्पन्न होते रहते हैं, इसलिए उनको खाने वाला उन करोड़ों जीवों का घात करता है।⁵⁸

३. सुरापान- ऋग्वेद में सुरा पीने वालों की निन्दा करते हुए कहा गया है- हत्सु पीतासो युध्यन्ते दुर्मदासो न सुरायाम्। ऊर्ध्वं नग्ना जरन्ते।⁵⁹ अर्थात् सुरा का पान करने वाले मदमस्त होकर लड़ते हैं और नंगे होकर बकते हैं। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा गया है कि मदिरा मन को मोहित करती है, मोहितचित्त धर्म को भूल जाता है तथा विस्मृतधर्मी हिंसा का आचरण करता है। मदिरा एकेन्द्रियादि जीवों की योनिभूत है। मद्यपायी हिंसा अवश्य करता है। हिंसा के सभी प्रकार मद्य के निकटवर्ती ही हैं।⁶⁰

४. वेश्यागमन- वेदों में वेश्यागमन एवं परस्त्रीसेवन को पृथक्-पृथक् न गिनकर एक व्यभिचार में ही समावेश किया गया है तथा इस प्रसंग में सेविका के स्वामी से जार कर्म कराने का वर्णन किया गया है। वहां कहा गया है कि व्यभिचारिणी सेविका जार कर्म तो कराती है किन्तु उससे वंश वृद्धि नहीं चाहती है।⁶¹

वसुनन्दिश्रावकाचार में वेश्यागमन करने वाले की निन्दा करते हुए कहा गया है कि जो मनुष्य एक रात भी वेश्यागमन करता है, वह सबकी जूठन खाता है। क्योंकि वह सबके साथ समागम करती है। वेश्या पुरुष का सर्वस्व हर लेती है, उसे अस्थिचर्मशेष करके छोड़ देती है। वह सामने तो प्रेम प्रदर्शित करती है, खुशामदी करती है किन्तु अन्त में धनापहरण का भाव रहता है। वेश्यागामी कामान्ध होकर वेश्याकृत अपमानों को सहन करता है। वेश्यासेवनजनित पाप से जीव भयानक दुःखों को प्राप्त करता है। इसलिए मन, वचन, काय से प्रेरणा का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए।⁶²

५. शिकार- सभी सभ्य समाजों में आचार की प्रशंसा एवं अनाचार की निन्दा की जाती है। यद्यपि वेदों में शिकार की प्रशंसा या निन्दा के प्रसंग नहीं है किन्तु परवर्ती साहित्य में शिकार की प्रशंसा भी गई है और निन्दा भी। अभिज्ञानशाकुन्तल में कालिदास एक ओर सेनापति के मुख से शिकार खेलने के गुण गिनाते हैं तो दूसरी ओर नर्मसचिव विदूषक के मुख से शिकार की निन्दा करते हैं।⁶³ जैनाचार में शिकार को सप्त व्यसनों में परिगणित करके उसकी बहुशः निन्दा की गई है। इसे निष्प्रयोजन पाप माना गया है।⁶⁴ लाटीसंहिताकार

का कहना है कि शिकार खेलने में अनेक प्राणियों की हिंसा करने के परिणाम होते हैं, भले ही शिकार की प्राप्ति हो या न हो। अतः शिकार खेलने में साधनरूप सभी कार्यों का त्याग कर देना चाहिए।⁶⁵

६. चोरी- वेदों में चोरी की पर्याप्त निंदा की गई है। तैत्तिरीय संहिता¹ में तीन प्रकार के चोरों का वर्णन है-

स्तेन- गुप्त रूप से चोरी करने वाले।

तस्कर- प्रकट रूप से चोरी करने वाले।

मलिम्लु- अत्यन्त प्रकट रूप से डाका डालने वाले।

यजुर्वेद² में भी इनका वर्णन हुआ है। चोरी को बुरे आचार में गिनकर इसकी निंदा की गई है। जैनाचार में चोरी को दुर्व्यसन माना गया है तथा इसकी जमकर निंदा की गई है। अस्तेय के प्रसंग में चोरी का वर्णन किया जा चुका है।

७. परस्त्री- वेद में परस्त्री सेवन तथा दुराचारिणी स्त्रियों की निंदा की गई है।⁶⁷ कुरल काव्य में परस्त्री सेवन का निषेध करते हुए कहा गया है कि-

वरमन्यत्कृतं पापमपराधोऽपि वा वरम्।

परं न साध्वी त्वत्पक्षे कांक्षिता प्रतिवेशिनी॥⁶⁸

अर्थात् तुम भले ही कोई भी अपराध या दूसरा कोई भी पाप कर लो, वह अच्छा हो सकता है, परन्तु तुम्हारे पक्ष में पड़ोसी साध्वी स्त्री की चाह अच्छी नहीं है।

इन सात व्यसनों का वर्णन प्रकारान्तर से वेदों में भी पाया जाता है। ऋग्वेद में कहा गया है कि ऋषियों ने जिन सात मर्यादाओं का वर्णन किया है, उनमें से एक को भी प्राप्त होने वाला मानव पापी होता है।⁶⁹ आचार्य यास्क ने इनका उल्लेख इस प्रकार किया है-

स्तेयं तल्लपारोहणं ब्रह्महत्या भ्रूणहत्या सुरापानम्।

दुष्कृतस्य कर्मणः पुनः पुनः सेवा पातकेऽनृतोद्यमिति॥⁷⁰

चोरी, व्यभिचार, ब्रह्महत्या, भ्रूणहत्या, सुरापान, दुष्ट कर्म का पुनः पुनः सेवन तथा पापकर्म में झूठ बोलना ये सात मर्यादा-बुरी आदतें हैं।

(ग) दान

दान देना मानव का आवश्यक कृत्य माना गया है। वेदों में दान की खूब प्रशंसा की गई है। कतिपय संदर्भ द्रष्टव्य हैं-

‘स इद् भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय।⁷¹

(जो अन्न चाहने वाले कमजोर व्यक्ति को अन्न देता है, वह दानी है।) उदार दाता कभी भी मृत्यु को प्राप्त नहीं होता है। दीन- हीन दशा को प्राप्त नहीं होता है तथा हानि एवं पीडा को प्राप्त नहीं होता है।⁷²

‘तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः।⁷³ (त्यागपूर्वक उपभोग करो, लालच मत करो)

‘शतहस्तं समाहर, सहस्रहस्तं संकिर’।⁷⁴ (तुम सौ हाथों वाले होकर धन प्राप्त करो तथा

हजार हाथों वाले होकर दान दो।)

वेदों में कहा गया है कि दान से ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है, दिया गया दान कभी व्यर्थ नहीं जाता है। अदानी को शोक प्राप्त होता है।⁷⁵

जैनाचार में श्रावक के षट् आवश्यकों में दान का सर्वातिशायी महत्व है। अपने तथा दूसरों के उपकार के लिए अपनी वस्तु का देना दान है। विधि, द्रव्य, दाता तथा पात्र की विशेषता से दान में विशेषता आती है।⁷⁶ दान के मुख्य रूप से चार प्रकार हैं- औषधज्ञान, अभय और आहार।⁷⁷

(घ) जलगालन

मनुस्मृति में 'वस्त्रपूतं जलं पिबेत्'⁷⁸ कहकर छानकर जल पीने का कथन किया गया है। लिंगपुराण में कहा गया है कि-

संवत्सरेण यत्पापं कुरुते मत्स्यवेधकः।

एकाहेन तदाप्नोति अपूतजलसंग्रही॥⁷⁹

अर्थात् मछलीमार एक वर्ष में जितना पाप करता है, उतना पाप बिना छाने जल का उपयोग करने वाला एक दिन में कर लेता है।

जैनाचार में अहिंसा व्रत के परिपालन एवं जीव दया की भावना से जल छानने की क्रिया को श्रावक का आवश्यक चिन्ह माना गया है। छाने हुए जल की मर्यादा एक मुहूर्त, गर्म जल की मर्यादा छः घण्टा, उबले जल की मर्यादा दिन-रात तक मानी गई है।⁸⁰

(ङ.) रात्रि भोजनत्याग

प्राचीन काल में वैदिक परंपरा में भी रात्रि भोजन त्याग की व्यवस्था थी- ऐसा कतिपय उल्लेखों से पता चलता है। अनेकत्र महाभारत के नाम से प्राप्त एक श्लोक में नरक के जिन चार द्वारों का कथन किया गया है, उनमें एक रात्रिभोजन भी है। यथा-

नरकद्वाराणि चत्वारि प्रथमं रात्रिभोजनम्।

परस्त्रीगमनं चैव सन्धानानन्तकापिके॥⁸¹

एक अन्य श्लोक में मार्कण्डेय महर्षि के अनुसार रात्रि में जल पीने को रुधिरपान के समान तथा अन्नभरण को मांसभक्षण के समान कहा गया है-

'अस्तंगते दिवानाथे आपः रुधिरमुच्यते।

अन्नं मांससमं प्रोक्तं मार्कण्डेयमहर्षिणा॥

जैनाचार में रात्रि भोजन का सर्वथा निषेध है। किन्तु यदि कोई गृहस्थ रात्रि भोजन को पूरी तरह त्याग करने में असमर्थ हो तो उसे पानी, दवा, दूध आदि की छूट रखकर स्थूल आहार का तो त्याग कर ही देना चाहिए।¹

(च) मधुत्याग

मधु (शहद) यद्यपि फूलों से संचित उनका रस है किन्तु इसमें मधुमक्खियों का मृत शरीर, उनके अण्डे एवं भ्रूणों का मिश्रण पाया जाता है। मधुमक्खियों का मल-मूत्र एवं लार

का भी मिश्रण रहता है। अतएव जैनाचार में मधु को मांस, मदिरा के ही समान त्याज्य माना गया है। इसकी त्याज्यता का सभी श्रावकाचारों में कथन पाया जाता है। योगसार में कहा गया है-

**बहुजीवप्रघातोत्थं बहुजीवोद्भारास्पदम्।
असंयमविभीतेन त्रेधा मध्वपि वर्जयते॥^{८२}**

अर्थात्संयम की रक्षा करने वालों को बहुजीव घात से उत्पन्न तथा बहुत जीवों की उत्पत्ति स्थान रूप मधु (शहद) का मन, वचन, काय से त्याग कर देना चाहिए। इसके त्याग को जैन श्रावक का एक मूलगुण माना है, जबकि वैदिक साहित्य में प्रायः मधु को सेव्य माना गया है।^{८३}

(छ) पंच उदुम्बरफल त्याग

जो वृक्षकाष्ठ को भेदकर फलते हैं, उन्हें उदुम्बर फल कहा गया है। ये पांच हैं- बड़, पीपल, ऊमर (गूलर), कटूमर (अंजीर) और प्लक्ष (पाकर)।^{८४} इनका क्षीरफल के नाम से वैदिक परंपरा में उल्लेख पाया जाता है, किन्तु वहां पाकर (प्लक्ष) के स्थान पर महुआ (मधूक) का कथन किया गया है। जैनाचार में इन फलों को त्याज्य माना है।^{८५} अधिकांश आचार्य एवं विद्वान् पञ्चाणुव्रत के स्थान पर अष्ट मूलगुणों में इनका समावेश करते हैं।^{८६} आचार्य अमृतचन्द्र ने लिखा है-

**‘योनिरुदुम्बरयुग्मं प्लक्षन्यग्रोधपिप्पलफलानि।
त्रसजीवानां तस्मात्तेषां तद्भक्षणे हिंसा॥^{८७}**

अर्थात् ऊमर, कटूमर, पाकर (पिलखन), बड़ एवं पीपल के फल त्रस जीवों की योनि अर्थात् उत्पत्तिस्थान हैं। इस कारण इनके भक्षण में त्रस जीवों की हिंसा होती है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि वैदिक आचार और जैन आचार में गृहस्थ के लिए कहे गये कतिपय सामान्य नियमों में स्थूल रूप से समानता है। हाँ, अनेक विषयों में असमानता भी है किन्तु यदि समानता के पक्ष को उजागर किया जाये तो सामाजिक सौमनस्य बनेगा तथा इससे धर्मात्माओं के लिए धर्मपालन में अनुकूलता का ही अनुभव होगा।

संदर्भ-

1. चर गत्यर्थः भक्षणे च। - पाणिनीय धातुपाठ, भ्वादिगण पृ.12
2. ऋग्वेद 10=134.7
3. वही 5.51.15
4. मनुस्मृति, 2/18
5. द्रष्टव्य- जैन धर्म और दर्शन पृ. 249
6. सागारधर्मामृत, 7/35
7. विदुरनीति 3/42 की टीका
8. ऋग्वेद, 1.164.39

9. मुनस्मृति 4/108
10. ऋग्वेद, 5.64.3
11. वही, 8. 18. 13
12. यजुर्वेद, 12/13, 16/3, 13/47, 13/43, 13/50, 13/49
13. अथर्ववेद, 8.1.7
14. वही, 3.10.1
15. तत्त्वार्थसूत्र 7/13
16. रत्नकरण्डश्रावकाचार, 53
17. सागारधर्मामृत 2/82
18. ज्ञानार्णव 8/20
19. मनुस्मृति 5/19
20. ऋग्वेद, 2.12.15
21. ऋग्वेद, 1. 167. 7
22. ऋग्वेद, 7. 104.12
23. ऋग्वेद, 1. 63. 3
24. सत्यमर्थमाययति प्रत्यायति गमयति सत्यम-लि0 1.4.13 पर ब्रह्ममुनि की टीका
25. निरुक्त, 3/13
26. सर्वार्थसिद्धि 9/6
27. विदुरनीति, 3/58
28. मनुस्मृति 4/138 की टीका
29. प्राणो ह सत्यवादिन मुत्तमे लोके आदधात्। अथर्ववेद, 11.4.11, अथर्ववेद, 4.16.6
30. छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तम्।
31. रत्नकरण्डश्रावकाचार, 55
32. ज्ञानार्णव, 9/27, 29
33. ऋग्वेद, 10.37.2
34. वही, 4. 38. 5
35. वही, 8. 67. 14
36. यजुर्वेद, 11/79
37. तत्त्वार्थसूत्र, 7/15
38. तत्त्वार्थसूत्र, 7/27
39. भगवती आराधना, 984
40. ऋग्वेद, 10. 85. 36
41. वही, 10. 85. 42
42. अथर्ववेद, 7. 38. 4
43. द्रष्टव्य- भगवती आराधना, 80
44. रत्नकरण्डश्रावकाचार 59
45. स्याद्वादमंजरी पृष्ठ 277 पर उद्धृत
46. कार्तिकेयानुप्रेक्षा 339-340
47. पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका, 1/16
48. ऋग्वेद 10.34.4 (पिता माता भ्रातर एनमाहुर्न जानीओ नयता बद्धमेतम्।)
49. वही, 10. 34. 13 (अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व।)
50. लाटीसंहिता, 2/114

51. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 146
52. सागारधर्माभूत, 2/17
53. यजुर्वेद, 16/3
54. वही, 13/48
55. वही, 13/43
56. वही, 13/50
57. वही, 13/49
58. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 65-58
59. ऋग्वेद, 8.2.12
60. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 62-64
61. द्रष्टव्य- यजुर्वेद, 30/1, 23/30 आदि।
62. वसुनन्दिश्रावकाचार, 88-93
63. द्रष्टव्य- अभिज्ञान शाकन्तुल का प्रथम अंक
64. लाटी संहिता, 2/139
65. वही, 2/144-145
66. तैत्तिरीय संहिता 4.1.10 की सायणाचार्यकृत व्याख्या। (स्तेना गुप्तचौराः तस्कराः
प्रकटचौराः अतिप्रकटा निर्भया ग्रामेषु वत्तिकरा ममिक्तुक)
67. यजुर्वेद 11/77-78
68. कुरलकाव्य, 15/10
69. सप्त मर्यादाः कवयस्ततश्चुस्तासामेकामिदभ्यंहुरो गात्।- ऋग्वेद, 10.5.6
70. यास्ककृत निरुक्त 6/27
71. ऋग्वेद, 10.117.3
72. वही, 10.107.8
73. यजुर्वेद 40.1
74. अथर्ववेद 3.24.5
75. द्रष्टव्य-ऋग्वेद, में आचार सामग्री, पृ. 96-114
76. तत्त्वार्थसूत्र, 7/38, 39
77. रत्नकरण्डश्रावकाचार, 117
78. मनुस्मृति, 6/46
79. लिंगपुराण, 202
80. व्रतविधानसंग्रह, पृष्ठ 31
81. सागारधर्माभूत, 2/76
82. योगसार, 8/82
83. महाभारत शान्तिपर्व15(जैनधर्म की मौलिक विशेषतायें द्वितीय संस्करण पृ.61 से
उद्धृत)
84. द्रष्टव्य- संस्कृत हिन्दी कोश (आप्टे), क्षीरवृक्ष
85. द्रष्टव्य- पुरुषार्थसिद्ध्युपाय 61, उपासकाध्ययन 255, सागारधर्माभूत 2/2, लाटीसंहिता,
1/7 सावयधम्मदोहा 22, पद्मनन्दिश्रावकाचार, 3/6 रत्नमाला 19, आदिपुराण 38/22
86. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 72

अध्यक्ष- संस्कृत विभाग
एस. डी. कालेज
मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)

स्वरूप संबोधन में आत्मा का विधि-निषेध और मूर्तत्व-अमूर्तत्व

-प्रो. कमलेशकुमार जैन

समस्त भारतीय दार्शनिकों के साथ ही पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी द्रव्य अथवा पदार्थ को दो भागों में विभाजित किया है- जड़ और चेतन अथवा जीव और अजीव। वस्तुतः इन दो के अतिरिक्त तीनों लोकों में और कुछ भी नहीं है और यदि कुछ है तो वे सभी इन दोनों के भेद-प्रभेद हैं, विस्तार हैं। जिनमें किसी भी अपेक्षा से जानने और देखने की शक्ति है, वे सभी जीव अथवा चेतन हैं और इनसे इतर जो भी द्रव्य अथवा पदार्थ हैं, वे सभी जड़ अथवा अचेतन अजीव हैं। इसमें किसी भी प्रकार का कोई सन्देह नहीं है।

चेतनद्रव्य जीव आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित है। आत्मा के अस्तित्व को चार्वाक दर्शन के अतिरिक्त प्रायः सभी आस्तिक-दर्शन स्वीकार करते हैं।

जैनदर्शन एक ही वस्तु में अनेक धर्मों को स्वीकार करता है अर्थात् कोई भी वस्तु एक होते हुए भी अनेक धर्मों अथवा गुणों से युक्त है। इसे ही जैनदर्शन में अनेकान्तवाद के नाम से स्वीकार किया गया है। इसी अनेकान्तात्मक वस्तु को जब हम वचन के द्वारा अभिव्यक्त करते हैं तो उसके विविध धर्मों को हम क्रमशः वाणी का विषय बनाते हैं। इसी को जैनदर्शन में स्याद्वाद सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया गया है।

अनेकान्तवाद सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में जब हम वस्तु के विविध धर्मों का चिंतन करते हैं और तदनन्तर स्याद्वाद सिद्धान्त के आधार पर उनका कथन करते हैं तो किसी अपेक्षा से वस्तु विधि रूप है (स्यादस्ति), किसी अपेक्षा से वस्तु निषेध रूप है (स्यान्नास्ति) और किसी अपेक्षा से वस्तु विधि-निषेधरूप है (स्यादस्तिनास्ति)- वस्तु के ये तीन रूप प्रकट होते हैं और जब इन्हीं तीन रूपों का कथन किसी अपेक्षा से व्यक्त करने में असमर्थ होते हैं तो वह अवक्तव्य रूप हो जाता है (स्यादवक्तव्य) यही कथन किसी अपेक्षा से विधि रूप है और किसी अपेक्षा से सत् कहने योग्य होता है (स्यादस्त्यवक्तव्य), कभी स्थिति यह बनती है कि वस्तु का कथन किसी अपेक्षा से निषेध रूप होता है और साथ ही किसी अपेक्षा से वस्तु का कथन नहीं ही किया जा सकता है (स्यान्नास्त्यवक्तव्य), कभी स्थिति ऐसी भी आती है जब हम वस्तु का किसी अपेक्षा से विधि रूप कथन करते हैं और किसी अपेक्षा से निषेध रूप कथन करते हैं और साथ ही किसी अपेक्षा से वस्तु का कथन नहीं ही किया जा सकता है (स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्य)। इस प्रकार सात भागों अथवा सात प्रकार से वस्तु का कथन किया जाता है।

चेतन या अचेतन अथवा आत्मा और जड़- इन दो द्रव्यों का कथन भी उपर्युक्त रीति से किया जा सकता है। जैनदर्शन में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल- इन छह द्रव्यों को स्वीकार किया गया है। जीव अथवा आत्मा के अतिरिक्त शेष सभी पांच द्रव्य अचेतन अथवा जड़ रूप हैं। यह हमारा भौतिक चिन्तन है। जब हम इन्हीं द्रव्यों अथवा तत्त्वों पर आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करते हैं तो इन्हें जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष- इन सात तत्त्वों के रूप में स्वीकार करते हैं। इन सात तत्त्वों के आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से जीव अथवा आत्मा ही प्रमुख है। शेष छह तत्त्वों में से आस्रव और बन्ध- ये तीन तत्त्व आत्मा का अपकार करने वाले हैं, अतः हेय हैं और संवर, निर्जरा और मोक्ष- ये तीन तत्त्व आत्मा का उपकार करने वाले हैं, अतः अन्त के ये तीन तत्त्व उपादेय हैं।

आचार्य अकलंकदेव ने अपनी लघुकृति स्वरूप-संबोधन में मात्र पच्चीस कारिकाओं के माध्यम से आत्मा के विविध रूपों, धर्मों, गुणों अथवा पर्यायों का सापेक्ष अथवा स्याद्वाद पद्धति से कथन किया है। यह आत्मा अपने स्वरूप को अपने आत्मा के द्वारा अपनी आत्मा के लिये अपनी आत्मा से अपने आत्मा के स्वरूप को अपनी आत्मा में लीन करे, ऐसी प्रेरणा देते हुये आचार्य अकलंकदेव कहते हैं-

स्वः स्वं स्वेन स्थितं स्वस्मै, स्वस्मात् स्वस्याविनश्वरम्।

स्वस्मिन् ध्यात्वा लभेत् स्वोत्थमानन्दममृतं पदम्।^१

आचार्य अकलंकदेव ने अपनी इस लघुकृति में आत्मा का जो कथन किया है उसके मूल में परवादियों द्वारा संभावित प्रश्नों के उत्तर दिये गये हैं। इसी क्रम में परवादियों द्वारा यह प्रश्न किया जा सकता है कि हे स्याद्वादियो ! आप लोग तो प्रत्येक वस्तु के विविध रूपों को स्वीकार करते हो। अर्थात् आपके मत में प्रत्येक वस्तु विविध रूप भी है और निषेध रूप भी है तो कृपया यह बतलाने का कष्ट करें कि आत्मा विधि रूप भी है और निषेध रूप भी है। आत्मा मूर्त रूप भी है और अमूर्त रूप भी है। एक साथ ये दो-दो धर्म कैसे हो सकते हैं ? क्योंकि दोनों परस्पर में विरुद्ध हैं। और जिन धर्मों का आपस में विरोध हो वे दो धर्म एक ही वस्तु में एक साथ कैसे रह सकते हैं ?

इसका उत्तर आचार्य अकलंकदेव ने अपनी लघुकृति स्वरूप-संबोधन में दिया है। वे कहते हैं कि-

स स्याद्विधिनिषेधात्मा, स्वधर्मपरधर्मयोः।

समूर्तिर्बोधमूर्तिर्त्वादमूर्तिश्च विपर्ययात्॥^२

अर्थात् वह आत्मा स्वधर्म के कथन करने में और परधर्म का कथन करने में विधि रूप भी है और निषेध रूप भी है। साथ ही ज्ञानमूर्ति होने से आत्मा मूर्तिमान् भी है और ठीक उसके विपरीत अमूर्तिमान् भी है।

इसी रहस्य का उद्घाटन करते हुये स्वरूप सम्बोधन परिशीलन में श्रमणसंस्कृति ने उन्नायक आचार्य विशुद्ध सागर जी महाराज कहते हैं कि- **प्रत्येक द्रव्य में उभयरूपता है, जो द्रव्य सदरूप है, वही द्रव्य असदरूप भी है। स्व चतुष्टय से पदार्थ सदरूप**

है, परचतुष्टय से असदरूप भी है।³ आगे कहते हैं कि- कथन तो क्रमशः किया जाता है। जब सत् का कथन होगा, तब असत् कथन गौण होगा, जब असत् कथन होगा, तब सत् कथन गौण होगा, परन्तु प्रति समय सद्भाव दोनों का ही रहेगा।⁴

जैनदर्शन का स्याद्वाद सिद्धान्त अपने आप में अनूठा है, वह वस्तुगत प्रत्येक धर्म को स्वीकारता है, लेकिन शर्त यह है कि वह कथन सापेक्ष हो, निरपेक्ष नहीं। क्योंकि आचार्य समन्तभद्र ने अपनी आप्तमीमांसा में स्पष्ट लिखा है कि- निरपेक्षा नया मिथ्या, सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्।⁵ अर्थात् निरपेक्ष कथन मिथ्या है, जबकि सापेक्ष कथन सम्यक् होता है।

वस्तु के स्वरूप को समझने के लिये पूर्वाग्रह से मुक्त होकर चिंतन करना चाहिये। पहले से ही मन में किसी एक पक्ष को लेकर चलना और फिर स्वाभीष्ट तत्त्व की सिद्धि के लिये छल-बल का प्रयोग करना उचित नहीं। इसी बात को ध्यान में रखते हुए आचार्य विशुद्धसागर जी महाराज कहते हैं कि- ज्ञानियो! जिज्ञासु के लिये तत्त्व शीघ्र समझ में आ जाता है, हठधर्मी के लिये कभी भी सम्यक् तत्त्वबोध नहीं होगा। कारण समझना, जिसके अन्तःकरण में वक्रता रहती है, वह स्वमत की सिद्धि चाहता है, स्वमत ही सिद्धि के लिये छलादि का प्रयोग करता है और कषायभाव को प्राप्त होता है, जहाँ क्षयोपशम का प्रयोग तत्त्वबोध में होना चाहिये था, वहाँ न होकर अपनी शक्ति का प्रयोग अतत्त्व की पुष्टि में एवं अहंकार की सिद्धि में लगा देता है। अहो! बड़े-बड़े साधु पुरुष भी इस अहं के मद में उन्मत्त हो जाते हैं और यथार्थ में स्वभूल को जानते हुए भी जनसामान्य के मध्य स्वीकार नहीं कर सकते।⁶

....वस्तु स्वरूप का प्रतिपादन जैसे का तैसा करना सम्यग्दृष्टि जीव का व्यसन होता है। विधि मुख एकान्त से या निषेध मुख एकान्त से द्रव्य का प्रतिपादन कभी एक रूप से ही पूरी तरह नहीं हो सकता। न सर्वथा सदरूप ही है और न सर्वथा असद् रूप ही, यानी न सर्वथा विधि रूप, न सर्वथा निषेध रूप; आत्मादि द्रव्य तो विधिनिषेधात्मक है।⁷

यह तो हुई द्रव्य-सामान्य की चर्चा। अब यहाँ पर आत्मा के संदर्भ में विशेष विचार किया जाता है। इस संदर्भ में पूज्य आचार्य श्री विशुद्धसागर जी महाराज ने अपने परिशीलन में लिखा है कि- आत्मा सत् ही है, यदि ऐसा मानते हैं तो वह सर्वात्मक एवं मर्यादा विहीन हो जायेगा। सभी द्रव्यों के सत्पने के प्रसंग में आत्मद्रव्य सभी में घटित होने लगेगा। संकर नाम का दोष खड़ा हो जायेगा, साथ ही छह द्रव्यों की सत्ता समाप्त हो जायेगी। लोक में मात्र एकद्रव्य का प्रसंग रह जायेगा, जड़धर्मी चैतन्य हो जायेगा, अत्यन्ताभाव का अभाव हो जायेगा तथा अनवस्था दोष का प्रसंग आ जायेगा।⁸

आचार्यश्री के इस कथन से मुझे प्रथम-द्वितीय शताब्दी के प्रसिद्ध आचार्य समन्तभद्रकृत आप्तमीमांसा का वह प्रसंग याद आता है, जिसमें उन्होंने भावैकान्त स्वीकार करने पर दोषों की उद्भावना करते हुये लिखा है कि-

भावैकान्ते पदार्थानामभावानामपह्नुवात्।
 सर्वात्मकमनाद्यन्तमस्वरूपमतावकम्॥
 कार्यद्रव्यमनादि स्यात् प्राग्भावस्य निह्वे।
 प्रध्वंसस्य च धर्मस्य प्रच्यवेऽनन्ततां व्रजेत्॥
 सर्वात्मकं तदेकं स्यादन्यापोह-व्यतिक्रमे।
 अन्यत्र समवाये न व्यपदिश्येत सर्वथा॥^९

अर्थात् हे भगवन्! यदि पदार्थों के अस्तित्व को सर्वथा एकान्त रूप से स्वीकार किया जाये और असत् रूप कोई पदार्थ नहीं है ऐसा सर्वथा एकान्त रूप से स्वीकार किया जाये तो इससे प्राग्भाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव रूप वस्तु-धर्मों का लोप ठहरता है और इन वस्तु-धर्मों का अलोप करने से वस्तु-तत्त्व सर्वथा अनादि, अनन्त, सर्वात्मक और अस्वरूप हो जाता है, परन्तु यह सब आपके लिये इष्ट नहीं है। क्योंकि प्राग्भाव का लोप करने से कार्यरूप द्रव्य अनादि हो जायेगा। प्रध्वंसाभाव का लोप करने से द्रव्य अनन्त रूप हो जायेगा। अन्योन्याभाव का लोप करने से एकत्व अभेद रूप सर्वात्मक हो जायेगा और यदि अत्यन्ताभाव का लोप करते हैं तो “यह चेतन, यह अचेतन है।” इत्यादि रूप से उस एक तत्त्व का सर्वथा भेदरूप से कोई कथन नहीं बन सकेगा।

ऐसी स्थिति में आचार्य विशुद्धसागर जी महाराज लिखते हैं- ज्ञानियो! इसलिये ध्यान दो- आत्मा सत् रूप है, वह मात्र सत्-चित् की अपेक्षा से है, न कि जड़ की अपेक्षा। चैतन्य धर्म की दृष्टि से ही आत्मा सदरूप है न कि अचेतन की अपेक्षा। अचेतन की अपेक्षा से वह असद् रूप ही है। अतः स्वचतुष्टय से द्रव्य सदरूप है, परचतुष्टय की अपेक्षा असद् रूप है।^{१०}

अपनी इसी बात की पुष्टि के लिये आचार्य विशुद्धसागर जी महाराज ने आचार्य समन्तभद्रकृत आप्तमीमांसा से जो कारिका उद्धृत की है, वह इस प्रकार है-

सदेव सर्व को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात्।
 असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते॥

अर्थात् स्वरूपादिचतुष्टय की अपेक्षा से सब पदार्थों को सत् कौन नहीं मानेगा? और पररूपादिचतुष्टय की अपेक्षा से सब पदार्थों को असत् कौन नहीं मानेगा? यदि ऐसा कोई नहीं मानता है तो वस्तु की सही व्यवस्था नहीं बनेगी।

कहने का तात्पर्य यह है कि षड्द्रव्यों में जीव अथवा आत्मा भी एक द्रव्य है, जो स्वचतुष्टय की अपेक्षा विधि रूप है और परचतुष्टय की अपेक्षा निषेध रूप है।

इसी प्रकार आत्मा मूर्तिक भी है और अमूर्तिक भी। इस संदर्भ में आचार्यश्री विशुद्धसागर जी महाराज स्पष्ट लिखते हैं। कि- स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण निश्चयनय से आत्मा में नहीं पाये जाते, इसलिये आत्मा अमूर्तिक स्वभावी है, परन्तु बन्ध की अपेक्षा से, व्यवहारनय की अपेक्षा से आत्मा मूर्तिक भी है।^{११}

आचार्यश्री अपने इस कथन के अर्थ का उद्घाटन करते हुये आगे लिखा है कि- जीव

को जो अमूर्तिक कहा गया, वह जीव स्वभाव का कथन तो है, साथ ही इस कथन से चार्वाकों के आत्मा विषयक स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णादिरूप मूर्तिकत्व का निराकरण होता है।^{१४}

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य अकलंकदेव ने स्याद्वाद सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में आत्मा को स्वचतुष्टय की अपेक्षा से विधि रूप स्वीकार किया है और परचतुष्टय की अपेक्षा से निषेधरूप स्वीकार किया है। इसी प्रकार स्वचतुष्टय की अपेक्षा आत्मा मूर्तिक है और परचतुष्टय की अपेक्षा से आत्मा अमूर्तिक भी है और इसी बात की पुष्टि विविध उदाहरणों के माध्यम से आचार्य विशुद्धसागर जी महाराज ने अपने स्वरूप संबोधन परिशीलन में की है।

संदर्भ—

1. स्वरूप सम्बोधन पंचविंशति, कारिका 24
2. स्वरूप सम्बोधन पंचविंशति, कारिका 8
3. स्वरूप सम्बोधन परिशीलन, पृष्ठ 82
4. स्वरूप सम्बोधन परिशीलन, पृष्ठ 82
5. आप्तमीमांसा, कारिका 108
6. स्वरूप सम्बोधन परिशीलन, पृष्ठ 82
7. स्वरूप सम्बोधन परिशीलन, पृष्ठ 84
8. स्वरूप सम्बोधन परिशीलन, पृष्ठ 84
9. आप्तमीमांसा, कारिका 9, 10, 11
11. आप्तमीमांसा, कारिका 15
12. स्वरूप सम्बोधन परिशीलन, पृष्ठ 85
13. स्वरूप सम्बोधन परिशीलन, पृष्ठ 86
14. स्वरूप सम्बोधन परिशीलन, पृष्ठ 86

आचार्य एवं अध्यक्ष जैन-बौद्धदर्शन विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
आवास- निर्वाण भवन
बी-२/२४९, लेन नं. १४, रवीन्द्रपुरी,
वाराणसी-२२१००५

दुःख का विवेचन : जैनाचार्यों की दृष्टि में

- डॉ. कुलदीप कुमार

इस संसार में दुःख से सभी प्राणी डरते हैं। शारीरिक, मानसिक आदि के भेद से दुःख कई प्रकार का है। लोक में शारीरिक दुःख को ही सबसे बड़ा दुःख माना जाता है, लेकिन वास्तव में देखा जाए तो शारीरिक दुःख सबसे हलकी श्रेणी का दुःख है। शारीरिक दुःख से बड़ा दुःख मानसिक और मानसिक से भी बड़ा स्वाभाविक दुःख होता है, जो व्याकुलता रूप है। उसका समीचीन ज्ञान न होने के कारण ही जीव नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवादियोनियों में चतुर्गतिरूप भ्रमण करते हुए विविध दुःखों को भोगता रहता है। तथा जो जीव उक्त स्वाभाविक दुःख को जानकर उसका निवारण कर लेता है, वह दुःखों से मुक्त हो जाता है। अतः सर्वप्रथम हम यह जानने का प्रयत्न करेंगे कि दुःख है क्या ?

दुःख शब्द की व्युत्पत्ति एवं अर्थ-

दुःख शब्द मूलतः संस्कृतभाषा का दुःखं शब्द है। यह शब्द विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। '(दुष्टानि खानि यस्मिन् दुष्टं खनति- खन्, ड, दुख, अच्) जिसके अर्थ हैं- पीड़ाकार, अरुचिकर, कठिन, बेचैन, खेद, रज्ज, विषाद, वेदना और कष्ट इत्यादि।'

दुःख का लक्षण

दुःख का लक्षण बतलाते हुए आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं कि 'सदसेद्वेद्योदयेऽन्तरङ्गहेतौ सति बाह्यद्रव्यादिपरिपाकनिमित्तवशादुत्पद्यमानः प्रीतिपरितापरूपः परिणामः सुखदुःखमित्याख्यायते।'²

अर्थात् साता वेदनीय और असाता वेदनीय के उदयरूप अन्तरंग हेतु के रहते हुए बाह्यद्रव्यादि के परिपाक के निमित्त से जो प्रीति और परिताप रूप परिणाम उत्पन्न होते हैं, वे सुख दुःख कहे जाते हैं। अथवा पीड़ा रूप आत्मा का परिणाम दुःख है।

वीरसेनाचार्य लिखते हैं- 'अणिट्ठत्थसमागमो इगोत्थवियो च दुक्खं णाम।' अर्थात् अनिष्ट अर्थ के समागम और इष्ट अर्थ के वियोग का नाम दुःख है।

दुःख के भेद-

दुःख के भेदों को बतलाते हुए आचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं कि- 'आगन्तुकं मानसियं सहजं सारीरियं चत्तारि दुक्खाइं।'³ अर्थात् दुःख चार प्रकार का होता है- आगन्तुक, मानसिक, स्वाभाविक तथा शारीरिक। अचानक बिजली आदि गिरने से अथवा अचानक कोई दुर्घटना आदि से जो दुःख प्राप्त होता है उसे आगन्तुक दुःख कहते हैं। प्रिय जनों के दुर्व्यवहार आदि से तथा इष्ट वस्तु की प्राप्ति न होने के कारण जो दुःख प्राप्त होता है उसे मानसिक दुःख कहते हैं। जीव के निज स्वभाव से उत्पन्न होने वाले दुःख को स्वाभाविक

दुःख कहते हैं।

स्वामिकार्तिकेय दुःख के पांच भेद बतलाते हुए लिखते हैं कि-

“असुरोदरीयि दुःखं सारीरं माणसं तथा विविहं।

खित्तुब्भवं च तिव्वं अण्णोण्णकयं च पंचविहं॥”^{१६}

अर्थात् पहला असुर कुमारों के द्वारा दिये जाना वाला दुःख, दूसरा शारीरिक दुःख, तीसरा मानसिक दुःख, चौथा क्षेत्र से उत्पन्न होने वाला दुःख और पांचवां परस्पर में दिया जाने वाला दुःख।

दुःख के कारण- दुःख का कारण शरीर एवं बाह्यपदार्थों में ममत्व।

आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं कि-

“मूलं संसारदुःखस्य देह एवात्मधीस्ततः।

त्यक्त्वैनां प्रविशेदन्तर्बहिरव्यापृतेन्द्रियः॥”^{१७}

अर्थात् इस जड़ शरीर में आत्मबुद्धि का होना ही संसार के दुःखों का कारण है। इसलिए शरीर में आत्मत्व की मिथ्या कल्पना को छोड़कर बाह्यविषयों में इन्द्रियों को रोकता हुआ अन्तरंग में प्रवेश करे।

आचार्य गुणभद्र लिखते हैं कि-

“आदौ तनोर्जननमत्र हतेन्द्रियाणि काङ्क्षन्ति तानि विषयान् विषयाश्च मान।

हानिप्रयासभयपापकुर्योनिदाः स्युर्मूलं ततस्तनुरनर्थपरं पराणाम्॥”^{१८}

अर्थात् सर्वप्रथम शरीर उत्पन्न होता है, इस शरीर से दुष्ट इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं, वे अपने विषयों को चाहती हैं; और वे विषय मानहानि, परिश्रम, भय, पाप एवं दुर्गति को देने वाले हैं। इस प्रकार से समस्त अनर्थों की परंपरा का मूल कारण वह शरीर ही है।

आचार्य शुभचन्द्र लिखते हैं कि-

“भवोद्भवानि दुःखानि यानि यानीह देहिभिः।

सह्यन्ते तानि तान्युच्चैर्वपुरादाय केवलम्॥”^{१९}

अर्थात् इस जगत में संसार से उत्पन्न जो- जो दुःख जीवों को सहने पड़ते हैं, वे सब इस शरीर के ग्रहण से ही सहने पड़ते हैं इस शरीर से निवृत्त होने पर फिर कोई भी दुःख नहीं है।

दुःख का कारण ज्ञान का ज्ञेय रूप परिणामन-

पण्डित राजमल्ल लिखते हैं कि-

“नूनं यत्परतो ज्ञानं प्रत्यर्थं परिणामि यत्।

व्याकुलं मोहसंपृक्तमर्थाछुःखमनर्थवत्।

सिद्धं दुःखत्वमस्योच्चैर्व्याकुलत्वोपलब्धितः।

ज्ञातशेषार्थसद्रावे तद्बुभुत्सादिदर्शनात्॥”^{२०}

अर्थात् निश्चय से जो ज्ञान इन्द्रियादि के अवलम्बन से होता है और जो ज्ञान प्रत्येक अर्थ के प्रति परिणमनशील रहता है अर्थात् प्रत्येक अर्थ के अनुसार परिणामी होता है, वह

ज्ञान व्याकुल तथा राग-द्वेष सहित होता है। इसलिए वास्तव में वह ज्ञान दुःख रूप तथा निष्प्रयोजन के समान है क्योंकि परिणामी होने के कारण ज्ञान में व्याकुलता पाई जाती है। इसलिये ऐसे इन्द्रियजन्य ज्ञान में दुःखपना अच्छी तरह सिद्ध होता है, क्योंकि जाने हुए पदार्थ के सिवाय अन्य पदार्थों को जानने की इच्छा रहती है।

इन्द्रियज्ञान युगपत् न होने से दुःख का कारण-

इन्द्रियज्ञान क्रमिक होता है, इसलिए वह दुःख का कारण है।

आचार्य जिनसेन लिखते हैं कि-

“क्रमकरणव्यवधानग्रहणे खेदो भवति”^{११}

अर्थात् इन्द्रियज्ञान क्रमपूर्वक होता है, इन्द्रियों के आश्रय से होता है तथा प्रकाशादि की सहायता से होता है, इसलिए दुःख का कारण है।

पण्डित राजमल्ल लिखते हैं कि-

“प्रमत्तं मोहयुक्तत्वान्निर्कृष्टं हेतुगौरवात्।

व्युच्छिन्नं क्रमवर्तित्वाकृच्छं चेहाद्युपक्रमात्॥”^{१२}

अर्थात् वह इन्द्रियजन्यज्ञान मोह से युक्त होने के कारण प्रमत्त, अपनी उत्पत्ति के बहुत कारणों की अपेक्षा रखने से निकृष्ट, क्रमपूर्वक पदार्थों को जानने के कारण व्युच्छिन्न और ईहा आदि पूर्वक होने से दुःख रूप कहलाता है।

दुःख दूर करने का एकमात्र उपाय आत्मस्वरूप की प्राप्ति-

भेदविज्ञान के द्वारा जो पुरुष आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लेता है, उसके सभी दुःख नष्ट हो जाते हैं। इस विषय में आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं कि-

“आत्मविभ्रमजं दुःखमात्मज्ञानात्प्रशाम्यति।

नायतास्तत्र निर्वाणं कृत्वापि परमं तपः॥”^{१३}

अर्थात् शरीर आदि में आत्मबुद्धि रूप विभ्रम से उत्पन्न होने वाला दुःख शरीर आदि से भिन्न रूप आत्मस्वरूप को जानने से शान्त हो जाता है। अतएव जो पुरुष भेदविज्ञान के द्वारा आत्मस्वरूप की प्राप्ति में प्रयत्न नहीं करते वे उत्कृष्ट तप करके भी निर्वाण को प्राप्त नहीं करते। अर्थात् वास्तविक सुख को प्राप्त नहीं करते।

इसी संदर्भ में आचार्य गुणभद्र लिखते हैं कि-

“हानेः शोकस्ततो दुःखं लाभाद्रागस्ततः सुखम्।

तेन हानावशोकः सन् सुखी स्यात्सर्वदा सुधीः॥”^{१४}

अर्थात् इष्ट वस्तु की हानि से शोक और फिर उनसे दुःख होता है, तथा फिर उसके लाभ से राग तथा फिर उससे सुख होता है। इसलिए बुद्धिमान पुरुष को इष्ट की हानि में शोक से रहित होकर सदा सुखी रहना चाहिए। समस्त इन्द्रिय विषयों से विरक्त होने का नाम सुख और उनमें आसक्त होने का नाम दुःख है। अतः हम सबको विषयों से विरक्त होने का उपाय करना चाहिए।

संदर्भ:

1. वामन शिवराम आप्टे, संस्कृत-हिन्दी कोश, पृष्ठ-462
2. सर्वार्थसिद्धि, 5/20
3. सर्वार्थसिद्धि, 6/11
4. धवला, पुस्तक संख्या-13, खण्ड-5, भाग-5, सूत्र-63
5. भावपाहुड, गाथा-11
6. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा- 35
7. समाधिशतक, श्लोक-15
8. आत्मानुशासन, श्लोक-195
9. ज्ञानार्णव, अधिाकार- 7, दोहक- 11
10. पञ्चाध्यायी उत्तरार्ध, श्लोक- 278-279
11. तात्पर्यवृत्ति, गाथा- 60 की टीका
12. पञ्चाध्यायी उत्तरार्ध, श्लोक- 281
13. समाधिशतक, श्लोक- 41
14. आत्मानुशासन, श्लोक- 186-187

-असिस्टेन्ट प्रोफेसर
श्री ला.ब.शा.रा.सं संस्कृतविद्यापीठ
कटवारिया सराय
नई दिल्ली-११००१६

जैन चम्पू साहित्य और उसका वैशिष्ट्य

-प्रो. भागचन्द्र जैन 'भागेन्दु'

गद्य-पद्य मिश्रित साहित्य को 'चम्पू' संज्ञा प्रदान की जाती है। ऐतरेय ब्राह्मण, पंचतंत्र, हितोपदेश, और पालि भाषा की जातक कथाओं में इस शैली का प्रयोग किया गया है। जैन परम्परा के संस्कृत कवियों ने अनेक चम्पू काव्यों का सृजन किया है। प्रस्तुत आलेख में यशस्तिलक चम्पू, जीवन्धर चम्पू, भरतेश्वराभ्युदय चम्पू, पुरुदेव चम्पू, दयोदय चम्पू, वर्द्धमान चम्पू एवं जैनाचार्य विजय चम्पू शीर्षक 7 चम्पू काव्यों की कथावस्तु एवं वैशिष्ट्य का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया गया है।

संस्कृत रचना शैलियाँ :

संस्कृत रचनाओं की अनेक शैलियाँ और विधाएँ हैं। जैसे काव्य, नाटक, चरित्र, पुराण, कथा, आख्यायिका, स्तोत्र, गीत तथा मुक्तक आदि। इन सबका तीन वर्गों में विभाजन किया जाता है- गद्य, पद्य, और मिश्र। मिश्र रचना-शैली प्राचीनतम ब्राह्मणों की शुनःशेष कथा गद्य में रचित होने पर भी उसमें एक सौ से अधिक पद्यात्मक गाथाएँ आयी हैं। इस शैली का प्रयोग पालि भाषा की जातक कथाओं में और पश्चात् पंचतंत्र, हितोपदेश जैसी रचनाओं में बहुलता से हुआ। नाटक में भी गद्य और पद्य दोनों का प्रयोग हुआ। किन्तु यहाँ गद्य और पद्य का अपना-अपना विशिष्ट स्थान बन गया।

जब पद्य व गद्य रचनाओं में कलात्मकता की मात्रा बढ़ी, तब उनके क्षेत्रों का बंटवारा नियत न रह सका। अश्वघोष और कालिदास से प्रारंभ होकर भारवि, माघ और श्रीहर्ष तक महाकाव्य शैली ने अर्थगाम्भीर्य के साथ छन्द, रस, भाव, अलंकार आदि में अति कृत्रिम रूप से विकास किया। गद्य रचना भी पीछे न रही और सुबन्धु तथा बाण ने उसे भी इतना पुष्ट और कलात्मक बना दिया कि उसे भी महाकाव्य के समकक्ष स्थान प्राप्त हो गया। उक्त प्रसिद्ध कृतियों के रचयिताओं का कौशल दो में से किसी एक ही क्षेत्र में पाया जाता है- पद्य या गद्य। ऐसी प्रतिभाओं का भी उदित होना भी स्वाभाविक था जो एक ही कृति में अपने गद्य और पद्य दोनों प्रकार के रचना कौशल की अभिव्यक्ति करना चाहें। ऐसी रचनाएँ 'चम्पू' के रूप में सम्मुख आयीं।

चम्पू शब्द व्युत्पत्ति-

संस्कृत व्याकरण के अनुसार चम्पू शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है- यह शब्द परादिगण की गत्यर्थक चपि (चम्पु) धातु से औणादिक उन प्रत्यय करने पर और ऊङ्, ओदश करने पर बनता है। चम्पयति अर्थात् सहैव गमयति प्रयोजयति गद्यपद्ये इति चम्पूः, अर्थात् जिस रचना में गद्य और पद्य का समान भाव से तथासहयोगपूर्वक प्रयोग

किया जाता है उसे 'चम्पू' कहते हैं। श्री हरिदास भट्टाचार्य ने चम्पू शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है- **चमत्कृत्य पुनाति सहृदयान् विस्मयीकृत्य प्रसादयति इति चम्पूः।** इसके अनुसार चम्पू में शब्द- चमत्कार और अर्थप्रसाद गुण होना चाहिए। चम्पू में वर्णनात्मक अंश के लिए गद्य का प्रयोग होता है और अर्थगौरव वाले अंशों के लिए पद्य का प्रयोग किया जाता है।

‘चम्पू’ का स्वरूप-

सर्वप्रथम दण्डी (लगभग 600-650ई.) ने अपने काव्यादर्श में चम्पू की परिभाषा ‘गद्य-पद्यमयी काचित् चम्पूरित्यभिधीयते’² की है अर्थात् ऐसी कोई विशेष रचना जो गद्य और पद्यमय हो चम्पू कहलाती है। किन्तु जो चम्पू रचनाएं उपलब्ध हैं वे दशवीं शती से पूर्व की कोई नहीं हैं। इस कोटि की उपलब्ध रचनाओं में सर्वप्रथम रचना त्रिविक्रम भट्ट का नलचम्पू (915 ई.) और दूसरी रचना आचार्य सोमदेव सूरि का यशस्तिलकचम्पू है। इस श्रृंखला में संस्कृत के जैन कवियों ने चम्पू काव्य विधा का भी प्रणयन किया है। चम्पू काव्य की मनोरमता पर प्रकाश डालते हुए हरिश्चन्द्र ने जीवन्धर चम्पू में लिखा है-

गद्यावली पद्यपरम्परा च प्रत्येकमप्यावहतो प्रमोदम्।

हर्ष-प्रकर्ष तनुते मिलित्वा द्राक्बाल्यतारुण्यवतीव कन्या।³

यशस्तिलक चम्पू

आचार्य सोमदेव सूरि के यशस्तिलक चम्पू की रचना 959 ई. में हुई थी। आचार्य सोमदेव सूरि चालुक्यराज अरिकेशरिन् (द्वितीय) के बड़े पुत्र द्वारा संरक्षित कवि थे। यह राष्ट्रकूट के राजा कृष्णराजदेव के समकालिक थे। इस चम्पू का मूल उत्स आचार्य गुणभद्र प्रणीत जैन उत्तर पुराण हैं। इसमें अवन्ती के राजा यशोधर का चरित वर्णित है।

इस महाग्रंथ में आठ समुच्छ्वास हैं। प्रथम पांच समुच्छ्वासों में कथा अविच्छिन्न गति से आगे बढ़ती है। अन्त के तीन समुच्छ्वासों में सम्यग्दर्शन तथा उपासकाध्ययनांग का विस्तृत और समयानुरूप वर्णन है। तृतीय समुच्छ्वास में राजनीति की विशद विवेचना है।

इस कृति के द्वारा सोमदेव के गहन अध्ययन, प्रगाढ़ पाण्डित्य, भाषा पर स्वच्छन्द प्रभुत्व एवं काव्य क्षेत्र में उनकी नये- नये प्रयोगों की अभिरुचि का परिचय मिलता है। सोमदेव ने अनेक कवियों के नामोल्लेख सहित उनकी मुक्तक कृतियों को इस चम्पू काव्य में उद्धृत किया है। इस चम्पू काव्य पर श्रुतसागर सूरि की सुन्दर व्याख्या है।

इस चम्पू में आचार्य ने कथा भाग की रक्षा करते हुए कितना प्रमेय भर दिया है ? यह देखते ही बनता है। इसके गद्य कादम्बरी से भी बढ़-चढ़कर है, कल्पना का उत्कर्ष अनुपम है, कथा का सौन्दर्य ग्रंथ के प्रति आकर्षण उत्पन्न करता है। सोमदेव ने प्रारंभ में ही लिखा है कि- जिस प्रकार नीरस तृण खाने वाली गाय से सरस दूध की धारा प्रवाहित होती है उसी प्रकार जीवन-पर्यन्त जैसे नीरस विषय में अवगाहन करने वाले मुझसे यह काव्य-सुधा की धारा बह रही है। इस ग्रंथरूपी महासागर में अवगाहन करने वाले विद्वान् ही समझ सकते हैं कि आचार्य सोमदेव के हृदय में कितना अगाध वैदुष्य भरा है। उन्होंने एक

स्थलपर स्वयं कहा है कि लोककवित्व और कवित्व में समस्त संसार सोमदेव का उच्छिष्टभोजी है अर्थात् उनके द्वारा वर्णित वस्तु का ही वर्णन करने वाला है।⁴

यशस्तिलक की रचना गृहस्थ जीवन की यथार्थ पृष्ठभूमि पर हुई है। अनेक गद्य काव्यों तथा चम्पू काव्यों में यशस्तिलक चम्पू ही एक ऐसा काव्य ग्रंथ है जो अत्यन्त मार्मिक करुण कथा को आधार बनाकर लिखा गया है।

इस चम्पू काव्य में कवि ने तत्कालीन युग की परिस्थितियों का मार्मिक चित्रण किया है। मंत्रियों के भ्रष्टाचार, स्वेच्छाचारी शासन, देश की आर्थिक एवं सामाजिक दशा का यथार्थ चित्रण इस चम्पू की विशेषता है।

राजा यशोधर की सेना का वर्णन यशस्तिलक चम्पू का उत्कृष्टतम एवं संस्कृत साहित्य का अन्यत उच्च कोटि का वर्णन है। सोमदेव को सर्वाधिक सफलता रूप चित्रण, घटना एवं वर्ण्य विषय के अनुकूल वातावरण के सृजन, सैन्य वर्णन तथामानव के गूढ़रहस्यों के उद्घाटन में मिली है।

यशस्तिलक चम्पू सोमदेव सूरि की प्रौढ़ रचना है। इसके द्वारा उनके गहन, अध्ययन, प्रगाढ़ पाण्डित्य, काव्य सृजन की कुशलता तथा अभिव्यक्ति की अद्भुत क्षमता का प्रदर्शन होता है। वर्ण्य विषय के अनुरूप प्रौढ़, अलंकृत एवं प्राञ्जल भाषा शैली सहित विविधता का निदर्शन इस चम्पू काव्य की निजी विशेषता है। इसमें गद्य-पद्य का प्रयोग समान रूप से हुआ है।

यशस्तिलक चम्पू में अनेक अप्रचलित और अप्रसिद्ध शब्दों का प्रयोग हुआ है। जैसे- धृष्णि=सूर्यरश्मि। बल्लिका=शृंखला। सामज=हाथी। दैर्घिकेय=कमल। बलाल=वायु। नन्दिनी=उज्जयिनी। ऐसा प्रतीत होता है जैसे सूरि प्राचीन शब्दों का जीर्णोद्धार करना चाहते हों।

यशस्तिलक निर्दोष, गुणसंपन्न तथा अलंकृत चम्पू काव्य है। इसका लक्ष्य निर्वेद का परिपाक है। अतः इसका मुख्य रस शान्त है। अन्य सभी रस अंग बनकर प्रयुक्त हुए हैं। धार्मिक तत्त्वों का प्रतिपादन प्रमुख होते हुए श्रृंगार रस के वर्णन में यह ग्रंथ अन्य किसी के पीछे नहीं है। अतिशयोक्ति का निदर्शन यत्र-तत्र होता है। मूर्त के लिए अमूर्त और अमूर्त के लिए मूर्त उपमानों का बहुलता से प्रयोग हुआ है। दुष्प्रवेश वन के लिए 'दुर्जन-हृदयमिव दुष्प्रवेशम्' लिखकर कवि ने चमत्कार ला दिया है। अनुप्रास की छटा तो सोमदेव की शैली की प्रमुख विशेषता है। लोकोक्तियें एवं प्रहेलिकाओं का प्रयोग भी उनकी शैली को विशिष्टता प्रदान करता है। कुछ उदाहरण-

लोकोक्तियाँ :

प्रथम आश्वास - श्रेयांसि बहुविधानि।

भवन्ति भव्येषु हि पक्षपाताः।

सप्तम आश्वास - राजपरिगृहीतं तृणमपि कांचनीभवति।⁵ -७, क. ३२

प्रहेलिका :

त्रिमूलकं द्विधोत्थानं पंचशाखं चतुश्छदम्।

योऽगं वेत्ति नवच्छायं दशभूमिं स च काव्यकृत्॥^१ - ३.२५९

इसका समाधान:

त्रिमूलकं	=	शक्ति, निपुणता, अभ्यास।
द्विधोत्थानं	=	शब्द, अर्थ।
पंचशाखं	=	प्रचुरा, प्रौढ़ा, परुषा, ललिता, भद्रा (वृत्तियां)
चतुश्छदं	=	पांचाली, लाटी, गौड़ी, वैदर्भी।
नवच्छायं	=	नवरस
दशभूमिम्	=	औदार्य, समता, कान्ति आदि 10 गुण।

जो इन सबको जानता है वही काव्य- रचनाकार हो सकता है।

यशस्तिलक चम्पू में वीर रस के ओजस्वी वर्णनों के साथ ही भयानक, अद्भुत और रौद्र रस के वर्णन भी हैं। हास्य रस का भी कई स्थानों पर विनियोग हुआ है। इस चम्पू काव्य के गंभीर अध्ययन से यह निष्कर्ष स्वाभाविक है कि यह धार्मिक सोद्देश्य रचना कवि की एक अत्यन्त प्रौढ़ एवं पाण्डित्यपूर्ण कृति है, जिसमें उसके अलंकृत एवं प्राञ्जल परिष्कृत भाषा का प्रयोग करके इसे साहित्यिक दृष्टि से भी एक उच्च कोटि की महत्त्वपूर्ण रचना बना दिया है।

२. जीवन्धर चम्पू

जैन महाकवि हरिचन्द्र का 'जीवन्धर चम्पू' 11 लम्भक का एक विशाल ग्रंथ है। डॉ. कीथ ने इस हरिचन्द्र को ही 'धर्माशर्माभ्युदय' महाकाव्य का प्रणेता भी माना है, जिसमें पन्द्रहवें तीर्थंकर भगवान् धर्मनाथ का चरित वर्णित है। जीवन्धर चम्पू की रचना राजा सत्यन्धर और विजया के पुत्र जैन राजकुमार जीवन्धर के चरित को लेकर ही की गयी है। यह कथा सुधर्मा स्वामी द्वारा सम्राट् श्रेणिक को सुनायी गयी। हरिचन्द्र का समय ईस्वी 900 से 1100 ई. के मध्य माना गया है।

जीवन्धर चम्पू की कथा वादीभसिंह की 'गद्य चिन्तामणि' अथवा 'क्षत्र चूडामणि' से ली गई है। यद्यपि जीवन्धर स्वामी कथा का मूल स्रोत आचार्य गुणभद्र के 'उत्तर पुराण' में मिलता है, तथापि चम्पू में मूल कथा से लंभ तथा कथानक संबन्धी भिन्नता है। इसमें प्रत्येक लम्भ की कथावस्तु तथा पात्रों के नाम आदि गद्य चिन्तामणि से मिलते-जुलते हैं। महाकवि के इस काव्य में भगवान् महावीर स्वामी के समकालीन क्षत्र-चूडामणि श्री जीवन्धर स्वामी की कथा गुम्फित की है। इस काव्य में राजा सत्यन्धर और विजया के पुत्र जीवन्धर का जीवन वृत्त निबद्ध है। इसमें निम्नलिखित 11 लम्भ हैं :-

1. सरस्वती लम्भ, 2. गोविन्दा लम्भ, 3. गन्धर्वदत्ता लम्भ, 4. गुणमाला लम्भ
5. पद्मा लम्भ, 6. क्षेमश्री लम्भ, 7. कनकमाला लम्भ, 8. विमला लम्भ,
9. सुरमंजरी लम्भ, 10. लक्ष्मणा लम्भ, 11. मुक्ति लम्भ,

रस, गुण और अलंकर संयोजन की दृष्टि से भी यह काव्य अपने ढंग का रमणीय

है।

पूरी कथा अलौकिक घटनाओं से भरी है। जीवन्धर स्वामी का चरित्र-चित्रण इतना उत्कृष्ट है कि उससे उनका क्षेत्र-चूड़ामणि अर्थात् क्षत्रियों का शिरोमणिपना अनायास सिद्ध हो जाता है। इस चम्पू काव्य की रचना में कवि ने विशेष कौशल दिखलाया है। अलंकार की पुट और कोमलकान्त-पदावली बरवश पाठक के मन को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है।

इसमें कवि की निसर्गसिद्ध प्रतिभा झलकती है, इसीलिए प्रकरणानुकूल अर्थ और अर्थानुकूल शब्दों के चयन में उसे अल्प भी प्रयत्न नहीं करना पड़ा है। इस ग्रंथ के अनेक पद्य तो इतने कौतुकावह हैं कि उन्हें पढ़कर कवि की प्रतिभा का अलौकिक चमत्कार दृष्टिगोचर होने लगता है। नगरी वर्णन, राजवर्णन, राज्ञी वर्णन, चन्द्रोदय, सूर्योदय, वन क्रीडा, जल क्रीडा, युद्ध आदि काव्य के समस्त वर्णनीय विषयों को कवि ने यथास्थान इतना सजाकर रखा है कि देखते ही बनाता है।

गद्यचिन्तामणि और क्षेत्र-चूड़ामणि के समान इसमें भी ग्यारह लम्भ हैं।

जीवन्धर चम्पू के गद्य और पद्य दोनों ही श्लेष, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, परिसंख्या, विरोधाभास तथा भ्रान्तिमान् आदि अलंकारों से अलंकृत हैं। माधुर्य, ओज, प्रसाद गुणों का निदर्शन पदे पदे होता है। रसों के अनुसार इस चम्पू काव्य में वैदर्भी, लाटी, पांचाली और गौड़ी- इन चारों रीतियों का अच्छा प्रयोग हुआ है।

जीवन्धर चम्पू का अंगी रस-शांतरस है। अन्य सभी रसों का यथास्थान सन्निवेशन हुआ है। इसमें प्रयुक्त प्रमुख छंद इस प्रकार हैं-

1. शार्दूलविक्रीडित -	1, 19, 20, 22, 28, 34, 67
2. स्रग्धरा -	2, 14, 23

उपजाति, आर्या, अनुष्टुप, इन्द्रवज्रा, वसन्ततिलका, मालिनी, मालभारिणी, शालिनी, मन्दाक्रान्ता, वंशस्थ, उपेन्द्रवज्रा, शिखरिणी, पृथ्वी, रथोद्धता, स्वागता, द्रुतविलम्बित, हरिणी, पुष्पिताग्रा, मञ्जुभाषिणी, भुजंगप्रयात, पंचचामर आदि भी यथास्थान आये हैं।

३. भरतेश्वराभ्युदय चम्पू

असाधारण विद्वान् पण्डितप्रवर आशाधर जी को आचार्यकल्प विशेषण से संबोधित किया जाता है। इसके द्वारा प्रणीत 'भरतेश्वराभ्युदय चम्पू' प्रथम जैन तीर्थंकर ऋषभदेव के पुत्र भरत के चरित को आधार बनाकर प्रस्तुत किया गया है। श्रीमद् भागवत पुराण में वर्णित 22 अवतारों में आठवें अवतार ऋषभ हैं। यह ऋषभ जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर हैं। आठवीं शती से पूर्व ही आचार्य जिनसेन ने आदिपुराण की रचना की, जिसमें ऋषभदेव के चरित्र के अतिरिक्त छब्बीसवें से अड़तीसवें पर्व (26-38 पर्व) तक भरत का चरित वर्णित है। अरिष्ट-नेमि पुराण या जैन हरिवंश पुराण के ग्यारहवें एवं बारहवें पर्व में भी भरत का चरित वर्णित है। आचार्यकल्प पण्डितप्रवर आशाधर विक्रम संवत् 1300 (1243 ई.) में विद्यमान थे। उन्होंने धर्म, दर्शन, साहित्य आदि विषयों पर अनेक ग्रंथों की रचना की है। वे मध्यप्रदेश

में माण्डू के निकट नालछा (नलगच्छपुर) के निवासी थे।

‘भरतेश्वराभ्युदय’ उत्कृष्ट कोटि का चम्पू काव्य है।

४. पुरुदेव चम्पू

‘पुरुदेव चम्पू’ संस्कृत साहित्य के विकास की एक महत्वपूर्ण कड़ी है। यह उत्कृष्ट चम्पू काव्य है। पद्य रचना में यह काव्य महाकवि भारवि और माघ तथा गद्य में सुबन्धु और बाण भट्ट की कृतियों से तुलनीय है। ‘पुरुदेव चम्पू’ में दश स्तवक हैं। स्तवक शब्द संस्कृत की स्तु धातु से वुन् प्रत्यय या स्था धातु से अबक् प्रत्यय जोड़कर बनता है जिसका अर्थ है गुच्छा या झुण्ड। इस ग्रंथ में प्रारंभ के तीन स्तवकों में पुरुदेव भगवान् आदिनाथ (ऋषभदेव) के पूर्व-भवों का वर्णन किया गया है। शेष स्तवकों में भगवान् आदिनाथ और उनके पुत्र भरत तथा बाहुबली का चरित्र मनोरम काव्य शैली में किया गया है।

कथावस्तु की दृष्टि से यह काव्य विशेष महत्वपूर्ण है। पुरुदेव की जीवन अत्यन्त रोचक एवं उपदेशवाद है। पुरुदेव के पुत्र भरत चक्रवर्ती तथा बाहुबली का जीवन भारतीय सांस्कृतिक इतिहास का उज्ज्वल निदर्शन है। इन्हीं भरत के नाम पर इस देश का नाम भारत पड़ा। जैसा कि मार्कण्डेय⁷, कूर्म⁸, अग्नि⁹, वायु¹⁰, ब्रह्माण्ड¹¹, वराह¹², लिंग¹³, विष्णु¹⁴, तथा स्कन्द¹⁵ इन नौ पुराणों में उल्लिखित है।

उदाहरणार्थ-

अग्नीधसूनोर्नाभेस्तु ऋषभोऽभूत सूतो द्विजः।
 ऋषभाद् भरतो जज्ञे, वीरः पुत्रशताद्वरः ॥३९॥
 हिवाहवः दक्षिण वर्ष भरताय पिता ददौ।
 तस्मात् भारतं वर्ष तस्य नाम्ना महात्मनः ॥४१॥
 नाभेः पुत्रश्च ऋषभः ऋषभाद् भरतोऽभवत्।
 तस्य नाम्ना त्विदं वर्ष भारतश्चेति कीर्त्यते ॥५७॥१७

पुरुदेव चम्पू का वैशिष्ट्यः

बाहुबली की तपस्या भारतीय मूर्तिकला के लिए अदम्य प्रेरणा स्रोत रही है। अतः हम कह सकते हैं कि पुरुदेव चम्पू ने केवल काव्य की दृष्टि से नहीं, प्रत्युत भारतीय सांस्कृतिक इतिहास की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। अपनी कविता के विषय में स्वयं अर्हद्दास ने कहा है कि- वह कोमल-चारु-शब्द-निचय से संपन्न है। भगवान् की भक्ति रूपी बीज से, इस कविता-लता का उद्भव हुआ है। विविध वृत्त इसके पल्लव एवं अनेक अलंकार इसके पुष्प-गुच्छ हैं। ऋषभ-कल्पवृक्ष से लिपटी यह कविता-लता व्यंग्य की श्री से सुशोभित है:-

जातेयं कवितालता भगवतो भक्त्याख्यबीजेन मे,
 कोमल चारु शब्द निश्चयैः पद्मैः प्रकामोज्ज्वला।
 वृत्तैः पल्लविता ततः कुसमितालङ्कार-विच्छिन्तिभिः
 सम्प्राप्ता वृषभेश- कल्पसुतरुं व्यंग्यश्रिया वर्धते ॥

गद्य काव्य की भाँति अनुप्रासमयी समस्त-पदावली-संपृक्त-भाषा में नगरी वर्णन से इसका आरंभ हुआ है-

अथ विशालवाजिमाला विक्षिप्तविविध- मौक्तापुञ्जातमरालिका भ्रम समागत-दृढालिङ्गन-तरंगित....रजताचलस्योत्तर-श्रेण्यामलकाभिधाना पुरी वरीवर्त्ति^{१६}

इस चम्पू काव्य की कथा के उपसंहार में अहिंसा के प्रभाव का वर्णन किया गया है और श्रोताओं की, सर्वजीवदया की ओर उन्मुखता प्रदर्शित की गयी है-

वृषभसेनमुखा गणिनस्तथा सकलजन्तुषु सख्यमुपागातः।

विमलशीलसुशोभित-मानसाः परमनिर्वृतिमापुरिमे क्रमात्॥

महाकवि अर्हदास की नयी-नयी परिकल्पनाओं तथा रूपक, विरोधाभास, श्लेष, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, असंगति, उपमा, परिसंख्या, व्यतिरेक, अनन्वय, श्लिष्टोपमा आदि अलंकारों के पुट ने इस चम्पू के गौरव में चार चाँद लगा दिये हैं। इस चम्पू के कितने ही श्लेष तो इतने कौतुकावह हैं कि इनका अन्यत्र मिलना असंभव-सा है। उदाहरणार्थ- अलका नगरी के वर्णन में श्लेष का चमत्कार देखिए-

या खलु धनश्री- संपन्ना निभुतसामोदसुमनोऽभिरामा, सकलसुदृग्भिः शिरसा श्लाध्यमानमहिमा, विविध-विचित्र विशोभितमालाद्या, अलकाभिधानमर्हति।

सुमेरू के वर्णन में रूपक और श्लिष्टोपमा का चमत्कार कितना सुखद है, उदाहरणार्थ-

त्रिदशोपसेवितोः यः प्राज्यविराजितरूचिर्महामेरुः।

लक्ष्मीविलासगेहे जम्बूद्वीपे विभाति दीप इव॥

अहमिन्द्र के वर्णन में विरोधाभास और व्यतिरेक सम्मिश्रण तथा अयोध्यानगरी के वर्णन में अनन्वय, श्लेष, विरोध और व्यतिरेक को किस खूबी के साथ बैठाया है यह देख कवि की प्रतिभा पर आश्चर्य होता है।

‘पुरुदेव चम्पू’ में प्रायः सभी प्रचलित एवं अप्रचलित छंदों का प्रयोग हुआ है। रस के अनुरूप छंदों का प्रयोग काव्य की शोभा बढ़ा देता है’ अतः कवि ने रस के अनुरूप ही अनुष्टुप्, आर्या, इन्द्रवज्रा, उपजाति, उपेन्द्रवज्रा, द्रुतविम्बित, पुष्पिताग्रा, पृथ्वी, भुजङ्गप्रयात,, मञ्जुभाषिणी, मन्दाक्रान्ता, मालिनी, रथोद्धता, वंशस्थ, वसन्ततिलका, वियोगिनी, मालभारिणी, शार्दूलविक्रीडित, शालिनी, शिखरिणी, स्रग्धरा, स्वागता, हरिणी आदि सभी छन्दों का प्रयोग किया है।

पुरुदेव चम्पू का प्रत्येक भाग सरस और चुटीला है। ज्यों- ज्यों ग्रंथ आगे बढ़ता जाता है त्यों-त्यों उसकी भाषा और भाव में प्रौढ़ता आती जाती है। इस ग्रंथ की ललित अलंकृत भाषा सहज ही पाठकों को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है।

भगवान् आदिनाथ और सम्राट् भरत इतने अधिक प्रभावशाली पुण्य-पुरुष हुए हैं कि उनका जैन ग्रंथों में तो उल्लेख आया ही है उसके अतिरिक्त वेद के मंत्रों तथा उपनिषदों और जैनतर पुराणों आदि में भी उल्लेख मिलता है। श्रीमद् भागवत पुराण में भी मरुदेवी,

नाभिराय, आदिनाथ और उनके पुत्र भरत का विस्तृत विवरण दिया गया है। महाकवि अर्हदास द्वारा रचित 'पुरुदेव चम्पू' प्रौढ़ तथा प्राञ्जल संस्कृत भाषा में निबद्ध श्रेष्ठ चम्पू काव्य है। यह ग्रंथ कोमल चारु शब्द विषय से संपन्न है। भगवान की भक्ति रूपी बीज से इस कविता-लता का उद्भव हुआ है गद्य काव्य की भाँति अनुप्रासमय समास-युक्त शब्दावली इस ग्रंथ में प्रयुक्त हुई है इसका मूल स्रोत जैन पुराणों पर आधारित है। कथा के उपसंहार में अहिंसा का प्रभाव निदर्शित है और सर्वजीव दया की ओर और उन्मुखता प्रदर्शित की गई है। यथा-

वृषभसेनमुखा गणिनस्तथा
सकलजन्तुषु सख्यमुपागताः।
विमलशीलविशोभित-मानसाः
परमनिर्वृतिमापुरिमे क्रमात्॥

५. दयोदय चम्पू

इस चम्पू काव्य के रचयिता आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज बीसवीं शती के साहित्यकार और जैन दर्शन के महनीय दिगम्बर जैन मुनि-आचार्य थे। उनकी उत्कृष्ट कवित्व शक्ति एवं काव्य साधना संस्कृत के अनेक महाकाव्यों, गीतिकाव्यों एवं दार्शनिक ग्रंथों तथा हिन्दी में उपनिबद्ध लगभग दो दर्जन ग्रंथों में प्रस्फुटित हुई है।

आचार्य ज्ञानसागर महाराज द्वारा प्रणीत 'दयोदय चम्पू' सात लम्बों में विभक्त है। चम्पू के निर्धारित लक्षणानुसार गद्य-पद्य मिश्रित इस काव्य में गद्य के साथ 166 पद्य भी समाविष्ट हैं।

इस ग्रंथ में एक हिंसक धीवर के हृदय में 'दया के उदय' और विकास की कथा वर्णित है। इसीलिए इस कृति का नाम 'दयोदय' रखा गया है जो सर्वथा उपयुक्त है। इस चम्पू की रचना का मुख्य उद्देश्य है- अहिंसा के माहात्म्य का प्रातिपादन, जिससे दयाभाव विकसित हो तथा सुख-शांति भी स्थापित हो।

'दयोदय चम्पू' में एक हिंसक के हृदय परिवर्तन की कहानी को मुहावरेदार भाषा में निबद्ध किया है। इसमें अन्तर्द्वन्द्व और सम्वादों में सजीवता है। अहिंसा की महत्ता प्रतिपादित की है-

जीवितेच्छा यथाऽस्माकं कीटादीनां च सा तथा।
जिजीविषुरतो मर्त्यः परानपि न मारयेत्॥

अपने कथ्य के समर्थन में दयोदयकार ने विभिन्न शास्त्रों, नीतिग्रंथों, काव्यों आदि से उद्धरण देकर और अनेक उपकथाएँ जोड़कर प्राचीन और अर्वाचीन संस्कृति को समन्वित किया है। धीवरी-धीवर के तर्क-वितर्कों में 'संवाद-शैली' की रोचकता विद्यमान है। इस चम्पू में नल-चम्पू के समान बौद्धिक विलास नहीं है।

६. वर्धमान चम्पू

'वर्धमान चम्पू' के रचयिता बीसवीं शती के यशस्वी मनीषी पं. मूलचन्द्र जी शास्त्री,

न्यायतीर्थ हैं। यह चम्पू ग्रंथ शास्त्री जी की प्रतिभा का उत्कृष्ट निदर्शन है। इसमें चौबीसवें जैन तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी के पांचों कल्याणकों को काव्यात्मक भाषा में आठ स्तवकों में चित्रित किया है। इस चम्पू में उनके जन्म, शैशव, गृहत्याग, ज्ञानप्राप्ति, उपदेश आदि का सम्यक् निरूपण है। कैवल्य-प्राप्ति का महत्त्व भी प्रतिपादित है। इस चम्पू काव्य में कवि की यह अनूठी विशेषता निदर्शित है कि उन्होंने बुराई में भी अच्छाई को देखा है। अन्य कवियों के समान उन्होंने दुर्जनो की निंदा नहीं की है, बल्कि उन्हें कवियों की प्रसिद्धि का हेतु माना है। कांच की मणि का दृष्टान्त देकर उन्होंने लिखा है कि जैसे कांच के सद्भाव में ही मणि की प्रतिष्ठा होती है, वैसे ही दुर्जनों का सद्भाव कवि की प्रसिद्धि के लिए अपेक्षित है-

कवि-प्रकाशे खलु एव हेतुर्यतिश्च तस्मिन् सति तत्प्रकर्षः।

कांचं बिना नैव कदापि कुत्र मणेः प्रतिष्ठा भवतीह सम्यक्॥

‘वर्धमान चम्पू’ प्राञ्जल एवं सुपरिष्कृत काव्य शैली में विरचित आधुनिक संस्कृत साहित्य का उत्कृष्ट निदर्शन है। वैदर्भी रीति-प्रधान यह काव्य प्रसाद गुण से आकण्ठ पूरित है। इसके पदों में लालित्य है, भाषा बोधगम्य, सहज और प्रवाहमयी है। सन्धि और समासों के प्रयोग से भाषा में दुरूहता उत्पन्न नहीं हुई है। अंगी रस के रूप में शांतरस की प्रतिष्ठा हुई है। मार्मिक स्थलों पर उपयुक्त अन्य रसों की अभिव्यक्ति सहज रूप से प्रस्फुटित हुई है। कवि का मुख्य लक्ष्य प्राचीन कथा का सहज, सरल और सहित्यिक भाषा में वर्णन करना है। इसमें भारत के प्रसिद्ध नगरों- वैशाली, हस्तिनापुर आदि की भौगोलिक स्थिति का आकलन भी हुआ है।

समाज में यह धारणा सामान्यतः दृढमूल है कि- वार्धक्य काल में कवि-गण मतिभ्रम से ग्रस्त हो जाते हैं किन्तु वृद्धावस्था में प्रस्तुत ग्रंथ ‘वर्धमान चम्पू’ के रचनाकर पं. मूलचन्द शास्त्री की बुद्धि-विलक्षणता एवं विचक्षणता उसका सुखद अपवाद है।

‘वर्धमान चम्पू’ के रचयिता का जन्म मध्यप्रदेश के सागर जिला के मालथोन नगर में हुआ था में वि. सं. 1960 अगहन बदी अष्टमी को हुआ है और उनकी शिक्षा-दीक्षा सागर (म.प्र.) तथा शिक्षा सागर के श्री गणेश दि. जैन संस्कृत महाविद्यालय में हुई। ‘वर्धमान चम्पू’ के अन्त में काव्य प्रणेता ने अपना छन्दोबद्ध जीवन परिचय भी प्रस्तुत किया है:-

सागर- मण्डलाधीना, मालथोनेति संज्ञकः।

ग्रामो जनधनाकीर्णः सोऽस्ति मे जन्मभूरिति॥

‘सल्लो’ माता पिता मे श्री-सटोलेलाल नामकः।

जिनधर्मानुरागी सः, परवार-कुलोद्भवः॥

इस रचनाकार की अन्य प्रकाशित संस्कृत रचनाओं में- लोकाशाह-महाकाव्यम्, वचनदूतम् (दो भागों में प्रकाशित), अभिनवस्तोत्रम् आदि उल्लेखनीय हैं।

वे संस्कृत की सिद्धहस्त टीकाकार भी थे। आ. हरिभद्रसूरि कृत ‘षोडशप्रकरण’ की 15000 श्लोक प्रमाण तथा ‘विजयहर्षसूरि प्रबन्ध’ की 450 श्लोक प्रमाण टीकाएँ उल्लेखनीय हैं। ‘आप्तमीमांसा’ की हिन्दी टीका पर उन्हें ‘न्याय वाचस्पति’ की उपाधि से

अलंकृत किया गया था। अन्य अनेक ग्रंथों के भी यशस्वी टीकाकार और प्रणेता श्री शास्त्री जी हैं।

७. 'जैनाचार्य विजय' चम्पू

एक अज्ञात कवि के 'जैनाचार्य विजय' नामक चम्पू काव्य का भी उल्लेख मिलता है। किन्तु यह रचना अभी तक अप्रकाशित है।

उपसंहार

गद्य-पद्य अथवा मिश्र शैली, मानव अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के साधन-मात्र हैं। इन सभी साधनों का उपयोग वैदिक काल से होता चला आ रहा है। युग-प्रवृत्ति के अनुसार साहित्य के अन्तः एवं बाह्य स्वरूप में परिवर्तन होता रहता है। चम्पूकाव्य भी युग विशेष की प्रवृत्तियों से अनुप्राणित होकर लिखे गये हैं। गद्य और पद्य के अत्यन्त प्रौढ़ तथा परिमर्जित स्वरूप ग्रहण कर लेने पर, चम्पू काव्यों की रचना आरंभ हुई। अतः इनके गद्य-पद्य में भी उसी प्रकार प्रौढ़ता का दर्शन होता है। यदि कुछ चम्पू काव्य-नलचम्पू, यशस्तिलक चम्पू जैसे काव्यों के उच्च स्तर तक नहीं पहुँच सके हैं तो इससे उनके निर्माताओं की असमर्थता ही सिद्ध होती है।

चम्पू काव्यों की महत्वपूर्ण देन यही है कि संस्कृत साहित्य की अन्य विधाओं के हासकाल में भी, वे अपना वैभव प्रदर्शित करते रहे तथा संस्कृत भाषा और साहित्य को अनेक शताब्दियों तक गतिशील बनाये रख सके। युग-भावना के अनुसार चम्पू काव्यों ने अपने वर्णन का क्षेत्र भी विस्तृत कर लिया और प्राचीन पौराणिक परंपरा से अविच्छन्न संबंध भी बनाये रखा। युग-प्रवृत्ति के अनुसार ही लोक मानस का अनुरंजन करते हुए उन्होंने अपना महत्व प्रतिष्ठापित किया है। अनुभूति और अभिव्यक्ति की न्यूनता ने ही, उनमें उस रमणीयता का समावेश किया जो सहृदय को आनन्द से आप्लावित और चमत्कृत करने में समर्थ हुई।

संदर्भ:-

1. संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास: डॉ. कपिलदेव द्विवेदी, पृ. 601
2. काव्यादर्श, 1.31
3. जीवन्धर चम्पू, 1/9
4. यशस्तिलक चम्पू, चतुर्थ आशवास
5. यशस्तिलक चम्पू, 7 क. 32
6. वही, 2.259
7. मार्कण्डेयपुराण 50ख 39, 41, 57
8. कूर्म पुराण लक्सी, 37-38
9. अग्नि पुराण 10, 10' 11
10. वायु पुराण (पूर्वाद्ध)/ 5.33
11. ब्रह्माण्ड पुराण (पूर्व) 2, 14
12. वराह पुराण/ 74.49
13. लिंग पुराण/ 47/19-23, 57

14. विष्णु पुराण/ अंश 2, अध्याय 1/11-16
15. स्कन्द पुराण/ माहेश्वर खण्ड, कौमारखण्ड अ. 37.57
16. पुरुदेव चम्पू, स्तवक-1

-निदेशक
संस्कृत, प्राकृत तथा जैन विद्या अनुसंधान केन्द्र
२८, सरस्वती नगर, दमोह
(म.प्र.)

वीतराग की पूजा क्यों ?

न पूजार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दयानाथ नितान्त वैरे।

तथापि ते पुण्य गुणस्मृतिर्नः पूनाति चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः॥

अर्थात् है भगवान् पूजा वन्दना से आपका कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि आप वीतरागी हैं-राग का अंश भी आपके आत्मा में विद्यमान नहीं है, जिसके कारण किसी की पूजा वन्दना से आप प्रसन्न होते हैं। इसी तरह निन्दा से भी आपका कोई प्रयोजन नहीं है। कोई कितना ही आपको बुरा कहे, गालियां दे, परन्तु उस पर आपको जरा भी क्षोभ नहीं आ सकता, क्योंकि आपकी आत्मा से वैरभाव द्वेषांश बिलकुल निकल गया है। वह उसमें विद्यमान भी नहीं है। जिससे क्षोभ तथा प्रसन्नता आदि कार्यों का उद्भव हो सकता। ऐसी हालत में निन्दा और स्तुति दोनों ही आपके लिए समान हैं। उनमें आपका कुछ भी बनता या बिगड़ता नहीं है। यह सब ठीक है। परन्तु फिर भी हम जो आपकी पूजा वन्दनादि करते हैं। उसका दूसरा ही कारण है, वह पूजा वन्दनादि आपके लिए नहीं- आपको प्रसन्न करके आपकी कृपा संपादन करना, या उसके द्वारा आपको कोई लाभ पहुंचाना, यह सब उसका ध्येय नहीं है। उसका ध्येय है आपके पुण्यगुणों का स्मरण भावपूर्वक अनुचिन्तन- जो हमारे चित्त को-चिद्रूप आत्मा को- पापमलों से छुड़ाकर निर्मल एवं पवित्र बनाता है, और इस तरह हम उसके द्वारा अपने आत्मा के विकास की साधना करते हैं। इसी से पद्य के उत्तरार्ध में यह सैद्धान्तिक घोषणा की गई है कि आपके पुण्य गुणों का स्मरण हमारे पापमल से मलिन आत्मा को निर्मल करता है- उसके विकास में सचमुच सहायक होता है।

- आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार
अनेकान्त, वर्ष 26, किरण 6 से साभार

धर्म स्वरूप

- डॉ. उदयचन्द्र जैन

धम्मो

अभिदोजीवणं धम्मो आद-सहाव-धम्मोवि॥६॥

आद-सहाव-धम्मो। उत्तम-खंति-मददव-अज्जव-सुचि-सच्च-

संजम-तव-आकिंचण-बहचेरो आदसहावो आदपरिणामो।

- जीवन का अमृत है। आत्मा का स्वभाव धर्म है। क्षमा भी है। उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य ये धर्म हैं आत्म स्वभाव है, आत्म परिणाम है।

कुन्दकुन्देण पण्णतो भाव पाहुडम्हि-मोहकलोह-विहीणो

परिणामो अप्पणो धम्मो।

इमादो करणादो पत्तेदि साहगो

अदिसंय विसुद्धं अणुवमं अणंतणाणं अणंतदंसणं

अणंत-सुहं अणंत-वारिच च।

सुहे ठाणे हिदो साहगो

इदो णारिंदो मणुजिंदो होदि।

तव-चाग-दाण-सील-भावणामयी सावगो जादि।

-आचार्य कुंदकुद ने भावपाहुण में कहा है- मोह-क्षोभ विहीन परिणाम आत्मा का धर्म है। इसके कारण से साधक अतिशय विशुद्ध, अनुपम, अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख और अनंतवीर्य को प्राप्त होता है। शुभ स्थान में स्थित साधक इन्द्र, नरेन्द्र, मनुजेन्द्र आदि होता है। इसी से तप, त्याग, दान, शील एवं भावनामयी श्रावक होता है।

अहिंसा धम्मो संजमोधम्मो तवो धम्मो वि।

अहिंसाए समरंभ-समारंभ-आरंभ-किरियाए जदणं।

- अहिंसा धर्म, संयमधर्म और तप भी धर्म है। अहिंसा धर्म से समरंभ, समारंभ और आरंभ क्रियाएं करते समय सावधानी रखता है।

सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं भूदाणं सव्वेसिं सज्जाणं

सव्वेसिं पाणीणं च आद-समं मण्णदे।

सो भिसीभाव-जुत्तो सि इठं कज्जाणि कुव्वदे।

सेय-सुहं पएच्छेदि णिम्मला आद-भावणा।

- वह सब जीवों, भूतों, सत्त्वों एवं प्राणियों का आत्म समान मानता है। वह मैत्री भाव युक्त इष्ट कार्य करता है, और आत्मा की निर्मल भावना युक्त श्रेय सुख की ओर गतिशील

होता है।

धम्मो एगपदीवो त्ति सुद्धचेदण-भस्सरो।
स-पर-वत्थुणो भासी अप्पा अप्पम्हि दंसगो॥
समो त्तिधम्मो जत्थ तत्थ ण मोह-रागो त्ति।
सयलदोसपरिचत्तो धम्मो संसार-भव-तरण-हेदु-तरणी॥

- धर्म एक प्रदीप है, वह शुद्ध चैतन्य रूप भास्कर है, जो स्व-पर वस्तुओं का प्रकाशक है, आत्मा का आत्मा में दृष्टि वाला है। जहाँ समत्व धर्म होता है वहाँ मोह-राग नहीं होता है। सकल दोषों से रहित धर्म संसार सारग से पार ले जाने के लिए तरणी है।

वत्थु-सहावधम्मो वत्थुत्ति पदत्थं दव्वं च भासदे।
जधा वत्थू होदि तथा परिणामो। योग्गणाणं परिणामो त्ति
रुब-रस-गंध-वण्णो आद सहावो णाणं
आदा णाणं, णाणं आदा ।

- समाज, परिवार एवं राष्ट्र की अपेक्षा से दया करना धर्म है। आत्म समान दृष्टि सभी जीवों के प्रति होना चाहिए। दर्शन/सम्यग्दर्शन ही प्रधानता रत्नत्रय, चारित्र, आत्म परिणाम, एवं उत्तम सुख की ओर ले जाता है वह धर्म है।

सामण्णधम्मो-

उत्तम-खम-मद्दवज्जव-सुचि सच्च-संजम-तवच्चागाकिंचण बंहचेरा धम्मो॥७॥

- उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शुचिता, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य ये श्रमणधर्म हैं।

इमे खम-मद्दवादिधम्मो जध समणाणं
संवर-रोधणत्थं सहयारी तथेव सावगाणं च।

- ये क्षमा, मार्दव आदि धर्म जैसे श्रमणों के संवर या कर्मों के आगमन के रोकने में सहायक होते हैं वैसे ही ये श्रावकों के लिए भी उपयोगी है।

मिच्छत्त-परिणामं कसायादि कारणं च भूमिगाणुसारेण

सावगा समणा वि संवरणं कुणोत्ति।

- मिथ्यात्व परिणाम, कषायादि परिणामों का श्रावक और श्रमण दोनों अपनी भूमिकानुसार संवरण करते हैं।

समयाणं उत्तम-खमादि-धम्मो अणंताणुबंधी-पच्चक्खाण
अपच्चक्खाण-विविध-कसाय अभावं च होहिंति।
विरदाविरद-गुणद्वाण-वट्ठी सम्मणाणी-सावगाणं च
अणंताणुबंध-पच्चक्खाण-कसाय, खयत्थं च।
मिच्छादिदिदणो णो हुंति ते।

- श्रमणों के उत्तमक्षमादि धर्म अनंतानुबंधी, प्रत्याख्यान और अप्रत्याख्यान त्रिविध कषायों के अभाव को प्राप्त होंगे। ये विरताविरत गुणस्थानावर्ती सम्यग्ज्ञानी श्रावकों के लिए

अनंतानुबंध और प्रत्याख्यान कषाय के क्षयार्थ होंगे। मिथ्या दृष्टियों के ये नहीं होते हैं।

दस-विध-धम्मो आद-सुद्धि कारको पावणिवारगो
मोह-खोह-परिणाम-विधादगो मिच्छत्त-भाव-णासगो
कोह-माया-माय-लोह-हासादि-परिसम्भगो
कसया-णोकसाय-पखंतोग सि।

- दस विध धर्म आत्मशुद्धि कारक, पापनिवारक, मोह क्षोभ परिणाम विधातक, मिथ्यात्वभाव नाशक, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य आदि परिशामक एवं कषाय-नो कषाय को शान्त करने वाले हैं।

खमाधम्मो-

खमा-णिम्मलु भावउ, पिऊ मित्तउ सव्वउ।
परोप्पेपरु जीवउ, पकोवप्परु संतउ॥

- क्षमा आत्मा का निर्मल भाव है, प्रिय भी सभी तरह की मित्रता का कारण भी, परस्पर जीवन जीने की कला भी तथा यह है प्रकोप को शान्त करने का उत्कृष्ट साधक।

कालुस्सुणुवपत्ती खम्मो

कालुस्सो अत्थि अक्कोसो कोहो को वो रोवो रोसो आदी।
तस्स अणुवपत्त णासो समणं सहणं।

- कालुष्य का अर्थ है आक्रोश, क्रोध, कोप, रोप, रोष आदि। उसकी अनुत्पत्ति, नाश, शमन या सहन क्षमा है।

कोवाभावो खमाधम्मो-तस्स णिमित्त अप्पणो।
सहणपरिणामे त्ति जाएज्ज णिम्मतो जणो॥

- क्रोध का अभाव होना क्षमाधर्म है। उसके निमित्त से लोगों का आत्मा सहनशील एवं निर्मल होता है।

खमणं सहणं भावं दुण्णिवार-पताड णं।
आलुस्स-अंत-वावारो पत्तेज्ज णंद-भावणं॥

- जो दुर्निवारक प्रताडन रूप कालुष्य व्यापार है, उसका अंत जब होता है, तब क्षमण सहन भाव एवं आत्मानंद की भावना को प्राप्त होता है।

कालस्स-कालिमा-कंदो कोहावेग-पकोव गो।
उवसग्ग-रोछ-रण्णग्गी पसमदेव खमाजणा।

- कालुष्य रूपी कालिमा का कंद क्रोध का आवेग प्रकोप भाव, उपसर्ग, रौद्र रूपी अरण्य की अग्नि क्षमा के उत्पन्न होने पर समाप्त होती है।

कोहंतो पसमोभावो खमो पकोव-णिग्गहो।
आद-सहाव-सुद्धो त्ति णाददेणंत-भावणा॥

- क्रोधान्त, प्रशमभाव, प्रदोष निग्रह आत्म स्वभाव शुद्धभाव एवं अनंत की भावना

अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंत सुख और अनंत वीर्य की भावना क्षमा होने पर आती है।

किं कं कदा क्षमा ?

णिद-आद-सहावे द्विदं खमा उत्तमखमा।

वीदराग मग्गी पसंतमणा महव्व दी

महोजोगी समक्षदंसी समदरिंसी किं कं कदा

विरदा हुंति आद-परिणामं अणुचिंतंति।

क्षमा क्या क्यों और कैसे- अपने आत्म स्वभाव में स्थित रहना क्षमा, उत्तम क्षमा है। प्रशान्तमना, महाव्रती, महायोगी, समत्वदर्शी, समदर्शी क्या, क्यों और कैसे से उपरत आत्मा-परिणाम का चिंतन करते हैं।

सावगा बारहविध-सावग-वदे रहा एगदेसविरदा हुंति

ते वि किं कं कदा? पण्हाणि गिण्हदूण आ हु

अणचरंति ते तु विराग-भाव-इच्छमाणा तेसिं पसंतं इच्छंति।

तम्हा अणुव्वदं गुणवदं सिक्खावदं च

अंगीकरदूण णिंदण-हास-परिहास-प्रहार-घाद-विघाद-वेर-

विरोह-विवाद कलह-आदिणो संतं पसंत-संत-चरणेसुं च

णम्मीभूदा रागं दोसं मोहं आवेसं पसमणे उज्जदा हुंति।

- श्रावक बारह प्रकार के श्रावक व्रतों में रत-एकदेश विरत होते हैं। वे भी क्या, क्यों और कैसे? प्रश्नों को लेकर न ही विचरण करते हैं, वे भी विराग भावों की इच्छा करते हुए उनके शमन को चाहते हैं। इसलिए वे अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत को अंगीकार करके वे निंदा, हास, परिहास, प्रहार, घात, विघात, बैर, विरोध, विवाद, कलह आदि से दूर प्रशान्तमूर्तिमना संतों के चरणों में नम्रीभूत राग, द्वेष, मोह एवं आवेश को प्रशमन में उद्यत रहते हैं।

उत्तमाखमा किं

समे भवित्तु अप्पाणं खंति-संति-सुहावं णं।

थिरो भूहो महव्वदी आसएज्जणियं गुणं॥

उत्तम क्षमा क्या है? - सम में स्थित होकर क्षान्ति, शान्ति एवं उत्तम भावना को जो भाता है, जो अपने गुण का आश्रय लेता है, वह स्थिर भूत महाव्रती उत्तम क्षमा वाला है।

सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं भूदाणं,

सव्वेसिं सत्ताणं सव्वेसिं पाणीणं

पाणं जीवणं च आद-तुल्लं मण्णे।

जो एरिसो मण्णे दि सो एवं

उत्तम-खम-सहाव-आदासयं गिण्हदूण चिंतंति अणुवचिंतंति।

- जो सब जीवों, भूतों, सत्त्वों और प्राणियों के प्राण जीवन का आत्म समान मानता है। जो ऐसा मानता है वही उत्तम क्षमा स्वभावी आत्मा के आश्रय को लेकर क्रोध विवेक मेरा नहीं है चिंतन करता और अनुभव करता है।

सावगो वा समणो वा
सव्वे हिदं अणुसीलेति
सव्वे जीविउं इच्छे ण मरिज्जउ।

– श्रावक हो या श्रमण, सभी हित का अनुशीलन करते हैं। सभी जीवन चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता है।

समं समत्तं संतिं च इच्छमाणं
खमा उत्तम क्षमा।

– सम, समत्व और शान्ति की इच्छा करने वालों की क्षमा उत्तम क्षमा है।

मे आदा उत्तमो मे सहावो
उत्तमो मे णाणं उत्तमो मे
दंसणं उत्तमो, मे चारित्रं
उत्तमो तवो संजमो सीलहे चागो
बंहचेरो ति एरिस दूरा
तच्चल्भासे रहो साहगो
साहुति। तस्स खमा उत्तमो।

– मेरा उत्तम आत्मा, मेरा स्वभाव उत्तम, मेरा ज्ञान उत्तम, मेरा दर्शन उत्तम, मेरा चारित्र उत्तम, मेरा तप, संयम, शील, त्याग, ब्रह्मचर्य आदि उत्तम है, इससे दूर तत्त्वाभ्यास में रत साधक साधु उत्तम है। उसकी क्षमा उत्तम है।

सम्मदिद्वी अणुव्वदी
महव्वदी सुह-दुहे इट्ठे अणि द्वे
अणुकूले पीडकूले वि सव्वभूएसुं
च मित्ति-भावं अणुकुव्वदे।

– सम्यग्दृष्टि, अणुव्रती, महाव्रती, सुख-दुःख, इष्ट-अनिष्ट, अनुकूल-प्रतिकूल स्थिति में भी समस्त जीवों पर मैत्रीभाव रखता है।

कं- ?

आद-सहावो सव्वेसिं एगसमा। अर्थात्- आत्म स्वभाव सभी का एक समान है।

कदा-

खामेमि सव्वजीवा सव्वे जीवा खमंतु मे।
मिसी मे सव्वभूएसु, वेदं मज्झ ण केणई॥

– सब जीव क्षमा करें, सभी जीव मुझे क्षमा करें, क्योंकि मेरी सभी जीवों पर मित्रता है, किसी पर शत्रुता नहीं।

खमासीलजणो होदि गहीरो
संतो वि आगद-आवदाए।
सो आद-सहावं आराहएदि।
भयजुत्तो चंचलो उव्विगो होदि कायरो।

- क्षमाशील जन गंभीर एवं शान्त होता है संकट उपस्थित होने पर भी। वह आत्म स्वभाव का चिंतन करता है। कायर व्यक्ति भयभीत, चंचल एवं उद्विग्न होता है।

खमा कस्मिं

अविरद-सम्पदिद्विहि उत्तम-खमा होदि।

सा वि अणंताणुबंधी-कोह-कसाय-समणेणं च

अणुव्वदी सावगो अप्पच्चक्खाण-कोह-कसाय-

अभावेणं च उत्तम खमासीलो जादि।

महव्वदि द्वि पच्चक्खाण-कोह-कसाय-संतेण च।

- अविरत सम्यग्ज्ञदृष्टि में भी क्षमा होती है। वह भी अनंतानुबंधी क्रोध कषाय के शमन से। अणुव्रती श्रावक अप्रत्याख्यानी क्रोध कषाय के अभाव से क्षमाशील होता है। और महाव्रती प्रत्याख्यानी क्रोध कषाय के शान्त होने से क्षमाशील होता है।

अद्वम-गुणद्वाण-उवरि सव्व-गुणद्वाणेसुं च

संजलण- कोइ-कसाय-अभावेण उत्तमखमा जायदे।

- अष्टम गुणस्थान से ऊपर सभी गुणस्थानों में संज्वलन क्रोध-कषाय के अभाव से उत्तमक्षमा उत्पन्न होती है।

सम्मादिद्वी आद-णाणी आदाणु भवी आदाणंदी गिरंतरं

जायदे आद-सुद्धीए रहो

जत्थ णत्थि सम्मत्स-सद्दहणं

तत्थ णो खमा।

- सम्यग्ज्ञदृष्टि आत्मज्ञानी, आत्मानुभवी, आत्मानंदी आदि तो निरंतर आत्मशुद्धि में रत होता है। जहां सम्यक्त्व श्रद्धान नहीं है, वहां क्षमा नहीं है।

दंसण-णाण-समग्गो समणो सो संजदो भणिदो।

सम-सत्तु-बंधवग्गो समसुह-रक्खो,

पसंस-विंदसमो (प्र. ३/४०-४१)

तस्स खमा उत्तमखमा अत्थि।

- श्रमण, संयत होता है, वह दर्शन, ज्ञान युक्त, शत्रु-बंधु वर्ग में समभाव वाला सुख-दुःख, प्रशंसा एवं निंदा में भी समानता रखता है उसकी क्षमा उत्तम क्षमा है।

उत्तम-मद्दद्वधम्मो

मद्दवो माण- णिग्गहो।

माणो अहिमाणो अहंकारो

अहंभावो माणोदयो द्वि तस्स,

णिहरणं मदवो।

भिदु-भावो त्ति मद्दवो।

मिदुपरिणामो कोमलभावो

विणय-संपण्णदा मदविहीणदा

अहंकारा भावो गित्त मिदुभावो।
मिदु-कम्मो मिदू भावो,
माण-णिग्गह-घादगो।

- मान का/ अभिमान रोकना मार्दव है। मान, अभिमान, अहंकार, अहंभाव मानोदय आदि जो हैं, उनका निर्हरण निग्रह- मार्दव है। मृदुता का भाव मार्दव है। मृदुपरिणाम, कोमलभाव, विनय संपन्नता, मदविहीनता, अहंकार का अभाव आदि मृदुभाव है। जहां मृदुकर्म, मृदुभाव, मान निग्रह या मृदुता है वहां मार्दव धर्म है।

जादि-कुल-बलो रूबो
तव-सुदेस-लाहगो।
गारव-मुक्त्त-सामण्णो
तस्स मद्व-धम्मओ
उत्तम-णाण-महाणो
उत्तम-तव-मरण-करण-सीलो गि
अप्पाणं जो हीलदि
मदव-रदणं हवे तस्स॥

(कार्तिकेयानुप्रेक्षा.325)

- जाति, कुल, बल, रूप, तप, श्रुत ऐश्वर्य एवं लाभ मद हैं उनके प्रति गर्व से रहित श्रमण जो होता है, उसका मार्दव धर्म होता है। उत्तम ज्ञान, उत्तम तप,, उत्तम चरण, उत्तम करण, उत्तम शील आदि को जो आत्मा का आधार बनाता है, उसका मार्दव रत्न होता है।

अठविध-मदाभावो त्ति मद्वो।
पर-पदत्थाणं अहंकरेमि अहंकुणेमि
तं मूल-भावणं उम्मूलेदि जो तस्स मद्व धम्मो।

- आठ प्रकार के मद का अभाव होना मार्दव धर्म है। पर पदार्थों का मैं करता हूँ, मैं कर सकता हूँ ऐसी मूल भावना का जो उन्मूलन करता है उसका मार्दवधर्म है।

अणुवमो हि मद्वो।

अणुवमो हिमद्वो
मद्वेण माण- कसा यस्स खर्या।
साहु-समागो तच्चसद्दहणं
सण्णाणं चारित्र-गुणाणं च विगासो त्ति।

- मार्दव धर्म अनुपम धर्म है- मार्दव से मान कषाय का क्षय होता है। इससे साधु समागम, तत्त्वश्रद्धान, सद्ज्ञान और चारित्र गुणों का विकास होता है।

मद्वो णो अहं ममो।
णो हणक्षण-दीणश्रं
कक्कस-कडुल-रुक्ख-भाव
अवमाणक्षणं च मद्वो णो।

दंसण-णाण-चारिते
 सुविसुद्धो खएदिजो।
 कसाय-माण-मालिण्णं
 कुणेदि विणयो हवे।
 जत्थ विणय-गारवो तत्थ मिदव-धम्मो।

अहंकार एवं ममता मार्दव नहीं है न ही हीनता एवं न दीनता भी मार्दव है। न कर्कशता, कटुता, रूक्ष-भाव एवं अवमानता भी मार्दव है। जो दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र में विशुद्ध होता है, जो मानकषाय की मलिनता को नष्ट करता है, वही विनय है। जहाँ विनय का गौरव है, वहाँ मार्दवधर्म है।

रहणत्तय-माहण्यं
 पत्तेज्ज विणयादरं।
 कसाय-णोकसाय-णिउश्री
 जत्थ होदि तत्थ विणयो।

विनयादर को वही प्राप्त होता है जो रत्नत्रय के माहात्म्य को प्राप्त करता है। जहाँ कषाय एवं नो कषाय की निवृत्ति है वहाँ विनय है।

मद्दव-धम्माहियारी

भमकार-मुक्ष-साहगो
 आद-गुणाणं अवलोएदि
 तेसिं अणुवेहेदि जादि-बल-
 तव-सुद-महादो मुत्तो।

मार्दव धर्म का अधिकारी- जो जाति, बल, तप, श्रुत आदिमद से मुक्त, ममकार रहित साधक होता है वह आत्म-गुणों का अवलोकन करता है और उन्हीं की अनुप्रेक्ष्या भी करता है।

सम्मक्ष-णाण-चारित्र-गुणेहिं
 गुणी सो एव जो होदि
 विदु क्षि। मदादो विमुक्षो।

सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र गुणों से गुणी वही होता है जो मृदु हो। मद आदि से विमुक्त हो।

माणो गव्व-परिणामो फरुसेसु
 मणो माणो णिद्दयो परमद्दणो।
 माण-कषाय-कारणेण मिदुक्षा भावो
 जेण सो अप्प-जादिं अप्पकुलं
 अप्पबलं अप्पतवं अप्पणाणं
 अप्प-रूवं अप्पलाहं अप्प-ईसरं
 महाणिज्ज मण्णदे।

मान गर्व परिणाम है पुरुष होने पर मन का मान निर्दय एवं परमर्दन वाला होता है। जिसके परिणाम स्वरूप अपनी जाति, अपना कुल, बल, तप, ज्ञान, रूप, लाभ एवं ऐश्वर्य को महनीय मानता है।

जीवो जीवो क्षि एरिसो भुल्लेदि।
मद्व- गुणे ढिदो साहगो
दुरहिणिवेसं मुंचेदि। सो
विभावं परिमुंचिदूण णिरंतरं
आद-विसुद्ध-सहावं आराहेदि।

जीव, जीव है वह हीन या दीन नहीं है, ऐसा भूल जाता है। मार्दव गुण में स्थित साधक दुरभिनिवेश को छोड़ देता है। वह विभाव को छोड़कर सदैव आत्मा के विशुद्ध-स्वभाव की आराधना करता है।

मदो जाएदि मदं कुणेदि, माण-कसाएण।
अहं अत्थि सूरु, वीरो अणगारो वि
एरिसं चिंतण अणुचिंतणं
अहंकार-कारणं अहिमाणं च जोदिगो।

मद होता है, मद करता है मान कषाय से, मैं हूँ सूर, वीर अनगार भी ऐसा चिंतन/विचार, अनुचिंतन/ भावना अहंकार का कारण अभिमान का द्योतक है। रावण भी नरकगामी हुआ।

करेमि करावेमि एरिसो अहंकार भावो।
तंस्स उम्मूलणं मद्वो क्षि।
णाणीणं समागमो साहूण जदीण
सुद-धारगाणं तवीणं चं अहं परिच्चागेण पक्षो,
'अहं' अभावो मद्वो क्षि। दव्व-मद्वेण मिदुत्तं भावणिमित्तेण
णम्मक्षं आदमिह पसण्ण-भावो, आद-गुणाण परिणंदो।

करता हूँ, कराता हूँ, यह भी अहंकार भाव है, उसका उन्मूलन करना मार्दव है। ज्ञानियों, साधुओं, यतियों, श्रुतधारकों या तपस्वियों का समागम 'अहं' के परित्याग से प्राप्त हुआ, 'अहं' अभाव मार्दव है। द्रव्य मार्दव से मृदुता, और भाव कारण से नम्रता आती है। आत्मा में प्रसन्नता एवं आत्म-गुणों का पूर्ण आनंद थी।

- पिऊ कुंज, अरविन्द नगर, उदयपुर (राज)
शेष अगले अंक में.....

पुस्तक समीक्षा

क्या यह 'महावीर का बुनियादी चिन्तन' है?

—डॉ. अनेकान्त कुमार जैन

पुस्तक- महावीर का बुनियादी चिन्तन, लेखक- डॉ. जयकुमार
जलज, प्रकाशक- साहित्य अकादमी, मध्यप्रदेश,
संस्करण- तेईसवां परिवर्द्धित, 2009, कुल पृष्ठ-32।

मेरे सामने साहित्य अकादमी, मध्यप्रदेश द्वारा भगवान महावीर के 2600वें जन्मोत्सव पर प्रकाशित 32 पेज की लघु पुस्तक 'भगवान महावीर का बुनियादी चिन्तन' नामक अत्यन्त लोकप्रिय कृति का तेईसवां परिवर्द्धित संस्करण-2009 रखा हुआ है। इसके लेखक डॉ. जय कुमार जलज जी एक वरिष्ठ साहित्यकार हैं, उनके कई उत्कृष्ट ग्रन्थ प्रकाशित हैं। अपने साहित्यिक अन्दाज में डॉ. जलज ने भगवान महावीर के चिन्तन को कई रूपों में अत्यन्त संजीदगी के साथ उकेरा है। कृति की भाषा इतनी अधिक प्रभावशाली है कि पाठक पूरी पुस्तक पढ़कर ही विराम ले पाता है। अपनी इन्हीं खूबियों के कारण ही यह कृति इतनी लोकप्रिय हुई है कि प्रथम संस्करण-2002 के बाद आज 2009 में इसका तेईसवां संस्करण निकाला गया है। कृति के अन्त में लगभग दस-पंद्रह विद्वानों का अभिमत भी प्रकाशित है। इस कृति के इतने अधिक संस्करण निकल जाने के बाद भी मुझे एक आश्चर्य तो हो रहा है कि इसमें कुछ तथ्य या विचार ऐसे भी प्रकाशित हैं, जो भगवान महावीर के चिन्तन या उनकी परंपरा से मेल नहीं खाते हैं। समीक्ष्य कृति में मैं विचारकों का ध्यान कुछ उन बिन्दुओं पर दिलाना चाहता हूँ जो ऐसा प्रतीत होती है कि महज 'जलज' जी के चिन्तन से प्रसूत है, जैन आगम सम्मत नहीं है। पृ. 12 पर लिखा है- 'महावीर की सर्वज्ञता का यह अर्थ नहीं है कि उन्हें संसार की सभी वस्तुओं और प्रक्रियाओं का ज्ञान हो गया था..... उनकी सर्वज्ञता का अर्थ है वे उसे जान गए थे जिसे जानने के बाद और कुछ जानना बाकी नहीं रह जाता..... महावीर इसी अर्थ में सर्वज्ञ हैं। उन्होंने स्वयं को जान लिया। स्वयं को जान लेना सबको जान लेना है।'

मेरा इस विषय में विनम्रता पूर्वक निवेदन है कि सर्वज्ञता का विषय तो तीनों लोकों की, तीनों कालों की प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय होती है। तत्त्वार्थसूत्र में केवलज्ञान का

विषय 'सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य' कहकर अत्यधिक स्पष्ट कहा है। न्याय शास्त्रों का (सर्वज्ञसिद्धि) प्रकरण तो आता ही यही समझाने के लिये है। फिर यह निरूपण 'जलज' जी ने ऐसा कैसे कर दिया कि सर्वज्ञता का अर्थ मात्र स्वयं को जानना है? साथ ही आपने अपनी बात की पुष्टि के लिए नियमसार की गाथा 159 भी उल्लिखित की है जिसमें लिखा है कि केवली भगवान व्यवहार से सबकुछ जानते-देखते हैं, निश्चय से आत्मा को जानते हैं। यहां व्यवहार से जानने का अर्थ यह थोड़े ही है कि जानते ही नहीं है। व्यवहार से जानने का अर्थ है अनासक्त भाव से जानते हैं, अर्थात् परद्रव्यों और उनकी पर्यायों का ज्ञान उनमें किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं करता है। रत्नकरण्डश्रावकाचार का मंगलाचरण भी यही कहता है- 'सालोकानां त्रिलोकानां यद्विद्या दर्पणायते'- अर्थात् जिनकी विद्या (केवलज्ञान) अलोक सहित तीनों लोकों के लिए दर्पण की तरह आचरण करती है यह तो उस ग्रंथ का उद्धरण है जिसे लेखक ने स्वयं अनूदित भी किया है। इतना ही नहीं, आपने आगे लिखा- 'वे दृष्टि संपन्न हो गए।.....आधुनिक युग में दृष्टि संपन्नता की कुछ ऐसी ही झलक हमें महात्मा गांधी में देखने को मिलती है।' - लेखक ने महावीर भगवान की तुलना गांधी जी से करके गांधी जी को भले ही महान बना दिया हो, किन्तु भगवान महावीर की दृष्टि संपन्नता की कीमत कम कर दी। अहिंसा के स्थूल रूप के अलावा गांधी जी ने कुछ भी प्रयोग ऐसे नहीं किये जिससे उनके सम्यक् दृष्टि होने का अंदेशा भी होता हो। भगवान महावीर का सामाजिक राजनैतिक, अर्थशास्त्रीय और भी जो कुछ भी युगानुरूप अध्ययन हो वह जरूर होना चाहिए लेकिन इस बात का भी ख्याल रखा जाना चाहिए कि ऐसा करते समय उनकी आध्यात्मिक गरिमा और मौलिक सिद्धांतों पर आंच न आये।

इसी प्रकार पृष्ठ 23 पर यह वाक्य "देश की रक्षा के लिए सम्यक् ज्ञान पूर्वक शत्रु का वध भी हिंसा नहीं है"- भगवान महावीर के चिंतन से अक्षरशः मेल नहीं खाता। गृहस्थ के जीवन में संकल्पी हिंसा का पूर्णतः त्याग होता है, शेष तीन हिंसाएं, जिसमें विरोधी हिंसा भी एक है वह उसके जीवन में मजबूरी वश होती है लेकिन वे हैं तो हिंसा का ही भेद। 'वध' चाहे जैसा भी हो वह 'अहिंसा' नहीं हो सकता। यद्यपि इस बात को लेखक ने आगे कुछ स्पष्ट किया है किन्तु इस वाक्य को भी बदलना चाहिए।

इसी पृष्ठ पर एक वाक्य और है जिस पर ध्यानाकृष्ट करना चाहता हूँ- 'प्राकृत नए युग की भाषा जरूर थी परन्तु संस्कृत, पालि जैसी पूर्ववर्ती भाषाओं से ही विकसित हुई थी।' इससे ज्ञात होता है कि लेखक संस्कृत तो ठीक पालि को भी पूर्ववर्ती मानते हैं जबकि भाषा वैज्ञानिकों के नए अनुसंधान संस्कृत और प्राकृत को समकालीन मानते हैं और मानते हैं कि पालि भी प्राकृत भाषा का ही एक भेद है। वर्तमान में प्राकृत भाषा विद् इस विषय पर कई निष्कर्ष दे चुके हैं। यहां भी लेखक का ही मौलिक चिंतन प्रतीत होता है।

पुस्तक की इन बातों की ओर हमारे अग्रज डॉ. वीरसागर जी ने ध्यान दिलाया। तभी उपरोक्त बातें मैंने लेखक एवं पाठकों का ध्यान आकृष्ट करवाने के लिए लिखी हैं; हो

सकता है आगे के संस्करणों में इसमें कोई संशोधन सूझ जाये। ये कुछ बातें हैं जिन्हें यदि मैं न देखूँ तो मुझे लगता है कि भगवान महावीर पर अब तक की पढ़ीं तमाम पुस्तकों में यह पुस्तक विषय, भाषाशैली एवं प्रभाव की दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट है। अब तक उपरोक्त बातों का ध्यान किसी समीक्षक ने उन्हें क्यों नहीं दिलाया मुझे इस बात पर अचरज है। लेखक साहित्य एवं दर्शन के वरिष्ठ अध्येता हैं। रत्नकरण्डश्रावकाचार, समाधितंत्र, इष्टोपदेश, परमप्पयायु, योगसार, अष्टपाहुड, ध्यानशतक, द्रव्य संग्रह आदि ग्रंथों के अनुवाद भी आपने किये हैं। भाषा विज्ञान संबन्धी ग्रंथ भी आपने लिखे हैं। अतः अपने दीर्घकालिक अनुभवों तथा चिंतन का निचोड़ आपने अपनी इस कृति में उतारा है। इस दृष्टि से समीक्ष्य कृति अत्यन्त उपयोगी भी है। सुना है, इस कृति के अंग्रेजी सहित कई भारतीय भाषाओं में अनुवाद भी छप चुके हैं। अतः उपर्युक्त संशोधनों के साथ यदि कृतियाँ प्रकाशित हों तो सर्वोत्तम होगा।

-सहायक आचार्य, जैनदर्शन विभाग
श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ
नई दिल्ली-११००१६

Year-63, Volume-4
October-December 2010

RNI No. 10591/62
ISSN 0974-8768

अनेकान्त

(जैनविद्या एवं प्राकृत भाषाओं की त्रैमासिक शोध पत्रिका)

ANEKĀNTA

(A Quarterly Research Journal for Jainology & Prakrit Languages)

सम्पादक

डॉ. जयकुमार जैन, मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)

Editor

Dr. Jaikumar Jain, Muzaffarnagar (U.P.)

Mobile : 09760002389

वीर सेवा मन्दिर, नई दिल्ली-110 002

Vir Sewa Mandir, New Delhi-110 002

अनेकान्त

ANEKĀNTA

(जैनविद्या एवं प्राकृत भाषाओं की त्रैमासिक शोध पत्रिका) (A Quarterly Research Journal for Jainology & Prakrit Languages)

संस्थापक

Founder

आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

Acharya Jugalkishor Mukhtar 'Yugveer'

सम्पादक मण्डल

Editor

प्रो. फूलचन्द जैन 'प्रेमी', वाराणसी

Prof. Phoolchand Jain 'Premi', Varanasi,

प्रो. कमलेश कुमार जैन, वाराणसी,

Prof. Kamlesh Kumar Jain, Varanasi,

प्रो. उदयचन्द जैन, उदयपुर

Prof. Udaychand Jain, Udaipur,

डॉ. हुकुमचन्द जैन, दिल्ली

Dr. Hukumchand Jain, Delhi,

प्रो. एम.एल. जैन, नई दिल्ली

Prof. M.L. Jain, New Delhi

सदस्यता शुल्क/ Subscription

एक अंक-रुपये 20/- वार्षिक - रु. 80/-

This issue - Rs. 20/- Yearly - Rs. 80/-

सभी पत्राचार पत्रिका एवं सम्पादकीय हेतु पता -

वीर सेवा मंदिर (जैन दर्शन शोध संस्थान)

21, अंसारी रोड़ दरियागंज, नई दिल्ली-110 002.06

All correspondence for the journal & editorial on-

Vir Sewa Mandir (A Research Institute for Jainology)

21, Ansari Road, Daryaganj, New Delhi-110002.06

फोन नं. 011-30120522, 23250522, 09311050522

e-mail-virsewa@gmail.com

विद्वान लेखकों के विचारों से सम्पादक मंडल का सहमत होना आवश्यक नहीं है। लेखों में दिये गये तथ्यों और सन्दर्भों की प्रामाणिकता के संबंध में लेखक स्वयं उत्तरदायी हैं सभी प्रकार के विवादों का निपटारा दिल्ली न्यायालय के अधीन होगा।

मुनिवर-स्तुति

कबधौं मिलैं मोहिं श्रीगुरु मुनिवर, करिहैं भव-दधि पारा हो।
भो उदास जोग जिन लीनो, छाड़ि परिग्रह भारा हो।
इन्द्रिय- दमन नमन मद कीनो, विषय कषाय निवारा हो॥
कंचन- कांच बराबर जिनके, निन्दक बंदक सारा हो।
दुर्धर-तप तपि सम्यक् निज घर, मन-वच-तन कर धारा हो॥
ग्रीष्म गिरि हिम सरिता तीरें, पावस तरुतल ठारा हो।
करुणा भीन, चीन त्रस- थावर, ईर्या पंथ समारा हो॥
मार मार, व्रतधार शील दृढ़, मोह महाबल टारा हो।
मास छमास उपास, बास बन, प्रासुक करत अहारा हो॥
आरत रौद्र लेश नहिं जिनकें, धरम शुक्ल चित धारा हो।
ध्यानारूढ़ गूढ़ निज आतम, शुध उपयोग विचारा हो॥
आप तरहिं औरन को तारहिं, भवजनसिंधु अपारा हो।
'दौलत' ऐसे जैन जतिन को, नितप्रति धोक हमारा हो॥

- कविवर दौलतराम

विषयानुक्रमणिका

विषय	लेखक का नाम	पृष्ठ संख्या
मुनिवर-स्तुति		3
विषयानुक्रमणिका		4
1. जैनधर्म के परिप्रेक्ष्य में : सत्याणुव्रत एवं भारतीय कानून	- सतेन्द्रकुमार जैन	5-11
2. षट्खण्डागम में मंगलाचरण की महत्ता	-पं. विमलकुमार जैन सौरया	12-15
3. धर्मस्वरूप	- प्रो. उदयचन्द्र जैन	16-27
4. श्रावकों को 'पुरुषार्थ देशना' की उपयोगिता	-प्राचार्य पं. निहालचंद जैन	28-32
5. राष्ट्र कल्याण में श्रावक की भूमिका	- डॉ. सुरेन्द्र कुमार जैन	33-41
6. आधुनिक संदर्भ में 'सामायिक' की उपादेयता	- डॉ. अनेकान्त कुमार जैन	42-46
7. पूजा के आधार पर-देव, शास्त्र और गुरु	- डॉ. बसन्त लाल जैन	47-55
8. जैन धर्म में दान वैशिष्ट्यः शास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में	- पंकज कुमार जैन	56-65
9. श्रमण और श्रमणाभास	- डॉ. श्रेयांसकुमार जैन	66-77
10. झालरापाटन का अछूता जैन-स्थापत्य	- ललित शर्मा	78-81
11. अध्यात्म विकास के आयाम गुणस्थान और परिणाम	- डॉ. ज्योतिबाबू जैन	82-93
12. ग्रन्थ-समीक्षा	- डॉ. आनन्द कुमार जैन	94-95
13. वीर सेवा मंदिर		96

जैनधर्म के परिप्रेक्ष्य में सत्याणुव्रत एवं भारतीय कानून

-सतेन्द्र कुमार जैन

भारत धर्म प्रधान देश के साथ ही कर्म प्रधान देश भी है। इसमें जितना महत्त्व धर्म को दिया जाता है, उतना महत्त्व कर्म को भी दिया जाता है। धर्म की व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिए पुण्य-पाप का विवेचन करके धार्मिक व्यक्तियों को पाप से बचने का निर्देश दिया है परन्तु जो व्यक्ति धर्म से अनभिज्ञ हैं या धर्म में जिनकी आस्था नहीं है, उन व्यक्तियों के लिए ऋषभदेव ने सर्वप्रथम कर्म स्वरूप दण्ड का विधान किया। गलती करने वाले को पश्चाताप स्वरूप हा शब्द का विधान किया, जिसका अर्थ गलती को स्वीकार करना है। परन्तु मानव जब अपनी गलती को दुबारा करने लगा तो उसके लिए हा शब्द के साथ मा शब्द का प्रयोग भी होने लगा जिसका अर्थ नहीं करूँगा। इन दो दण्डों के प्रयोग के बाद भी जब मानव की प्रवृत्ति पाप कर्म से रहित नहीं हुई तो धिक् शब्द के द्वारा अपने को धिक्कार करने का दण्ड प्रचलित हुआ।¹

ऋषभदेव ने अपना राज्य अपने पुत्र भरत को देकर दीक्षा धारण की। जिससे भरत चक्रवर्ती भरतवर्ष का राजा बना। उसके समय में पाप कर्म की प्रवृत्ति अधिक होने लगी और पूर्व में निर्धारित दण्ड का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। तब भरत ने उनके लिए शारीरिक दण्ड को सुचारु रूप से चलाया और व्यक्ति के मन, वचन, काय की क्रिया के अनुसार न्याय-अन्याय कर उसको दण्ड देने का विधान किया। भरत चक्रवर्ती ने धर्म और कर्म के अनुसार दण्ड का स्वरूप निर्धारित किया। काल की प्रगति के साथ-साथ राजाओं की व्यवस्था में परिवर्तन हुआ और जीवों की मानसिकता में भी परिवर्तन हुआ। जिससे पाप-पुण्य प्रवृत्ति में अन्तर आया और उन पाप प्रवृत्तियों के दमन के लिए दण्डों की व्यवस्था में बढ़ोत्तरी होती गई। शनैः शनैः राजाओं की व्यवस्था में भी अराजकता का प्रभाव पड़ा और लोगों ने राजतांत्रिक प्रणाली की पूर्ण सहायता ली और भारतदेश में न्यायालय की स्थापना की। परन्तु इस व्यवस्था में भी अंग्रेजों ने देश-विदेश, अपने-पराये का भेद कर, भेद-भाव करना प्रारंभ कर दिया। इससे लोगों को पूर्ण न्याय नहीं मिल पाता था। लोगों ने न्यायाधीशों का विरोध किया तथा उनके द्वारा किये गये अन्याय का बहिष्कार किया। फलस्वरूप भारतदेश 1947 को स्वतंत्र हो गया। स्वतंत्रता के पश्चात् भारतदेश की न्यायिक व्यवस्था को सुचारुरूप से चलाने के लिए संविधान का निर्माण किया गया। जिसमें जातिगत भेदभाव, क्षेत्रगत भेदभाव, व्यक्तिगत भेदभाव से रहित कानून का निर्माण किया गया। इस संविधान में कानून का निर्माण करते समय धार्मिक भावनाओं और कर्म को पूर्ण

महत्त्व दिया गया है। जिससे कानून के द्वारा किये गये निर्णयों में धर्म का पूर्ण सहारा लिया गया।

वर्तमान में लोगों की मान्यता केवल कानून के प्रति ही रह गई है। कानून क्या कहता है? यह लोगों के लिए महत्वपूर्ण है। परन्तु धार्मिक व्यक्ति धर्म के अनुसार अपना आचरण करता है तो वह स्वयमेव कानून का पालन करता ही है। जो व्यक्ति धर्म से अनभिज्ञ होकर धार्मिक आचरण नहीं करते, उनको कानून का पालन बलपूर्वक करवाया जाता है। धार्मिक आचरण करने वाला व्यक्ति पाप से डरता है। जिस कारण वह पाप की क्रिया नहीं करता, वह अपनी सीमा में रहता है और कानून भी पाप के नाश के लिए बनाया गया है। समाज के सभी व्यक्तियों का आचरण धर्म के अनुसार हो जाएगा तो समाज स्वयमेव पाप रहित हो जाएगा तथा कानून की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी। कानून का प्रयोग दुष्ट एवं दुराचारी व्यक्तियों के लिए किया जाता है और दुराचरण का नाश, समाज का उत्थान, कानून का मुख्य उद्देश्य है।

वर्तमान भारतीय संविधान के निर्माण के लिए प्रारूप समिति का निर्माण किया गया। जिसमें संविधान सभा के अध्यक्ष के रूप में डॉ. राजेन्द्र प्रसाद नियुक्त हुए तथा प्रारूप समिति के अध्यक्ष डॉ. भीमराव अम्बेडकर नियुक्त हुए। इनके अतिरिक्त महात्मा गाँधी, जवाहरलाल नेहरू, सरदार वल्लभ भाई पटेल, डॉ. राधाकृष्णन, डॉ. सच्चिदानंद सिन्हा आदि गणमान्य व्यक्तियों का सहयोग मिला। इनमें से लगभग सभी सदस्य सभी दर्शनों के जानने वाले सूक्ष्मवेत्ता थे। धर्म के रहस्य को समझने वालों ने सभी दर्शनों से महत्त्वपूर्ण तथ्यों को लेकर संविधान का निर्माण किया, जिनमें जैनदर्शन का अत्यधिक सहयोग रहा। जैनदर्शन के स्थूल नियमों का तथा भावनाओं का भारतीय कानून पर पूर्ण प्रभाव पड़ा। इनमें मुख्य पंचव्रत हैं, जो जैनधर्म और भारतीय कानून की मुख्य धरोहर हैं।

जैनदर्शन और भारतीय कानून में आचार और विचार व्यक्तित्व के समान शक्ति वाले दो पक्ष कहे गये हैं। दोनों अन्योन्याश्रित हैं। विचारों के आधार पर ही हमारा आचरण पलता है तथा आचरण से ही विचारों में स्थिरता आती है। इन दोनों पक्षों के संतुलित विकास होने पर ही व्यक्तित्व का विशुद्ध विकास होता है। इस प्रकार के विकास को हम ज्ञान और क्रिया का विकास कह सकते हैं। जो दुःख से मुक्ति के लिए अनिवार्य है।

आचार और विचार की एक दूसरे पर इसी निर्भरता को दृष्टिगत रखते हुए भारतीय तत्त्व चिंतकों ने धर्म और दर्शन का साथ-साथ प्रतिपादन किया है। उन्होंने एक ओर जहाँ तत्त्वज्ञान की प्ररूपणा कर दर्शन की स्थापना की है, वही दूसरी ओर आचार-शास्त्रों का निरूपण कर साधना का मार्ग प्रशस्त किया है। भारतीय परम्परा में आचार को धर्म तथा विचार को दर्शन कहा गया है।

जैन परम्परा में आचार और विचार को समान स्थान दिया गया है। अहिंसा मूलक आचार और अनेकान्त मूलक विचार का प्रतिपादन जैन परम्परा की प्रमुख विशेषता है।

व्रत का स्वरूप

व्रत का अर्थ पाप रहित जीवन व्यतीत करना है तथा असामाजिक और छुपकर किये जाने वाले कार्य को पाप कहते हैं। अर्थात् जो आत्मशांति का पतन कराये वह पाप है, तथा जो पाप से आत्मा को रोके अथवा मोक्ष की ओर ले जाए वह व्रत है। आचार्यर्य पूज्यपाद स्वामी ने व्रत की परिभाषा में कहा है- **इदं कर्त्तव्यमिदं न कर्त्तव्यम् इति व्रतम्** अर्थात् यह करने योग्य है, यह नहीं करने योग्य है, ऐसा नियम करना व्रत है।² इससे समाज में बैर विरोध बढ़ाने वाली प्रवृत्तियों पर नियंत्रण होता है। जैनाचार्यों ने व्रत के पाँच भेद किये हैं जिनमें अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह व्रत हैं।³ इन पंच व्रतों पर जैन शास्त्रों में बहुत जोर दिया गया है। पाँच व्रतों के परिपालन के लिए व्रतों के दो स्तर स्थापित किये गये हैं। प्रथम है साधु मार्ग और द्वितीय श्रावक मार्ग या गृहस्थ मार्ग। इन्हें क्रमशः साधु धर्म और श्रावक धर्म भी कहते हैं। साधु मार्ग निवृत्तिमूलक है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह रूपी पाँच पापों के परिपूर्ण त्याग से यह प्रारंभ होता है। श्रावक मार्ग या गृहस्थ मार्ग का निर्वाह उक्त पापों के आंशिक त्याग से होता है। इसका पालन समाज में रहने वाले मनुष्य अपनी क्षमता के अनुरूप करते हैं। गृहस्थ मार्ग त्याग और भोग के बीच संतुलित जीवन जीने की पद्धति है। साधु जीवन में जहाँ आध्यात्मिक जीवन मूल्यों के क्रमिक विकास के साथ-साथ मानवीय गुणों का संचार होता है, वही साधु धर्म व्यक्ति को आत्मकेन्द्रित बनाकर पूर्ण निवृत्ति का मार्ग प्रशस्त करता है। श्रावक धर्म मानव मात्र में नैतिक और धार्मिक गुणों का आरोपण कर एक श्रेष्ठ इंसान बनाता है। इस तरह साधु धर्म को व्यक्ति धर्म तथा श्रावक धर्म को समाज धर्म भी कह सकते हैं। समस्त जैनाचार, श्रावकाचार या गृहस्थाचार तथा श्रमणाचार या साध्वाचार के रूप में विभाजित है।

जैनदर्शन में साधु पाप का स्वतः त्यागी होता है तथा भारतीय कानून पाप से बचाने के लिए दण्ड का विधान करता है। इसलिए भारतीय कानून में जैन साधुओं के लिए दण्ड का विधान नहीं किया गया है। परन्तु श्रावक पाप क्रियाओं को करता है तथा व्रतों में अतिचार लगाकर पाप का अर्जन भी करता है इस कारण भारतीय कानून श्रावकों को पाप से बचाने के लिए तथा व्रतों की रक्षा के लिए श्रावक का पूर्ण सहयोगी है। इसी क्रम में पाप व्रतों की तुलना भारतीय कानून की धाराओं से करने का प्रयास किया जा रहा है जिसमें सत्याणुव्रत को भारतीय कानून की धाराओं से जोड़कर श्रावक को कानून और धर्म के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करने का सूक्ष्म प्रयास है।

सत्याणुव्रत

सत्यव्रत जैनधर्म का मौलिक तत्त्व है। अहिंसा की आराधना के लिए सत्य की उपासना अनिवार्य है। झूठा व्यक्ति सही अर्थों में अहिंसक आचरण कर ही नहीं सकता तथा सच्चा अहिंसक कभी असत्य आचरण नहीं कर सकता। असत्य हिंसा का जनक है। अतः जैन मुनि कभी भी असत्य वचनों का प्रयोग नहीं करते। हमेशा हित, मित और प्रिय वचनों का ही प्रयोग करते हैं। कषायों से प्रेरित होकर, जानबूझकर अथवा अज्ञानवश प्रयोग किये जाने

वाले कठोर वचन दोषयुक्त होने के कारण त्याज्य हैं। इसी प्रकार वे सँदिग्ध अथवा निश्चय की दशा में निश्चय वाणी का प्रयोग भी नहीं करते, पूर्ण रूप से निश्चित हो जाने पर निश्चित वाणी बोलते हैं। वे सत्य, मृदु और निर्दोष भाषा में ही बोलते हैं तथा सत्य होने पर भी कभी भी अवज्ञा-सूचक वचनों का प्रयोग नहीं करते, वरन् सम्मान सूचक शब्दों का ही प्रयोग करते हैं। संक्षेप में कहें तो जैन साधु, विचार व विवेकपूर्ण संयमित और संतुलित भाषा का ही प्रयोग करते हैं। इसी कारण भारतीय कानून में जैन साधु को अपराध कोटि से मुक्त किया गया है, उनके लिए किसी भी प्रकार का कानून नहीं है। कानून तो स्थूल झूठ का त्याग करने वाले सत्याणुव्रती और अव्रती के लिए है, क्योंकि श्रावक मुनि के समान सूक्ष्म झूठ का त्याग नहीं कर सकता। इसलिए उसे स्थूल झूठ का ही त्याग कराया जाता है। जिस झूठ से समाज में प्रतिष्ठा न रहे, प्रामाणिकता खण्डित होती हो, लोगों में अविश्वास उत्पन्न होता हो तथा राजदण्ड का भागी बनना पड़े, इस प्रकार के झूठ को स्थूल झूठ कहते हैं। सत्याणुव्रती श्रावक इस प्रकार के स्थूल झूठ का मन, वचन, काय से सर्वथा त्याग करता है, साथ ही वह कभी ऐसा सत्य भी नहीं बोलता जिससे किसी पर आपत्ति आती हो। वह अपनी अहिंसक भावना की सुरक्षा के लिए हित, मित और प्रिय वचनों का ही प्रयोग करता है। आचार्य उमास्वामी जी ने सत्य की परिभाषा में कहा है कि **असदभिधानमनृतम्** अर्थात् असत् कहना झूठ है।⁴ असत् के तीन अर्थ लिए जा सकते हैं।, पहला अर्थ जो बात नहीं है वह कहना, दूसरा अर्थ जैसी बात कही गई है वैसी न कहना, तीसरा अर्थ बुराई या दुर्भावना को लेकर किसी से कहना। इसे झूठ कहा गया है।

असत्य से बचाव के कारण

असत्य बोलने से मानव का सर्वतोमुखी पतन होता है। आचार्यों ने कहा है कि मानव किन कारणों से झूठ बोलता है जिससे उसके व्रत में अतिचार लगता है उन अतिचारों से बचने के लिए भावनाओं का निर्देश किया गया है, आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थ सूत्र में असत्य से बचने के लिए पाँच भावनाओं का विवेचन करते हुए कहा है कि- **क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पञ्च** अर्थात् क्रोध, लोभ, भय, हास्य का त्याग तथा शास्त्रानुसार वचन का प्रयोग करना ये पाँच भावनाएँ हैं।⁵ जिससे मानव असत्य से बचता है। क्रोध, लोभ, भय, हास्य के वशीभूत होकर हमेशा असत्य का सहारा लेता है। क्रोध में वह यह जान नहीं पाता कि उसके मुख से सत्य वचन निकल रहे हैं या असत्य वचन तथा वह वचन किसी के हित में निकल रहे हैं या अहित में निकल रहे हैं।

भारतीय कानून में क्रोध में बोला गया असत्य, भय में बोला गया असत्य, लोभ में बोला गया असत्य, हास्य में बोला गया असत्य तथा अनर्गल वार्तालाप में अपमानित करने के आशय से असत्य भाषण किया गया है तो उसके लिए धारा 500 के तहत दो वर्ष कारावास या जुर्माने की सजा तथा यदि अन्य को कपट करने के आशय से असत्य भाषण किया गया तो धारा 417 के अनुसार 1 वर्ष या जुर्माना तथा 419 के अन्तर्गत 3 वर्ष या जुर्माने की सजा का प्रावधान किया गया है।

सत्याणुव्रत के अतिचार

सत्यव्रती पूर्ण सावधानी से अपने व्रतों का पालन करता है परन्तु जब वह समाज में व्यवहार करता है तो उसके व्रतों में अतिचार लगने की संभावना अधिक हो जाती है। आचार्य उमास्वामी जी तत्त्वार्थ सूत्रग्रंथ में सत्य व्रत के अतिचारों को पाँच प्रकार का कहा है—**मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमंत्रभेदाः** अर्थात् मिथ्योपदेश, स्त्री पुरुष की गुप्त वार्ता को प्रकट करना, कूटलेखक्रिया, परसंपत्ति को हड़प जाना, संकेत द्वारा किसी के आशय को न समझकर बात को उजागर करना, ये पाँच प्रकार के अतिचार जैनदर्शन में व्रती के लिए निषिद्ध कहे गये हैं।⁶

मिथ्योपदेश

सच्चा झूठा समझाकर किसी को कुमार्ग पर लगाना। असत्य का उपदेश देना, नाप-तौल में किस प्रकार का छल कपट किया जाता है, किस तरह चालाकी और बेईमानी करके व्यापार किया जा सकता है आदि मिथ्या कार्यों के प्रति प्रेरणा देना मिथ्योपदेश है। मिथ्योपदेश के अन्तर्गत हत्या करने के लिए किसी को सलाह देना, राज्य के विरुद्ध लोगों को उपदेश देना आदि कार्यों के उपदेश को मिथ्योपदेश में लेना चाहिए।

भारतीय कानून में मिथ्या गवाही देना, मिथ्योपदेश में गिना जाता है। मिथ्या साक्ष्य देने वाले को धारा 191 के अनुसार सात वर्ष कारावास तथा जुर्माने से दण्डित किया जाता है। मिथ्या सूचना देने पर धारा 177 के अंतर्गत 6 माह से 2 वर्ष तक सजा होती है तथा जुर्माने के रूप में 1000 रुपये देना पड़ते हैं। यदि अपराध के कारित होने के संबंध में मिथ्या सूचना दी गई हो तो धारा 203 के अन्तर्गत दो वर्ष या जुर्माने से दण्डनीय होगा। किसी सच्चे व्यक्ति को अपराध में लगाने के लिए सलाह देने पर धारा 110 से 120 के तहत भिन्न-भिन्न सजा का प्रावधान है। परन्तु दुष्प्रेरण षड्यन्त्र द्वारा किया जाता है तो धारा 120 ख के तहत 2 वर्ष का कारावास तथा जुर्माना होता है तथा अपराध घटित हो जाने पर अपराध के अनुसार सजा दी जाती है।

रहोभ्याख्यान

किसी की गुप्त बात को किसी के सामने प्रकट कर देना जैसे कोई व्यक्ति एकान्त स्थान में किसी से रहस्य की बात कर रहा हो अथवा स्त्री पुरुष बात कर रहे तो उन्हें बदनाम करने के लिए अफवाह फैला देने को रहोभ्याख्यान कहते हैं। इसमें राजकीय गोपनीय बातों का भी ग्रहण किया जा सकता है। जिसका रहस्य खुल जाने से राष्ट्र को हानि होने की आशंका होती है या राष्ट्र में हिंसा का माहौल फैल सकता है या आपातकालीन स्थिति आ सकती है या शत्रु पक्ष से हानि हो सकती है।

भारतीय कानून में इन बातों के लिए दण्ड का विधान किया गया है। यदि कोई व्यक्ति किसी की गोपनीय बातों को उजागर करता है परन्तु अपमानित करने के आशय से नहीं है तो कोई सजा नहीं होती, परन्तु किसी को बदनाम करने के उद्देश्य से अफवाह फैलाने पर धारा 500 के तहत दो वर्ष का कारावास अथवा जुर्माने की सजा मिलती है।

कूटलेख क्रिया

कितने ही श्रावकों की यह भ्रान्त धारणा होती है कि मैंने स्थूल असत्य बोलने का परित्याग किया है, किन्तु असत्य लिखने का नहीं। इसी कारण हाथ से मिथ्या लेख देना, जाली हुण्डी, बिल्टी, नोट, सिक्के, मुहर आदि बनाना इसी तरह बहीखातों में झूठा जमा-खर्च करना आदि कार्य करने में संकोच का अनुभव नहीं करते हैं। भले ही मुँह से झूठ न बोला गया हो, पर लेखन में तो भयंकर झूठ है। इस प्रकार के सभी मिथ्या लेख कूटलेखक्रिया के अन्तर्गत आते हैं।

जैनदर्शन में कूटलेख के लिए जिन कारणों का उल्लेख प्राप्त होता है उन्हीं कारणों का भारतीय कानून में भी उल्लेख प्राप्त होता है। मिथ्या लेख जाली हुण्डी, बहीखातों का फर्जी होना आदि कारण कहे हैं, उनमें यदि कोई व्यक्ति अपराधी माना जाता है तो उसे धारा 465 के तहत 2 वर्ष का कारावास अथवा जुर्माने की सजा दी जाती है तथा राजकीय सिक्के के जाली होने संबंधी सामग्री प्राप्त होने पर, बेचने पर, उपयोग में लाने हेतु एकत्र करने पर धारा 232, 233, 234, 235 के तहत 3 वर्ष से लेकर 10 वर्ष तक के कारावास का भागीदार होगा। मुहर, नोट, सरकारी स्टाम्प पेपर आदि के जाली होने पर धारा 255 के तहत बनाने वाले को 10 वर्ष कारावास ही सजा तथा बेचने वाले को धारा 257 के तहत 7 वर्ष के कारावास की सजा मिलती है। वहीखातों के जाली होने पर धारा 477अ के तहत 7 वर्ष का कारावास अथवा जुर्माने की सजा का हकदार है।

न्यासापहार

चतुर्थ स्थूल सत्य के अतिचारों में दूसरे की धरोहर का हरण करने के लिए प्रयुक्त असत्य को न्यासापहार कहा है। लोभ के कारण किसी की रखी हुई अमानत को हड़पने के आशय से कम-ज्यादा या सर्वथा इंकार कर देना न्यासापहार है, यद्यपि आचार्य मनु ने भी कहा है-

यो निक्षेपं नार्पयति यश्चानिक्षिप्य याचते।

तावुभौ चोरवच्छास्यौ दाष्यौ वा तत्समं दमम्॥^९

अर्थात् धरोहर को न लौटाने को तस्कर कृत्य माना है और कहा है कि उसे तस्कर की तरह दण्डित करना चाहिए। पर यहाँ न्यासापहार को असत्य में गिना गया है क्योंकि यह कुकृत्य असत्य बोलकर किया जाता है। यह भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से बोला जाता है। बढ़िया धरोहर को घटिया कहना तथा नये को पुरानी और पुरानी को नई कहना भी इसी के अन्तर्गत आता है।

भारतीय कानून में संपत्ति के अपहरण किये जाने पर या जबरन छीन लेने पर अपहरण करने वाले अथवा अवैध रूप से कब्जा करने वाले पर धारा 208 के तहत दो वर्ष की सजा तथा जुर्माना भी हो सकता है अथवा परसंपत्ति को हड़पने के इरादे से बेईमानी से न्यायालय में मिथ्या दावा करने पर धारा 209 के तहत दो साल की सजा का प्रावधान किया गया है।

साकारमंत्रभेद

पति-पत्नी की अथवा कन्या की या युवक की गुप्त बातों को अपमान करने के उद्देश्य से अन्य लोगों के सामने प्रकट करना जिससे उसकी बदनामी हो जाये। इसमें जिस प्रकार पुरुष की गुप्त बातों को प्रकट करने का निषेध पुरुष अथवा स्त्री दोनों के लिए किया है तथा स्त्री की गुप्त बातों को प्रकट करने का निषेध पुरुष अथवा स्त्री दोनों के लिए है।

भारतीय कानून में एक दूसरे के प्रति आक्षेप लगाकर गुप्त बातों को प्रकट करने पर यदि किसी की बदनामी होती है तो वह गुप्त बात को प्रकट करने वाला आरोपी धारा 500 के तहत दो वर्ष कारावास तथा जुर्माने की सजा का हकदार है।

निष्कर्ष

भारतीय संस्कृति में प्राचीन काल से ही धर्म का जोर रहा है परन्तु वर्तमान समय में लोगों के विचारों में परिवर्तन आया और धर्म का स्थान परिवर्तन होकर कर्म ने ले लिया। कर्म के वशीभूत होकर व्यक्ति न्याय-अन्याय का ध्यान न रख आजीविका का उपार्जन करने लगा। भारतीय समाज में अन्याय तथा पाप कर्म में रोक लगाने के लिए प्राचीन काल से ही कानून व्यवस्था प्रारंभ हुई। धर्म और कानून का उद्देश्य पाप प्रवृत्ति को समाप्त करना तथा पुण्य प्रवृत्ति को बढ़ावा देना है। इसी कारण यदि व्यक्ति धर्म का पालन सम्यक् प्रकार से करता है तो उसे कानून की आवश्यकता नहीं होती तथा कानून का पालन भी बिना प्रयास के हो जाता है। इसी कड़ी में जैनदर्शन के सिद्धांतों का प्रयोग कानून व्यवस्था में सर्वाधिक हुआ है अतः जैनदर्शन के सिद्धांतों का पालन स्वतः पाप से निवृत्ति का मार्ग है।

संदर्भ-

1. आदिपुराण, आचार्य जिनसेन, संपादक-डॉ. पन्नालाल साहित्याचार्य, प्रकाशक-भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2004
2. सर्वार्थसिद्धि, आचार्य पूज्यपाद स्वामी, संपादक-पं. फूलचन्द शास्त्री, प्रकाशक- भारतीय ज्ञानपीठ, संस्करण-चतुर्थ।
3. तत्त्वार्थसूत्र, आचार्य उमास्वामी जी, संयोजन -ब्र. प्रदीप शास्त्री, प्रकाशक-श्री दि. साहित्य प्रकाशक समिति बरेला, जबलपुर, संस्करण-प्रथम।
4. मनुस्मृति, हिन्दी टीकाकार-पं. हरगोविन्द शास्त्री, सं. गोपाल शास्त्री, प्रकाशन-चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 2006
5. बृहद् अपराध विधियाँ, दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973, भारतीय दण्ड संहिता, 1860, भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1972, पी. के. मुखर्जी, प्रकाशक- मॉडर्न लॉ हाऊस, 2006

-जैन अनुशीलन केन्द्र
राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर
जयपुर (राजस्थान)

षट्खण्डागम में मंगलाचरण की महत्ता

-पं. विमलकुमार जैन सौरया

षट्खण्डागम एवं कषाय प्राभृत ऐसे ग्रंथ हैं जिनका संबन्ध द्वादशांग वाणी से माना जाता है क्योंकि द्वादशांग श्रुत का इस ग्रंथ में विस्तार से परिचय कराया गया है। कलिकाल सर्वज्ञ भगवंत वीरसेन स्वामी ने धवला ग्रंथ में कहा है कि 'त्रिकाल विषयक समस्त पदार्थों के विषय करने वाले प्रत्यक्ष अनन्त केवल ज्ञान के प्रभाव से प्रमाणीभूत आचार्य रूप प्रणाली से आने के कारण प्रत्यक्ष व अनुमान से चूँकि विरोध से रहित है अतः यह ग्रंथ प्रमाण है।' (ध.भाग 9 पृष्ठ 133)

दृष्टिवाद बारहवां अंग प्रस्तुत सिद्धान्त ग्रंथों का उद्गम स्थान है। दृष्टिवाद के अन्तर्गत परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका यह 5 प्रभेद हैं।

षट्खण्डागम के ज्ञाता श्री धरसेनाचार्य थे जो गिरनार की चन्द्रगुफा में ध्यान करते थे। वह आचारांग के पूर्ण ज्ञाता थे तथा अंगों और पूर्वों के एकदेश ज्ञाता थे।

नन्दि संघ की प्राकृत पट्टावलि में अर्हद्बलि, माघनंदि और धरसेन तथा उनके पश्चात् पुष्पदन्त-भूतबली को एक दूसरे का उत्तराधिकारी बताया है। इससे सिद्ध होता है कि धरसेनाचार्य के दादा गुरु अर्हद्बलि एवं गुरु माघनंदी थे। इस पट्टावली के आरंभ में भद्रबाहु और उनके शिष्य गुप्तिगुप्त की वंदना की गई है। गौतम स्वामी से लोहाचार्य तक के समय का उल्लेख मिलता है जिससे स्पष्ट है कि महावीर स्वामी के निर्वाण के 683 वर्ष पश्चात् अंतिम श्री धरसेन पुष्पदन्त भूतबली आचार्य हुए। श्री धरसेनाचार्य ने दक्षिण भारत में श्री महासेनाचार्य के संघ में विहार कर रहे पुष्पदन्त-भूतबली जैसे प्रज्ञावंत ऋषियों को पत्र भेजकर अपने पास बुलाया था और सत्कर्म पाहुड़ के सूत्रों का बोध दिया था। इसी की प्रसिद्धि षट्खण्डागम के रूप में हुई। धरसेनाचार्य के द्वारा आषाढ शुक्ला एकादशी को अध्ययन पूरा हुआ और उसी दिन दोनों शिष्यों को अपने पास से विदा कर दिया। क्योंकि धरसेन स्वामी को ज्ञात हुआ था कि उनकी मृत्यु निकट है। वह श्रुत ज्ञान की रक्षा संबन्धी अपना कर्तव्य पूरा कर चुके हैं।

ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी को दोनों मंगलकारी आचार्यों ने सूत्र रूप में षट्खण्डागम शास्त्र निबद्ध कर चतुर्विध संघ के साथ श्रुतज्ञान की पूजा की थी। षट्खण्डागम ग्रंथ के 3 खण्डों की 12000 श्लोकों में परिकर्म नाम की टीका श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने लिखी और धवलाकार ने इस परिकर्म नाम की टीका का अनेक बार उल्लेख किया है। इसके अलावा आचार्य श्री शामकुंड की 'पद्धति' टीका, आचार्य श्री तुम्बुकूर की चूडामणि टीका, आचार्य श्री समन्तभद्र तथा वप्पदेव कृत व्याख्या प्रज्ञप्ति टीका का उल्लेख मिलता है। आचार्यों ने

इस महान ग्रंथ की अनेक टीकाएँ कीं। श्री समन्तभद्र स्वामी ने षट्खण्डागम के 5 खण्डों की 84 हजार श्लोक प्रमाण संस्कृत में टीका लिखी है परन्तु वह सब उपलब्ध नहीं है।

अन्तिम टीकाकार कलिकाल सर्वज्ञ भगवंत वीरसेन आचार्य हुए। जिन्होंने कार्तिक शुक्ला 13 शक संवत् 738 में इस ग्रंथ की टीका पूरी की जो धवला के नाम से प्रसिद्ध है। यह 72000 श्लोक प्रमाण है। वीरसेन आचार्य केवली के समान समस्त विद्याओं के पारदर्शी थे। उनकी सर्वार्थ गामिनी नैसर्गिक प्रज्ञा को देखकर सर्वज्ञ की सत्ता में किसी मनीषी को शंका नहीं रही थी। श्री वीरसेन आचार्य की धवला टीका ने आगम सूत्रों को चमका दिया, इसलिए उनकी धवला को भारती की भुवन स्थापिनी कहा है। (आदि पुराण उत्थानिका)

श्री धरसेन आचार्य के समय गुणधर आचार्य हुए हैं। उन्होंने कषाय प्राभूत की रचना की थी। जय धवला में श्री यतिवृषभ आचार्य को कषाय प्राभूत का वृत्ति सूत्रकर्ता कहा है। वृत्ति से तात्पर्य जिसमें सूत्रों का ही विवरण हो। भगवंत वीरसेन आचार्य ने भी इसके एक भाग की टीका लिखी, शेष भाग श्री जिनसेन आचार्य ने पूरे किये। जो जय धवला के नाम से विख्यात है। इसकी टीका 60000 श्लोक प्रमाण है।

षट्खण्डागम का छठवाँ खण्ड महाबन्ध है। जो महा धवल के नाम से जाना जाता है। इसकी टीका 40 हजार श्लोक प्रमाण है तथा 7 भागों में प्रकाशित है।

जैन आगम परम्परा में षट्खण्डागम प्रथम प्रामाणिक आगम ग्रंथ है। इस ग्रंथ के आरंभ में आचार्य श्री पुष्पदन्त स्वामी ने “**णमो अरिहन्ताण णमो सिद्धाणं णमो आयरियाणं णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं**” की रचना कर पंच परमेष्ठी को नमस्कार किया है जो मंगलाचरण के रूप में निबद्ध किया गया है। यह मंत्र शास्त्र की दृष्टि से महामंत्र है। पूर्व संचित कर्मों के विनाश का नाम मंगल है। -(ध 9/2)

मंत्र शब्द ‘मन’ धातु से ष्टन् (त्र) प्रत्यय लगाकर बनाया गया है। ‘मन्यते ज्ञायते आत्मा देशोऽनेन इति मंत्र’ अर्थात् जिसके द्वारा आत्मा का आदेश निजानुभव जाना जाए वह मंत्र है।

णमोकार मंत्र नमस्कार मंत्र है, इसमें समस्त पाप मल और दुष्कर्मों को भस्म करने की शक्ति है। इस मंत्र के उच्चारण से आत्मा में धनात्मक और ऋणात्मक दोनों प्रकार की विद्युत शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं। जिससे कर्म कलंक भस्म हो जाता है। इस मंत्र में समस्त श्रुत ज्ञान की अक्षर संख्या निहित है। जैनदर्शन के तत्त्व, पदार्थ, द्रव्य, गुण, पर्याय, नय निक्षेप, आश्रव, बन्ध आदि इस मंत्र में विद्यमान हैं। समस्त मंत्रों की मूलभूत मातृकाएँ (ध्वनियाँ) इस महामंत्र में वर्तमान हैं। (मं.मं.ब.एक अनु.)

णमोकार मंत्र में मातृका ध्वनियों का सृष्टिक्रम, स्थितिक्रम और संहारक्रम सन्निविष्ट है। इसीलिए यह मंत्र आत्म कल्याण के साथ लौकिक अभ्युदयों को देने वाला है। संहारक्रम कर्म विनाश को प्रकट करता है तथा सृष्टिक्रम और स्थिति क्रम आत्मानुभूति के साथ लौकिक अभ्युदयों की प्राप्ति में भी सहायक है।

कषायजन्य अशान्ति और बेचैनी को दूर करने के लिए नाना प्रकार के मंगल वाक्यों की प्रतिष्ठा की है। जिनके स्मरण, मनन, चिंतन और उच्चारण से शान्ति मिलती है, मन पवित्र होता है तथा आत्म कल्याण की भावना का परिस्फुरण होता है।

अर्हत भगवान दिव्य औदारिक शरीर के धारी घातिया कर्म मल से रहित अनन्त चतुष्टय से युक्त अनेक नामों से पुकारे जाते हैं। जो पूर्ण रूप से अपने स्वरूप में स्थित हैं, कृतकृत्य हैं, अष्टकर्म नष्टकर सिद्ध हुए ऐसे सिद्ध परमात्मा हैं। 12 तप, 10 धर्म, 5 आचार, 6 आवश्यक, 3 गुप्ति युक्त 36 मूलगुणों के धारी आचार्य परमेष्ठी हैं। जो संघ के नायक बन स्वरूपचारित्र में मगन रहते हैं और चौदह विद्या स्थान के व्याख्यान करने वाले उपाध्याय परमेष्ठी हैं तथा ग्यारह अंग, चौदह पूर्व के पाठी होते हैं। जो अनन्त ज्ञानादि रूप शुद्ध आत्मा के स्वरूप की साधना करते हैं, तीन गुप्तियों से सुरक्षित हैं, अठारह हजार शील के भेदों को धारण करते हैं और 84 लाख उत्तर गुणों का पालन करते हैं ऐसे साधु परमेष्ठी हैं। ऐसे पाँचों परमेष्ठियों को इस णमोकार मंत्र में नमस्कार किया गया है।

यह णमोकार महामंत्र अनादि है प्रत्येक कल्पकाल में होने वाले तीर्थंकरों द्वारा इसके अर्थ का तथा गणधरों द्वारा इसके शब्दों का निरूपण किया जाता है।

इसीलिए इस महा मंगल रूप महामंत्र को षट्खण्डागम के प्रथम खण्ड जीवट्टाण के प्रारंभ में मंगलाचरण के रूप में अंकित किया गया है। अतः धवला टीकाकार श्री वीरसेन आचार्य ने टीका में ग्रंथ रचना के क्रम का निरूपण करते हुए कहा है—

मंगल णिमित्त हेऊ परिमाणं णाम तह च कत्तारं।

वागरिय छप्पिपच्छा वक्खा णउ सत्थमाइरियो ॥

अर्थात् मंगल, निमित्त, हेतु, परिणाम, नाम, कर्ता इन छह अधिकारों का व्याख्यान करने के पश्चात् शास्त्र का व्याख्यान आचार्य करते हैं।

मंगल के दो भेद हैं। निबद्ध और अनिबद्ध अर्थात् पूर्व परंपरा से चले आए किसी मंगल सूत्र या श्लोक को अंकित निबद्ध मंगल है। तथा रचना के आदि में मंगल वाक्य बिना लिखें जो नमस्कार किया जाता है वह अनिबद्ध कहलाता है। (धवला ग्रंथ)

श्री जिनसेनाचार्य लिखते हैं—“**स्वकाव्यमुखे स्वकृतं पद्यं निबद्धम परकृतम निबद्धम्**”

अर्थात् स्वरचित मंगल अपने ग्रंथ में निबद्ध और अन्य रचित मंगल सूत्र को अपने ग्रंथ में लिखना अनिबद्ध कहा जाता है। इस आधार पर णमोकार मंत्र को अनिबद्ध मंगल कहा जायगा क्योंकि पुष्पदंत इसके रचयिता नहीं हैं उन्हें तो यह परंपरा से प्राप्त था। अतः उन्होंने इस मंगल वाक्य को ग्रंथ के आदि में अंकित कर दिया। इसीलिए वीरसेन स्वामी ने अपनी धवला टीका (1/49) में इसे अनिबद्ध मंगल कहा। आचार्य वादीभसिंह ने क्षत्रचूडामणि ग्रंथ में बताया—मरणोन्मुख कुत्ते को जीवन्धर स्वामी ने करुणावश णमोकार मंत्र सुनाया था, जिसके प्रभाव से पापाचारी श्वान देव के रूप में उत्पन्न हुआ। अतः सिद्ध है कि मंत्र आत्म शुद्धि का बहुत बड़ा कारण है।

मंगलाचरण से पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा होती है और षट्खण्डागम के सब सूत्रों से उनके पढ़ने और मनन करने रूप क्रिया में प्रवृत्त हुए जीवों के प्रतिसमय असंख्यात गुणित श्रेणी से पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा होती है। फिर मंगलाचरण की क्या आवश्यकता है ? इस विषय में ध. पु. 8 पृष्ठ 3 पर पुष्पदंत आचार्य ने कहा है कि “सूत्र अध्ययन से तो सामान्य से कर्मों की निर्जरा की जाती है किंतु मंगलाचरण से सूत्र अध्ययन में बिघ्न करने वाले कर्मों का विनाश किया जाता है क्योंकि सूत्रार्थ के ज्ञान और अभ्यास में बिघ्न उत्पन्न करने वाले कर्मों का जब तक विनाश न होगा, तब तक उसका ज्ञान और अभ्यास दोनों असंभव हैं। धवला, ग्रंथ में मंगल के पर्यायवाची नाम दिए हैं वह हैं पुण्य, पूत, पवित्र, प्रशस्त, शिव, भद्र, क्षेम, कल्याण, शुभ, सौख्य यह सब मंगल शब्द जैसे समानार्थी उद्देश्यों की ही विधा है। मंगल का तात्पर्य जो जीव को सुख और पुण्य का दाता है कर्म मलों को घातना, गलाना, विनष्ट करना, हनन करना, दहना, शुद्ध करना, विध्वंस करना, रूप में कहा गया है अर्थात् जो पुण्य लाता है, सुख लाता है वह मंगल है।

जिनेन्द्र देव का गुणगान मुख्य मंगल है तथा पीली सरसों, कलश, वंदनवार, श्वेत वर्ण दर्पण आदि अमुख्य मंगल हैं। चौदह विद्याओं के पारगामी आचार्य पुष्पदंत भूतबली मंगल कर्त्ता हैं तथा भव्य जीव मंगल करने के योग्य हैं। रत्नत्रय की साधक सामग्री मंगल का उपाय है जैसे मन, वचन, काय की एकाग्रता से अर्हतादि को स्मरण कर नमस्कार करना आदि।

पंचास्तिकाय की तात्पर्यवृत्ति में (1/5/9) मंगल के निम्न प्रकार भेद किए गये हैं-

(1) सामान्य से मंगल एक प्रकार का है। (2) मुख्य और गौण की अपेक्षा दो प्रकार का है। (3) सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र (रत्नत्रय) की अपेक्षा मंगल तीन प्रकार का है। (4) अरिहंत मंगल, सिद्ध मंगल, साधु मंगल और धर्म (केवलीपण्णत्तो धम्मो) की अपेक्षा मंगल चार प्रकार है। (5) ज्ञान दर्शन मन गुप्ति, वचनगुप्ति, काय गुप्ति (तीन गुप्ति) की अपेक्षा से 5 प्रकार का है। (6) नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा 6 प्रकार का तथा (7) जिनेन्द्र देव को नमस्कार इस रूप से मंगल अनेक प्रकार का है।

“शास्त्र के लेखन के आदि में मंगल इसलिए किया जाता है कि शिष्य शीघ्र ही शास्त्र के पारगामी हों। मध्य में मंगल करने से शास्त्र के स्वाध्याय आदि की व्युच्छिति नहीं होती और अंत में मंगल करने से विद्या व विद्या के फल की प्राप्ति होती है।” लेकिन लौकिक कार्यों के लिए मात्र आदि में ही मंगल करना चाहिए। (ध.पु. 9 पृष्ठ 4)

धवला ग्रंथ में ‘णमोकार’ रूप किये गए मंगल की निरंतर आराधना करने से जीव की सद्गति एवं परंपरा से मोक्ष गति की प्राप्ति होते देखी गई है। अतः मंगल मंत्र णमोकार मेरे आत्म कल्याण के मार्ग में मंगलाचरण के रूप में मेरा व सबका उपकार करे।

- प्रधान संपादक

‘वीतरागीवाणी’, सेल सागर,

टीकमगढ़ (म.प्र.)-472 002

धर्मस्वरूप

-प्रो. उदयचन्द्र जैन

सम्माणे असम्माणे समं
 खमेज्ज मिदुं मिदुज्जेज्ज।
 जणो जणं परिजणं स-जणं
 सहजत्ते परिच्चागेदि किण्णु त्ति
 ण चत्तेदि पदिढं। माण च आधारो 'परं' ण 'परं'
 णिय-मुण्णं। अणुव्वदीए
 पच्चक्खण-संजलण-मरणं, महव्वदोए
 संजलण-माणं ततो विणो ठाइ त्ति।
 सो खएज्ज मददव-सहावेणं च।

सम्मान और असम्मान में समता धारण करे एवं मृदुता को दर्शाए। व्यक्ति जन, परिजन एवं स्वजन को सहज रूप में छोड़ सकता है, किन्तु आत्म-प्रतिष्ठा को नहीं। मान का आधार 'पर' नहीं, अपितु 'पर' को अपना मानना है। अणुव्रती के प्रत्याख्यान, संज्वलन मान, महाव्रती के संज्वलन मान रहता है पर वह स्थायी नहीं, वह भी मार्दव गुण से छूट जाता है।

३. उत्तम-अज्जवो

उज्जुणक्षण- अज्जवं।
 उज्जगुक्षणं अकुडिलक्षणं
 अवक्कक्षणं अमाइत्तं माया-रहिदक्षणं
 च अज्जवं।

उत्तम आर्जव

ऋजुता होना/ सरल परिणाम होना आर्जव है। ऋजुता, अकुटिलता, अवक्रता, अममत्व, माया रहित्व आदि होना आर्जव है।

अज्जवो य अवक्कत्तं
 काय-वाग-मणावगं।
 जोगस्स रिजु-भावो त्ति
 माया-उदय-णिग्गहो॥
 अज्जवो रिजुभावो त्ति

अममाइत्त- अष्पणो।
 माया-मम-परिच्छागो
 अवंकं जोग- णिग्गहो॥
 रिजुभावो त्ति अज्जवो।
 रिजु त्ति सरल- परिणामो।
 मायाचार-परिणादि-रहिदो भावो
 अज्जवो।
 मोक्षुण कुडिलभावं
 णिम्मल-हिदमेण चरदि समणो।
 अज्जवधम्मो तइयो,
 तस्स दु संभवदि णियमेण॥

(बारस-अणु073)

अवक्रता, काय, वचन और मन की होना, योग का ऋजुभाव है जो माया कषाय के उदय का निग्रह भी है।

ऋजुभाव, आत्मा निर्मल भाव ममत्व रहित स्वभाव आर्जव है। माया- ममत्व का परित्याग अवक्रता एवं योग निग्रह आर्जव है। ऋजुता का भाव होना आर्जव धर्म है। ऋजु का अर्थ है सरल परिणाम। मायाचार रहित परिणति रूप भाव, आर्जव है।

जो श्रमण कुटिल भाव को छोड़कर निर्मल हित से गतिशील रहता है, उसका नियम से आर्जव धर्म है।

मायाभावो त्ति अज्जवो
 माया कुडिलभावो वंकं छलं
 कवडं च तस्स परिच्छागो त्ति
 अज्जवो माया-अभावो त्ति।
 जो चित्तेदिण वंकं,
 कुणदि ण वंकं ण जंपए वंकं।
 ण य गोवदि णियदोसे
 अज्जवधम्मो हवे तस्स॥

(कार्ति.396)

माया का अभाव होना आर्जव है-

माया का अर्थ है कुटिल वक्रता, छल एवं कपट, उसका परित्याग आर्जव है माया का अभाव है। जो न वक्र सोचता, न वक्र करता, न वक्र बोलता, और न अपने दोष को छिपाता है, उसका आर्जव धर्म होता है।

सहज-सरल-विसुद्ध-परिणामी
 सोही अत्थि। जो आद-सोही होदि

तस्स विडिदि धम्मो। सो दंसण-णाण-पहाण-आसमे
 ठिदो समासेज्ज चारित्तं सम्मचारित्तं।
 चारित्तं खलु धम्मो
 धम्मो जो सो समो त्ति णि णिदिदट्ठो।
 दंसण-णाण-चारित्तं च समो
 अप्पणो परिणामो सो।

सहज, सरल एवं विशुद्ध परिणामी सोधी होता है। जो आत्मा सोधी होता है, उसके धर्म ठहरता है। वह दर्शन, ज्ञान प्रधान आश्रम में स्थित चारित्र/ सम्यक्चारित्र की ओर प्रवृत्त होता है। चारित्र धर्म है, जो यह धर्म है वही 'सम' कहा जाता है। दर्शन, ज्ञान और चारित्र की एकरूपता का नाम सम/ समत्व है जो आत्मा का परिणाम है।

रोहेज्ज दुग्गदिं विडिढं
 जम्म-मरणं पुण पुणेव वंक परिणामेण जायदे।
 जं कि जगे मणसा वंकं चित्तेदि वयसा वंकं जप्पेदि काएण
 कुणेदि वंकं।
 तेण कारणेण तिरिच्छ-गदिं पत्तेदि।
 तच्चत्थसुत्ते पण्णेशो-माया-तिरिच्छ-जोणिणो।
 माया- छल- कपडो च
 तत्तो आसवो बंधो वित्तिरिच्छ गदीए।
 जो माया-ममत्तादिं इज्जेदि
 सो पुणो पुण जम्म-मरणं पत्तेति
 दुग्गदीए विडिढं च बेड्ढेदि।

आर्जव धर्म दुर्गति और जन्म-मरण की वृद्धि को रोकता है। पुनः पुनः जन्म-मरण वक्र परिणाम से होता है। क्योंकि इस जगत् में जो मन से वक्र सोचता है, वचन से वक्र बोलता है और काया से वक्र करता है। उस कारण से तिर्यचगति को प्राप्त होता है। तत्त्वार्थसूत्र में कहा- माया तैर्ययोनस्य 16/17) माया छल-कपट है, उससे आश्रव और बंध होता है। तिर्यचगति का। जो माया-ममत्व का आचरण करता है, वह बार- बार जन्म-मरण को प्राप्त होता है और दुर्गति की वृद्धि को बढ़ाता है।

माया – वत्थु-सरूव-अण्णधा-मुण्णं
 आद-सहावं जध तध ण मुण्णं
 ण जाणणं अण्हधा परिणमणं
 अण्हधा इच्छणं च अणंत कुडिलक्षणं।
 तम्हा कारणादु
 आद-सहावं वत्थं-सरूवं ण
 जाणेदि। आद- विपरीद-भावो वंकत्तं विरूवत्तं आदिं
 कुव्वेदि, जो अणंताणुबंधी माया-कसाय-परिणामो।

वस्तु स्वरूप का अन्यथा मानना

आत्मा का जैसा स्वभाव है, वैसा न मानना, न जानना, अन्यथा परिणामन एवं अन्यथा इच्छा करना अनंत कुटिलता है, उस कारण से आत्म स्वभाव, वस्तु स्वरूप आदि नहीं जान पाता है। आत्मा का विपरीत भाव वक्रता विरूपता आदि उत्पन्न करता है। जो अनंतानुबंधी माया कषाय का परिणाम है।

कस्मिं कियत्तु माया

मिच्छत्त-परिणाम-सहावम्हि
अणंताणुबंधी मायाए अभावो णो,
सम्मादिट्ठ जादि।
अणुव्वदी- सावगम्हि अप्पच्चक्खाण माया णो।
महव्वदिम्ह पच्चक्खाण माया भावो, संजलण-सव्भावो
जहक्खाद-चारित्तस्स संजलण मायाकसाया भावो।
जाए जाए मायाए अभावो
तेसुं अंसेसुं च अज्जवधम्मो।

किसमें कितनी माया?

मिथ्यात्व परिणाम स्वभाव वाले में अनंतानुबंधी माया का अभाव नहीं होता, अपितु सम्यक्दृष्टि के होता है। अणुव्रती श्रावक के अप्रत्याख्यान माया नहीं। महाव्रती में प्रत्याख्यान माया का अभाव होता है, संज्वलन माया कषाय का सद्भाव होता है, यथाख्यान चारित्र के संज्वलन माया कषाय का अभाव होता है। जितने अंशों में माया कषाय का अभाव है उतने अंशों में आर्जव धर्म होता है।

अज्जवधम्मज्जणस्स बहिर अविभतर- रिजुसणं।
जोगे वि तं गुणं भावे वि।
जो मणे सो वाए जो वाए सो देहे वि।
सो लेगिग लोगोत्तर- उहय-दिट्ठिणा
उज्जत्तु-भावी। तत्तो होदि असुहकम्माणं संवरो जादि।

आर्जव धर्म वाले व्यक्ति के बाहर और भीतर ऋजुता रहती है योग में ऋजुता और भाव में भी ऋजुता। जो मन में वह वचन में, जो वचन में वह तन में। वह लौकिक और लोकोत्तर दोनों दृष्टियों से ऋजुता भावी होता है। उससे अशुभ कर्मों का संवर होता है।

अज्जवधम्मी मायाचागी।
सो सम्मपउत्ती-जुत्तो
चरेदि अस्सिं लोए सुहं

आर्जव धर्मी माया का परित्यागी होता है। वह सम्यक् प्रवृत्ति युक्त इस लोक में सुख पूर्वक विचरण करता है।

सुचिधम्मो

कंखा-भाव-णिवित्तिं ॥
 कंखा आकंखा लालसा-इच्छा
 अहिलासा-गिद्धित्ति-लोहो।
 तस्स कंखाभाव-णिवित्तिं
 भासदे सुचिधम्मो।
 सुचिस्स भावो कम्मो वा सोचमिदि।

शौचधर्म

आकांक्षा के भाव से हटना शौचधर्म है। कांक्षा, आकांक्षा, लालसा, इच्छा, अभिलाषा, गृद्धि आदि लोभ के अभाव को शुचि धर्म कहते हैं।

दव्वादो णिल्लेवत्तणं परवत्थु
 कंखभाव-उवरमं परदव्व
 इच्छाभावं चं भासदे सुचिधम्मो।

शुचिता/ पवित्रता का भाव होना शौच है। द्रव्य से निर्लेपता, परवस्तु की आकांक्षा से उपरम या परद्रव्य की इच्छाभाव को नहीं करना शुचिधर्म है।

पुग्गलिक-पर-वत्थु-कंखाभावो
 लोए अत्थि सव्वाणि दव्वाणि
 सव्वे पदत्था पुग्गला तं पडि
 आकंख-विरहिदो जो होदि सो पवित्त-साहगो।
 णिल्लेवी उवरदो पर-पदत्थ-इच्छाहिंतो।

पौद्गलिक पर वस्तुओं का आकांक्षा न होना-

लोक में सभी द्रव्य, सभी पदार्थ जो पुद्गल हैं, उनके प्रति जो आकांक्षा रहित होता है, वह पवित्रसाधक, निर्लेपी एवं पर-पदार्थों की इच्छाओं से रहित है।

सम-संतोस-जलेणं जो धोवदि तिव्व-मोह-मलपुंजं।
 भोयण-गिद्धि-विहीणो तस्स सउच्चं हवे विमलं॥

(कार्तिकेयानुप्रेक्षा 397)

जो सम संतोष रूपी जल से तीव्र मोहमल समूह को धोता है जो भोजन की गृद्धता से रहित होता है उसकी विमल शौच है।

सुकोसल चरिउं पभासिदो
 जो पय संजमु सुद्धउ पालइ
 सील-सलिल-अप्पउ पक्खालइ।
 आवंतउ भवमलु पुण रुज्झइ
 सो सच्चउ पंचमगुण कुज्झइ।

(कवि रङ्गु. सं.3/15)

सुकौशल चरित्र में कहा है-जो शुद्ध संयम पद पालता है, आत्मा को शील रूपी जल से प्रक्षालित करता है और जिससे आता हुआ भवमल रुक जाता है वह शौचधर्म है।

आचार-सुद्धि-सच्चउ त्ति

सोचो सच्चउ सुचि त्ति धम्मो

आचारसुद्धिणो पमुह-कारणं।

आचार शुद्धि है शौच- शौचधर्म आचार शुद्धि का कारण है।

सम्मदंसणेया सह उक्किइ

पावण-भावणा होदि।

ममत्तादो विरदादो जो लहुत्त

भावो होदि सो आद- सुद्धं

भावं पडि णएदि।

परमगुणि- वेरग्गी

आद-विसुद्ध-साहगो।

कंखा पुण्ण-पवाहं

रोहेज्ज सुचिधम्मिणो॥

सम्यग्दर्शन के साथ उत्कृष्ट पावन भावना होती है। ममत्व से विरत होने से जो लघुता भाव होता है वह आत्मा के शुद्ध भाव की ओर ले जाता है। जो परम गुणी, वैरागी, आत्मविशुद्ध साधक आकांक्षाओं के पूर्ण प्रवाह को रोकता है, वही शुचिधर्मी होता है।

सुचिधम्मो कदा ? - शुचि धर्म कब होता है?

सुचिधम्मस्स अभावो होदि

अदितण्हाए अदिकखाए

अहिलासाए, लालासा-इच्छा-मुच्छा-

वासणा-कामणा-राग-दोस-मोह-आसत्ति-कारणादो

जत्थ अत्थि लोहो तत्थ सव्वे हुंति

दस-गुणट्ठाणं पेरंतं लोहो।

लोहंते सव्व- कसायंतो।

वेरग्ग-भावणा जादि अस्सिं अंते।

शुचिधर्म कब होता है ?

अतितृष्णा, आकांक्षा, अभिलाषा, लालसा, इच्छा, मूर्च्छा, वासना, कामना, राग, द्वेष, मोह एवं आसक्ति के कारण से शुचिधर्म का अभाव होता है जहां लोभ होता है, वहां सभी होते हैं। लोभ की समाप्ति होने पर सभी कषायों का अंत हो जाता है। वैराग्य भावना भी इसके अंत होने पर होती है।

सुचिधम्मो णो केवलं पवित्तत्तणं

उप्पज्जेदि वीदराग- भावं च

भोगोवभोग- सामगिणो अभावो
तदो णो जदो लोहो। धणोवभोगो
जत्थ होदि तत्थेव ण
अविदु देवेसु पज्जाएसु
भोगोवभोग- कंखा इंदियाहिलासा

शौच धर्म केवल पवित्र नहीं करता, अपितु वीतराग भाव को भी उत्पन्न करता है। भोगोपभोग सामग्रियों का अभाव तब तक नहीं जब तक लोभ है। लोक में धन का उपभोग जहाँ होता है देव पर्यायों में भी भोगोपभोग की आकांक्षा, इन्द्रिय अभिलाषा आदि रहती है।

विसएसु रागो पसत्थो वा
अपसत्थो वा रागो रागो त्ति।
सो उवभोग-परिभोग-रागो
इंदिय-विसएण जायदं।

विषयों में राग प्रशस्त हो या अप्रशस्त राग, राग ही है। वह उपभोग एवं परिभोग राग इन्द्रिय विषय से ही उत्पन्न होता है।

मिगो कण्णपिय-सुद्धेणं	(मृग कर्ण प्रिय शब्द से)
हत्थी फासिंदिएणं	(हाथी स्पर्शन इन्द्रिय से)
पतंगा तेज रूवेणं	(पतंगा तेज रूप से/ अग्नि से)
भमरो गंधेणं	(भ्रम गंध से)
मच्छो दु जिब्भरसेणं च	(मत्स्य जिह्वारस के लोभ से)
खीयदे जीवण-अंतं च पत्तेज्ज।	(जीवन के अंत को प्राप्त होते हैं।)
लोह- कसायंतो सुचित्तणं	(लोभ का अंत होना शुचिता है।)
पवित्रणं। एस आद-सुची।	(पवित्रता है। यही है आत्मशुद्धि।)

सुचिधम्महूस पत्ती-

णाणेण झाण-सुदेहणं
सज्झाय-तव-कम्मणा।
महव्वद- समालं के
समिदि- धम्म- धारणे॥
तव-संजम-सुद्धेणं
सुचि धम्मो सदा हवे।

शौच धर्म की प्राप्ति-

ज्ञान, ध्यान, शुद्ध भावना, स्वाध्याय एवं तपकर्म से शौच धर्म की प्राप्ति होती है। यह महाव्रतों से अलंकृत, समिति एवं धर्म के धारण पर भी तप और संयम की शुद्धता से शुचिधर्म होता है।

सच्चधम्मो-सत्यधर्म-

सच्चं अमिद-भावणा।
 स-पर-हिद-आणंदं
 परिमिद-सुपावणं।
 वयणं अमिदं तुल्लं
 सच्चं खु भगवं हवे॥
 सच्च-वासे त्ति पुण्णत्तं
 ईसरं परमं धणं
 वए सच्चं मणे सच्चं
 देहे सच्चं च साहुणो॥

सत्यधर्म:-

सत्य अमृत भावना है। स्व-पर हितकारक, आनंददायक, परिमित पावन एवं अमृत तुल्य वचन सत्य है वे भगवन् हैं। सत्य के निवास होने पर पूर्णता है, इसे ऐश्वर्य एवं परम धन भी कहते हैं। इसलिए वचन में सत्य, मन में सत्य और देह में सत्य साधुता को लाती है।

सच्चत्थे भवं वचो सच्चं।
 साहू वयणं सच्चं। तं अवितहं
 सव्वभूदत्थ पडिपत्ति-कारि-वयणं भासदे

सत्य/यथार्थ के प्रयोजन युक्त वचन होना सत्य है। उत्तम वचन व्यवहार सत्य है। उसको अवितथ, सद्भूतार्थ प्रतिपत्तिकारि वचन कहते हैं।

अत्थाणं पदत्थाणं वा जधवट्ठिद
 विवक्खिद-पडिपादणं सच्चं।

अर्थ या पदार्थों का यथावस्थित, विवक्षित प्रतिपादन होना सत्य है।

पर-संतावय-कारणवयणं
 मोत्तूण स-पर-हिद-वयणं।
 जो वददि भिक्खू तुरियो
 तस्स दु धम्मो हवे सच्चं॥

(द्वा.74)

दूसरे के संताप देने वाले वचन को छोड़कर स्वहित और परहित के वचन बोलना सत्यधर्म है।

असदहिद्धाणा दो विरदी सच्चं।

असद् अभिधान से विरति सत्य है।

सुत्तत्थ-कधणं सच्चं
 अजधज्झयणं हिदं।

स-पर-तोस-दायत्थी
अमिद-सरिसं वदे॥
पसत्थ-आद-तोसं च
दाएज्ज पुण्ण-णंदणं।

सूत्रार्थ का यथार्थ कथन, यथार्थ अध्ययन, हित युक्त एवं स्व एवं पर को आनंद देने वाले अमृत सदृश वचन सत्य कहे जाते हैं। जो वचन प्रशस्त, आत्मसंतोष एवं पूर्ण आनंद देने वाले होते हैं, वही सत्य है।

सावगाण सच्चं-

सावगो होदि अणुव्वदी,
सो हिंसजण्ण-कडु-णिट्ठर-वयणं
भासेदि णो। अण्णेसिं च रहस्सं
ण पगडेदि अविच्चु हिद-मिद
पिय वयणं बोल्लदि सव्वेसिं
संतोस-कारग-वयणं धम्म
अणुसीलण-पगासं चरेदि णिच्चं।

श्रावकों का सत्य-

श्रावक अणुव्रती होता है, वह हिंसाजनक, कटु एवं निष्ठुर वचन नहीं बोलता, दूसरों के रहस्य को प्रकट नहीं करता, अपितु वह हित-मित-प्रियवचन बोलता है, वह संतोषकारक वचन एवं धर्म अनुशीलन प्रकाशन हेतु विचरण करता है।

थूलं वयणं बोल्लेज्जा
सयं च पर-पादणं
राग-दोसेण खीयत्तो।
पाणाण रक्खदे सदा॥

जो स्वयं और दूसरे के लिए घातक स्थूल वचन नहीं बोलता, वह राग-द्वेष से रहित प्राणियों के प्राणों की रक्षा करता है।

सच्चट्ठाणं-

सरस्सदि-सुधा रूवा
वाणी हिद-मिदंकरी।
तत्तो वदेज्ज भासेज्ज
सव्वोवयारि-सारदं॥
सच्चमहव्वदो सच्च-अणुव्वदो भासासमिदी
वयण गुत्ती सच्चट्ठाणं
सुट्ठुपजुत्त-एगो त्ति
सद्दो कामगवी-समो।

वयण-संवरो साहू
 साहू लोए परंगणे॥
 दोसारोवणं दोस-भावं कलहं
 ईरिस्स जुत्त-वयणं इध लोए वि
 णो साहू भासदे। (तेसिं वयणाणं
 ठाणं णो को वि।
 हिद-मिद-पिय-सच्च-असंदिद्ध
 वयणाणं च ठाणं सब्बत्थ-ठाणं।
 पण्णावंत-साहगो विकहाओ
 विरदो भासेज्ज जं, तस्सिं सब्ब हिदो

सत्यस्थान-

सभी को उपकारी शारदा को यदि प्राप्त हैं सरस्वती सुधारूप हित मितकारी वाणी को बोले एवं उसका सभी के उपकार के लिए प्रयोग करें। सत्यस्थान हैं-महाव्रत, अणुव्रत, भावसमिति और वचनगुप्ति। एक सुष्ठु प्रयुक्त शब्द कामधेनु के समान है। वचन का संवर उचित संवर इस लोक और परलोक में भी उत्तम होता है। दोषारोपण, द्वेषभाव, कलह, ईर्ष्या युक्त वचन आदि इस संसार में भी साधु नहीं कहे जाते हैं। उन वचनों को कोई स्थान नहीं। हित, मित, प्रिय, सत्य एवं असंदिग्ध वचनों का सभी जगह स्थान है। प्रज्ञावंत साधक विकथाओं से विरत जो बोलता है सभी का हित होता है।

उत्तम-संजमो-

सावज्जविरदी संयमो।
 सावज्जो सयलइंदिय-वावारो
 तस्स विरदी सावज्ज विरदी सो संजमो।
 संजमणं संजमो चारित्त-मोह-उवसमो त्ति।
 कसाय- इंदिय-विसय-ववसायं दंडं परिहारणं च संजमो
 सम्मं समो त्ति संयमो/ संजमो
 पंचमहव्व धारणं पंचसमिदि-परिपालणं पंचविंसदि-कसाय
 णिग्गहणं माया-मिच्छा-णिदाण-दंडत्तयच्चागो
 पंचिंदियजयो संजमो।

(कार्ति. टीका 399)

उत्तम संयम-

सावद्यविरति संयम है। सावद्य का अर्थ सकल इन्द्रिय व्यापार है, उसका निरोध सावद्यविरति है वह संयम है। संयमन/ नियंत्रण करना संयम है, चारित्र मोह का उपशम होना संयम है। कषाय, इन्द्रिय विषय आदि के व्यवसाय या दंड का परिहार करना संयम है। पाँच इंद्रियजय का नाम संयम है। सम्यक् शमन होना संयम है। पाँच महाव्रत धारण, पंचसमिति पालन, पच्चीस कषाय निग्रह, माया, मिथ्या, निदान, दण्ड त्रय त्याग एवं

पञ्चेन्द्रियजय संयम है।

स-समिदि- महव्वदाणुव्वदाइं
संजमो। (धव. १/१२)
वद-समिदि- वावारे
कसाय-णिग्गही जयी।
माया-मिच्छ-णिदाणं च
चागां साहग ण-संजमो॥
सम्मदंसणं विणा ण संजमो
सम्मं जमो णियंतण-णिग्गहो संजमो।
सम्मत्त-अविणाभावी एसो।
सो सम्मदंसण-सहिदो।

सव्वमुत्ति-कारगो। मिच्छ-दिठिणो संजमो उत्तमसंजमो णत्थि। समिति, महाव्रत एवं अणुव्रत का होना संयम है। व्रत (अणुव्रत, महाव्रत) समिति के व्यापार में रत, कषाय निग्रही माया, मिथ्या एवं निदानजयी एवं त्यागी साधक के संयम है। सम्यक् यम, नियंत्रण या निग्रह होना संयम है। यह संयम सम्यक्त्व का अविनाभावी है, वह सम्यग्दर्शन सहित होता है। यह सर्व मुक्ति का उपाय है। मिथ्यादृष्टियों का संयम उत्तम संयम नहीं है।

णाणाविधसंजमेसुं च
पाणीसंजमो इंदिय संजमो।
जीवसंजमो- थावर, वियलिंदिय-पचिंदय-जीवाणं रक्खणं।
अजीवसंजमो- वत्थ, पज्ज-आसण-सेज्जादि-पोगगल-साहणाणं जदणं
आदरणं-णिक्खेवणं।

नाना प्रकार के संयमों में प्राणी संयम और इंद्रिय संयम भी है। जीवसंयम-स्थावर, विकलेन्द्रिय, एवं पाँच इंद्रिय जीवों का रक्षण। अजीव संयम-वस्त्र, पात्र, आसन, शैय्या आदि पुद्गल साधनों को यत्न पूर्वक रखना उठाना।

पेहासंजमो- अणुपेहण-पुव्वगं वत्थु-आदाण-णिक्खेवणं च उवजोगो।
उवेक्खासंजमो-सावज्ज-कज्जेसुं च उवेक्खणं तस्सिं ण अणुमोदणं भागो य।
अवहिच्चसंजमो- विहि-पुव्वगं मल-मुत्तादिपरिट्ठावणं।
पमज्जणसंजमो- जदण-पुव्वगं उवयरणाइंपमज्जणं।
वयणसंजमो- हिद-मिद-पिय-वयणं भासणं।
कायसंजमो- जदण-पुव्वगं देह चेट्ठा।
मणसंजमो- मणे णो दुब्भावो।

प्रेक्षासंयम- अनुप्रेक्षण पूर्वक वस्तुओं को रखना-उठाना एवं उपयोग करना। उपेक्षासंयम- सावद्य कार्यों में उपेक्षाभाव, उसमें भाग न लेना और न अनुमोदना करना। अपहृत्यसंयम- विधि पूर्वक मल-मूत्र आदि का परिष्ठापन। प्रमार्जन संयम- यत्नपूर्वक उपकरणों को प्रमार्जित करना। वचनसंयम- हित-मित-प्रिय-वचन बोलना। कायसंयम- यत्नपूर्वक शरीर

चेष्टा करना। **मनसंयम**-मन में दुर्भाव नहीं होना।

इंद्रियसंजमो पाणिसंजमो य।
 उहयोत्थि आद-आणंदो जदा
 सडजीवणिकाय- संरक्खणं
 कुणेदि जणो साहगो।
 मणसंजमो वयसंजमो कायसंजमो
 सम्मदंसणं विणा ण संजमो
 आदिणो संवरं कुणेति
 कम्माण आगद-पवाहं संवरेंति।
 आद-संमुही तेण कारणेण होदि।

इन्द्रियसंयम और प्राणीसंयम ये दोनों से ही आत्म आनंद तब होता है जब वह षट्काय जीव निकाय का साधकजन संरक्षण करता है। मनसंयम, वचनसंयम, उपकरणसंयम और प्रेक्षासंयम आदि संवर करते हैं। कर्मों के आगम प्रवाह को रोकते हैं। उसी से आत्मसम्मुखी होता है।

-पिऊ कुंज, अरविन्द नगर,
 उदयपुर (राजस्थान)
 शेष अगले अंक में....

गुणों में प्रतिस्पर्धा

अमेरिका के पूर्व राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन सुबह प्रतिदिन घूमने जाया करते थे। एक दिन वे घूमकर लौट रहे थे कि रास्ते में एक मजदूर ने झुककर उनको नमस्कार किया तो अब्राहम लिंकन ने उसको उससे भी ज्यादा झुककर नमस्कार किया। साथ में चलने वाले व्यक्ति ने पूँछा- आपने ऐसा क्यों किया ? आप तो राष्ट्रपति हैं। तो उनका उत्तर गौर करने योग्य है, वे बोले- मैं ये बिल्कुल बर्दाश्त नहीं कर सकता कि कोई मुझसे भी ज्यादा विनयशील हो जाये। ऐसे थे अब्राहम लिंकन।

श्रावकों को 'पुरुषार्थ देशना' की उपयोगिता

-प्राचार्य पं. निहालचंद जैन

जैनदर्शन, संसार-सृजन व संचालन में किसी एक सर्वशक्ति संपन्न संचालक की सत्ता स्वीकार नहीं करता। अपितु कुछ ऐसे समवाय या तत्त्व हैं, जिनके योग से यह जगत स्वतः संचालित है। वे तत्त्व हैं-काल, स्वभाव, नियति, पुरुषार्थ और कर्म।¹ उक्त पाँच समवायों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण-पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ-व्यक्ति को लक्ष्य तक पहुँचाता है। आत्मा का पुरुषार्थ-कर्म के बंध या क्षयोपशम का हेतु होता है। पुरुषार्थ-मानव को महामानव या आत्मा को परमात्मा बनने की दिशा में ले जाता है। पुरुषार्थहीन-साधना के मार्ग पर अवरुद्ध हो ठूँठ की भाँति खड़ा रहता है। भगवान महावीर की दिव्य देशना ने पुरुषार्थ को संयम व अध्यात्म से जोड़ने के लिए कहा।

आचार्य अमृतचन्द्र जैन वाङ्मय में प्रखर भास्वर के समान भासमान दसवीं शताब्दी के ऐसे महान आचार्य हैं, जिनका नाम आचार्य कुन्दकुन्द देव, उमास्वामी और समन्तभद्र के पश्चात् बड़े आदर के साथ लिया जाता है। 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' इनकी मौलिक रचना है। वस्तुतः यह श्रावकों की आचार-संहिता अथवा कहें कि श्रावकधर्म का महाग्रंथ है। ग्रंथ की पृष्ठभूमि में अनेकान्त व स्याद्वाद के आलोक में निश्चय व व्यवहार नय का कथन, कर्मों का कर्ता भोक्ता आत्मा, जीव का परिणमन एवं पुरुषार्थसिद्ध्युपाय का अर्थ बतलाया गया है। यह ग्रंथ पाँच भागों में विभक्त है- (1) सम्यक्त्व विवेचन (2) सम्यग्ज्ञान व्याख्यान (3) सम्यक्चारित्र व्याख्यान (4) सल्लेखना व समाधिमरण तथा (5) सकल चारित्र व्याख्यान।

गहरे गोता-खोर की भाँति जैसे कोई गहरे सागर से मोती खोजकर लाता है और मोतियों की अमूल्य व अभिराम माला बनाकर आभूषण का रूप देता है, वैसे ही आचार्य श्री विशुद्धसागर जी ने, इष्टोपदेश भाष्य का प्रणयन कर दिया। संपूर्ण 'पुरुषार्थ देशना' का स्वाध्याय और चिंतन से जो निष्कर्ष और फलश्रुतियाँ निकलीं वे श्रावकों के लिए अत्यन्त उपादेय हैं। कारण है- कि 'पुरुषार्थ देशना' की सरस सरल भाषा और कथन-शैली प्रभावक है। अनेक कथानकों और उदाहरणों से आगम-सिद्धांत को दृढ़ आधार दिया। यह केवल पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के 225 संस्कृत-पद्यों का विस्तारीकरण ही नहीं है, अपितु 16 पूर्ववर्ती आचार्यों के 36 अध्यात्म ग्रंथों के संदर्भों से विषय की पुष्टि की है। जैसे एक कुशल अधिवक्ता, न्यायाधीश के समक्ष केस से संबन्धित नजीरें देकर अपनी बात को वैधानिक जामा पहनाता है, वही काम आचार्य विशुद्धसागर जी ने इस कृति में भी अन्यान्य भाष्यकृतियों के समान प्रस्तुत किये। एक दिगम्बर संत- केवल वैदुष्य या पाण्डित्य का धनी नहीं होता, अपितु उसके साथ तप साधना की आध्यात्मिक-ऊर्जा का तेज होता है।

उस तप-बल के चिंतन से, वह आत्मानुभूति के गवाक्ष से, मूलकृति 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' के अध्यात्म अंतरिक्ष को निहारता है। इस वैशिष्ट्य के कारण हर आचार्य की कृति एक मौलिक रचना के स्वरूप में रूपायित होकर, जैनवाङ्मय के कोष में वृद्धि करता है। जिस प्रकार अमृतचन्द्र स्वामी ने 'समयसार' के ऊपर 'अध्यात्म-अमृतकलश' नाम से कुन्दकुन्ददेव के आत्मभावों को उद्घाटित कर समयसार की लौकिक और पारलौकिक संपदा का खजाना अनावृत किया, उसी तरह 'पुरुषार्थ देशना' ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के 2-2 या 3-3 पद्यों के समूह को उपशीर्षक देकर विषयवस्तु का केन्द्रीकरण कर दिया।

उक्त ग्रंथ का नाम चार पदों के समुच्चय-रूप है। पुरुष, अर्थ, सिद्धि और उपाय। पुरुष का शब्दार्थ आत्मा भी है। आत्मा के अर्थ यानी प्रयोजन की सिद्धि (प्राप्ति) के उपाय को बतलाने वाला यह अभीष्ट ग्रंथ है। आगम में चार प्रकार का पुरुषार्थ कहा गया है-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। एक श्रावक या जैन-गृहस्थ इन चारों पुरुषार्थों को साधता है। वह धर्मपूर्वक अर्थ या धनसंपत्ति का उपार्जन करता है। स्वदार संतोष व्रत को पालता हुआ स्वपरिणीता के साथ संतान की प्राप्ति के लिए कामेच्छा करता है-वह भी पुरुषार्थ में परिगणित है क्योंकि इससे श्रावक कुल की परंपरा प्रवर्तमान होती है। प्रमादवश यदि श्रावकोचित पथ से भटकता है तो श्रद्धा के सहारे पुनः मोक्षमार्ग का ज्ञान प्राप्त कर अपने अभ्यास को दुहराता रहता है। जबकि सकल चारित्रधारी मुनिराज/आचार्य, मोक्षमार्ग के पथिक होते हैं।

'पुरुषार्थ देशना' भाष्य कृति के सृजन का लक्ष्य

(1) निश्चित ही 'पुरुषार्थ देशना' के अमृत-प्रवचन के सार संक्षेप हैं जो संपादित हैं। इस दिव्य देशना के पीछे न पाण्डित्य का प्रदर्शन है और न ही ज्ञान के क्षयोपशम का वैशिष्ट्य प्रगट करना है अपितु श्रावकों के संयम-मार्ग को ज्ञानालोक से प्रकाशित करना है। मार्ग में यदि अंधकार है, तो भटकने की संभावना रहती है। प्रकाश के सद्भाव में मार्ग साफ नजर आता है। सिद्धान्त में दिखने वाली शंकाओं के अवरुद्ध को दूर कर, विरोध का निरसन करने वाले अनेकान्त व स्याद्वाद के द्वारा वस्तु-तत्त्व का निरूपण करना ही आचार्य को अभीष्ट है। आचार्य अमृतचन्द्र ने, मंगलाचरण में अनेकान्त को इसलिए नमस्कार किया कि वह जैनागम का प्राण है। आचार्य विशुद्धसागर अनेकान्त के वैशिष्ट्य को रेखांकित करते हुए कहते हैं कि यदि दृष्टि में अनेकान्त हो, वाणी में स्याद्वाद हो और आचरण में अहिंसा हो तो विश्व के विवादों का हल और शान्ति की मौजूदगी स्वयमेव हो जायेगी। श्रमण-संस्कृति के उक्त तीन सूत्र ही पुरुषार्थ सिद्धि के सशक्त साधन या उपाय हैं। जीवन में अनेकान्त की क्या व्यावहारिकता है? इसे आचार्य श्री एक जन्मान्ध के एकांगी ज्ञान का उदाहरण देते हुए समझाते हैं। वह जन्मान्ध हाथी के जिस अंग को स्पर्श कर रहा है, उसे ही संपूर्ण हाथी मान रहा है। यही अधूरा ज्ञान उसकी अज्ञानता है, जो ज्यादा घातक है। यही अधूरापन अध्यात्म की भाषा में एकान्तनय या निरपेक्ष नय कहा जाता है जो मिथ्यात्व होता है। आप्तमीमांसा में कहा है-'निरपेक्षनमो मिथ्या ॥108॥

आचार्य विशुद्धसागर जी के संबोधन में संभावना की तलाश है। वे अणु में विराट व बीज में वटवृक्ष की संभावना के विश्वासी हैं तभी तो सभी श्रोताओं को वे ज्ञानी, मुमुक्षु या मनीषी शब्द का संबोधन देते हैं।

ज्ञान को आत्मसात करने वाला ज्ञानी तथा तत्त्व का भेदविज्ञानी-मुमुक्षु या मनीषी है। ये शब्द किसी विद्वत्ता या पाण्डित्य के भी सूचक नहीं। सम्यक्त्वी अल्पाहारी भी ज्ञानी व मुमुक्षु हो सकता है और चारित्रशून्य विद्वान भी अज्ञानी है क्योंकि विद्वान के पास तोता रटन्त ज्ञान है वह आत्मसाती नहीं है। संयम का अनुशीलनकर्ता ही सही मनीषी है। सच्चा सम्यक्त्वी- चारित्रमूलक धारणाओं का विश्वासी बन जाता है।

(२) पुरुषार्थ देशना की पृष्ठभूमि के दो तथ्य-बिन्दु

आचार्य विशुद्धसागर जी कहते हैं कि यदि लोक में जीना है, तो लोक-व्यवहार बनाकर चलो। यदि लोकोत्तर होना चाहते हो तो शुद्ध सम्यक्दृष्टि बनकर लोक-व्यवहार से ऊपर उठकर आत्मा की निश्चय-दृष्टि अपनानी होगी। भावी तीर्थंकर आचार्य समन्तभद्र ऐसा ही लोकोत्तर जीव है जो लोक विनय के समय ध्यान में बैठ जाता है। जिनशासन देवी- ज्वालामालिनी प्रकट होकर कहती है-‘चिंता मा कुरु’ अपनी दृढ़ श्रद्धा से च्युत न होना और तभी समन्तभद्र राजा से बोले- ‘राजन्! यह शिवपिण्डी मेरा नमस्कार सहन नहीं कर सकेगी और जैसे ही स्वयंभूस्तोत्र का वह पद- वन्दे कहा कि पिण्डी फट जाती है और उसमें से भगवान चन्द्रप्रभ की प्रतिमा प्रगट हो जाती हैं। अंतरंग में इतनी विशुद्धता वाला आचार्य अनेकान्त व स्याद्वाद का कथन, अपने “अध्यात्म अमृत कलश” में करते हुए कहते हैं-

उभयनय विरोधध्वंसिनी स्यात्पदांगे।

जिन-वचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहाः॥४॥

जो जीव व्यवहार व निश्चय दोनों नयों की परस्पर की विरुद्धता को मिटा देने वाले स्यात् या कथंचित् पद से चिन्हित जिन-वचनों में रमण करते हैं वे स्वयं मोह का त्याग करते हुए पक्षपात रहित हो ज्योति स्वरूप शुद्धात्म स्वरूप को देखते हैं। यही स्यात् पद अपेक्षा वाचक है और विरोध का मंथन करने वाला है।

दूसरा तथ्य है जो आचार्य विशुद्धसागर जी वैज्ञानिक शैली से समझाने का प्रयास करते हैं। वह है आत्मा की बंध या निर्बंध दशा। आत्मा जब रागादि परिणमन करती है तो पुद्गल की कर्मण वर्गणाएँ- ज्ञानावरणादिक द्रव्य कर्मों में परिणत कर बंध दशा को प्राप्त होती है तथा कर्म के निमित्त को पाकर जीव रागादि भावों को प्राप्त होता है। इन दोनों द्रव्यों में यह क्रियावती शक्ति पाई जाती है।

वस्तुतः चैतन्य विद्युत् तरंगों, इस शरीर रूपी मशीन से काम करा रही हैं। चैतन्य बिजली चली गयी तो मशीन धरी की धरी रह गयी। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं बिना व्यवहार के हम परमात्मा को नहीं समझ सकते। इसी प्रकार बिना पुद्गल के संयोग से हम आत्म द्रव्य को नहीं समझ सकते। मोबाइल की सिद्धि जैनागम से होती है। तीर्थंकर ने जन्म

लिया तो स्वर्ग के सौधर्म इन्द्र का मुकुट हिलने लगा और नरक के नारकी क्षणभर के लिए शांति का अनुभव करने लगे। यह पुण्य वर्गणा ने प्रभाव दिखाया, भले ही स्वर्ग या नरक में कोई मोबाइल नहीं रखा था। पुद्गल वर्णणाएं अपना काम कर रही हैं।³ इस प्रकार जैसे आत्मा के परिणाम कर्मवर्णणाओं को कर्म रूप परिणमित होने में निमित्त बने वैसे ही रागद्वेष रूप परिणमन कराने में कर्म निमित्त मात्र हैं। ऐसा निमित्त नहीं मानोगे तो सिद्धों को भी सिद्धालय से वापिस आना पड़ेगा।

(3) 'पुरुषार्थ देशना' श्रावकों के अष्टमूलगुण और रत्नत्रय धर्म पालन करने का एक संपूर्ण आचरण-भाष्य ग्रंथ है। वस्तुतः उपदेश तो महाव्रत धारण करने का दिया जाता है अतः सकल चारित्र का अध्याय भी इसमें समाहित है परन्तु जीव के कल्याण हेतु क्रमिक देशना का व्याख्यान करना और छिपे अध्यात्म रहस्यों को अनावृत करना इसका अभीष्ट लक्ष्य है। यह एक नैतिक कहावत है कि पाप से घृणा करो पापी से नहीं। योगी का उपदेश केवल वचनात्मक नहीं होता वह अपने साधुत्व स्वभाव से बड़े से बड़े व्यसनी को सुमार्ग पर लगा देते हैं। आचार्य शांतिसागर धन्य हैं जिन्होंने एक महाउपद्रवी व्यसनी को योगी बना लिया। घटना एक नगर प्रवेश के समय की थी वही व्यसनी आचार्य श्री के सम्मुख आ खड़ा हुआ। लोग किंचित् चिंतित हो गये कि अब यह क्या करने वाला है? आचार्य श्री ने देखा और अपना कमण्डलु पकड़ा दिया इतना ही नहीं प्रवचन सभा में उसे अपने बगल में बिठा लिया। हृदय-परिवर्तन के लिए आचार्य श्री की यह अचूक दृष्टि- कि वह नवयुवक सप्त व्यसनी, सभा के बीच खड़ा हो गया और जीवनपर्यन्त के लिए अखण्ड ब्रह्मचर्य का व्रत लेने के लिए प्रार्थना करने लगा। आचार्य श्री ने आशीर्वाद दे दिया। संत हृदय असंत में भी संत खोज लेते हैं। वही आगे चलकर आचार्य संघ में मुनि पायसागर और बाद में आचार्य पायसागर बन गये। उपद्रवी में भी भगवान बैठा है। क्या मरीचि का जीव कम उपद्रवी था जिसने 363 मिथ्या मत चलाये बाद में वही भगवान महावीर बने। आवश्यकता है-अन्वेषण दृष्टि की।

(4) पुरुषार्थसिद्ध्युपाय का केन्द्र विषय वस्तु सम्यक्चारित्र के अन्तर्गत पंचव्रतों में अहिंसा व्रत का वर्णन प्रमुख है। आचार्य अमृतचन्द्र ने हिंसा/अहिंसा की व्याख्या लगभग 40 पद्यों में (श्लोक 43 से 86) करते हुए झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह में भी हिंसा पाप होना बताया। आचार्य विशुद्धसागर ने विविध उदाहरणों और कथानकों से हिंसा की व्यापकता को उल्लिखित किया। आचार्य अमृतचन्द्र ने रागादि भावों के सद्भाव में भले ही द्रव्य हिंसा न हो रही हो परन्तु भाव हिंसा का सद्भाव बताया है⁴ तथा कई अपेक्षाओं से हिंसा/अहिंसा का विवेचन किया है:-

- (1) एक व्यक्ति हिंसा का पाप करता है और अनेक व्यक्ति उसका फल भोगते हैं।
- (2) अनेक व्यक्ति हिंसा करते हैं परन्तु एक व्यक्ति फल भोगता है।⁵
- (3) हिंसा करने पर भी (अप्रमाद अवस्था में) अहिंसक बना रहता है।
- (4) प्राणघात न करने पर भी हिंसक हो जाता है।

हिंसा/अहिंसा के दायरे को 'पुरुषार्थ देशना' में बहुत खुलासा करके समझाया गया है। आचार्य विशुद्धसागर भाव हिंसा व द्रव्य हिंसा का स्वरूप बताते हुए कहते हैं कि मुमुक्षु उभय हिंसा का त्यागी होता है। श्रावकों को सचेत करते हुए कहते हैं कि आप लोग निष्प्रयोजन भाव हिंसा करते रहते हैं। किसी सीरियल में किसी का घात हो गया और अनुमोदना करते हुए आपने ताली बजा दी या शत्रु देश के हताहत सैनिकों के लिए खुशी जाहिर की तो आपने अकारण ही भाव हिंसा कर ली। इसी प्रकार कषाय रूप परिणामों से भले ही परघात नहीं किया परन्तु अपने स्वभाव का घात करने से आप हिंसक है।

स्वयंभूरमण समुद्र का महामच्छ जब छह माह सोता है तो उसके 250 योजन के खुले मुख में अनेक जीव आते जाते रहते हैं। उसके कान में बैठा एक तन्दुलमच्छ सोचता है यदि मुझे ऐसी शरीर की अवगाहना मिली होती तो एक को भी नहीं छोड़ता। तन्दुलमच्छ अपने कलुषित भावों के कारण हिंसा का इतना बंध कर लेता है कि मरकर सातवें नरक जाता है। जीव की परिणति देखिए- बिना सताये अपने प्रमाद भावों के कारण कितनी हिंसा कर लेता है कि वर्तमान में संयम धारण करने के परिणाम नहीं हो पा रहे हैं। कषाय से युक्त जीव अपनी आत्मा का पहले घात करता है क्योंकि अंगार को हाथों से फेकने वाले के हाथ पहिले जलते हैं भले ही दूसरा जले या न जले।

अहिंसा का पालन करने वाला वस्तुतः दूसरे की नहीं, बल्कि स्वयं की रक्षा कर रहा है। जो स्वयं की रक्षा के भाव में जीता है, वह पर की रक्षा तो कर ही रहा है। आप संभल संभल के चलेंगे तो जीवों की रक्षा स्वयमेव हो जायेगी। आचार्य कहते हैं तू दूसरे के उपकार का कर्ता बनकर अहंकार मत करना। अपने उपकार की बात बताकर यदि उसके मन को दुःखी किया तो वह हिंसा है। उपकार करना है तो बिना बताये, जैसा अमरचन्द्र दीवान ने एक गरीब वृद्धा माँ की, की थी। जिसके घर में खाने का अनाज भी नहीं था।

- बीना (म.प्र.)

राष्ट्र कल्याण में श्रावक की भूमिका

- डॉ. सुरेन्द्र कुमार जैन

जैनधर्मानुसार व्रतधारियों की दो कोटियाँ हैं- (1) महाव्रती-मुनि, और (2) अणुव्रती श्रावक।¹ श्रावक वह सद्गृहस्थ होता है जो सप्त व्यसनों का त्यागी, अष्ट मूलगुणधारी और पंच-अणुव्रतों का पालक होता है। उसका आचरण शास्त्र सम्मत एवं स्वपर हितैषी होता है।

द्यूत, (जुआ खेलना), मांस भक्षण, मद्य (मदिरापान), वेश्यासेवन, शिकार, चोरी और पर-स्त्री सेवन; ये सात व्यसन हैं।²

मद्य, मांस, मधु का त्याग और अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, परिग्रहपरिमाणानुव्रत और ब्रह्मचर्याणुव्रत; ये अष्ट मूलगुण हैं।³

अन्यत्र मद्य-मांस-मधु का त्याग, रात्रि भोजन त्याग, पंच उदुम्बर फलों का त्याग, देव वंदना, जीव दया करना और पानी छान कर पीना आदि को अष्टमूल गुणों में सम्मिलित किया गया है।⁴

अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, परिग्रहपरिमाणानुव्रत और ब्रह्मचर्याणुव्रत; ये पाँच अणुव्रत कहे गये हैं।⁵

सागार धर्माभूत की टीका में आया है कि “श्रणोति गुर्वादिभ्यो धर्मम् इति श्रावकः”⁶ अर्थात् जो गुरुओं से धर्म को सुनता है वह श्रावक है। वह धर्म को सुनता है, धारण करता है और आचरण भी करता है। महाभारत के अनुसार:-

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम्।

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥⁹

अर्थात् धर्म के सार को सुनो और सुनकर धारण (ग्रहण) करो। अपने से प्रतिकूल आचरण (व्यवहार) दूसरों के साथ भी नहीं करना चाहिए।

श्रावक इस कसौटी पर खरा उतरने का प्रयास करता है। वह धर्म को सुनता है, हित-अहित रूप विवेक से युक्त होता है और क्रियाओं में पाप से विरत होता है।

श्रावक का जीवन जीने वाला स्वयं का उपकार करता है और राष्ट्र का भी हित साधन करता है। जिनेन्द्रभगवान की वाणी पर अमल करते हुए चलने वाला श्रावक अपने चरित्र और सत्कार्यों से राष्ट्र को उन्नत बनाता है। ‘दर्शनप्राभूत’ में कहा है कि-

“जिणवयण मोसहमिणं विसयसुहविरेयणं अमियभूयं।

जरामरणवाहिहरणं खयकरणं सव्वदुक्खाणं॥”¹⁰

अर्थात् जिन भगवान् की वाणी परमौषधिरूप है। यह विषय सुख का त्याग कराती है। यह अमृत रूप है। जरा-मरण व्याधि को दूर करती है तथा सर्व दुखों का क्षय करती है।

इसीलिए पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है कि-

“आत्मा प्रभावनीयः रत्नत्रयतेजसा सततमेव।”

दानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैश्च जिनधर्मः⁹

अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक् चरित्र रूप रत्नत्रय के तेज द्वारा अपनी आत्मा को प्रभावित करे तथा दान, तपश्चर्या, जिनेन्द्रदेव की पूजा एवं विद्या की लोकोत्तरता के द्वारा जिनशासन के प्रभाव को जगत् में फैलावे।

जैन श्रावक मात्र जीता नहीं है। बल्कि आदर्श को सामने रखकर, आदर्शों का अनुकरण करते हुए आदर्श जीवन जीता है। आदर्श जीवन वह है जिसमें अधिकारों की अपेक्षा नहीं और कर्तव्यों की उपेक्षा नहीं हो। वह स्वयं संत नहीं है, किन्तु संतभाव उसमें समाया होता है। वह संत समागम के लिए सदैव लालायित रहता है। सत्संगति में चित्त को लगाता है। सत्संगति के लाभ के विषय में कहा गया है कि-

हन्ति ध्वान्तं हरयति रजः सत्तवमाविष्करोति,

प्रज्ञां सूते वितरति सुखं न्यायवृत्तिं तनोति।

धर्मे बुद्धिं रचयति तरां पापबुद्धिं धुनीते,

पुंसां नो वा किमिह कुरुते संगतिः सज्जनानाम्॥¹⁰

संत समागम के द्वारा तमोभाव नष्ट होता है, रजोभाव दूर होता है, सात्त्विक वृत्ति का आविष्कार होता है, विवेक उत्पन्न होता है, सुख मिलता है, न्यायवृत्ति उत्पन्न होती है, धर्म में चित्त लगता है तथा पापबुद्धि दूर होती है अतः साधुजन की संगति द्वारा क्या नहीं मिल सकता ?

नीति भी कहती है कि-

संत समागम हरिभजन, तुलसी दुर्लभ दोय।

सुत, दारा और लक्ष्मी, पापी के भी होय॥

किसी भी राष्ट्र का कल्याण उसके निवासियों के उन्नत चरित्र से ही हो सकता है। जैन श्रावक चरित्रवान् होता है। वह हीन आचरण को पापार्जन का कारण मानकर छोड़ देता है।

राष्ट्र की आत्मा सह-अस्तित्व की भावना में बसती है। जहाँ वेदों में- “संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्” कहा गया वहीं जैन ग्रंथों में ‘परस्परपग्रहो जीवानाम्’¹¹ अर्थात् परस्पर उपकार करना जीव का स्वभाव है; कहकर सह-अस्तित्व की भावना सुनिश्चित कर दी। भगवान महावीर ने कहा कि जैन श्रावक स्थूल-हिंसा का त्यागी होगा, अहिंसाणुव्रती होगा। भगवान महावीर की दृष्टि विशाल थी अतः उन्होंने अहिंसा के दायरे में मात्र मानव को ही नहीं लिया अपितु प्राणी मात्र को लिया। द्रव्यहिंसा के साथ भावहिंसा के त्याग की बात कही। वास्तव में वे जीवमात्र के हितैषी थे। यदि जीवों का हित नहीं होगा तो राष्ट्र का भी हित कैसे होगा? वे कहते हैं -

जीव वहो अप्प वहो, जीवदया अप्पणो दया होइ।
 ता सव्व जीवहिंसा परिचत्ता अत्तकामेहिं॥
 जह ते न पियं दुक्खं आणिय एमेव सव्वजीवाणं।
 सव्वायरमुवउत्तो अत्तोवम्मेण कुणसु दयं॥

अर्थात् जीव का वध करना अपना ही वध करना है, जीवों पर दया करना अपने पर दया करना है अतः सभी जीवों की हिंसा अपने ही प्रिय की हिंसा समझना चाहिए। जैसे तुम्हें दुःख प्रिय नहीं है वैसे ही अन्य सभी जीवों को दुःख प्रिय नहीं है अतः सब प्राणियों पर आत्मौपम्य दृष्टि दयाभाव रखना चाहिए।

जिस तरह जंगल अकेले सुगन्धित फूल युक्त पेड़-पौधों का नाम नहीं है, अपितु उसमें तीक्ष्ण कांटों वाले पेड़ भी सम्मिलित होते हैं उसी तरह राष्ट्र भी एक जैसे लोगों से नहीं बनता। यहाँ अच्छे होते हैं तो बुरे भी, धार्मिक होते हैं तो अधार्मिक भी। काम करने वाले होते हैं तो कामचोर भी। इसलिए मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थभाव अपेक्षित है। जैन श्रावक आचार्य अमितगति के सामायिक पाठ को प्रतिदिन पढ़ता है और इन भावनाओं का अनुशरण भी करता है-

सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं,
 क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वं।
 माध्यस्थभावं विपरीत वृत्तौ,
 सदा ममात्मा विदधातु देव ॥^{१२}

अर्थात् प्राणीमात्र के प्रति मैत्री भाव, गुणीजनों के प्रति प्रमोदभाव, दुःखी और क्लेशयुक्त जीवों के प्रति करुणा (कृपा) भाव तथा प्रतिकूल विचार वालों के प्रति माध्यस्थ भाव रखें। हे देव! मेरी आत्मा सदा ऐसे भाव धारण करे।

‘मेरी भावना’ में भी पढ़ते हैं कि-

मैत्री भाव जगत् में मेरा सब जीवों से नित्य रहे
 दीन दुःखी जीवों पर मेरा उर से करुणास्रोत वहे॥
 रहे सदा सत्संग उन्हीं का ध्यान उन्हीं का नित्य रहे
 दुर्जन क्रूर कुमार्गगतों पर क्षोभ नहीं मुझको आवे।
 गुणीजनों को देख हृदय में मेरे प्रेम उमड़ आवे
 बने जहाँ तक उनकी सेवा करके यह मन सुख पावै॥^{१३}

श्रावक की सद्भावना राष्ट्र और जन-कल्याण की होती है। उसे राष्ट्र के हित में सर्व और स्वयं का हित दृष्टिगोचर होता है अतः वह भावना भाता है कि-

संपूजकों को प्रतिपालकों को, यतीनकों औ यतिनायकों को।
 राजा प्रजा राष्ट्र सुदेश को ले, कीजे सुखी हे जिन शान्ति को दे॥
 होवे सारी प्रजा को सुख, बलयुत हो धर्मधारी नरेशा।
 होवे वर्षा समय पै, तिलभर न रहे व्याधियों का अंदेशा॥

**होवे चोरी न जारी, सुसमय बरते, हो न दुष्काल मारी।
सारे ही देश धारें, जिनवर वृष को, जो सदा सौख्यकारी॥^{१४}**

-हे जिनेन्द्रदेव ! आप पूजन करने वालों को, रक्षा करने वालों को, सामान्य मुनियों को, आचार्यों को, देश, राष्ट्र, नगर, प्रजा और राजा को सदा शान्ति प्रदान करें। सब प्रजा की कुशल हो, राजा बलवान और धर्मात्मा हो, मेघ (बादल) समय-समय पर वर्षा करें। सब रोगों का नाश हो, संसार में प्राणियों को एक क्षण भी दुर्भिक्ष, चोरी, अग्नि और बीमारी आदि के दुःख न हों और सब संसार सदा जिनवर धर्म को धारण करे, जो सदैव सुख देने वाला है।

कहते हैं कि अर्थ अनर्थ की जड़ होता है जबकि बिना अर्थ के न राष्ट्र समृद्ध होता है और न ही उसका कल्याण होता है। विश्व मंच पर अर्थहीन राष्ट्र अपना प्रभाव, अपनी उपस्थिति भी प्रभावी तरीके से व्यक्त नहीं कर पाते हैं। श्रावक जहाँ 'अर्थमनर्थ भावय नित्यं' की नीति पर चलता है वहीं अर्थपुरुषार्थ में प्रयत्नशील भी होता है। वह अर्थ को आवश्यक मानता है ताकि आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। फेडरिक बेन्थम ने 'अर्थशास्त्र' में लिखा है कि-

"But it is quite impossible to provide every body with a many consumet's goods, that is with as high standard of living as he would like, If all persons were like Jains-members of an Indian sect, who try to subdue and extinguish ther physical desires, it might be done. If consumer's goods descended frequently and in abounance from the heavens, it might be done. As things are it cannot be done."¹⁵

अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति को सभी सेव्य पदार्थों की प्राप्ति हो सके, अर्थात् उसकी इच्छानुसार उसका जीवन स्तर दिया जाए; यह संभव नहीं है। हाँ ! यदि सभी लोग जैन सदृश होते तो यह संभव था, कारण भारतीयों के जैन नामक वर्ग में अपनी भौतिक आकांक्षाओं को संयत करना तथा उनका निरोध करना पाया जाता है। दूसरा उपाय यह होगा कि यदि दिव्यलोक से बहुधा तथा विपुल मात्रा में भोग्य पदार्थ आते जावें तो काम बन जाए; किन्तु वस्तुस्थिति को दृष्टि में रखते हुए ऐसा नहीं किया जा सकता है।

जिनके हाथों में अर्थशास्त्र होता है वे धर्मशास्त्र नहीं समझते। लेकिन यह भी सच है कि बिना धर्मशास्त्रों के अर्थशास्त्रों को नियंत्रित नहीं किया जा सकता। अर्थ का उपार्जन भी न्याय, नीति एवं धर्मसम्मत होना चाहिए वरना वह पाप की श्रेणी में आयेगा। ऐसा अर्थ राष्ट्र का भला नहीं कर सकता। आज अर्थ संपन्नता को ही संस्कृति संपन्नता मान लिया गया है जो उचित नहीं है।

डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने 'विश्वमित्र' के दीपावली अंक दि. 21/10/49,-16 में लिखा था कि-"आधुनिक सभ्यता आर्थिक बर्बरता की मंजिल पर है। वह तो अधिकांश रूप में संसार और अधिकार के पीछे दौड़ रही है और आत्मा तथा उसकी पूर्णता की ओर ध्यान देने की परवाह नहीं करती है। आज की व्यस्तता, वेगगति और नैतिक विकास इतना

अवकाश ही नहीं लेने देती कि आत्म विकास के द्वारा सभ्यता के वास्तविक विकास का काम कर सके।¹⁶ आत्म विकास के लिए ही जैन श्रावक को कहा जाता है कि-

न्यायापात्तधनो यजन्गुणगुरुन् सद्गोस्त्रिवर्गं भज
नन्योनुगुणं तदर्हगृहिणी-स्थानालयो द्वीमयः।
युक्ताहारविहारआर्यसमितिः प्राज्ञः कृतज्ञो वशी,
श्रण्वन्धर्म विधिं, दयालुरघभीः सागारधर्म चरेत्॥¹⁷

अर्थात् न्याय से धन कमाने वाला, गुणों को, गुरुजनों को तथा गुणों में प्रधान व्यक्तियों को पूजने वाला, हित-मित-प्रिय बोलने वाला, धर्म-अर्थ-काम रूप त्रिवर्ग को परस्पर विरोध रहित सेवन करने वाला, त्रिवर्ग के योग्य स्त्री, ग्राम और मकान सहित लज्जावान्, शास्त्रानुकूल आहार और विहार करने वाला, सदाचारियों की संगति करने वाला, विवेकी, उपकार का जानकार, जितेन्द्रिय, धर्म की विधि को सुनने वाला, दयावान् और पापों से डरने वाला व्यक्ति सागार धर्म का पालन कर सकता है।

राष्ट्र के सामने आज की सबसे बड़ी समस्या काले धन (अनीति का धन) और आतंकवाद की है। श्रावक इस दृष्टि से राष्ट्र का सबसे बड़ा हितैषी है क्योंकि वह न्याय से धन कमाता है और हिंसा से दूर रहता है। वह न किसी की हिंसा करता है, न हिंसा करने के भाव मन में या मुख पर लाता है। यह कहाँ की नीति है कि दूसरों को मारो या दूसरों को मारने के लिए स्वयं मर जाओ। मानव बम की अवधारणा किसी भी दृष्टि से उचित नहीं है। ऐसे व्यक्ति के विवेक को क्या कहें जो दूसरों को मारने के लिए खुद मरता है। यह स्थिति किसी भी राष्ट्र के लिए उचित नहीं कही जा सकती। नागरिक अधिकार एवं राष्ट्र धर्म भी इसे उचित नहीं मानता। जैन श्रावक के लिए तो स्पष्ट विधान है कि-

जं इच्छसि अप्पणतो जं च ण इच्छसि अप्पणतो।
तं इच्छ परस्सवि य एत्तिगं जिणसासणं॥

अर्थात् जैसा तुम अपने प्रति चाहते हो और जैसा तुम अपने प्रति नहीं चाहते हो, दूसरों के प्रति भी तुम वैसा ही व्यवहार करो; जिन शासन का सार इतना ही है।

आज यदि इस नीति पर समाज या देशवासी चल रहे होते तो आतंकवाद जैसी समस्या का जन्म ही नहीं होता। आतंकवाद के मूल में पद, धन और प्रतिष्ठा है जबकि श्रावक स्वपद चाहता है, सत्ता प्रतिष्ठान नहीं। श्रावक वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना रखता है। जबकि अन्य का सोच वैसा ही हो; यह जरूरी नहीं। आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज ने लिखा है कि-

‘वसुधैव कुटुम्बकम्’
इसका आधुनिकीकरण हुआ है।
वसु यानी धन-द्रव्य
धन ही कुटुम्ब बन गया है
धन ही मुकुट बन गया है जीवन का¹⁸

अर्थ की बढ़ती लालसा ने अर्थ और परमार्थ दोनों को ही छला है। अर्थ के लिए हिंसक संघर्ष आम बात हो गई है। हिंसा का अर्थ के लिए उपयोग सही नहीं है। आज सरकारें बदलने के लिए धनबल और बाहुबल का सहारा लिया जाने लगा है जबकि लोकतंत्र में जनबल ही सर्वोपरि होता है। इस अनर्थ से अर्थ का प्रलोभन दूर होने पर ही बचा जा सकता है। आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज लिखते हैं कि- यह कटु सत्य है कि

“अर्थ की आँखें
परमार्थ को देख नहीं सकती
अर्थ की अर्थ की लिप्सा ने बड़ों-बड़ों को
निर्लज्ज बनाया है।”^{१९}

श्रावक अर्थ का संचय अपनी आवश्यकताओं के अनुसार ही करता है। वह धनादिक पदार्थों को ही नहीं घटाता अपितु अपनी आवश्यकताओं को भी कम करता जाता है ताकि उसके संचित साधन अन्य के काम आ सकें। इसीलिए वह अपनी स्वअर्जित संपत्ति में से निरंतर दान किया करता है। यह दान राष्ट्र के कल्याण में सहायक बनता है। राष्ट्र के दीन-दुखी प्राणियों को अभय प्रदान करता है।

तत्त्वार्थसूत्र²⁰ में आचार्य उमास्वामी ने अणुव्रतों के अतिचारों का वर्णन किया है जिनसे जैन श्रावक बचता है। जैन श्रावक जहाँ अहिंसाणुव्रत के रूप में बंध, वध, छेद, अतिभारारोपण एवं अन्नपाननिरोध से बच कर प्राणियों को अभय दान देता है।

सत्याणुव्रत के रूप में मिथ्या उपेक्ष, रहोभ्याख्यान, कूट लेख क्रिया, न्यासापहार और साकार मंत्र भेद से बचता है।

अचौर्य अणुव्रत के रूप में-स्तेन प्रयोग (चोर को चोरी करने की स्वयं प्रेरणा करना, दूसरे से प्रेरणा करवाना, कोई चोरी करता हो तो उसकी सराहना करना, चोरी का उपाय बताना), तदाहतादान (चोरी का माल खरीदना), विरुद्ध राज्यातिक्रम (राज नियम के विरुद्ध कर चोरी करना), हीनाधिक मानोन्मान (बेचने और खरीदने, तोलने और बेचने तथा नापने आदि के बाट, तराजू और कम या अधिक माप या वजन के रखना), प्रतिरूपक व्यवहार (कीमती वस्तु में कम कीमती की वस्तु मिलाना) आदि कार्यों को चोरी मानता है और इन्हें कभी नहीं करता है।

ब्रह्मचर्य अणुव्रत के रूप में वह मात्र अपनी विवाहिता स्त्री से ही भोग करता है शेष स्त्रियों में माता, बहिन और पुत्री के समान व्यवहार करता है। आज भारतीय समाज जिस बलात्कार जैसी धिनौनी समस्या से ग्रस्त है यदि समाज श्रावकोचित ब्रह्मचर्य अणुव्रत को अपना ले तो इस बीमारी से सदा के लिए मुक्त हो सकता है और एड्स जैसी घातक बीमारी से भी बच सकता है।

परिग्रह परिमाण अणुव्रत के रूप में वह अपने परिग्रह को सीमित रखता है और शेष का दान करता है। इस तरह जैन श्रावक के यह पाँचों व्रत राष्ट्र कल्याण में किसी न किसी

रूप में कल्याणकारी सहायक सिद्ध होते हैं।

अनर्थदण्ड व्रत के विषय में छहढाला में पं. दौलतराम जी ने कहा है कि-

काहू की धन हानि किसी जय-हार न चिंतै।
 देय न सो उपदेश होय अघ बनज कृषीतें॥
 कर प्रमाद जल भूमि वृक्षा पावक न विराधे।
 असि धनु हल हिंसोपकरण नहिं दे यश लाधे॥
 राग-द्वेष करतार कथा कबहुं न सुनीजे।
 औरहु अनरथ दंड हेतु अघ तिन्हें न कीजे॥^{१९}

जिन कार्यों से कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होते हैं वे क्रियाएं अनर्थ कहलाती हैं। मन, वचन, काय रूप योगों की प्रवृत्ति को दण्ड कहते हैं। अतः मन, वचन, काय से ऐसी कोई क्रिया या विचार नहीं करना जिससे पाप की स्थिति बनती हो। यह स्थिति अनर्थदण्ड विरति (व्रत) में होती है।

अनर्थदण्ड के पाँच भेद बताये गये हैं-

- 1- **अपध्यान**- किसी के धन के नाश का, किसी की जीत और किसी की हार का विचार नहीं करना।
- 2- **पापोपदेश**- जिसमें पाप बंध अधिक होता है; ऐसे खेती, व्यापार आदि करने का उपदेश नहीं देना।
- 3- **प्रमाद चर्या**- बिना प्रयोजन पानी बहाने, पृथ्वी खोदने, वृक्ष काटने और जलाने का त्याग करना।
- 4- **हिंसादान**- यश की चाह से तलवार, धनुष, हल आदि हिंसा के उपकरण दूसरों को नहीं देना।
- 5- **दुःश्रुति**- जिन कथा-कहानियों के सुनने से मन में राग-द्वेष उत्पन्न होता है, उनको नहीं सुनना।

इन पाँच अनर्थदण्डों के अतिरिक्त और जो भी पाप के कारण अनर्थदण्ड हैं उन्हें भी नहीं करना चाहिए।

आज के परिदृश्य में अनर्थदण्डों की स्थिति चरम सीमा पर है। छोटे विचारों से व्यक्ति व्यथित भी होते हैं; किन्तु करते भी हैं जिस पर रोक लगनी चाहिए।

एक बार एक समाज शास्त्री से किसी ने पूछा कि लोग दुःखी क्यों हैं? तो उत्तर आया कि नब्बे प्रतिशत तो इसलिए दुःखी हैं कि उनका पड़ोसी सुखी क्यों है ? हम भले ही वैश्विक हो गये हों किन्तु इससे अपध्यान की स्थिति भी बढ़ी है। युद्धों की स्थिति आते ही हम युद्धविराम के स्थान पर किसी की जीत किसी की हार के पक्ष में खड़े हो जाते हैं। व्यापार के नाम पर पापोपदेश खूब चल रहा है। अब व्यावसायिक हिंसा को लोग हिंसा नहीं मानते। प्रमाद चर्या भी बढ़ी है। भूमि खनन, वृक्षों की कटाई और जल का अपव्यय बहुत होने लगा है। हिंसा के उपकरण बनाये भी जा रहे हैं और बेचे भी जा रहे हैं। परिणामों

से बेखबर हम, हमारा समाज और हमारी सरकारें हिंसा की निंदा करते हैं किन्तु प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष हिंसा को बढ़ावा देती हैं। खोटी कथा कहानियां रोज छप रही हैं और लाखों की संख्या में वितरित भी हो रही हैं।

पत्र पत्रिकाएं राग-द्वेषात्मक कथाओं से पटी पड़ी हैं जिनके कारण हिंसा, चोरी, कुशील आदि पापों में निरंतर बढ़ोत्तरी हो रही है। यह सब कार्य राष्ट्र विरोधी हैं अतः जो श्रावक इन अनर्थ दण्डों को नहीं करता है वह राष्ट्र कल्याण में अपना महत्वपूर्ण योगदान देता है।

श्रावक व्यसन मुक्त जीवन जीता है। वह नशीली वस्तुओं-शराब, चरस, गांजा, अफीम, हेरोईन, बीड़ी-सिगरेट, मांस, मधु से दूर रहता है। आज मद्य सब जगह उपलब्ध है। दूध मिलना भले ही दूभर हो गया हो।

मांस के लिए हमारे पशुधन को नष्ट किया जा रहा है जिससे खेती और पर्यावरण को भारी नुकसान हो रहा है। मांस के लिए अनाज की बलि दी जा रही है। जो उचित नहीं है।

जैन श्रावक इन विकृतियों से दूर रह कर राष्ट्र का बहुत बड़ा कल्याण करता है। शराब के नशे में होने वाले हिंसक व्यवहार के कारण प्रति वर्ष करोड़ों रुपयों की हानि होती है। जन हानि भी होती है जैन श्रावक विवेकी होता है जिसका उद्देश्य नुकसान करना नहीं, बल्कि नुकसान बचाना होता है। वह समाज का, प्रकृति, पर्यावरण एवं राष्ट्र का सबसे बड़ा हितैषी होता है।

जैन श्रावक का भाव, वचन और क्रियाएँ ऐसी होती हैं जिन से किसी को कोई कष्ट न हो अतः इनका संबन्ध राष्ट्र कल्याण से ही जुड़ जाता है। मेरी तो यही कामना है कि प्रत्येक भारतवासी को श्रावक धर्म अपनाना चाहिए ताकि सहज ही राष्ट्र कल्याण हो सके।

संदर्भ-

1. आचार्य उमास्वामी: तत्त्वार्थ सूत्र 7/2
2. सागारधर्माभूत
3. मद्य मांस मुध त्यागै: सहाणुव्रत पंचकम्।
अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः॥
-आचार्य समंतभद्र: रत्नकरण्ड श्रावकाचार-66
4. मद्यमल मधुनिशाशन-पंचफलीविरति-पंचकाप्तनुती।
जीवदयाजलगालनमिति च क्वचिदष्टमूलगुणाः॥
-पं. आशाधर : सागारधर्माभूत-2/18
5. आचार्य उमास्वामी : तत्त्वार्थसूत्र
6. पं. आशाधर: सागारधर्माभूत टीका-1
7. महाभारत
8. दर्शन प्राभूत
9. आचार्य अमृतचन्द्र: पुरुषार्थसिद्ध्युपाय-30
10. आचार्य अमितगति:

11. आचार्य उमास्वामी: तत्त्वार्थसूत्र 5/21
12. आचार्य अमितगति: सामायिक पाठ
13. पं. जुगलकिशोर मुख्तार: मेरी भावना
14. शान्ति पाठ
15. Economics by Ferderic Bantham, P.8
16. विश्वमित्र: दीपावली अंक दि. 21/10/49 पृ.16
17. पं. आशाधर: सागर धर्मामृत 1/15
18. आचार्य श्री विद्यासागर: मूकमाटी पृ.82
19. वही, पृ.192
20. आचार्य उमास्वामी: तत्त्वार्थ सूत्र, 7/25-29
21. पं. दौलतराम: छहढाला, 4/11-12

एल-६५, न्यू इन्दिरानगर
बुरहानपुर (म.प्र.)

आधुनिक संदर्भ में 'सामायिक' की उपादेयता

- डॉ. अनेकान्त कुमार जैन

'सामायिक' जैनधर्म की एक मौलिक अवधारणा है जिसमें संपूर्ण जैन दर्शन का सार समाहित है। यदि यह पूछा जाए कि एक शब्द में भगवान् महावीर का धर्म क्या है तो इसका उत्तर होगा-'सामायिक'। प्राचीन काल से ही 'सामायिक' करने की परम्परा संपूर्ण जैन समाज में चली आ रही है। दिगम्बर हो या श्वेताम्बर; गृहस्थ हो या मुनि सामायिक का महत्त्व प्रत्येक स्थल पर है।

मुनियों के छह आवश्यकों में 'सामायिक' प्रथम आवश्यक है। आचार्य कुन्दकुन्द ने "समणो समसुह दुक्खो" (प्रवचनसार गाथा 1/4) कहकर समण का लक्षण ही सुख और दुःख में समभाव रहने वाला किया है। भगवती आराधना की विजयोदया टीका में समण का लक्षण करते हुए अपराजितसूरि ने कहा-

'समणो समानमणो समणस्स भावो सामण्णं क्वचिदप्यनगुगतरागद्वेषता समता सामणशब्देनोच्यते। अथवा सामण्णं समता।'

अर्थात् 'जिनका मन सम है वह समण तथा समण का भाव 'सामण्णं' (श्रामण्य) है। किसी भी वस्तु में राग-द्वेष का अभाव रूप समता 'सामण्णं' शब्द से कही जाती है। अथवा सामण्णं को समता कहते हैं।

मात्र मुनि ही नहीं वरन् गृहस्थ भी मुनियों की तरह सामायिक धारण करता है और समस्त सावद्य योग से रहित, समता में स्थित सामायिक करने वाला गृहस्थ भी उतने क्षण मुनि सदृश हो जाता है। इसकी चर्चा भी जैनाचार्यों ने स्थान-स्थान पर की है। आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं कि सामायिक आश्रित गृहस्थ चारित्र मोहोदय के सद्भाव में भी महाव्रती मुनि के समान होता है-

**सामायिकाश्रितानां समस्तसावद्ययोगपरिहारात्।
भवति महाव्रतमेषामुदयेऽपि चारित्रमोहस्य॥**

(पुरुषार्थसिद्ध्युपाय-श्लो.150)

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में भी "जो कुब्बादि साइयं सो मुणिसरिसो हवे ताव॥" (गाथा-357) कहकर यही भाव प्रकट किया गया है।

आचार्य बट्टकेर मूलाचार (1/23) में लिखते हैं कि जीवन-मरण, लाभ-हानि, संयोग-वियोग, मित्र-शत्रु, सुख-दुःख आदि में रागद्वेष न करके समभाव रखना समता है और इस प्रकार के भाव को सामायिक कहते हैं।

सामायिक की व्युत्पत्तिमूलक व्याख्या करते हुए केशववर्णी ने लिखा है 'सम'

अर्थात् एकत्व रूप से आत्मा में 'आय' अर्थात् आगमन को समाय कहते हैं। इस दृष्टि से परद्रव्यों से निवृत्त होकर आत्मा में प्रवृत्ति का नाम समाय है। अथवा 'सं' अर्थात् समरागद्वेष से अबाधित मध्यस्थ आत्मा में 'आय' उपयोग की निवृत्ति समाय है। वह प्रयोजन जिसका है वह सामायिक है।

-(गोमटसार जीवकाण्ड, जीव त. प्र. टीका गाथा 368)

उत्तराध्ययन के एक प्रश्नोत्तर में कहा है- जीव को सामायिक से क्या प्राप्त होता है? इसके उत्तर में कहा है-सामायिक से जीव सावद्य योगों (असत् प्रवृत्तियों) से विरति को प्राप्त होता है। (उत्तराध्ययन 29/8)

आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा कि चारित्र वास्तव में धर्म है। जो धर्म है वह 'साम्य' है और मोह क्षोभ से रहित आत्मा का परिणाम भाव ही 'साम्य' है। आत्मा की इसी अवस्था को सामायिक कहते हैं।

चारित्तं खुल धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दट्ठो।

मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो॥

(प्रचनसार, 1/7)

संपूर्ण व्याख्याओं का सार यही है कि सभी सावद्ययोग से रहित होकर, राग-द्वेषादि विकारों से परे आत्मा का साम्यभाव में स्थिर होना ही सामायिक कहलाता है।

जयधवला में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, इन चार प्रकारों से सामायिक के भेद किया है। (जयधवला 1/1/1, प्र. 81)। भगवती आराधना में नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के भेद से तथा एक स्थल पर मन, वचन और काय-इन तीन भेदों से सामायिक के भेद माने हैं। (भ. आ. वि. टीका गाथा-116) इस प्रकार प्रकारान्तर से और भी प्रभेद मिल जाते हैं। किन्तु यदि गहराई से विचार करें तो हम पायेंगे इन भेदों के मूल में भी बाह्य निमित्तों की अपेक्षा ही मुख्य है। अन्तरंग निमित्त तो यहाँ एक आत्मपरिणति ही है।

कब कब सामायिक करना चाहिए इसका उल्लेख भी शास्त्रों में कई प्रकार से प्राप्त होते हैं।

आवश्यकसूत्र में उल्लिखित सामायिक पाठ उच्चारण की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इस विषय पर शोधकार्य करके पर्याप्त दृष्टियों को सामने लाया जा सकता है। यहाँ मैं सामायिक के मात्र कुछ संदर्भ ही उल्लिखित कर रहा हूँ क्योंकि सामायिक विषय पर प्राचीन दिगम्बर-श्वेताम्बर आगमों का अध्ययन तथा उन पर शोधकार्य कर एक पूरे शोधप्रबन्ध की भी रचना हो सकती है और संभवतः हुई भी है। शास्त्रों में सामायिक के अतिचारों का भी उल्लेख है, मैं उस विस्तृत व्याख्या में भी नहीं जा रहा हूँ।

इस संदर्भ में मेरा मात्र यही कहना है कि सामायिक के पाठ आज हिन्दी तथा संस्कृत में भी उच्चरित होने लगे हैं। मेरा मानना है कि सामायिक पाठ मूल प्राकृत भाषा में ही होने चाहिए। भाषा का अपना एक महत्व होता है। प्राकृत जैनों के मूल आगमों की भाषा है। हम भले ही हिन्दी, संस्कृत या अंग्रेजी में उनके अर्थ श्रावकों को समझायें ताकि

प्राकृत पाठ मात्र भावशून्य क्रिया न रह जाये किन्तु मूल पाठ प्राकृत भाषा में ही सुरक्षित रखें।

सामायिक का काल

शास्त्रों में सामायिक का काल एक अन्तर्मुहूर्त निश्चित किया गया है, जिसका अर्थ है 48 मिनट से कुछ कम। निश्चित रूप से एक गृहस्थ आज की इस भाग-दौड़ भरी जिन्दगी में 48 मिनट अपनी आत्मा की आराधना के लिए निकाल ले तो यह बहुत बड़ी बात है। हम यह विचार कर सकते हैं कि क्या 24 घंटों में मात्र 48 मिनट स्वभाव के लिए नहीं निकाल सकते जबकि शेष 23 घंटे 12 मिनट हम परभावों में ही रहते हैं। ऐसी सामायिक तो दिन में कई बार भी की जाती है किन्तु यदि मात्र एक अन्तर्मुहूर्त भी समता की आराधना के लिए हम नहीं निकाल सकते तो हमें यह कहना छोड़ देना चाहिए कि हम वीतरागता के उपासक हैं और मोक्षपद के प्रत्याशी हैं।

प्राचीन शास्त्रोक्त सामायिक का अभ्यास तो साधु संघों में, मंदिरों में, स्थानकों में चलता है तथा उसकी प्रेरणा श्रावकों को दी जाती है। यह परंपरा चलती रहनी चाहिए किन्तु आज के आधुनिक और उत्तर-आधुनिक युग में ग्लोबलाइजेशन के इस दौर में अब वक्त आ गया है जब हम 'सामायिक' की एक ग्लोबल प्रविधि भी विकसित करें। इस नयी प्रविधि में हम अभ्यास के रूप में ही; न सही 48 मिनट बल्कि मात्र 15 मिनट की ऐसी नयी प्रक्रिया तैयार कर सकते हैं जो महज यान्त्रिक न होकर अत्यन्त स्वावलम्बी तथा स्वाभाविक हो। मैं मानता हूँ कि किसी एक निश्चित समय में पूरे विश्व में सभी जैन संप्रदायों से परे होकर यदि पन्द्रह मिनट भी सामायिक की आराधना करें तो एक नयी क्रांति की शुरुआत हो सकती है।

जिस प्रकार मुसलमान एक निश्चित समय पर पूरे विश्व में नमाज अदा करते हैं। वे ट्रेन में सफर कर रहे हों अथवा प्लेटफार्म पर खड़े हों चाहे कैसी भी स्थिति में हो जब नमाज का वक्त होता है वे नमाज जरूर पढ़ते हैं। उनकी यह क्रिया उनकी अन्तर्राष्ट्रिय पहचान बनाती है उसी प्रकार सभी संप्रदायों के जैन एक निश्चित समय पर सामायिक करके आध्यात्मिक मूल्यों को तो जीवन में सुरक्षित रख ही सकते हैं तथा साथ ही साथ इस क्रिया के माध्यम से अपनी अन्तर्राष्ट्रिय पहचान भी बना सकते हैं।

जैन समाज की एकता और सामायिक

‘संघे शक्तिः कलौ युगे’ – अर्थात् आज जिस युग में हम जी रहे हैं उस युग में संगठन, एकता ही शक्ति संपन्नता का परिचायक होती है। जैन धर्म एवं संप्रदाय आध्यात्मिक परिभाषा में एक होते हुए भी अनेक संप्रदायों, उपसंप्रदायों में विभक्त है। दिगम्बर-श्वेताम्बर, मूर्तिपूजक, स्थानकवासी, तेरापंथी, बीसपंथी, तारणपंथी, कानजी पंथी इत्यादि अनेक विचार हमारी चिंतनशीलता के परिचायक तो हैं किन्तु जब हमारी संस्कृति के अस्तित्व पर ही संकट के बादल मड़राने लगते हैं तब हमें कौमी एकता की आवश्यकता पड़ती है।

आधुनिक युग में 'सामायिक' एक ऐसी क्रियाविधि हो सकती है जिसमें सभी संप्रदाय समान रूप से शिरकत कर सकते हैं। हमारी उपासना की विधियों में कई अन्तर हैं कोई मूर्ति पूजते हैं तो कोई नहीं; कोई सिर्फ स्वाध्याय-ध्यान ही करते हैं, कोई पूजा में सच्चित्त का प्रयोग नहीं करते तो कोई ऐसा करने में कोई हर्ज नहीं समझते। इस दृष्टि से हम बैठे हुए हैं। 'सामायिक' एक ऐसी प्रक्रिया है जो सभी संप्रदायों में लगभग समान है। पाठ भी उच्चारण भी लगभग सभी संघों में एक सा ही होता है। प्रविधि में यदि कुछ अंतर हैं भी तो उन्हें आपस में मिल बैठकर सुधारा जा सकता है। जैसे- स्थानकवासी, तेरापंथी मुखवस्त्रिका पहनना जरूरी बताते हैं किन्तु दिगम्बर और मूर्तिपूजक श्वेताम्बर इसे आवश्यक नहीं मानते। लेकिन सभी पक्ष समता की आराधना, आत्मचिन्तन, प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्त आदि के उद्देश्य से एक हैं। मूर्तिपूजा करने वालों के यहाँ भी यह अनिवार्य नहीं है कि सामायिक मन्दिर में ही करना, कहीं भी कर सकते हैं, कोई पराधीनता नहीं है। मेरी तो मान्यता यही है कि सभी अपनी- अपनी तरह सामायिक करें किन्तु ऐसा करते हुए भी एक 'ग्लोबल सामायिक' ऐसी जरूर निर्मित करें जिस पर सभी पक्ष अपनी मुहर लगायें और पूरे विश्व के जैन उसे किसी एक निश्चित समय में एक साथ जरूर संपन्न करें। आधुनिक परिवेश में जैनत्व की रक्षा का यह एक अमूल्य योगदान होगा। भगवान महावीर के 2500 वें जन्मकल्याणक महोत्सव वर्ष पर जैन धर्म के सभी संप्रदायों उपसंप्रदायों ने मिलकर प्रतीक चिन्ह, ध्वज आदि कई चीजों में एक समानता बनाकर मिसाल कायम की थी जो आज एक अन्तर्राष्ट्रिय पहचान बन चुका है। किन्तु क्रियाओं में भी एक उदाहरण तो ऐसा बनाना चाहिए जिससे हम कह सकें कि ये धार्मिक क्रिया हमारा एक ऐसा क्रिया है जिससे सभी जन एक साथ एक समय में अवश्य संपन्न करते हैं और शायद 'सामायिक' पर आमसम्मति आराम से बन सकती है।

उत्तर आधुनिक युग और ग्लोबल सामायिक

आज जिस विश्व समाज में हम रह रहे हैं उसमें मनुष्य विकास की सारी सीमायें पार कर रहा है किन्तु उसका यह विकास जितना बाहरी है उतना आंतरिक नहीं है। आज की नयी पीढ़ी का भौतिक जगत् भले ही हमें आकर्षक और गतिमान दिखायी देता हो किन्तु उसका भाव जगत काफी क्षत-विक्षत है। यह क्या कम आश्चर्य की बात है कि फिल्म देखने के लिये तीन घन्टे और प्रतिदिन इन्टरनेट पर चेट करने के लिए घंटों का समय हम आसानी से निकाल लेते हैं किन्तु जिन मन्दिर में दर्शन करने और स्वाध्याय करने के नाम पर हम अपनी व्यस्तताओं की एक लम्बी लिस्ट बना देते हैं।

आज के इस युग में अस्थिरता और उतार-चढ़ाव जितना रोज घटित होता है उतना पहले नहीं होता था। सफलता-असफलता, लाभ-हानि की स्थिति किसे कब नहीं भोगनी पड़ती? किन्तु अपनी आत्मा से जुड़े लोग हर स्थिति में समता की आराधना करके उस पर विजय प्राप्त कर लेते हैं किन्तु मात्र भौतिक दुनिया में जीने वाले प्रतिकूल स्थितियों को सहज नहीं कर पाते और जीवन तक समाप्त कर डालते हैं। आज उच्च शिक्षा प्राप्त करने वाले डॉक्टर-इंजीनियर-डॉ। छात्र-छात्राएं तक थोड़ी सी प्रतिकूलता आने पर

आत्महत्या तक कर लेते हैं यह किसी से छुपा नहीं है।

जैनधर्म की 'सामायिक' व्यक्ति को खुद से जुड़ने का मौका देती है। खुद से खुद की मुलाकात का मौका देती है 'सामायिक'। 'सामायिक' का अभ्यास करने वाले का आत्मबल इतना मजबूत हो जाता है कि वह किसी भी परिस्थिति में अपना संतुलन नहीं खोता। इस प्रकार का आत्म विजयी व्यक्ति पूरे विश्व पर सफलता की विजय पताका फहरा सकता है।

आज नयी पीढ़ी धार्मिक क्रियाओं के नाम से घबराती है। सम्प्रदायों की व्याख्याओं से उसका कोई लेना देना नहीं है। महानगरों में, विदेशों में प्रतिदिन देवदर्शन करना एक बहुत बड़ी समस्या है। आज की इस भागदौड़ वाली जिन्दगी में कोई एक स्थान पर बैठकर दो घड़ी यदि अपनी आत्मा और परमात्मा का स्मरण कर ले तो समझिए बहुत बड़ी सफलता मिल गयी है।

यदि हम सामायिक के उद्देश्य, स्वरूप को सुरक्षित रखते हुए नयी सामायिक को विकसित करें तो आधुनिक युग का श्रावक धर्म से जुड़ा रहेगा, अपनी आत्मा से जुड़ा रहेगा, अपने जीवन मूल्यों को सुरक्षित रख सकेगा। तनाव और अशांति के इस माहौल में भी वह हर परिस्थिति पर विजय प्राप्त करके आत्मकल्याण का मार्ग भी प्रशस्त कर सकेगा।

-असिस्टेंट प्रोफेसर, जैनदर्शन विभाग
श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ
(मानित विश्वविद्यालय) नई दिल्ली-१६
मो. 9898034740, 9711397716
email- anekant76@yahoo.co.in

पूजा के आधार पर- देव, शास्त्र और गुरु

- डॉ. बसन्त लाल जैन

मानव जीवन का परमलक्ष्य मोक्षोपलब्धि है। मोक्ष जीवन के परम आनन्द की अवस्था का नाम है। मोक्षरूपी आनन्द की प्राप्ति के लिए पूजा, आराधना/उपासना या शक्ति एक साधन है। भगवान की भक्ति के द्वारा ही परम सुख की प्राप्ति होती है। दिगम्बर जैन परंपरा के आचार्य पद्मनन्दि जी ने सुखमय जीवन के लिए छह करणीय कर्तव्यों का निर्देश 'पद्मनन्दी पंचविंशतिका' ग्रंथ में दिया है-

देवपूजा गुरुपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।

दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने-दिने॥^१

गृहस्थ को अपने जीवन में देवपूजा, गुरु उपासना, शास्त्रस्वाध्याय, संयम, तप और दान-इन छह कर्तव्यों का पालन प्रतिदिन करना चाहिए।

इन छह कर्तव्यों में प्रथम देवपूजा को स्थान दिया जाता है क्योंकि देवपूजा के साथ बाकी के पाँच कर्तव्य भी कड़ी की भाँति जुड़े हुए हैं। ये देवपूजा आदि आराधना/ भक्ति के ही अंग हैं। परमात्मा का पूजन, गुरु की उपासना, शास्त्र-अध्ययन, संयम, तप और दान- इन छह कर्तव्यों के पालन से मानव का हृदय, वचन, और काय शुद्ध हो जाता है। इन तीन योगों की शुद्धि होने से संपूर्ण मानव जीवन पवित्र हो जाता है। व्यक्तिगत जीवन पावन होने से क्रमशः पारिवारिक जीवन, सामाजिक जीवन तथा राष्ट्रीय जीवन पवित्र हो जाता है। राष्ट्र एवं राष्ट्रीय जीवन शुद्ध, पवित्र होने से राष्ट्र की मानसिकता/ विचारधारा कल्याणकारी हो। लौकिक कल्याण होने पर परंपरा से आध्यात्मिक कल्याण भी संभव है। अतः आध्यात्मिक सुख-अनन्त चतुष्टय की प्राप्ति हेतु देवपूजा या भक्ति आवश्यक है।

पूज्य पुरुषों के गुणों के प्रति अनुराग रखना भक्ति कहलाती है या परमात्मा के प्रति अनुराग भाव रखना पूजा है। परमात्मा के गुणों की प्राप्ति के लिए उनके गुण एवं उनके प्रति श्रद्धापूर्वक आदर सत्कार करना पूजा कहलाता है। सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यकचारित्र रूपी रत्नत्रय-प्राप्ति के लिए रत्नत्रय प्रदाता देव, शास्त्र और गुरु की उपासना/ आराधना करना पूजा कहलाती है। आचार्य पूज्यपादस्वामी ने अरिहन्त, आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठी तथा उनके प्रवचनों में विशुद्ध भावपूर्वक अनुराग को पूजा माना है।^२

परमात्मा की पूजा भावपूर्वक द्रव्य से की जाती है। इसलिए पूजन में द्रव्य और भाव-इन दो तत्त्वों का विशेष महत्त्व है। मन से इष्ट देवों का अर्चन करना भावपूजा है। परम भक्ति के साथ जिनेंद्र देव के अनन्त गुणों का कीर्तन करके जो त्रिकाल वंदना की जाती है वह भाव पूजा है।^३ देव, शास्त्र गुरु का मन, वचन और कायपूर्वक अष्ट द्रव्यों से

पूजन करना द्रव्य पूजा है। शुद्ध भावों के साथ शब्दों के द्वारा जिनेन्द्र देव का गुण कीर्तन करते हुए अष्ट द्रव्यों का विनय के साथ समर्पण करना द्रव्य पूजा है।⁴ भावपूजा के साथ ही द्रव्यपूजा करना सार्थक है।

धर्म के स्वामी ने सुखमय जीवन के लिए शुद्ध भावों के साथ अष्ट-द्रव्य पूजा करना उपयोगी बताया है। त्रियोग पूर्वक अष्ट-द्रव्य से किस गुण या गुणी की पूजन करना चाहिए? या पूजन के लिए कौन योग्य व्यक्ति है? या पूज्य कौन है? पूजन का आधार/आश्रय कौन है? अथवा श्रेष्ठ गुणों के धारी या स्वामी कौन हैं जिनकी हमें पूजा करनी चाहिए? - इन सभी प्रश्नों का उत्तर एक है- सत्यार्थ देव, शास्त्र और गुरु। रत्नत्रय के स्वामी देव, शास्त्र गुरु ही पूज्य हैं, उनके अनन्त गुण ही हमारे पूजा के आधार हैं या आश्रय है। केवलज्ञान, केवल दर्शन, अक्षय सुख व शांति अक्षय आत्मबल- जैसे गुण एवं इन गुणों के स्वामी- केवली, अरिहंत, सर्वज्ञ, वीतराग देव ही पूज्य हैं। पूजा के आधार है। शुभ स्वरूप देव, शास्त्र गुरु की उपासना से पूजक की आत्मा पवित्र होती है और आत्महित का मार्ग प्रशस्त होता है।

हमारा जीवन सुखमय हो, इसके लिए हम भगवान या इष्टदेव की आराधना करते हैं। हम जिस इष्टदेव, गुरु की उपासना एवं शास्त्र अध्ययन करना चाहते हैं। उस इष्टदेव के पास कौन-कौन सी उपलब्धियाँ हैं, या कौन-कौन विशेषताएँ या गुण हैं या गुण के स्वामी हैं या उनका क्या स्वरूप है, या रूप है? या उनकी क्या पहचान है? या किस कारण हमारा जीवन मंगलमय हो सकता है? या सच्चे देव शास्त्र, गुरु की क्या पहचान है? इन सब बातों पर विचार आवश्यक है।

उक्त शंका का समाधान हमारे जैनाचार्य करते हुए कहते हैं कि जो आत्मा वीतरागी, सर्वज्ञ और हितोपदेशी है, वही परमात्मा हमारे लिए पूज्य है। जो यथार्थ आप्त द्वारा उपदिष्ट वाणी को शास्त्रों को लिपिबद्ध किया गया है वह शास्त्र पूज्य है। जो वीतराग के उपदेश को, सदाचार को स्वयं जीवन में जीता है और उसे ही भव्य जीवों के लिए भी उपदेश देता है वही सच्चा गुरु पथप्रदर्शक पूज्य है।

पूज्य देव का स्वरूप-

जो आत्मा या परमात्मा वीतरागी, सर्वज्ञ और हितोपदेशी होता है, वही देवता पूजनीय है। आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने पूज्य देवता के स्वरूप का निरूपण करते हुए 'रत्नकरण्डक श्रावकाचार' ग्रंथ में लिखा है-

आप्तेनोत्सन्नदोषेण, सर्वज्ञेनागमेशिना ।

भवितव्यं नियोगेन, नान्यथा ह्याप्तता भवेत् ॥५॥^५

नियमपूर्वक आप्त (देव) को दोष रहित-वीतराग, सर्वचराचर जगत् को जानने वाला- सर्वज्ञ और वस्तुस्वरूप के प्रतिपादक-आगम का स्वामी-मोक्षमार्ग का प्रणेता-हितोपदेशी होना चाहिए; क्योंकि अन्य प्रकार से आप्तपना नहीं हो सकता अर्थात् जो वीतरागी, सर्वज्ञ और हितोपदेशी नहीं है, वह पुरुष कभी सच्चा या पूज्यदेव नहीं हो सकता है।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने 'बोधपाहुड' में सच्चे देव के बारे में लिखा है-

सो देवो जो अत्थं धम्मं कामं सुदेद णाणं च ।
 सो देइ जस्स अत्थि दु अत्थो धम्मो य पव्वज्जा ॥२४॥
 धम्मो दया विसुद्धो पव्वज्जा सव्वसंगपरिचत्ता ।
 देवा ववगय मोहो उदययरो भव्व-जीवाणां ॥२५॥^६

जो धन, धर्म, भोग और मोक्ष का कारण- ज्ञान को देता है, वही देव है। संसारमें यह न्याय है कि जिसके पास जो वस्तु होती है वही वस्तु अन्य को देता है। देव के पास अर्थ, धर्म, काम और प्रव्रज्या- दीक्षा (ज्ञान) है। दया से विशुद्ध धर्म सर्व परिग्रह से रहित प्रव्रज्या और मोह से रहित देव, ये तीनों भव्य जीवों का कल्याण करने वाले हैं।

आचार्य विद्यासागर ने पूजनीय देव की वंदना करते हुए लिखा है कि-

लोका-लोका-लोकित, करते पूर्ण ज्ञान से सहित रहें,
 विरागता से भरित रहे हैं दोष अठारह रहित रहें।
 जगहित के उपदेशक ये ही नियम रूप से आप्त रहें,
 यही आप्तता नहीं अन्यथा, जिन-पद में मम माथ रहे।^७

आर्यिका शिरोमणि ज्ञानमती माता जी ने महामंत्र-णमोकार पूजन में पूज्य देव के स्वरूप का वर्णन किया है-

छयालिस सुगुण को धरें अरिहंत जिनेशा,
 सर्व दोष अठारह से रहित त्रिजग महेशा।
 ये घातिया को घात के परमात्मा हुए।
 सर्वज्ञ, वीतराग और निर्दोष गुरु हुए ॥^८

स्वामी कार्तिकेय के अनुसार "जो त्रिकालवर्ती गुण पर्यायों से संयुक्त समस्त लोकालोक को प्रत्यक्ष जानता है वह सर्वज्ञदेव ही आराधना के योग्य है" जो परमसुख (मोक्ष) में क्रीड़ा करते हैं, या कर्मों को जीतने की इच्छा करते हैं, जो करोड़ों सूर्यों के भी अधिक तेज से दैदीप्यमान है जो धर्मयुक्त व्यवहार का विधाता है, जो लोक-अलोक को जानता है, जो अपने आत्मस्वरूप का स्तवन करता है, ऐसे विशेषणों (गुणों) से युक्त आचार्य, उपाध्याय, और साधु ही सच्चे देव हो सकते हैं।"

रागादि का सद्भाव रूप दोष, प्रसिद्ध ज्ञानावरणादि कर्म- इन दोनों का जिसमें सर्वथा अभाव पाया जाता है वह देव ही पूज्य है। ऐसे सच्चे देव केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य (शक्ति) के स्वामी होने से पूज्य हैं।

आचार्य समन्तभद्र के अनुसार पूज्यदेव के स्वरूप का विश्लेषण-

आचार्य समन्तभद्र स्वामी जी ने 'रत्नकरण्डक श्रावकाचार' ग्रंथ में पूज्य देव के स्वरूप का निरूपण करते हुए कहा है कि जो वीतरागी सर्वज्ञ और हितोपदेशी है, वही सच्चा देव आप्त हो सकता है, अन्यथा नहीं। इस परिभाषा में पूज्य देव के लिए प्रथम विशेषण है-वीतरागता, जिसका अर्थ है- जिसने आत्मबल से 18 दोषों को जीत लिया है, अपने

वश में कर लिया है वही वीतरागी है। वे दोष हैं- जन्म, जरा, तृषा, क्षुधा, आश्चर्य, अरति, दुःख, रोग, शोक, मद, मोह, भय, निद्रा, चिन्ता, स्वेदमल, राग, द्वेष, मरण। इन दोषों का नाम निम्नलिखित श्लोक में दिखाया गया है:-

क्षुत्पिपासा- जरातंक- जन्मान्तक- भयस्मयः ।

न रागद्वेष मोहाश्च, यस्याप्तः सः प्रकीर्त्यते ॥६॥ र.क.कारिका-६

जिस आत्मा ने ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, और अन्तराय कर्म-दोष का नाश कर क्रमशः केवलज्ञान, केवलदर्शन, अक्षय-अनंत-सुख और अक्षय अनन्तशक्ति-बल के स्वामी हो गये हैं। वे ही सर्वज्ञ कहलाने योग्य हैं। ऐसे सर्वज्ञदेव को आप्त, परमेष्ठी, परमज्योति, केवलज्ञानी, विरागी, वीतरागी, विमल, कृतकृत्य आदि मध्य, अन्त से रहित, सर्वहित कर्ता, शास्त्र-हितोपदेशक, अर्हन्त, जिन, जिनेन्द्र, जीवन्मुक्त, सकल परमात्मा आदि नामों से जाना जाता है।

सच्चे देव की तीसरी पहचान यह है कि- वह हितोपदेशी होता है। वह हितोपदेशी जीवन्मुक्त परमात्मा होता है, केवलज्ञान यानी संपूर्ण ज्ञान का धारी-स्वामी होता है, कर्मरूपी मल/ दोष से रहित होता है, कृतकृत्य या सिद्ध साध्य प्राप्त होता है, अनंत चतुष्टय का भण्डार होता है, विश्व के प्राणियों का कल्याण करने वाला होता है। रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग का भव्य जीवों के लिए बिना किसी इच्छा से कल्याण का उपदेश देने वाले परमात्मा हितोपदेशी कहलाते हैं। ऐसे हितोपदेशी भगवान रागद्वेष आदि के बिना अपना प्रयोजन न होने पर भी समीचीन-भव्यजीवों को हित का उपदेश देते हैं क्योंकि बजाने वाले- शिल्पि के हाथ के स्पर्श से ध्वनि-शब्द करता हुआ मृदंग क्या अपेक्षा रखता है? अर्थात् नहीं।

सर्वज्ञ सिद्धि-

आचार्य समन्तभद्र स्वामी जी ने आप्त को दोष-रहित, सर्वज्ञ और आगम का स्वामी बताया है। आप्त के लिए तीन गुणों का होना आवश्यक है-वीतरागता, सर्व चराचर संसार को जानने वाला सर्वज्ञ और आगम का स्वामी या हितोपदेशी। इन तीन गुणों में सर्वजगत् का ज्ञाता- सर्वज्ञ को आचार्य ने युक्ति आगम और अनुमान से सिद्ध किया है।

आचार्य आप्तमीमांसा में लिखते हैं कि-

सूक्ष्मान्तरित दूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद् यथा ।

अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः ॥५॥

सूक्ष्म पदार्थ-परमाणु आदि, अन्तरित पदार्थ- काल के अन्त से सहित राम, आदि महापुरुष, दूरवर्ती पदार्थ- मेरु, हिमवन पर्वत आदि, किसी पुरुष के प्रत्यक्ष अवश्य हैं। क्योंकि वे पदार्थ हमारे अनुमेय होते हैं। जो पदार्थ अनुमेय होता है वह किसी व्यक्ति के प्रत्यक्ष भी होता है। जैसे हम पर्वत में अग्नि को अनुमान से जानते हैं, किन्तु पर्वत पर स्थित पुरुष उसे प्रत्यक्ष से जानता है। इससे यह सिद्ध होता है कि जो पदार्थ किसी के अनुमान के विषय होते हैं वे किसी के प्रत्यक्ष के विषय भी होते हैं। अतः हम लोग सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थों को अनुमान से जानते हैं अतः उनको प्रत्यक्ष से जानने वाला भी कोई

अवश्य होना चाहिए और जो पुरुष उनको प्रत्यक्ष से जानता है वही सर्वज्ञ है। इस प्रकार 'सूक्ष्मान्तरित दूरार्थाः कस्यचित्, प्रत्यक्षा अनुमेयत्वात्, इस अनुमान से सर्वज्ञ की सिद्धि होती है। लेकिन वह सर्वज्ञ अर्हन्त देव ही है इसकी सिद्धि के लिए आचार्य लिखते हैं-

स त्वमेवासि निर्दोषो युक्ति शास्त्राविरोधिवाक् ।

अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते॥६॥

हे भगवान् ! पहिले जिसे सामान्य से वीतराग तथा सर्वज्ञ सिद्ध किया गया है, वह आप अर्हन्त ही हैं। आपके निर्दोष वीतराग होने में प्रमाण यह है कि आपके वचन युक्ति और आगम से अविरोधी हैं। आपके इष्ट तत्त्व मोक्षादि में किसी प्रमाण से बाधा नहीं आने के कारण यह निश्चित है कि आपके वचन युक्ति और आगम से अविरोधी हैं।

अर्हन्त ने जिन मोक्ष आदि तत्त्वों का उपदेश दिया है उनमें किसी प्रमाण से विरोध न आने के कारण अर्हन्त के वचन युक्ति और आगम से अविरोधी सिद्ध होते हैं और अविरोधी वचन अर्हन्त की निर्दोषता को घोषित करते हैं। इसलिए स्वभाव, देश और काल विप्रकृष्ट परमाणु आदि पदार्थों को जानने वाले अर्हन्त ही हैं। अर्हन्त के अतिरिक्त अन्य कोई सर्वज्ञ नहीं है, क्योंकि अन्य सब सदोष हैं। सदोष होने का कारण यह है कि उनके वचन युक्ति और आगम से विरुद्ध हैं। जिन्होंने जिन तत्त्वों का उपदेश दिया है वह प्रमाण से बाधित है।

पूजनीय शास्त्र का स्वरूप

आराधना का द्वितीय आधार आगम है। पूजनीय आगम वीतरागी अर्हन्त द्वारा प्रतिपादित अतिशय बुद्धि के धारक गणधर देव के द्वारा धारण किये गये राग-द्वेष की भावना से रहित आचार्य, उपाध्याय, मुनि एवं विद्वानों द्वारा लिपिबद्ध किये गये शास्त्र पूजनीय शास्त्र कहलाते हैं। जिनागम, आगम, शास्त्र, जिनवचन, ग्रंथ, सिद्धान्त, प्रवचन, उपदेश, जिनवाणी, दिव्यध्वनि, दिव्योपदेश, जिनशासन, सरस्वती, शारदा, द्वादशांगवाणी, स्याद्वादवाणी इत्यादि इसके अनेक नाम हैं। समन्तभद्राचार्य ने रत्नरकण्डक श्रावकाचार में सच्चे शास्त्र का स्वरूप निरूपण करते हुए लिखा है कि-

आप्तोपज्ञमनुल्लङ्घ्य- मट्टष्टेष्टविरोधकं ।

तत्त्वोपदेशकृत्सर्व, शास्त्रं कापथघट्टनं ॥९॥^{१०}

अर्थात् जो वीतरागी-आप्त द्वारा कहा जाता है, इन्द्रादिक देवों के द्वारा अनुलङ्घनीय है अर्थात् ग्रहण करने योग्य है अथवा अन्य वादियों के द्वारा अखण्डनीय है, प्रत्यक्ष-परोक्ष आदि प्रमाणों से जो बाधित नहीं है, जो वस्तु स्वरूप प्रतिपादक है, जो सबका हितकारक है और मिथ्यात्व को नष्ट करने वाला है, वही सच्चा शास्त्र कहलाता है। इस स्वरूप का समर्थन करते हुए आचार्य विद्यासागर जी महाराज 'रयणमंजूषा' में लिखते हैं:-

“प्रत्यक्षादिक अनुमानादिक प्रमाण से अविरोधी हो,

वीतराग सर्वज्ञ कथित हो नहीं किसी से बाधित हो।

एकान्ती मन का निरसक हो, सब जग का हितकारक हो।

अनेकान्तमय तत्त्व-प्रदर्शक शास्त्र वही अघ हारक हो'॥१॥^{११}

आचार्यों का मत है कि- यथार्थ शास्त्र वही हो सकता है, जो यथार्थ आप्त द्वारा उपदिष्ट हो, आप्त की वाणी को कोई असत्य सिद्ध न कर सके, प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, तर्क आदि प्रमाणों से विरोध रहित हो, वस्तु तत्त्व का कथन करने वाला हो, समस्त प्राणियों का कल्याण करने वाला हो, हिंसा, झूठ, चोरी, अपरिग्रह, कुशील, अन्याय, मद्यपान, माया, मद, लोभ, राग-द्वेष आदि दोषों को दूर करने वाला हो, श्रीगणधर एवं उनके शिष्यों-आचार्यों द्वारा रचित हो, सच्चे मार्ग का प्रदर्शक हो, आत्मा को परमात्मा बनने के लिए निर्मल सम्यक् दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तथा सम्यक आराधना का उपदेशक हो-वही वास्तव में सच्चे शास्त्र कहलाने योग्य है। कविवर दानतराय लिखते हैं-

सो स्याद्वादमय-सप्तभंग, गणधर गूँथे बारह सु अंग।

रवि शशि न हरै सो तम हराय सो शास्त्र नमों बहुप्रीति ल्याया^{१२}

जिनागम के चार अनुयोग-

जिनागम-अध्ययन की सुविधानुसार शास्त्रों के विषय को चार भागों में रखा गया है- 'प्रथमं करणं चरणं द्रव्यं नमः' अर्थात् प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग।

१. प्रथमानुयोग- तीर्थंकर, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण और बलभद्र आदि 63 शलाका पुरुष, 169 महापुरुषों के आदर्शमय जीवन-चरित्र का वर्णन, बोधि, अर्थात् रत्नत्रय एवं समाधिमरण तक का वर्णन करने वाले शास्त्र को प्रथमानुयोग कहते हैं। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष- इन चार पुरुषार्थों का किसी एक महापुरुष के चरित्र का और त्रेसठ शलाका पुरुषों के चरित्र का वर्णन करने वाले पुराण, कथा, चारित्र को प्रथमानुयोग कहते हैं। उसके पठन, मनन व उपदेश आदि से पुण्य तथा बोधि-ज्ञान और समाधि प्राप्त होती है। यह अनुयोग सम्यग्ज्ञान का विषय है। उदाहरण स्वरूप- हरिवंशपुराण, पद्मपुराण, महापुराण, आदिपुराण, उत्तरपुराण, पाण्डवपुराण, श्रेणिकचरित्र आदि प्रथमानुयोग के ग्रंथ हैं।

आचार्य समन्तभद्र ने 'रत्नकरण्डक श्रावकाचार' में प्रथमानुयोग का लक्षण प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि-

प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं चरितं पुराणमपिपुण्यम् ।

बोधिसमाधिनिधानं, बोधति बोधः समीचीनः॥४३॥^{१३}

यह प्रथमानुयोग तीर्थंकर आदि महापुरुषों के जीवन आदर्शों के साथ पुण्य-पाप के फल का दिग्दर्शन कराता है। इसके अध्ययन से व्यक्ति के शुभ अशुभ परिणामों के अनुसार उसके उत्थान और पतन की भी स्पष्ट झलक होती है। यह कथा-उपकथा के माध्यम से गूढ़ तत्त्वों का अत्यन्त सरल और सुन्दर ढंग से बोध कराता है। प्राथमिक जन भी इससे तत्त्वबोध सरलता से ग्रहण कर लेते हैं, इसलिए यह प्रथमानुयोग कहलाता है।

देवशास्त्र गुरु की पूजा, भक्ति, उपासना से पुण्यानुबन्धी पुण्य कमाकर सद्गति का

भागीदार बनाना इस अनुयोग का कार्य है। सत्पात्रों को दान देना, चैत्य-चैत्यालयों का निर्माण करना आदि, व्रत संयम नियमों को पालन करना, स्वाध्याय, तप धारण करना आदि शुभ कार्यों में उपयोग लगाने आदि का उपदेश यह अनुयोग देता है। जिन द्वारा प्रतिपादित धर्म में दृढ़ श्रद्धा करना, उनके द्वारा बताये गये सप्त तत्त्वों एवं नव पदार्थों को ज्ञानकर उनमें प्रगाढ़ विश्वास रखना आदि का ज्ञान प्रथमानुयोग के अध्ययन से प्राप्त होता है। यह अनुयोग धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष- इन चार पुरुषार्थों का स्वरूप ज्ञान बतलाने वाला अनुयोग ग्रंथ है।

२. करणानुयोग- जो लोक-अलोक के विभाग का, कल्पकालों के परिवर्तन, चार गतियों के परिभ्रमण का कथन करता है, वह करणानुयोग कहलाता है। इसको गणितानुयोग, लोकानुयोग के नाम से भी जाना जाता है। करण परिणामों को कहते हैं, इस अनुयोग में जीव के परिणामों का विशेष रूप से वर्णन किया गया है। इस अध्याय में जैनागम मान्य-भूगोल, खगोल संबन्धी विषयों का विस्तार से वर्णन है। नरक, द्वीप, समुद्र, कुलाचल-सुमेरुपर्वत, देवलोक, स्वर्ग विमान आदि इस अनुयोग के प्रतिपाद्य विषय हैं। आचार्य समन्तभद्र के अनुसार-

लोकालोकविभक्तेर्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च।

आदर्शमिव तथा मति रवैति करणानुयोगं च॥^{१४}

प्रथमानुयोग की तरह मनन रूप श्रुतज्ञान, लोक-अलोक के विभाग को युगों के परिवर्तन और चारों गतियों के लिए आदर्श दर्पण के समान करणानुयोग जानता है। गणितसार, पण्णत्ति, त्रिलोकसार, लोकविभाग, जम्बूद्वीप-पण्णत्ति आदि करणानुयोग के प्रमुख ग्रंथ हैं।

३. चरणानुयोग- गृहस्थों एवं मुनियों के आचार सम्बन्धी नियमों के निरूपक अनुयोग को चरणानुयोग कहते हैं। इस अनुयोग में गृहस्थ और गृहत्यागी मुनियों के आचार-विचार का वर्णन होता है। कोई भी भव्य पुरुष किस उपाय से सदाचार को प्राप्त करें, किस तरह से उसकी रक्षा करें और किस प्रकार से उसे पल्लवित करें, इन सब बातों का स्पष्ट उल्लेख चरणानुयोग में होता है। जिसे जानकर भक्त, भगवान की ओर सदाचार पालन करते हुए जाता है। यह भी सम्यग्ज्ञान का एक अंग है।

आचार्य समन्तभद्र के अनुसार-

गृहमेध्यनगाराणां, चारित्रोत्पत्तिवृद्धि रक्षांगम् ।

चरणानुयोगसमयं, सम्यग्ज्ञानं विजानाति॥^{१५}

गृहस्थों और साधुओं के चरित्र के उद्भव, उसके विकास और उसकी रक्षा के अंग स्वरूप/ कारणभूत अथवा इन तीन अंगों को लिए हुए जो शास्त्र आत्मानुसंधान की दिशा में प्रवृत्त है उसे चरणानुयोग कहते हैं।

मूलाचार, भगवती आराधना, अनगार धर्माभूत, सागार- धर्माभूत, रत्नकरण्डक श्रावकाचार आदि चरणानुयोग के ग्रंथ हैं।

४. द्रव्यानुयोग- जिस शास्त्र में जीव, अजीव, पुण्य-पाप, बंध-मोक्ष, आत्मा आदि

विश्व के सभी तत्त्वों का कथन हो वह शास्त्र द्रव्यानुयोग कहलाता है। द्रव्य का निरूपक-द्रव्यानुयोग में प्रमाण, नय, सात तत्त्व, नौ पदार्थ, पंचास्तिकाय, छह द्रव्य, आदि विषयों का प्रतिपादन किया जाता है। यह अनुयोग आत्मा की बंध और मुक्त अवस्था का सम्यक् अवबोध कराता है। आचार्य समन्तभद्र के अनुसार-

जीवाजीवसुतत्त्वे, पुण्यापुण्ये च बन्धमोक्षौ च ।

द्रव्यानुयोगदीपः, श्रुतविद्यालोकमातनुते ॥^{१६}

जो जीव और अजीव तत्त्वों को, पुण्य और पाप को तथा बन्ध और मोक्ष को और बंध के कारण-आस्रव तथा मोक्ष के कारण संवर-निर्जरा को भी प्रकाशित करने वाला दीपक है, वह द्रव्यानुयोग है।

द्रव्यानुयोग के विषय को आगम और अध्यात्म की अपेक्षा दो भागों में रखा गया है। इसके आगम सिद्धान्त एवं न्याय दो विभाग हैं और अध्यात्म के भावना और ध्यान की दृष्टि से दो भेद हैं। षट्खण्डागम, कसायपाहुड, गोम्मटसार, लब्धिसार सिद्धांतविषयक ग्रंथ हैं। न्याय संबन्धी ग्रंथों में अष्टसहस्री, श्लोकवार्तिक, परीक्षामुख, न्यायदीपिका, आप्तपरीक्षा, आलापपद्धति, प्रमेयकमलमार्तण्ड आदि प्रमुख हैं।

अध्यात्मपरक भावना ग्रंथ समयसार, प्रवचनसार परमात्मप्रकाश, योगसार, कार्तिकेयानुप्रेक्षा आदि प्रमुख ग्रंथ हैं जबकि अध्यात्मपरक ध्यान ग्रंथों में ज्ञानार्णव, तत्त्वानुशासन, ध्यानस्तव आदि प्रमुख हैं। इन आगम में द्रव्यानुयोग के अध्ययन के लिए आवश्यक सामग्री है। जो सद्साहित्य के प्रतिनिधि ग्रंथ हैं।

पूजनीय गुरु का स्वरूप-

जैन परम्परा के महर्षियों को यति, मुनि, भिक्षु, तापस, तपस्वी, संयमी, योगी, वर्णी, आचार्य, उपाध्याय, साधु, श्रमण, दीक्षागुरु, ऋषि, मोक्षमार्गी, दिगम्बर, निर्ग्रंथ आदि नामों से जाना जाता है। ऐसे महर्षि पंचेन्द्रिय विषयों से विरत रहते हैं। हिंसा, झूठ-चोरी, कुशील, परिग्रह आदि दोषों से दूर रहते हैं और अंतरंग-बहिरंग परिग्रह/ लोभ-माया आदि के त्यागी होते हैं, गृहत्यागी दिगम्बर होकर ज्ञानाभ्यास, ध्यानयोग, तपश्चरण में सर्वदा दत्तचित्त रहते हैं। ऐसे महात्मा स्वपर हितकारी कर्तव्य पर स्वयं चलते हैं और भव्य जीवों को चलने का उपदेश देते हैं। आचार्य समन्तभद्र स्वामी रत्नकरण्डक श्रावकाचार में लिखते हैं-

विषयाशावशातीतो, निरारम्भोऽपरिग्रहः ।

ज्ञानध्यानतपोरक्तः, तपस्वी स प्रशस्यते॥^{१६}

जो विषयों की आशा के वश से रहित हो, आरंभ और परिग्रह से रहित हो तथा ज्ञान, ध्यान, तप में निरत हो, ऐसे वह तपस्वी गुरु प्रशंसा के योग्य हैं। कविवर दयानाराय देवशास्त्र गुरु पूजन के जयमाला पाठ में गुरु की स्तुति/महिमा लिखते हैं-

गुरु आचारज उवङ्गाय साधु, तन नगन रत्नत्रयनिधि अगाध

संसार देह वैराग्य धार, निरवांछि तपै शिव-पद निहार॥६॥

गुण छत्तिस पच्चिस आठ बीस, भव-तारन तरन जिहाज ईस।

गुरु की महिमा वरनी न जाय, गुरु नामजपो मन वचन काय॥७॥

कविवर दानतराय जी का मत है कि अपनी शक्ति के अनुसार देव, शास्त्र और गुरु की पूजन, भक्ति, ध्यान, जाप मरण आदि दोषों से दूर करके अजर-अमर पद-मोक्ष को प्राप्त कराता है।

जिन परंपरा में रत्नत्रयप्रदाता- सत्यार्थ देव, शास्त्र और गुरु- में तीन शुभ रत्न जैन पूजा- विधान के निमित्त या आधार हैं। प्रत्येक गृहस्थ को प्रतिदिन देव शास्त्र और गुरु जो समीचीन हो, का पूजन-भक्ति कर आत्मा को पवित्र करना चाहिए। सच्चे देव की श्रेणी में संपूर्ण वीतराग परम देवों का अन्तर्भाव हो जाता है। अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, जिनधर्म, जिनवाणी, चैत्य, जिन चैत्यालय- इन देवों की गणना परम देवों में की जाती है।

संदर्भ-

1. पद्मनन्दि पंचविंशतिका, 403
2. सर्वार्थसिद्धि अध्याय 6 सूत्र 24
3. वसुनंदि श्रावकाचार गाथा 456-458, जैनेन्द्र सिद्धांत कोश भग 3, पृ. 65
4. भगवती आराधना वि. 46/159/21, जैनेन्द्र सिद्धांत कोश भाग 3, पृ. 64
5. रत्नकरण्डक श्रावकाचार श्लोक 5, आचार्य समन्तभद्र स्वामी
6. बोधपाहुड गाथा 24,25- आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी
7. रमण मंजूषा आचार्य विद्यासागर पद्यानुवाद छन्द संख्या 5
8. णमोकारमंत्र पूजन आर्थिका ज्ञानमतिमाता जी
9. रत्नकरण्डक श्रावकाचार गाथा 6 (आ. समन्तभद्र स्वामी)
10. रत्नकरण्डक श्रावकाचार गाथा 9 (आ. समन्तभद्र स्वामी)
11. रयणमंजूषा- आचार्य विद्यासागर (पद्यानुवाद) छन्द सं. 9
12. देव, शास्त्र, गुरु (समुच्चय) पूजा, दानतराय कविवर
13. रत्नकरण्डक श्रावकाचार श्लोक संख्या 43 (आ. समन्तभद्र स्वामी)
14. रत्नकरण्डक श्रावकाचार श्लोक संख्या 44 (आ. समन्तभद्र स्वामी)
15. रत्नकरण्डक श्रावकाचार श्लोक संख्या 45 (आ. समन्तभद्र स्वामी)
16. रत्नकरण्डक श्रावकाचार श्लोक संख्या 46 (आ. समन्तभद्र स्वामी)
17. रत्नकरण्डक श्रावकाचार श्लोक संख्या 10 (आ. समन्तभद्र स्वामी)
18. देवशास्त्रगुरुपूजा, दानतराय कविवर, जयमाला पाठ ।

- कोहेंडॉर
जिला- इलाहाबाद
(उत्तरप्रदेश)

जैन धर्म में दान वैशिष्ट्यः शास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में

- पंकज कुमार जैन

जैन धर्म में दान के प्रति एक विशिष्ट दृष्टिकोण रखा गया है। जैन धर्म में आत्मा के अविनाशी गुणों में दान को भी सम्मिलित किया गया है। दानांतराय कर्म के क्षय से आत्मा में क्षायिकदान नामक गुण प्रगट होता है। एक अपेक्षा से दान क्षायिक गुण होने के कारण आत्मा के साथ अरिहंत एवं सिद्ध अवस्थाओं में भी विद्यमान रहता है। इस संदर्भ में आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि ग्रंथ में लिखा है कि “दानांतराय कर्म के अत्यन्त क्षय से अनन्त प्राणियों के समुदाय का उपकार करने वाला क्षायिक अभयदान होता है।” वे आगे लिखते हैं कि- “यद्यपि अभयदानादि के होने में शरीर नाम कर्म एवं तीर्थंकर नामकर्म के उदय की अपेक्षा रहती है, परन्तु सिद्धों के नाम कर्म नहीं होने से अभयदानादि प्राप्त नहीं होते, तो भी जिस प्रकार सिद्धों के केवल ज्ञान रूप से अनन्तवीर्य का सद्भाव माना गया है, उसी प्रकार परमानन्द के अव्याबाध रूप से क्षायिक दान का भी सिद्धों में सद्भाव है”¹।

उक्त संदर्भों से हम स्पष्ट जान सकते हैं कि दान कोई सामाजिक व्यवस्था का वित्तप्रबंधन नहीं है अपितु यह चित्त-प्रबंधन का एक उत्कृष्ट माध्यम है।

वर्तमान समय में दान शब्द ने बड़ा ही संकुचित अर्थ ग्रहण कर लिया है। आज जनसामान्य विधान एवं पंचकल्याणक महोत्सवों में होने वाली बोलियों में दिये जाने वाले धन को ही दान समझने लगा है। अनेक अवसरों पर ऐसा लगता है कि प्रभावना के कार्यों पर होने वाले सामाजिक व्यय को ही हम दान का उत्कृष्ट स्वरूप मान बैठे हैं। आवश्यकता है कि दान स्वरूप और उसके माहात्म्य को शास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में समाज के समक्ष रखने की कोशिश की जाये।

दान का लक्षण :

अनेक आचार्यों ने दान की विभिन्न परिभाषायें दी हैं। इनमें प्रमुखरूप से आचार्य उमास्वामी जी ने तत्त्वार्थ सूत्र में दान का लक्षण स्पष्ट करते हुए लिखा है कि-

“अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्”

अर्थात् स्वयं अपना एवं दूसरे के उपकार के लिए अपनी वस्तु त्याग करना दान है² इसी लक्षण को स्पष्ट करते हुए सर्वार्थसिद्धिकार आचार्य पूज्यपाद ने लिखा है कि-

“परानुग्रहबुद्ध्या स्वस्यातिसर्जनं दानम् ।”

अर्थात् दूसरे का उपकार हो इस बुद्धि से अपनी वस्तु का अर्पण करना दान है³ ध्वलाकार आचार्य वीरसेन ने दान का लक्षण स्पष्ट करते हुए लिखा है कि-

“रत्नत्रयवद्भ्यः स्ववित्तपरित्यागो दानं रत्नत्रयसाधनादित्सा वा।”

अर्थात् रत्नत्रय से युक्त जीवों के लिए अपने वित्त का त्याग करने या रत्नत्रय के योग्य साधनों के प्रयोग करने की इच्छा का नाम दान है।⁴

दान के भेद :

आगम में दान के भेदों की व्याख्या करते हुए सामान्यतः आहारदान, औषधदान, ज्ञानदान, अभयदान इन चार प्रकार के दानों का वर्णन किया गया है। आचार्य समन्तभद्र ने रत्नकरण्डक श्रावकाचार में आहार, औषध, उपकरण, आवास के भेद से दान के चार भेद बताये हैं।⁵

सर्वार्थसिद्धिकार आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने लिखा है- “त्याग दान है। वह आहार दान, अभयदान और ज्ञानदान के भेद से तीन प्रकार का है।”⁶

महापुराणकार आचार्य गुणभद्र ने दान शब्द के स्थान पर दत्ति शब्द का प्रयोग करते हुए दयादत्ति, पात्रदत्ति, समदत्ति और अन्वयदत्ति के भेद से दत्ति के चार भेद किये हैं।⁷

आचार्य पद्मनंदी पंचविंशतिका में अभयदान, औषधदान, आहारदान, शास्त्रदान के भेद से दान के चार भेद किये हैं।⁸

दान के परंपरागत भेदों से हटकर सागारधर्मावृत में पं. आशाधर ने सात्त्विक, राजसिक और तामसिक दानों को भी उद्धरित किया है।⁹

उन्होंने लिखा है कि जिस दान में अतिथि का कल्याण हो, जिसमें पात्र की परीक्षा व निरीक्षण स्वयं किया हो और जिसमें श्रद्धादि समस्त गुण हों, उसे सात्त्विक दान कहते हैं। जो दान केवल अपने यश के लिए किया गया हो, जो थोड़े ही समय के लिए सुन्दर और आश्चर्यचकित करने वाला हो और दूसरे से दिलाया गया हो उसे राजस दान कहते हैं।

जिसमें पात्र-अपात्र का कुछ ध्यान न दिया गया हो, अतिथि का सत्कार न किया गया हो, जो निन्द्य हो और जिसके सब उद्योग दास और सेवकों से कराये गये हों, उस दान को तामस दान कहते हैं।

सामान्य रूप से सभी शास्त्रों में चार प्रकार के ही दान का उल्लेख किया गया है। पर कहीं-कहीं ज्ञान दान को शास्त्र दान का उपकरण दान कहा गया है एवं अभय दान के स्थान पर आवास दान या वसतिकादान कहा गया है। उक्त नामांतर पात्रों की आवश्यकतानुसार किया गया है।

वर्तमान समय में अर्थ की प्रधानता है। इस अर्थ प्रधान युग में लोग संपत्ति का संचय करके उसे केवल विषय भोग एवं विलासिता की सामग्री को क्रय करने एवं शादी-विवाह एवं अन्य घरेलू कार्यों में ही खर्च करते हैं। आज अनेक लोगों की धारणा बनती जा रही है कि दान करना अपव्यय है एवं इससे किसी प्रकार के फल की प्राप्ति नहीं होती। इस संदर्भ में जैनाचार्यों ने हमारे श्रावक जीवन में दान को आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य बतलाया है। रयणसार में आचार्य कुंदकुंद देव ने स्पष्ट लिखा है कि-

“दाणं पूया मुखं सावयधम्मे ण सावया तेण विणा”

अर्थात् दान एवं पूजा श्रावक के मुख्य धर्म हैं, इनके बिना श्रावक धर्म की कल्पना नहीं की जा सकती।¹⁰

श्रावक के षट् आवश्यकों में दान को प्रमुख स्थान दिया गया है। आचार्य पद्मनंदी ने पंचविंशतिका में स्पष्ट रूप से लिखा है कि “देशव्रती श्रावक के जीवन में प्रतिदिन जिन पूजनादि बहुत से कार्यों के होने के बाद भी सत्पात्र दान उसका महान् गुण है। उन्होंने दान को परंपरा से मोक्ष का कारण भी माना है।”¹¹ पद्मपुराणकार आचार्य रविषेण ने लिखा है कि- “जीवितान्मरणं श्रेष्ठं बिना दानेन देहिनाम्” अर्थात् प्राणियों के दान रहित जीवन से मरण श्रेष्ठ है।¹²

आचार्य जिनसेन ने हरिवंश पुराण में भगवान् ऋषभदेव को आहार दान देने के कारण हस्तिनापुर के राजा श्रेयांस ने “दान तीर्थकर” का पद प्राप्त किया। उनके इस महान् कार्य के कारण ही षट्खंडाधिपति भरत चक्रवर्ती ने आकर राजा श्रेयांस की पूजा (सम्मान) की।¹⁴

कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रंथ में स्वामिकुमार धनिकों के लिए दान की प्रेरणा देते हुए लिखते हैं कि “जो सम्पत्ति का संग्रह कर न तो उसका उपभोग करता है और न ही सत्पात्रों को दान देता है, वह बहुत बड़ी आत्मवंचना करता है, उसका मनुष्यत्व निष्फल है। जो पुरुष परिश्रमपूर्वक धन अर्जित करके उसे धरती के नीचे गाड़कर रखते हैं, वे अपनी संपत्ति को पाषाण के समान बना रहे हैं।”¹⁵

प्रश्नोत्तर श्रावकाचार में आचार्य सकलकीर्ति ने गृहस्थ जीवन में दान का महत्त्व स्पष्ट करते हुए लिखा है कि- “जिस गृहस्थाश्रम में दान नहीं दिया जाता वह गृहस्थाश्रम पत्थर की नाव के समान समझना चाहिए” ऐसे गृहस्थाश्रम में रहकर मूर्ख लोग अत्यन्त अथाह संसार रूपी महासागर में डूब जाते हैं।¹⁶ मुनियों के लिए दिये जाने वाले आहार दान का अतिशय महत्त्व बतलाते हुए आचार्य सकलकीर्ति ने लिखा है कि-

“मुनिपादोदकेनैव यस्यगेहं पवित्रितम् ।

नैव श्मशानतुल्यं हि तस्यागारं बुधैः स्मृतम्॥”

अर्थात् जिनका घर मुनियों के चरण कमलों के जल से पवित्र नहीं हुआ है उनका घर श्मशान के समान है ऐसा विद्वान् लोग मानते हैं।¹⁷ आचार्य पद्मनंदी पात्र दान की आवश्यकता पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं-

“सूनोर्मृतेरपि दिनं न सतस्तथा स्याद्बाधाकरम्, यथामुनिदानशून्यम्”

अर्थात् सज्जन पुरुष के लिए अपने पुत्र की मृत्यु का दिन भी उतना बाधक नहीं होता जितना मुनि दान से रहित दिन उसके लिए बाधक होता है।¹⁸

दान के अभाव में धार्मिकता मात्र दिखावा है-

आचार्य पद्मनंदी जी पद्मनंदी पंचविंशतिका में लिखते हैं- “जो मनुष्य धन के रहने पर भी दान में उत्सुक तो नहीं होता, परन्तु अपनी धार्मिकता को प्रकट करता है उसके

हृदय में कुटिलता रहती है वह परलोक में उसके सुखरूपी पर्वतों के विनाश के लिए बिजली का काम करती है।”¹⁹

अन्यायोपार्जित धन की दान में उपयोगिता कितनी सार्थक?

धर्म यद्यपि पाप करने की अनुमति किसी भी रूप में नहीं देता किंतु पाप का क्षय करने एवं प्रायश्चित्त अंगीकार करने के लिए एक मात्र धर्म ही माध्यम है। इसी प्रकार जैन शास्त्र किसी भी रूप में यह आज्ञा नहीं देते कि अन्याय एवं पाप से धन अर्जित करो और उसका दान करते रहो एवं प्रतिष्ठा प्राप्त करो। आचार्य पूज्यपाद स्वामी इष्टोपदेश में लिखते हैं-“जो मनुष्य दान करने की आशा से धन संचय करते हैं, वे उस मनुष्य की तरह हैं जो “स्नान कर लूँगा” इस आशा से पहले कीचड़ लपेटता है। संचय से त्याग श्रेष्ठ है।”²⁰

आत्मानुशासन में आचार्य गुणभद्र ने लिखा है कि- “कोई विद्वान् मनुष्य विषयों को तृण के समान तुच्छ समझकर लक्ष्मी को याचकों के लिए देता है, कोई पाप रूप समझकर किसी को बिना दिये ही त्याग देता है। सर्वोत्तम वह है जो पहिले से ही अकल्याणकारी जानकर इसे ग्रहण नहीं करता।” दूसरी ओर अनेक आचार्यों ने दान का वर्णन पाप प्रक्षालिनी क्रिया के रूप में किया है आचार्य सकलकीर्ति ने लिखा है कि-

“महाहिंसादिजे पापकर्मन्धनसमुत्करे।

जगुः सुपात्रदानं हि बुधाः संज्वलनोपमम्॥”

अर्थात् विद्वान् लोग इस पात्र दान को महाहिंसा आदि से उत्पन्न हुए पाप कर्म रूपी ईंधन के समूह को जलाने के लिए अग्नि के समान बतलाते हैं।²¹

आचार्य पद्मनंदी ने पद्मनंदी पंचविंशतिका ग्रंथ में विभिन्न श्लोकों के माध्यम से उपदेश दिया है कि गृहस्थ द्वारा उपार्जित लक्ष्मी का सच्चा सदुपयोग दान में ही है। उन्होंने लिखा है कि-“करोड़ों परिश्रमों से संचित किया हुआ जो धन प्राणियों को पुत्रों और अपने प्राणों से भी अधिक प्रिय प्रतीत होता है उसका सदुपयोग केवल दान देने में ही होता है। इसके विपरीत दुर्व्यसनादि में उसका उपयोग करने से प्राणी को अनेक कष्ट ही भोगने पड़ते हैं।”²² आचार्य पद्मनंदी ने श्रावकों को समझाते हुए कहा है कि “सम्पत्ति दान करने से क्षय को प्राप्त नहीं होती, वह तो पुण्य के क्षय से क्षय को प्राप्त होती है।”²³ कुरलकाव्य में लिखा है “श्रीमानों को गरीबों के पेट की ज्वाला शांत करने के उद्देश्य से धन संचय करना चाहिए, अर्थात् संचित धन से परोपकार करना चाहिए।”²⁴

सत्पात्र को दान करने के अभाव से इस जन्म के संचित पाप भी क्षय को प्राप्त हो जाते हैं। हरिवंशपुराण में वर्णित कथानुसार कौशाम्बी नगरी के राजा सुमुख ने वीरक वैश्य की पत्नी वनमाला को अपने पास रख लिया था, वनमाला भी राजा सुमुख पर आसक्त हो गयी थी। उसी भव में उन दोनों ने श्रद्धा-भक्ति पूर्वक उत्कृष्ट चारित्र के धारी वरधर्म मुनि को आहार दान दिया था। आकाश से बिजली गिरने से एक दिन दोनों मृत्यु को प्राप्त हुए पर सत्पात्र दान के प्रभाव से विजयार्थ पर्वत की श्रेणियों में विद्याधर एवं विद्याधरनी के रूप में उत्पन्न हुए।²⁵ आगम प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि दान के प्रभाव से कृषि, व्यापार आदि में आरंभ से उत्पन्न हुए पाप का प्रक्षालन होता है। लेकिन अन्याय, अनीति एवं पाप

से उपार्जित धन को दान के लिए श्रेष्ठ द्रव्य नहीं माना गया है इसलिए दान के उद्देश्य से पाप करके लक्ष्मी का संचय करना बुद्धिमानी नहीं है।

दान का फल-

आचार्य समन्तभद्र ने रत्नकरण्डक श्रावकाचार में लिखा है कि “सत्पात्रों को दिया गया अल्पदान भी समय पर विशाल फल देता है, जैसे भूमि में बोया गया बट का छोटा सा बीज कालांतर में विशाल वृक्ष बनकर छाया देता है।”²⁶

हरिवंश पुराण में लिखा है कि-“राजा श्रेयांस ने दान का फल बतलाते हुए भरत चक्रवर्ती आदि से कहा कि दान से पुण्य संचित होता है वह दाता को पहले स्वर्गादि रूप फल देकर अन्त में मोक्ष रूपी फल देता है।”²⁷

दान देने के प्रभाव से मनुष्य भोगभूमि एवं स्वर्ग के सुखों को भोगते हैं यहाँ तक कि दान की अनुमोदना के पुण्य से पशु भी भोगभूमि में जन्म लेते हैं।

दान के फल संबंधी विशेषाणः

दान का फल सदैव एक समान प्राप्त नहीं होता, विधि, द्रव्य एवं दाता और पात्र की विशेषताओं से दान का फल भी प्रभावित होता है। आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में लिखा है कि-“यादृग्विवर्यते दानं, तावदासाद्यते फलम्।” अर्थात् जो जैसा दान देता है, उसे वैसा ही फल प्राप्त होता है। आचार्य उमास्वामी ने दान की विशेषताओं का वर्णन करते हुए लिखा है कि- “विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तदतिशेषः।”

अर्थात् दान के फल को उसकी विधि, द्रव्य, दाता एवं पात्र की विशेषताएं प्रभावित करती हैं। इनके हीन एवं निकृष्ट रहने से हीन फल की प्राप्ति होती है एवं इनके उत्कृष्ट रहने पर उत्कृष्ट एवं श्रेष्ठ फल की प्राप्ति होती है।²⁹

दान की विधि:

दान सदैव विधि पूर्वक ही देना चाहिए, इसके लिए दाता को पात्र की योग्यता एवं उसकी आवश्यकता अवश्य देखनी चाहिए। तीन प्रकार के पात्रों में उत्कृष्ट पात्र केवल मुनिराज ही हैं, अतः उन्हें नवधाभक्ति पूर्वक आहार दान देना चाहिए। शेष मध्यम एवं जघन्य पात्रों को उनके योग्य आदर सत्कार देते हुए दान देना चाहिए।

मुनियों को आहार दान देते समय की जाने वाली नवधाभक्ति का शास्त्रों में निम्न प्रकार से उल्लेख मिलता है- 1.प्रतिग्रहण (पङ्गाहन करना), 2.उच्च स्थान पर बैठाना, 3.पाद-प्रक्षालन करना, 4.पूजन करना, 5.नमस्कार करना 6.मनशुद्धि, 7.वचन शुद्धि, 8.कायशुद्धि 9.आहार शुद्धि।³⁰

दान-विधि में शुद्धि का महत्त्व:

श्री नेमिचन्द्राचार्य ने त्रिलोकसार में लिखा है कि-

“दुष्भाव असुचि सूदग पुष्फबई जाइसंकरादीहिं।

कमदाणा वि कुवत्ते जीवा कुणरेसु जायते॥

अर्थात् जो सप्त व्यसन पूर्वक सूतक-पातक आदि के समय एवं रजस्वला अवस्था में (स्त्रियों द्वारा) दान दिया जाता है अथवा रजस्वला स्त्री से संस्पृष्ट वस्तु का दान दिया जाता है, उस दान के फल से दाता को कुभोग भूमि में जन्म लेना पड़ता है।³¹

दान के योग्य द्रव्यः

दान का उत्कृष्ट फल प्राप्त करने के लिये द्रव्य न्याय एवं नीति से उपार्जित होना चाहिए। न्याय एवं नीति पूर्वक कमाये गये धन से कराये गये जिनबिंब पंचकल्याणक प्रतिष्ठायें एवं विधि-विधान आदि समस्त अनुष्ठान सातिशय संपन्न होते हैं। जहाँ एक ओर ऐसे अनुष्ठानों से अतिशय पुण्य का आस्रव होता है, वहीं दूसरी ओर मोक्ष मार्ग भी प्रशस्त होता है। कवि संतलाल जी ने सिद्धचक्रविधान में श्रेष्ठ यजमान का लक्षण बतलाते हुए लिखा है कि-

नीत्याश्रित धनपति सुधी, शीलादि गुणखान।

जिनपद अम्बुज भ्रमर मन, सो प्रशस्त यजमान॥

अर्थात् यजमान (आयोजनकर्ता) का धन नीति द्वारा अर्जित किया हुआ होना चाहिए।³² इसी संदर्भ में पंडित आशाधर जी ने लिखा है कि-“न्यायोपात्त धनो यजन्...चरेत्॥”

अर्थात् धर्म पालन करने वाले श्रावक की अनेक विशेषताओं में से एक विशेषता यह भी है कि वह अपना धन न्यायपूर्वक अर्जित करता हो।³³ दान का फल द्रव्य की मात्रा पर नहीं अपितु उसकी शुद्धि पर निर्भर करता है। आहार दान एवं औषधि दान में दिया जाने वाला आहार एवं औषधियाँ प्रासुक एवं शुद्ध होनी चाहिए अहिंसक विधि से तैयार हों मर्यादित एवं भक्ष्य होनी चाहिए।

दान के अयोग्य द्रव्य एवं सामग्री का वर्णन करते हुए आचार्य पद्मनंदी ने लिखा है कि-“गाय, सुवर्ण, पृथ्वी, रथ, स्त्री आदि का दान महान् फल देने वाले नहीं है क्योंकि वे निश्चय से पाप उत्पन्न करने वाले हैं। लेकिन दाता जिनालय के निमित्त से भूमि आदि का दान कर सकता है क्योंकि वह धर्म संस्कृति का कारण है।”³⁴

दाता के गुणः

दान का उत्कृष्ट फल प्राप्त करने के लिए दाता में सात विशेष गुण होने चाहिए। इनका वर्णन करते हुए आचार्य जिनसेन ने आदिपुराण में लिखा है कि-“श्रद्धा, शक्ति, भक्ति, विज्ञान, अलुब्धता, क्षमा, त्याग ये दानपति अर्थात् दान देने वाले के सात गुण कहलाते हैं। श्रद्धा आस्तिक्य बुद्धि को कहते हैं। आस्तिक्य बुद्धि अर्थात् पात्र के प्रति श्रद्धा के न होने पर अनादर हो सकता है। दान देने में आलस्य नहीं करना शक्ति गुण है। पात्र के गुणों में आदर करना भक्ति है। दान देने आदि के क्रम का ज्ञान होना एवं पात्र-अपात्र की पहचान होना विज्ञान गुण है। दान देने की शक्ति को अलुब्धता कहते हैं। सहनशीलता होना क्षमा गुण है। उत्तम द्रव्य दान में देना त्याग है। जो दाता इन सात गुणों से सहित होकर एवं निदान आदि दोषों से रहित होकर पात्रों को दान देता है वह मोक्ष प्राप्त करने के लिए तत्पर होता है।”³⁵ दान करते समय दाता के मन में प्रत्युपकार की इच्छा नहीं होनी चाहिए न ही किसी

प्रकार का निदान बाँधना चाहिए।

दान के योग्य पात्र एवं उनका दान के फल पर प्रभावः

दान के फल की प्राप्ति में पात्र गुणों का अतिशय महत्त्व है। जिसके द्वारा दान ग्रहण किया जाता है। शास्त्रों में उत्तम, मध्यम जघन्य के भेद से तीन प्रकार के पात्रों का उल्लेख प्राप्त होता है। सम्यग्दर्शन एवं व्रत-आचरण के द्वारा ही पात्र की पात्रता निर्धारित होती है। विभिन्न शास्त्रों में पात्रों का वर्णन करते हुए लिखा है कि-“जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप की शुद्धि से पवित्र है तथा शत्रु और मित्रों पर माध्यस्थ भाव रखते हैं ऐसे साधु उत्तम पात्र कहलाते हैं। संयमासंयम अर्थात् अणुव्रतों को धारण करने वाले श्रावक मध्यम पात्र कहलाते हैं। अविरत सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र कहलाते हैं। जो स्थूल हिंसादि पापों से निवृत्त हैं परन्तु मिथ्यात्व से ग्रसित हैं वे कुपात्र हैं। जो मिथ्यादृष्टि होने के साथ-साथ हिंसादि पापों से भी निवृत्त नहीं है, वे अपात्र हैं।³⁶

सामान्यतः सभी आचार ग्रंथों में पात्रों के उक्त भेद समान रूप से बतलाये गये हैं। लेकिन आचार्य जिनसेन ने आदिपुराण में पात्रों का वर्णन कुछ भिन्न प्रकार से किया है। उन्होंने लिखा है कि-“जो मन्दकषायी मिथ्यादृष्टि व्रत-शील आदि पालन करता है, वह जघन्य पात्र है। व्रत-शील आदि की भावना से रहित सम्यग्दृष्टि मध्यम पात्र है।” व्रतशील आदि से सहित सम्यग्दृष्टि उत्तम पात्र है। व्रत-शील रहित मिथ्यादृष्टि अपात्र है।³⁷ उन्होंने पात्रों में कुपात्र का वर्णन नहीं किया है।

मिथ्यादृष्टि मनुष्य दान के प्रभाव से एवं तिर्यच दान की अनुमोदना के प्रभाव से भोगभूमि को प्राप्त करते हैं। वे बद्धायुष्क सम्यग्दृष्टि जिन्होंने पूर्व में मनुष्यायु बाँध ली है वे भी पात्र दान के प्रभाव से भोगभूमि में जन्म लेते हैं। उत्तम पात्रों को दान देने से उत्तम भोगभूमि की प्राप्ति होती है। मध्यम पात्रों को दान देने से मध्यम भोगभूमि में जन्म प्राप्त होता है। जघन्य पात्रों को दान देने से जघन्य भोगभूमि में जन्म होता है। कुपात्रों को दान देने के कारण ही जीवों को भोगभूमियों में तिर्यच बनकर उत्पन्न होना पड़ता है। कुपात्र दान के प्रभाव से जीवों को भोगभूमियों में तिर्यच बनकर उत्पन्न होना पड़ता है। कुपात्र दान के प्रभाव से जीवों को जन्म म्लेच्छ खंड के मनुष्य के रूप में होता है। आर्यखंड में दासी, दास, हाथी, कुत्ता आदि भोगवन्त जीवों को प्राप्त होने वाले भोग भी कुपात्र दान के प्रभाव से प्राप्त होती है। आर्यखंड में नीच जाति के मनुष्यों को प्राप्त होने वाले भोग भी कुपात्र दान के प्रभाव से प्राप्त होते हैं। एवं सम्यग्दृष्टि सत्पात्रों को दान देने के प्रभाव से सोलह स्वर्गों में जन्म लेते हैं।³⁸

कुपात्र को दिया गया दान दाता को कुभोग प्रदान करता है। जिस प्रकार खराब भूमि में बोया बीज अल्प फल देता है। अपात्र को दिया या दान दुःख देने वाला है। जैसे सर्प के मुख में पड़ा हुआ दूध भी विष हो जाता है। अतः सुपात्रों के लिए ही दान देना चाहिए।³⁹ शास्त्रों में पात्रों को ही दान देने का निर्देश दिया गया है। लेकिन जो कुपात्र व अपात्र दीन-दुःखी हैं, रोगी हैं, पीड़ित हैं क्या उनकी सहायता करनी चाहिए? एक सम्यग्दृष्टि जीव में अनुकंपा गुण रहता है जिस कारण वह संसार के सभी जीवों के दुःख दूर करने

के लिए प्रयासरत रहता है। इस हेतु से कुछ शास्त्रों में उल्लेख मिलता है कि-

“कुपात्रायाप्यपात्रय दानं देयं यथोचितम्।

पात्रबुद्ध्या निषिद्धं स्यान्निषिद्धं न कृपाधिया॥”

अर्थात्-कुपात्र के लिए और अपात्र के लिए भी यथा योग्य दान देना चाहिए क्योंकि कुपात्र तथा अपात्र के लिए केवल पात्र बुद्धि से दान देना निषिद्ध है, करुणा बुद्धि से दान देना निषिद्ध नहीं है।⁴⁰

दान एवं त्याग में अंतरः

स्थूल रूप से दान एवं त्याग में कोई अंतर दिखाई नहीं देता क्योंकि दोनों शब्दों से एक ही अर्थ प्रकट होता है। दोनों शब्दों का प्रयोग छोड़ने के अर्थ में किया जाता है। लेकिन आगम का सूक्ष्मावलोकन करने पर त्याग एवं दान दोनों में कुछ मौलिक अंतर भी नजर आता है। आगम में त्याग का लक्षण बतलाते हुए आचार्य कुंदकुंद ने लिखा है कि-

“णिव्वेगतियं भावइ मोहं चइऊण सव्वदव्वेसु।

जो तस्स हवेच्चागो इदि भणिदं जिणवरिदेहिं॥”

अर्थात् जिनेन्द्र भगवान ने कहा है कि, जो जीव सारे द्रव्यों के मोह छोड़कर संसार, देह और भोगों से उदासीनरूप परिणाम रखता है, उसके त्याग धर्म होता है।⁴¹ आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने त्याग धर्म का लक्षण स्पष्ट करते हुए लिखा है कि- “व्युत्सर्जनं त्यागः॥ अर्थात् व्युत्सर्जन करना व्युत्सर्ग है, जिसका अर्थ त्याग होता है।⁴² सर्वार्थसिद्धि में आचार्य पूज्यपाद ने व्यवहार त्याग धर्म की परिभाषा देते हुए लिखा है कि-

“संयतस्य योग्यं ज्ञानादिदानं त्यागः।”

संयत के योग्य ज्ञानादि का दान करना त्याग कहलाता है।⁴³ अकलंकदेव ने भी त्याग धर्म को परिग्रह त्याग के रूप में परिभाषित किया है-

“परिग्रहस्य चेतनाचेतन लक्षणस्य निवृत्तिस्त्याग इति निश्चीयते।”

अर्थात् सचेतन और अचेतन परिग्रह की निवृत्ति को त्याग कहते हैं।⁴⁴ प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति टीका में भी त्याग धर्म की परिभाषा इसी प्रकार दी गयी है।

“निजशुद्धात्म परिग्रहं कृत्वा बाह्याभ्यन्तर-परिग्रहनिवृत्तिस्त्यागः।”

अर्थात् निज शुद्धात्मा को ग्रहण करके बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह की निवृत्ति त्याग है।⁴⁵ आगम में त्याग धर्म का वर्णन दोनों प्रकार से मिलता है। जहाँ आचार्यों ने व्यवहार त्याग धर्म की व्याख्या की है वहाँ त्याग एवं दान में एकरूपता दिखाई देती है। जहाँ निश्चय त्याग धर्म का वर्णन किया गया है। वहाँ त्याग का स्वरूप दान से उत्कृष्ट दिखाई देता है। दान एवं त्याग की समीक्षा करने पर उनके बीच कुछ मौलिक अंतर भी दिखाई देते हैं, जैसे- दान की आवश्यक शर्त है कि जो दान करता है उतना कम से कम दाता के पास अवश्य होना चाहिए। अन्यथा वह कहाँ से दे सकता है। पर त्याग में ऐसा नहीं है। जो वस्तु हमारे पास नहीं है उसके मोह को छोड़कर उसका भी त्याग किया जा सकता है।

दान के लिए दाता एवं पात्र दोनों का होना आवश्यक है पर त्याग करने के लिए इस

बात की चिन्ता नहीं की जाती है कि इसे कौन ग्रहण करेगा। दान में सदैव त्याग की भावना छुपी रहती है पर त्याग में सदैव दान का भाव रहना आवश्यक नहीं है। दान एवं त्याग में भेद होते हुए भी मोक्षमार्गी जीव के लिए दोनों ही आवश्यक हैं। इन दोनों क्रियाओं का फल परंपरा से मोक्ष रूप ही दिखाई देता है। इसलिए फल प्राप्ति की अपेक्षा दान एवं त्याग दोनों ही समान रूप से आत्मा के लिए हितकारी हैं क्योंकि इन दोनों से ही मोह समाप्त होता है और जीव निर्मोही बनकर अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करता है।

संदर्भ-

1. आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि, 2/4
2. आचार्य उमास्वामी, तत्त्वार्थसूत्र, 7/8
3. आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि, 6/12
4. आचार्य वीरसेन, धवला, 13/5,5,137
5. आचार्य समन्तभद्र, रत्नकरण्डक श्रावकाचार, 117
6. आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि, 6/24
7. आचार्य गुणभद्र, महापुराण, 38/35
8. आचार्य पद्मनंदी, पद्मनंदी पंचविंशतिका, 248
9. पं. आशाधर, सागार धर्माभूत, 2/40
10. आचार्य कुंदकुंद, रयणसार, 11
11. आचार्य पद्मनंदी, प. पं. 408, 465, 474
12. आचार्य रविषेण, पद्मपुराण, 17/6
13. आचार्य जिनसेन, हरिवंश पुराण, सर्ग 10 श्लो. 8
14. आचार्य जिनसेन, हरिवंश पुराण, 9/116, 117
15. स्वामिकुमार, कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 3,4
16. आचार्य सकलकीर्ति, प्रश्नोत्तर श्रावकाचार 20/100
17. आचार्य सकलकीर्ति, प्रश्नोत्तर श्रावकाचार 20/101
18. आचार्य पद्मनंदी, प. पं./227
19. आचार्य पद्मनंदी, प. पं./229
20. आचार्य पूज्यपाद, इष्टोपदेश, 16
21. आचार्य सकलकीर्ति, प्रश्नोत्तर श्रावकाचार 20/41
22. आचार्य पद्मनंदी, प. पं./206
23. आचार्य पद्मनंदी, प. पं./236
24. कुरलकाव्य, 23/6
25. हरिवंशपुराण, सर्ग 14-15
26. आचार्य समन्तभद्र, रत्नकरण्डक श्रावकाचार/116
27. आचार्य जिनसेन, हरिवंशपुराण, 9/201, 206
28. आचार्य जिनसेन, योगशास्त्र, 2/48
29. आचार्य उमास्वामी, तत्त्वार्थसूत्र, 7/39
30. आचार्य जिनसेन, आदिपुराण, 20/86
31. श्री नेमिचंद्राचार्य, त्रिलोकसार, 924
32. कवि संतलाल, सिद्धचक्र विधान, मंगलाचरण
33. पं. आशाधर, सागारधर्माभूत, 11

34. आचार्य पद्मनंदी, पद्मनंदी पंचविंशतिका, 248, 249
35. आचार्य जिनसेन, आदिपुराण, 20/83-85
36. आचार्य जिनसेन, हरिवंशपुराण, 7/108-114
37. आचार्य जिनसेन, आदिपुराण, 20/140-141
38. आचार्य वसुनन्दी, वसुनन्दी श्रावकाचार, 249-269
39. आचार्य जिनसेन, हरिवंश पुराण, 7/116-111
40. पं. राजमल, पंचाध्यायी, 730
41. आचार्य कुंदकुंद, वारसाणुवेक्खा, 78
42. आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि, 9/26/443
43. आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि, 9/6/20
44. आचार्य अकलंक, राजवार्तिक, 9/6/18
45. आचार्य जयसेन, प्रवचनसार की ता. वृ. टीका, 229

- काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी- 221001 (उ.प्र)
मो. 097953 73329

उपज्जदि सण्णाणं जेण उवाएण तस्सुवायस्स ।

चिंता हवेइ बोहो अच्चंतं दुल्लहं होदि॥ ८३॥ वारसाणुवेक्खा

अर्थात् जिस उपाय (साधन) से सम्यग्ज्ञान उत्पन्न होता है, उसके उपाय के लिए जो चिंता (विचारणा) होती है वह बोध (ज्ञान) अत्यन्त दुर्लभ होता है जैसे चिन्तामणि रत्न।

श्रमण और श्रमणाभास

- डॉ. श्रेयांसकुमार जैन

श्रमणसंस्कृति में आदिकाल से ही श्रमण का महत्त्वपूर्ण स्थान है। श्रमण शब्द प्राकृत भाषा के 'समण' का रूपांतर है "श्राम्यति आत्मानं तपोभिरिति श्रमणः" अर्थात् जो तपों से अपनी आत्मा को श्रमयुक्त करता है, वह श्रमण है। या "श्राम्यति मोक्षमार्गे श्रमं विदधातीति श्रमणः" इस व्युत्पत्ति की अनुसार जो मोक्षमार्ग में श्रम करता है वह श्रमण कहलाता है। यह शब्द 'श्रमु खेदे' धातु से ल्युट् प्रत्यय करने पर कृदन्त रूप में भी बनता है। जो संपूर्ण प्राणियों के प्रति समताभाव रखता है, वह श्रमण है।

मूलाचार में दिगम्बर साधु को विविध नामों से उल्लिखित किया गया है, उनमें प्रथम शब्द ही है-

समणोत्ति संजदीत्ति य रिसि मुणि साधुत्ति वीतरागीति।

णामाणि सुविहिदाणं अणगार भदंत दंतोत्ति। मूलाचार ८८८

अर्थात् श्रमण, ऋषि, मुनि साधु वीतराग, अनगार, भदन्त, दान्त और यति ये सम्यक् आचरण करने वाले साधुओं के नाम हैं।

श्रमण का व्यापक विवेचन मूलाचार में है उसी के आश्रय से यहाँ संक्षिप्त रूप से प्रस्तुत किया जा रहा है। निश्चयनय की विवक्षा से प्रतिपादित श्रमण स्वरूप के साथ श्रमण की क्रियाओं को गर्भित किया गया है-

णिस्संगो णिरारंभो भिक्खाचरियाए सुद्धभावो य।

एगागी झाणरदो सव्व गुणइढो हवे समणो। मूलाचार १००२

जो निस्संग अन्तरंग बहिरंग परिग्रह के अभाव से मूर्च्छा रहित, निरम्भ पापक्रियाओं से निवृत्त आहार की चर्या में शुद्धभाव सहित एकाकी ध्यान में लीन होते हैं, वे श्रमण सर्वगुण संपन्न कहलाते हैं। वे कषायरहित होने के कारण ही संयत हैं जैसे कि कहा भी है-

अकसायं तु चरित्तं कसायवसिओ असंजदो होदि।

उवसमिदि तम्हिकाले तक्काले संजदो होदि। मूलाचार ९८२

अकषायपने को चारित्र कहते हैं। कषाय के वश होने वाला असंयत है जिस काल में कषाय नहीं करता उसी काल में संयत है। श्रमण जिनेन्द्राज्ञा का सतत पालन करता हुआ अपने को क्रोधादि कषायों से बचाये रखता है।

मूलाचार के तपःशुद्ध प्रकरण में आचार्य लिखते हैं-

पंचमहव्वयधारी पंचसु समिदीसु संजदा धीरा।

पंचिंदियत्थ विरदा पंचम गई मग्गया सवणा। १/८८३

जो पंचमहाव्रतधारी पंचसमितियों से संयत, धीर, पंचेन्द्रिय विषयों से विरक्त तथा पंचम गति के अन्वेषक होते हैं। तप-चारित्र आदि क्रियाओं में अनुरक्त पापों का शमन करने वाले होते हैं। संयम, समिति, ध्यान एवं योगों में नित्य ही प्रमाद रहित होते हैं वे श्रमण कहलाते हैं।²

प्रवचनसार में श्रमण के स्वरूप का निरूपण करते हुए कहा गया है-

समसत्तु बंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंद समो।

समलोदठकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो॥३/२१

जिसे शत्रु और बन्धु वर्ग समान है, सुख-दुःख समान है, प्रशंसा और निन्दा में समभाव रखता है, जिसे लोष्ट और सुवर्ण समान है तथा जीवन मरण के प्रति समता है, वह श्रमण है। इसी प्रकार अन्य आचार्य ने भी लिखा है-सुख-दुःख में जो समान है और ध्यान में लीन है, वह श्रमण है।³ आचार्य वट्टकेर श्रमण को सामायिक रूप में चित्रित करते हैं 'जिस कारण से अपने और पर में माता और सर्वमहिलाओं में, अप्रिय और प्रिय तथा मान-अपमान आदि में समान भाव होता है।' इसी कारण श्रमण हैं और इसी से वे सामायिक हैं।⁴ यहाँ आचार्य श्रमण का स्वरूप भाव की प्रधानता से प्रतिपादित करते हैं वे श्रमणों को सावधान करते हुए कहते भी हैं-

भावसमणा हु समणा ण सेस समणाण सुग्गई जम्हा।

जहिऊण दुविहभुवहिं भावेण सुसंजदो होई॥ मूलाचार १००४

भावश्रमण ही श्रमण हैं क्योंकि श्रमणों को मोक्ष नहीं होता। इसलिए हे श्रमण! दो प्रकार (अन्तरंग-बहिरंग) परिग्रह को छोड़कर भाव से सुसंयत होओ। आचार्यों ने श्रमणों के रत्नत्रय की ही प्रशंसा की है क्योंकि श्रमण का द्रव्यलिंग ही मोक्षमार्ग नहीं है अपितु उस लिंग/शरीर के आधार से रहने वाला जो रत्नत्रय है, उसी से मोक्ष प्राप्त होता है। अतः श्रमण भावसहित उस द्रव्यलिंग को स्वीकार कर उसके माध्यम से अभेद रत्नत्रय को प्राप्त कर उसमें स्थिरता प्राप्ति के लिए सतत प्रयासरत रहते हैं।⁵ साथ में अर्हदादि की भक्ति, ज्ञानियों में वात्सल्य, अन्य श्रमणों को वन्दन, अभ्युत्थान, अनुगमन व वैयावृत्य करना प्रासुक आहार एवं विहार उत्सर्गसमिति पूर्वक निहार आदि क्रिया, तत्त्वविचार, धर्मोपदेश, पर्व के दिनों में विशेष उपवास चातुर्मासयोग शिरोनति व आवर्त आदि कृतिकर्म सहित प्रतिदिन देव वन्दना, आचार्यवन्दना, स्वाध्याय, रात्रियोगधारण, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान आदि शुभोपयोगी क्रियायें व्यवहार मोक्षमार्ग को प्रशस्त करते हुए श्रमण करते हैं।

निश्चय-व्यवहार रत्नत्रय रूप मोक्षमार्ग पर चलने वाले ही परिपूर्ण श्रमण होते हैं परिपूर्ण श्रमण के स्वरूप को बतलाते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं-

चरदि णिबद्धो णिच्चं समणो णाम्मि दंसणमुहम्मि।

पयदो मूलगुणेसु य जो सो पडिपणं सामण्णो॥ प्रवचनसार २१४

जो श्रमण सदा ज्ञान और दर्शनादि में प्रतिबद्ध तथा मूलगुणों में प्रयत्नशील विचरण करता है, वह परिपूर्ण श्रमण्यवान् है।

श्रमण का लिंग जिनलिंग कहा जाता है वह दोष रहित होता है। उसमें पूर्णतया अचानक वृत्ति होती है। भावों की शुद्धि की प्रधानता होती है जैसा कि भावप्राभृत में भी कहा है “जिसमें पांच प्रकार के वस्त्रों का त्याग किया जाता है, पृथ्वी पर शयन किया जाता है, दो प्रकार का संयम धारण किया जाता है, भिक्षा भोजन किया जाता है, भाव की पहले भावना की जाती है तथा शुद्ध निर्दोष प्रवृत्ति की जाती है, वही जिनलिंग निर्मल कहा जाता है।”⁶

मूलाचार में दीक्षा योग्य पात्र तथा उसकी दीक्षा विधि आदि का वर्णन नहीं किया गया है किन्तु कहा गया है कि यदि श्रमण की चर्या यत्नाचार पूर्वक होती है, तो वह निर्दोष मानी गयी है। इसीलिए मूलाचार में साधु की प्रवृत्ति के संदर्भ में आचार्य ने प्रश्न किया है और स्वयं समाधान भी किया है।

कथं चरे कथं चिट्ठे कथमासे कथं सये।

कथं भुंजेज्ज भासिज्ज कथं पावं ण बज्झदि॥ मूलाचार १०१४

श्रमण को जिस प्रकार से प्रवृत्ति करना चाहिए? कैसे खड़े होना चाहिए? कैसे बैठना चाहिए? कैसा सोना चाहिए? कैसे भोजन करना चाहिए? कैसे बोलना चाहिए? जिससे पाप का बंध न हो।

इसी प्रश्न के उत्तर में आगे कहा है—

जदं चरे जदं चिट्ठे जदमासे जदं सये।

जदं भुंजेज्ज भासेज्ज जदो पावं ण वज्झई॥ मूलाचार १०१५

जदं तु चरमाणस्स दयापेक्खिस्स भिक्खुणो।

णवं ण बज्झदे कम्मं पोरणं च विधूयदि॥ मूलाचार १०१६

यत्न से ईर्यापथ शुद्धिपूर्वक गमन करना चाहिए। यत्न से खड़े होना चाहिए। यत्न से सावधानी पूर्वक जीवों को बाधा न देते हुए उन्हें पिच्छिका से हटाकर पद्मासन से बैठना चाहिए। सोते समय भी यत्न से संस्तर का संशोधन करके अर्थात् चटाई फलक आदि को उलट-पलट कर देखकर रात्रि में गात्र संकुचित करके सोना चाहिए। यत्न से भाषा समिति से बोलना चाहिए। इस प्रकार की प्रवृत्ति से पाप बन्ध नहीं होता है क्योंकि जो श्रमण यत्नाचार से प्रवृत्ति करता है, दया भाव से सतत प्राणियों का अवलोकन करता है, उसके नवीन कर्मों का बंध नहीं होता है और पुराने कर्म भी नष्ट हो जाते हैं। इसी प्रसंग में और भी बताया गया है कि जो “जो मुनि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और संहनन की अपेक्षा करके चारित्र में प्रवृत्त होता है, वह क्रम से वध-हिंसा से रहित हो जाता है।”⁷

श्रमण समितियों का पालन करते हुए विहार करते हैं जो जीवों से भरे हुए संसार में भी हिंसादि पापों से लिप्त नहीं होता है वह जीव जन्तु भरे रहने पर भी अपने देववन्दना, आहार आदि कार्य समिति सहित ही करते हैं। यही कारण है श्रमण हिंसादि पापों से बंध ते नहीं हैं। कारण यह है कि पत्र के स्नेह गुणसहित होने पर भी उसमें पानी नहीं रुकता है उसी प्रकार श्रमण भी देववन्दनादि कार्य करते हुए जीवों में विहरने पर भी समिति सहित होने के कारण पापों से अल्पित रहते हैं। जिसने लोहे का दृढ़ कवच पहना है, ऐसा

योद्धा बाण-तोमन आदि तीक्ष्ण शस्त्रों से सिद्ध नहीं होता है। उसी प्रकार आहार, गुरुवन्दना आदि कार्यों में तत्पर मुनि समिति सहित विहार करने के कारण पाप लिप्त नहीं होते हैं।

श्रमण की प्रवृत्ति में यत्नाचार की प्रधानता उनके सतत सावधानता को निरूपित करती है। वर्तमान में कुछ साधुओं द्वारा उक्त कथन का भी उल्लंघन किया जा रहा है। वे प्रमाद के वशीभूत होकर अपनी क्रियाओं के प्रति उपेक्षा करते हैं, जिसके कारण पाप बंध को भी प्राप्त होते हैं, जो क्रियाओं में सावधान हैं। वे भावलिंगी श्रमण मोक्षमार्ग को प्रशस्त कर रहे हैं।

भावलिङ्ग शून्य द्रव्यलिङ्ग मात्र से कल्याण होने वाला नहीं है क्योंकि मोक्षमार्ग में सभी को स्वीकार न करके जिन्हें स्वीकार किया गया है, उनके विषय में कहा गया है कि-

णिगगंथ मोहमुक्का वावाहपरिसहा जियकसाया।

पावारंभ विमुक्का ते गहीया मोक्खमग्गमि॥ ८०॥ मोक्षपाहुड

जो परिग्रह से रहित हैं, पुत्र-मित्र-स्त्री आदि के स्नेह से रहित हैं।²² परीषहों को सहन करने वाले हैं। कषायों को जीतने वाले हैं तथा पाप और आरंभ से दूर हैं। वे मोक्षमार्ग में अंगीकृत हैं।

श्रमण जीवन लौकिक व्यवहारों से परे होता है किन्तु उनकी आहार चर्या, वैयावृत्य आदि कार्य गृहस्थों के बिना नहीं सधते। अतः श्रमणों को गृहस्थों के साथ अपनी मर्यादाओं के अन्तर्गत संपर्क आवश्यक होता किन्तु इसका यह अर्थ बिल्कुल नहीं है कि गृहस्थों के साथ उनके आवासों पर रात्रि विश्राम किया जाय या उनसे धन आदि लेने के लिए उन्हें मंत्र आदि देकर संतुष्ट किया जाय। श्रमण को गृहस्थों से अधिक परिचय नहीं बढ़ाना चाहिए और उनकी विनय आदि भी नहीं करना चाहिए। आचार्य वट्टकेर ने कहा भी है-

णो वंदिज्ज अविरदं मादा पिदु गुरु णरिंद अण्णतित्थं व।

देसविरदं देवं वा विरदो पासत्थपणगं वा॥ ५९४॥ मूलाचार

असंयतजन, माता-पिता, असंयतगुरु, राजा, अन्यतीर्थ या देशविरत श्रावक, यक्षादि देव तथा पार्श्वस्थादि पांच प्रकार के पापश्रमणों को विरक्त साधु को वन्दना नहीं करने का विधान है।

श्रमण गृहस्थ का अभिनन्दन, वन्दन, वैयावृत्य आदि कभी नहीं करते हैं। इस कलिकाल ने ऐसा देखने पर मजबूर कर दिया है कि कोई साधु नेताओं या धनवानों के गले में मोतियों की माला स्वयं पहना रहे हैं। तिलक लगा रहे हैं, कलावा आदि बांधकर सत्कार कर रहे हैं, स्वयं पद्मावती क्षेत्रपाल आदि की आराधना कर रहे हैं, करा रहे हैं जो श्रमणचर्या के विरुद्ध है। आगम में लौकिक जनों की संगति छोड़ने का उपदेश है क्योंकि उनकी संगति से वाचालता आती है दुर्भावना उत्पन्न होती है। श्रमण श्रावक के घर आहारार्थ अवश्य जाते हैं किन्तु आहार के बाद पारिवारिक चर्चा में नहीं बैठते हैं। इनके द्वारा इस काल में एकलविहार वर्जित है। अधिक शुभ क्रियाएं वर्तना योग्य नहीं, मंत्र सिद्धि, शास्त्र, अंजन, सर्प आदि की सिद्धि करना तथा इन्हीं कार्यों से अपनी आजीविका चलाना

दुर्जन, लौकिक जन, तरुणजन, स्त्री, पुंश्चली, नपुंसक, पशु आदि की संगति करना निषिद्ध है।

मूलाचार में श्रमण के दस स्थितिकल्पों का विवेचन प्राप्त होता है—

अच्चेलक्कुदेसियसेज्जाहररायपिंड किदियम्म।

वद जेट्ठ पडिक्कमणं मासं पज्जो समणकप्पो॥९॥

आचेलक्य, उद्देशिक, श्यातर (शैयागृह) पिंडत्याग, राजपिंडत्याग, कृतिकर्म व्रतज्येष्ठं, प्रतिक्रमण मास तथा पर्या (पर्यूषण) ये दस कल्प हैं।

श्रमणों को इनका पालन करते हुए संयम मार्ग में प्रवृत्त रहना चाहिए तथा जिस संघ में आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधर ये पांच न हों उसमें श्रमण को नहीं रहना चाहिए⁹। मूलाचार में श्रमण द्वारा श्रमणों के वैयावृत्य का भी विधान है।¹⁰

मूलाचार में शरीर संस्कार का पूर्ण निषेध है। पुत्र, स्त्री आदि में जिन्होंने प्रेमरूपी बन्धन काट दिया है और जो अपने भी शरीर में ममता रहित हैं, ऐसे साधु शरीर में कुछ भी संस्कार नहीं करते हैं। मुख, नेत्र और दांतों का धोना, शोधना, पखारना, उबटन करना, पैर धोना, अंगमर्दन करना, मुट्ठी से शरीर का ताड़न करना, काठ के यन्त्र से शरीर का पीड़ना। ये सब शरीर के संस्कार हैं। धूप से शरीर का संस्कार करना, कण्ठ शुद्धि के लिए वमन करना, औषध आदि से दस्त लेना, अंजन लगाना, सुगंध तेल मर्दन करना, चन्दन कस्तूरी का लेप करना, सलाई बत्ती आदि से नासिकाकर्म व वस्तिकर्म (श्लेष्म) करना। नसों से लोही का निकालना ये सब संस्कार अपने शरीर में साधुजन नहीं करते। (836 से 838 तक)

श्रमण के ठहरने योग्य स्थान पर विचार करते हुए कहा गया है— जिन स्थानों या क्षेत्रों में कषाय की उत्पत्ति, आदर का अभाव, इन्द्रिय विषयों की अधिकता, स्त्रियों का बाहुल्य, दुःखों और उपसर्गों का बाहुल्य हो ऐसे क्षेत्रों का श्रमण त्याग करे अर्थात् ऐसे स्थानों में नहीं ठहरना चाहिए¹¹। गाय आदि तिर्यचनी, कुशील स्त्री, भवनवासी व्यन्तर आदि सविकारिणी देवियां, असंयमी गृहस्थ इन सब के निवासों पर अप्रमत्त श्रमण शयन करने, ठहरने या खड़े होने आदि के निमित्त सर्वथा त्याज्य समझते हैं।¹² जो क्षेत्र राजा विहीन हो या जहाँ का राजा दुष्ट हो, जहाँ कोई प्रव्रज्या न लेता हो जहाँ सदा संयम घात की संभावना बनी रहती हो ऐसे क्षेत्रों का श्रमण हमेशा परित्याग करते हैं।¹³ किन्तु धीर वैराग्य संयुक्त साधु पर्वत का गुफा, श्मशान, शून्य मकान, वृक्ष का मूल, जिनमन्दिर, धर्मशाला आदि क्षेत्रों का आश्रय लेते हैं इस तरह के वैराग्य वर्धक क्षेत्रों में रहने से साधुओं के चारित्र की अभिवृद्धि होती है। मूलगुणों का पालन करते हैं। मूलगुणों के प्रकाश में श्रमण की आवयकताएं सीमित होती हैं। वे जीवरक्षा के निमित्त एक पिच्छिका रखते हैं। शौच के निमित्त कमण्डलु रखते हैं। मूलाचार में श्रमण की तीन उपधियाँ बताई गई हैं—ज्ञानोपधि (पुस्तकादि), संयमोपधि (पिच्छिकादि), शौचोपधि (कमण्डलु)¹⁴। वर्षावास के चार माह छोड़कर निरंतर श्रमण करते रहते हैं। समस्त परिग्रह से रहित साधु वायु की तरह निःसंग होकर कुछ भी चाह न रखकर पृथ्वी पर विहार करते हैं। छयालीस दोष बचाकर भोजन

ग्रहण करते हैं। पिण्डशुद्धि अधिकार में बताया गया है कि भक्ति पूर्वक दिये गये, शरीर योग्य प्रासुक, नवकोटि विशुद्ध एषणा समिति से शुद्ध, दस दोषों, चौदह मलों से रहित भोजन का द्रव्य क्षेत्र काल, भाव को जानकर ग्रहण करते हैं¹⁵। श्रमणों के दैनिक जीवन में सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग इन षडावश्यकों का विशेष स्थान होता है।¹⁶

श्रमणों का मूल उद्देश्य विभाव से हटकर स्वभाव में रमण करना या परभाव से हटकर स्वभाव में आना। ये प्रदर्शन न कर आत्मदर्शन करते हैं। बाह्य शौच की अपेक्षा आध्यात्मिक शुद्धि का विशेष ध्यान रखते हैं। आध्यात्मिक विकास क्रम (गुणस्थान की अपेक्षा) छठा सातवां स्थान है। श्रमण मन, वचन और काया से न स्वयं हिंसा करता है, न दूसरों को करने के लिए ही उत्प्रेरित करता है, न हिंसा की अनुमोदना करता है। जिस श्रमण के आचार में निर्मलता है, वही श्रमण विज्ञ है और वही आचार का सही रूप से पालन करता है। तृष्णा मुक्त साधक श्रेष्ठ होता है क्योंकि तृष्णा आकाश की तरह अनन्त है वह कभी पूर्ण नहीं होती इसलिए साधु को तृष्णा से मुक्त रहना ही चाहिए। बालाग्र भी परिग्रह संचय साधु नहीं करते। हस्तांजुलि ही उनका भोजन पात्र है। आहार ही दिन में एक बार खड़े होकर प्रासुक एवं श्रावक द्वारा दिया हुआ ही ग्रहण करते हैं। ऐसी चर्या दिगम्बर साधु की होती है¹⁷। संयमी जीवन में कई बार अनुकूल परीषह भी आ जाते हैं, उस समय साधक की स्थलना की संभावना रहती है किन्तु जो श्रमण सावधान रहते हैं, वही मोक्षमार्ग पर बढ़ते हैं। श्रमणों की साधना पद्धति में त्याग का उच्चतम आदर्श, अहिंसा का सूक्ष्मतम पालन, व्यक्तित्व का पूर्ण विकास, संयम या तप की पराकाष्ठा पायी जाती है।

प्रवचनसार में शुभोपयोगी और शुद्धोपयोगी श्रमण के दो भेद बतलाये हैं किन्तु मूलाचार में इन भेदों की चर्चा नहीं है। नयचक्र में सराग और वीतराग श्रमणों की चर्चा है तत्त्वार्थसूत्र सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्तिक आदि ग्रंथों में पुलकादि भेदों का कथन है किन्तु मूलाचार में निक्षेप की दृष्टि से श्रमण के भेदों को प्रतिपादित किया है। यथा जैसे नाम से श्रमण होते हैं, वैसे ही स्थापना से, द्रव्य से तथा भाव से होते हैं।

इस प्रकार श्रमण स्वरूप, श्रमण माहात्म्य और श्रमण के भेदों को बताया गया अब जो श्रमण न होकर श्रमण जैसे भासित होते हैं उन पर विचार किया जा रहा है।

श्रमणाभास और श्रमणाभासी

जो अययार्थ साधु हैं, वे श्रमणाभासी कहे जायेंगे। संयत जप से, तप से युक्त होने पर भी जिनाज्ञा का पालन या श्रद्धान न करने वाले श्रमण न होकर श्रमणाभासी हैं जैसा कि कहा गया है-

ण हवदि समणोत्ति मदो संजम तवसुत्त संपजुत्तो वि।

जदि सदहदि ण अत्थे आदपधाणे जिणक्खादे॥ प्रवचनसार २६४

जो जिनेन्द्र कथित जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान नहीं करता है, वह संयम, तप तथा आगम रूप संपत्ति से युक्त होने पर भी श्रमण नहीं माना गया है। वह श्रमणाभास है।

श्रमण आहार आदि की शुद्धि हमेशा रखते हैं। परिमार्जन पूर्वक ही शास्त्र कमण्डलु आदि को ग्रहण करते हैं और रखते हैं क्योंकि ठहरने में, चलने में ग्रहण करने में, सोने में, बैठने में साधु प्रतिलेखन से प्रत्यन्त पूर्वक परिमार्जन करते हैं। यह उनके अपने पक्ष का चिह्न है¹⁸। जो अपने पक्ष के चिह्नों या कार्यों के प्रति निरन्तर सावधान हैं, वही श्रमण कहे जाते हैं किन्तु जो श्रमण के द्वारा कार्य करने योग्य न हों उन कार्यों को करता है वह श्रमणाभास है। श्रमणाभासी मुनिपने से हीन होते हैं, उनके विषय में कहा भी है-

पिडीवधिसेज्जाओ अविसोधि य जो य भुंजदे समणो।

मूलट्ठाणं पत्ते भुवणेषु हवे समणपोल्लो॥ ९१८॥ मूलाचार

जो श्रमण आहार, उपकरण और वसतिका का बिना शोधन किये ही ग्रहण करते हैं, वे मूलस्थान प्रायश्चित्त को प्राप्त होते हैं और संसार में मुनिपने से हीन होते हैं।

हीनचारित्र वाले का तप संयम सब व्यर्थ है। मूल का घात करके बाह्य योग को ग्रहण करना भी निरर्थक है। अप्राप्त वस्तुओं के सेवन में सुख का इच्छुक मोक्ष का अधिकारी नहीं है। कुछ गृहस्थ साधुओं को फ्रिज का ठण्डा पानी और बर्फ तथा ईनो आदि अभक्ष्य पदार्थों के संयोग से भोजन सामग्री तैयार कर आहार कराते हैं और उनके द्वारा जीवराशि के घातपूर्वक आहार ग्रहण किया जाता है तो उनके विषय में मूलाचार में कहा है-सिंह अथवा व्याघ्र एक या दो या तीन मृग को खावे तो हिंस्र है और यदि साधु जीवराशि का घात करके आहार लेवे तो वह नीच¹⁹ है। दोष युक्त आहार लेने वाले की संपूर्ण क्रियाएं निरर्थक हैं²⁰। वह श्रमणपने से भी बाह्य है। प्रवचनसार की गाथा 260 की टीका में कहा है-“आगमज्जोऽपि-श्रमणाभासी भवति” अर्थात् इतना कुछ होने पर भी वह श्रमणाभास है। आत्मा को परद्रव्यों का कर्ता देखने वाले भले हों, लोकोत्तर हों श्रमण हों, पर वे लौकिकपने का उल्लंघन नहीं करते अर्थात् उन्हें लौकिक जानना चाहिए।

इन्हीं को पापश्रमण संज्ञा दी गई है अर्थात् जो श्रमण साधना नहीं कर सकता, वह पापश्रमण है। जो शिष्य न होकर आचार्य बन बैठा है, जो स्वेच्छाचारी है, स्वच्छन्दता से विहार करते हैं जिसने पूर्वापर विवेक को छोड़ दिया है। ऐसे ढुंडाचार्य को पापश्रमण कहा जाता है। और भी कहा है-

आधिकुलं मुच्चा विहरदि समणो य जो दु एगागी।

ण य गेण्हदि उपदेसं पावस्समणोत्ति वुच्चदि दु॥ ९६१॥ मूलाचार

जो श्रमण आचार्य संघ को छोड़कर एकाकी विहार करता है और उपदेश को ग्रहण नहीं करता, वह पाप श्रमण है। इस प्रकार के मुनियों को सेवन नहीं करना चाहिए। ऐसा श्रमण मतवाले हाथी के समान अंकुश रहित होता है। जैसा कि मूलाचारकार कहते भी हैं-जो साधु क्रोधी, चंचल, आलसी, चुगलखोर है एवं गारव और कषाय की बहुलता वाला है, वह श्रमण आश्रय लेने योग्य नहीं है। सुचारित्रवान् साधु वैयावृत्य से हीन, विनय से हीन, छोटे शास्त्र से युक्त कुशील तथा वैराग्यहीन श्रमण का आश्रय न लेवें। मायायुक्त, अन्य का निंदक पैशून्यकारक पापसूत्रों के अनुरूप प्रवृत्ति करने वाला और आरंभ सहित श्रमण चिरकाल से दीक्षित क्यों न हो तो भी उसकी उपासना नहीं करना चाहिए (मूलाचार 957

से 959) जो पहले शिष्यत्व न ग्रहण करके आचार्य होने की जल्दी करता है, वह ढोंढाचार्य है इन सदोष श्रमणों के मूलाचार में पांच भेद बतलाये हैं- पार्श्वस्थ, कुशील, संसक्त, अवसन्न, मृगचरित्र²¹ ये सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र में अयुक्त तथा धर्मादि में हर्ष रहित होते हैं। ये पार्श्वस्थ आदि पांचों प्रकार के श्रमण आचरणहीन होने के कारण श्रमणाभासी हैं और अवद्य हैं जैसा कि मूलाचार में कहा है-

दंसणाणचरित्ते तवविणए णिच्चकालं पासत्था।

एदे अवद्यणिज्जा छिद्दप्पेही गुणधारय॥ मूलाचार ९७

छिद्रप्रेक्षिणः सर्वकालं गुणधारणं च छिद्रान्वेषिणः संयतजनस्य दोषाद्भावविनो यतिः न वंदनीया एतेऽन्ये च।

ये पार्श्वस्थ आदि साधु दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप की विनय से हमेशा दूर रहते हैं। इसलिए ये वंदनीय नहीं हैं। ये हमेशा गुणधरों के छिद्रों को देखने वाले हैं- संयत जनों के दोषों को प्रगट करने वाले हैं इसीलिए ये अवद्य हैं तथा इनसे अतिरिक्त अन्य पाखण्डी साधु भी वंदना के योग्य नहीं हैं।

श्रमणाभासी साधु तीर्थकरों के काल में भी होते थे और इस पंचम काल में तो इनकी बहुलता है। पांचों प्रकार के श्रमणाभास यत्र तत्र विचरण करते हुए पाये ही जाते हैं, उन्हीं के विषय में विवेचन प्रस्तुत है-

पार्श्वस्थ-

संयत के गुणों के पार्श्व में स्थित रहने वाले श्रमण पार्श्वस्थ कहलाता है²² अर्थात् अतिचार रहित संयम मार्ग का स्वरूप जानकर भी उसमें प्रवृत्ति नहीं करते परन्तु संयम मार्ग के समीप ही रहते हैं। इस तरह एकान्त रूप से जो असंयमी नहीं है किन्तु निरतिचार संयम का पालन नहीं करने वाले श्रमण पार्श्वस्थ हैं। मूलाचार में स्पष्ट कहा है कि जो वसतिकाओं में आसक्त हैं, उपकरणों को बनाते हैं, मुनियों के मार्ग का दूसरे से आश्रय करते हैं, वे पार्श्वस्थ कहलाते हैं²³। इनमें मोह, आसक्ति और संग्रह की प्रवृत्ति अधिक होती है। निषिद्ध स्थानों में आहार लेते हैं। हमेशा एक ही वसतिका में रहते हैं। एक ही संस्तर पर शयन करते हैं। गृहस्थों के घर में बैठक बनाते हैं अर्थात् कोठियों में जाकर ठहरते हैं। गृहस्थोपकरणों से अपनी शौचादि क्रिया करते हैं, जिसका शोधन अशक्य है। जो फलस का प्रयोग करेगा, वह शौचस्थान का शोधन कैसे कर सकता है? वर्तमान में महानगरों में जो मुनि कोठियों में ठहरते हैं, फलस का प्रयोग करते हैं उनके प्रतिष्ठापना समिति का भी पालन नहीं होता है। मूलाचार की दृष्टि से वह अयथार्थ पार्श्वस्थ आदि मुनियों की कोठि में ही आयेंगे। निर्ग्रन्थपने में एक स्थान का सतत वास सर्वथा बाधक है। अतः जो साधुओं के द्वारा अपने सर्वसुविधायुक्त निवास बनवाने की प्रवृत्ति चल रही है वह जिनमत से बाह्य है। इस प्रवृत्ति के पार्श्वस्थ आदि मुनियों की क्या दशा होती है ? इस विषय में आचार्य शिवार्य लिखते हैं “जैसे विषैले काटों से बिंधे हुए मनुष्य अटवी में अकेले पड़े हुए दुःख पाते हैं, वैसे ही मिथ्यात्व, माया और निदान शल्य रूपी काटों से बिंधे हुए वे पार्श्वस्थ मुनि दुःख पाते हैं। ये संघ का मार्ग त्यागकर ऐसे लोगों के पास जाते हैं जो चारित्र

से भ्रष्ट होते हैं।” इन्द्रिय, कषाय और विषयों के कारण राग-द्वेष परिणामों और क्रोधादि परिणामों के तीव्र होने से चारित्र को तृण सदृश मानते हैं²⁴। आचार्य बट्टकेर के समय भी पार्श्वस्थ साधुओं का बाहुल्य था। मूलाचार के समयसार अधिकार में उन्होंने कहा है कि-

वरं गणं पवेसादो विवाहस्स पवेसणं।

विवाहे रागउप्पत्ति गणो दोसाणमागारो॥१२॥

गण में प्रवेश करने से विवाह कर लेना उत्तम है। विवाह में रोग की उत्पत्ति होती है और गण दोषों का आकर है। टीकाकार वसुनन्दि इसी प्रसंग में लिखते हैं कि यति अन्त समय में गण में रहता है तो शिष्य वगैरह के मोहवश पार्श्वस्थ साधुओं के संपर्क में होगा इससे तो विवाह करना श्रेष्ठ है क्योंकि गण सब दोषों का आकर है। यहाँ पार्श्वस्थ साधु को सबसे अधिक निन्द्य माना गया है। वर्तमान में इस श्रेणी वाले भी देखने को मिल रहे हैं जो अत्यधिक चिंता का विषय है।

कुशील-

कुत्सित आचरण युक्त स्वभाव वाले श्रमण कुशील कहलाते हैं²⁵। ये साधु संघ से दूर होकर कुशील प्रतिसेवना रूप वन में उन्मार्ग से दौड़ते हुए आहार, भय, मैथुन और परिग्रह संज्ञा रूप नदी में गिरकर कष्ट रूपी प्रवाह में पड़कर डूब जाते हैं। पहले वे उत्तरगुण छोड़ते हैं फिर मूलगुण और सम्यक्त्व से भी भ्रष्ट होकर संसार में परिभ्रमण करते हैं। कुशील संबन्धी दोषों की प्रवृत्ति में प्रवृत्त रहते हैं, इन्द्रिय विषय एवं कषाय के तीव्र परिणामों से युक्त होते हैं तथा व्रत, गुण शील, चारित्र की परवाह न कर अपयश फैलाते हैं। इस प्रवृत्ति के साधुओं से जैनधर्म की अप्रभावना हो रही है। वर्तमान जो शील में दोष लगा रहे हैं, उन्हें कुशीलमुनि ही कहा जायेगा। बड़ी विडम्बना है कि चारित्र भ्रष्ट होने वाले साधुओं को भी समाज बहुमान देती रहती है। इससे इस प्रवृत्ति वालों पर अंकुश नहीं लग सकता है।

संसक्त-

जो असंयत के गुणों में अतिशय आसक्त रहते हैं वह संयक्त हैं। वे आहार आदि की लम्पटता से वैद्यक, मंत्र ज्योतिषी आदि द्वारा अपनी कुशलता दिखाने में लगे रहते हैं, राजादिकों की सेवा करने में तत्पर रहते हैं²⁶। ऐसे श्रमण चारित्रप्रिय मुनि के सहवास से चारित्रप्रिय और चारित्र अप्रिय मुनि के सहवास से चारित्र अप्रिय बनते हैं नट के समान इनका आचरण रहता है ये संसक्त मुनि इन्द्रियों के विषय में आसक्त रहते हैं। तथा तीन प्रकार के गारवों में आसक्त होते हैं। स्त्री के विषय में इनके परिणाम संक्लेश युक्त होते हैं। गृहस्थों पर इनका विशेष प्रेम होता है²⁷।

इन संसक्त मुनियों जैसा आचरण जिनका चल रहा है, उनसे मुनिधर्म की हानि तो हो ही रही है। श्रावक भी बहुत छले जा रहे हैं, श्रावकों के लिए जानकर ऐसे आचरण वालों से बचना ही श्रेयस्कर है।

अवसन्न-

सम्यग्दर्शनादिक जिनके विनष्ट हो गये हैं, जिनवचनों को न जानकर चारित्रादि से भ्रष्ट तेरह क्रियाओं को करने में आलसी तथा मन से सांसारिक सुख चाहने वाले श्रमण अवसन्न कहलाते हैं²⁸ जैसे कीचड़ में फँसे हुए मार्ग से भ्रष्ट पथिक भाव अवसन्न हैं वैसे ही अशुद्ध चारित्रयुक्त संयतमार्ग से भ्रमित श्रमण अवसन्न हैं भगवती आराधनाकार का कहना है कि इन्द्रिय और कषायरूप तीव्र परिणाम होने से सुख पूर्वक समाधि में लगा जो साधु पंचमहाव्रत, पंचसमिति, - त्रिगुप्ति रूप क्रियाओं को आलसी होकर करने लगता है, वह अवसन्न या अवसन्न कहलाता है। तेरह प्रकार के चारित्र से भ्रष्ट साधुओं द्वारा धर्म की प्रभावना हुई है और हो रही है। महानगरों की सुख सुविधाओं ने समितियों से नाता तुड़वा दिया है। रात्रि में बोलने और आधुनिक उपकरणों ने गुप्तियों का पालन भी छुड़ा दिया है।

चारित्रभ्रष्ट साधुओं की क्रिया शास्त्राभ्यासी कुछ साधुओं का उक्त आचरण देखकर संक्लेषित होते हैं। धर्म की अप्रभावना होती है। अतः तेरह प्रकार का चारित्र प्रत्येक साधु को सतत पालने करते रहने की आवश्यकता है।

मृगचरित्र-

मृग-पशु के समान जिनका आचरण है, वे मृगचरित्र कहलाते हैं। ये मुनि आचार्य के उपदेश/आदेश को स्वीकार न करके स्वच्छन्द और एकाकी विचरण करते हैं। जिन वचनों में दूषण लगाकर तपःसूत्रों के प्रति अविनीत और धृति से रहित हो जाते हैं²⁹ ये जिनसूत्र में दूषण लगाते हैं पूर्वाचार्यों के वाक्यों को न मानकर अपनी इच्छानुसार अर्थ की कल्पना करते हैं-कैची से केश निकालना ही योग्य है ऐसा कहते हैं। केशलोंच करने से आत्मविराधना होती है। सचित्त तृण पर बैठने पर भी मूलगुण पाला जाता है। उद्देशादिक दोष सहित भोजन करने में दोष नहीं है। ग्राम में आहार करने जाने से जीव विराधना होती है। अतः अपनी प्रेरणा से बनवायी गई आश्रम रूप वसतिका में ही भोजन करना चाहिए। इस प्रकार उत्सूत्र भाषण करने वाले मृगचारित्री जो श्रमण³⁰ हैं वे श्रमणाभास हैं। दीक्षा लेकर संघ तुरन्त छोड़कर अकेले स्वच्छन्द विचरण में जिन्हें संकोच नहीं है। वे स्वच्छन्द विचरण करने वाले निज-पर हानि करते हैं। भ्रष्ट मुनि दूसरे से ही साधु मार्ग का त्याग करके उन्मार्ग में प्रवृत्त रहते हैं तथा आगम में कहे हुए कुशील नामक मुनि के दोषों का आचरण करते हैं। इन्द्रिय के विषयों तथा कषाय के तीव्र कार्यों में तत्पर हुए वे मुनि चारित्र को तृणवत् समझते हुए निर्लज्ज होकर कुशील का सेवन करते हैं। जो मुनि साधु मार्ग का त्याग कर स्वतंत्र हुआ है, जो स्वेच्छाचारी बनकर आगमविरुद्ध और पूर्वाचार्यों के द्वारा न कहे हुए आचार्यों की कल्पना करता है उसे स्वच्छन्द नामक भ्रष्ट मुनि समझना चाहिए। (भगवती 1306-1317) चारित्रहीन मुनि लक्षावधि मुनि हों तो भी एक सुशील मुनि उनसे श्रेष्ठ है। कारण कि सुशील मुनि के आश्रय से शील दर्शन, ज्ञान और चारित्र बढ़ते हैं। (भगवती 354-359) आचरणहीन को अनेक निन्दनीय नामों से उल्लिखित किया गया मिथ्यादृष्टि, स्वच्छन्द, द्रव्यलिङ्गी, पापश्रमण, नट, पापजीव, तिर्यचयोनि, नारद, लौकिक, अभव्य, राजवल्लभ आदि निन्दनीय नाम दिये गये हैं।

इन पाँच तरह के भ्रष्ट मुनियों की जिनेश्वरों ने आगम में निंदा की है। ये पांचों इन्द्रिय व कषाय के गुरुत्व से सिद्धान्तानुसार आचरण करने वाले मुनियों के प्रतिपक्षी³¹ हैं। ये पांचों ही जिनधर्म बाह्य हैं³²। इनको मूलच्छेद नाम का प्रायश्चित्त भी दिया जाता है।

उक्त पार्श्वस्थादि मुनियों के स्वरूप को शास्त्रों में जानकर उन्हीं जैसे प्रवृत्ति जिनके द्वारा की जा रही है उनके विषय में यह कथन सटीक है—जो मनुष्य यह जानते हुए भी कि अग्नि में हाथ देने से हाथ जल जायेगा। अग्नि में हाथ देता है तो उसका जानना न जानना समान है। यदि ज्ञान के अनुकूल मनुष्य का आचरण नहीं होता है तो वह ज्ञान व्यर्थ है। यही आचार्य अमृचन्द्र ने कहा है— “यथा प्रदीपसहितपुरुषः स्वकीयपौरुषबलेन कूपपतनादि न निवर्तते तदा तस्य श्रद्धानं प्रदीपो दृष्टिर्वा किं करोति न किमपि। तथायं जीवः श्रद्धानज्ञानसहितोऽपि पौरुषस्थानीय चरित्रबलेन रागादिविकल्परूपादसंयमाद्यदि न निवर्तते तदा तस्य श्रद्धानं ज्ञानं वा किं कुर्यान्न किमपीति। “जैसे दीपक को रखने वाला पुरुष अपने पुरुषार्थ के बल से कूपपतन से यदि नहीं बचता है तो उसका श्रद्धान दीपक व दृष्टि कुछ भी कार्यकारी नहीं हुई, वैसे ही जो मनुष्य श्रद्धान, ज्ञान सहित भी है परन्तु पौरुष के समान चरित्र के बल से रागद्वेषादि विकल्परूप असंयमभाव से यदि अपने को नहीं हटाता है तो श्रद्धान तथा ज्ञान उसका क्या हित कर सकते हैं? अर्थात् कुछ हित नहीं कर सकते हैं।

अन्त में यही कहना अपेक्षित समझता हूँ कि चारित्रहीन श्रमण आत्म हित और परहित विघातक होता है। समाज चारित्रहीन श्रमणाभासी साधुओं के प्रति सजग होकर कार्य करे जिससे धर्म और समाज की मर्यादा सुरक्षित रह सके।

संदर्भ:

1. श्रमयन्त्यात्मानं तपोभिरिति श्रमणाः। मूलाचार वृत्ति
2. मूलाचार 884
3. नयचक्र 330
4. जं च समो अप्पाणं परे य मादूय सव्व महिलासु।
अप्पियपिय माणादिसु तो समणो तो य सामइयं। मूलाचार 521
5. ण य होदि मोक्खमग्गो लिंगं जं देहणिम्ममा अरिहा।
लिंगं मुइत्तु दंसणणाणचरित्ताणि सेवन्ते। प्रवचनसार
6. पंचविह चेलचायं खिदिसयणं दुविहसंजमं भिक्खु।
भावं भाविय पुव्वं जिणलिंगं णिम्मलं सुद्धं। भावप्राभृत 97
7. दव्वंखेत्तं कालं भावं च पडुच्च तह य संघहणं।
चरणम्हि जो पवटठइ कमेण सो णिरवहो होई। मूलाचार
8. मूलाचार 10/18 भ. आ. 421
9. मूलाचार 4/155
10. मूलाचार 5/192
11. जत्थं कसायुप्पतिरभत्तिं दियदार इत्थि जणबहुलं।
दुक्कामुवसग्गबहुलं भिक्खु खेत्तं विवज्जेऊ। मूलाचार 20/158
12. मूलाचार 5/160
13. मूलाचार 10/60

14. मूलाचार 1/14
15. मूलाचारपिण्ड शुद्धि अधिकार 52-53
16. मूलाचार 7/20
17. बालगगकाडिमित्तं परिगगहगहणं ण होइ साहूण।
भुंजेइ पाणिपत्तो इक्क ठाणम्मि।।सूत्रपाहुड; 17
18. ठाणे चंकमणादाणे णिक्खेवे सयण आसण पयत्ते।
पडिलेहणेण पडिलेहिज्जइ लिंगं च होइ सपक्खे।।मूलाचार 916
19. एक्को वा वि तयो वा सीहो वग्घो मयो व खादिज्जो।
जदि खादेज्ज से णीचो जीवयरासिं णिहंतूणा।।मूलाचार 922
20. जो ठाणमोणवीरासणेहिं अत्थदि चउत्थछट्ठेहिं।
भुंजदि आधाकम्मं सव्वे वि णितत्थया जोगांठ।।मूलाचार 924
किं काहदि वणवासो सुण्णागारो य रुक्खमूलो वा।
भुंजदि आधाकम्मं सव्वे वि णिरत्थया जोगा।।मूलाचार 925
21. पासत्थो य कुसीलो संसत्तेसण्ण मिगचारित्तोय।
दंसण्णाण चरित्ते अणिउत्ता पंदसंवंगा।।मूलाचार 7/96
22. संयतगुणेभ्यः पार्श्वे अभ्यासे तिष्ठतीति पार्श्वस्थः। मूलाचारवृत्ति
23. वसधीसु य पडिबज्झो अहवा उवयरण कारओ मणिओ।
पासधो समणाणं णाम सो होई।।मूलाचार 7।।97
वसतिकादिप्रतिबद्ध मोहबहुलोरान्निदिवभुपकरणानां कारकोऽसंयतजनसेवी संयतेभ्योदूरीभूतः।
मूलाचार टीका पृष्ठ 450
24. भगवती आराधना 1288 से 1294
25. कुत्सितं शीलं आचरणं स्वभावो वा यस्यासौ कुशीलः। मू.वृ. 7/96
26. सम्यगसंयतोष्वासक्तः संसक्तः आहारादि गृह्यया वैद्यमंत्र ज्योतिषादि कुशलत्वेन प्रतिबद्धो राजादि सेवा तत्परः। मूलाचार टीका पृ. 450
27. भगवती आराधना 1950/1722-24
28. मूलाचार वृत्ति 7/96
29. मृगस्य पशोरिव चारित्रमाचरणं यस्यासौ मृगचारित्रः परित्यक्ताचार्योपदेशः स्वच्छन्दो गति रेकाकी जिनसूत्रदूषणस्तपसूत्राद्यविनोतो धृतिरहितश्चेत्येते।
30. मूलाचार पृष्ठ 306
31. भगवती आराधना 1315
32. चारित्र सार 144/2
33. प्रायश्चित्त संग्रह 4/218

- रीडर संस्कृत विभाग
दि. जैन कालेज, बड़ौत

झालरापाटन का अछूता जैन-स्थापत्य

- ललित शर्मा

राजस्थान प्रदेश के दक्षिण पूर्व में स्थित झालावाड़ जिले में अनेकों ऐसी पुरातात्विक सम्पदा है, जिनका अभी तक यथोचित अध्ययन ही नहीं हो पाया है। यह पूरा ही क्षेत्र महिमामयी मालवा का है, जिसका सांस्कृतिक प्रभाव यहाँ की धरोहरों व जनजीवन पर आज भी परिलक्षित है। मुख्यालय के निकट 7 किलोमीटर दूर झालरापाटन में जैन धर्म का एक बड़ा सुन्दर और प्राचीन मंदिर है, जो पूर्व में मालवा से ही सम्पृक्त रहा है। मूलतः यह मंदिर भारतीय जैन प्राचीन स्थापत्य का सुन्दर उदाहरण है। मंदिर का सुन्दर शिल्प, स्थापत्य व भव्यता अध्ययन की दृष्टि से अछूती है।

झालरापाटन का यह मंदिर तीर्थंकर स्वामी शांतिनाथ को समर्पित दिगम्बर मत का है। 92फीट ऊँचाई का यह मंदिर अपने प्राचीन कला वैभव के कारण पुरातत्त्वविदों के साथ-साथ पर्यटकों के आकर्षण का भी बड़ा केन्द्र है। इसे 11वीं सदी का माना जाता है। इसका निर्माण शाह पापा हूमड नामक श्रेष्ठि ने 1046 ई. में करवाया था।¹ इसकी प्रतिष्ठा भवदेवसूरी द्वारा की गई थी।² इस मंदिर के निर्माण की लागत उस युग में रुपये 400000 बतायी जाती है।³ श्रेष्ठी शाह पापा हूमड की मृत्यु का यहाँ नसियां की पहाड़ी पर लगे 1109 ई. के एक अभिलेख से पता चलता है।⁴ इस मंदिर को राय कृष्णदेव ने कच्छापघात शैली का बताया है।⁵ मूलतः यह एक विशाल, प्राचीन और पूर्वाभिमुखी मंदिर है। इसके मूल गर्भ में काले पाषाण की साढ़े 12फुट लम्बी तीर्थंकर स्वामी शांतिनाथ जी की दिगम्बर खड्गासन मुद्रा की मूर्ति प्रतिष्ठित है। जैनधर्म की बीस पंथी आमनाय विधि से यह सुपूजित है। मूर्ति अतिसौम्य तथा तक्षण कला के तपभावों से सम्पृक्त है, जिसके दर्शन से मन में अपूर्व वीतराग के भाव जाग्रत होते हैं।

झालावाड़ राज्य के पुरातववेत्ता रहे पं. गोपाललाल व्यास ने इस मूर्ति पर अंकित लेख में संवत् 1145 (सन् 1088 ई.) पढ़ा था।⁶ चूँकि मंदिर का निर्माण 1046 ई. में हुआ जो पूर्व का समय है, अतः संभावना हो सकती है कि यह अभिलेख इस मंदिर में मूर्ति की प्रतिष्ठाकाल का रहा होगा, क्योंकि मंदिर निर्माण के पश्चात् ही मूर्ति की प्रतिष्ठा होती है अर्थात् निर्माण व प्रतिष्ठा में 42 वर्ष का अन्तर प्रमाणित होता है। कर्नल जेम्स टाड के अपनी 1821 ई. की इस नगर में की गई भ्रमण यात्रा के दौरान इस मंदिर के एक पाषाण फलक पर ‘-“ज्येष्ठ तृतीया संवत् 1003 (सन् 1046 ई.) पढ़ा था। इसमें उन्होंने एक यात्री का नामोल्लेख किया है।⁷ इसके अतिरिक्त मंदिर के सभा मण्डप में उत्तर की ओर एक पाषाण अभिलेख संवत् 1854 (सन् 1797 ई.) का स्थापित है। इस लेख का महत्त्व यह है कि-संवत् 1854 में भट्टारक नरभूषण महाराज ग्वालियर से यहाँ चातुर्मास के हेतु

पधारे थे। उस समय उन्होंने यहां के जैन समाज पर इस मंदिर की धूप दीप की व्यवस्था हेतु एक मणी अनाज व आधा पैसा धर्मादा कर देने का निश्चय किया था।

मंदिर का स्थापत्य प्राचीन मालवा के मंदिरों के स्थापत्य से साम्यता रखता है। इसमें मुख्य गर्भगृह के बाहर कोली मण्डप और गूढ़ मण्डप है। प्रवेश द्वार पर चीनी मिट्टी पाषाण के दो विशाल और महावत युक्त सफेद गज अपनी सूँड ऊपर उठाये अभिनंदन मुद्रा में स्थापित हैं। मंदिर की छत्रियों की तीखी नोकों और छज्जों के तीखेपन को देखकर प्रतीत होता है-जैसे देवराज इन्द्र का विमान ऐरावतों सहित ज्यों का त्यों मालवा की प्राचीन नगरी झालरापाटन की धरती पर उतार दिया हो। इस मंदिर के वितान का जीर्णोद्धार 18वीं सदी में हुआ था।⁸ इसमें मंदिर और शिखर प्राचीन स्थापत्य के उदाहरण हैं।⁹ मंदिर में गूढ़ मण्डप के स्तम्भों पर शास्त्रीय विधि अनुसार पुरुष युग्म व देवमूर्तियाँ बनी हैं। मण्डोवर मूल रूप से मेरू मण्डोवर की श्रेणी में है, जबकि दक्षिण भाग में चन्द्रावती नगरी के किसी भग्न शिव मंदिर की सुन्दर मूर्तियाँ लाकर लगाई गई प्रतीत होती है। सभावना है यह कार्य 18वीं सदी में हुआ हो। इन मूर्तियों में अन्धकासुरवध, शिव स्थानक आदि हैं। मुख्य रथिकाओं में कार्यात्सर्ग जैन मूर्तियाँ हैं, जबकि नीचे की रथिकाओं में शाक्त मूर्तियाँ देवियों की दिखाई देती हैं। दक्षिण भाग में एक ऐसी देवी मूर्ति है जिसकी अनेक भुजाओं में कटार, वज्र, कमल, घण्टा, पुष्प व ढाल है तथा एक हाथ खाली है। मंदिर पृष्ठ की रथिका में चक्रेश्वरी देवी की अष्टभुजा युक्त सुन्दर मूर्ति है, वहीं उत्तरी भाग में गजलक्ष्मी का सुन्दर अंकन है। रथिकाओं में अनेक सुन्दरियों को विभिन्न भाव व मुद्राओं में अंकित कर ऊकेरा गया है। इनके मध्या व्याल बने हुए हैं।

पुरातत्त्ववेत्ता कृष्णदेव ने इस मंदिर की स्थापत्य कला की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करते हुए लिखा है कि¹⁰ उनके अनुसार मंदिर के अन्दर का अंतराल मूल रूप में है, जिसके ठीक पृष्ठ में गंधमण्डप है। उसके पश्चात् आन्तरिक गृह है। मंदिर की पीठिका, समतल पीठिका के ऊपर है। इसमें जाड्याकुम्भ, मकर, कर्णक तथा ग्रास पट्टिका से समलंकृत है। इसके ठीक उच्च भाग में वेदिबन्ध है, जिसमें खुर व लम्बवत कुम्भ सुशोभित है। इनमें जैन देव मूर्तियों का अंकन है। यह ठीक वैसे ही है, जैसे विशाल रत्न के साथ मध्य बन्ध की रत्न पट्टिका, कलश और कपोत से सुसज्जित अंगारिका व गंगारिका है। जन्घाओं की दो कतारों में खड़ी आकृतियाँ हैं, जो ग्रास पट्टी द्वारा अलग होकर मध्यबन्ध तक निर्मित की हुई हैं। इनमें ऊपरी कतार, नीचे की कतार से कुछ छोटी है। इसकी जन्घा चौकोर बरानी से घिरी हुई है तथा वरन्डिका को ध्यान से देखने पर प्रतीत होता है कि वह दो कपोतों की तुलना योग्य है।

इस मंदिर का वह प्रथम और द्वितीय जहाँ से दीवार की मुख्य निर्मिती आरंभ होती है, वह लतिकाओं द्वारा सजाया गया है और उन कुजरक्षा मण्डित है। यह सब प्रभाव मालवा की परमार कला से प्रभावित है। जैसा कि पूर्वोक्त में रेखांकित किया गया है कि मंदिर शिखर की मूल मंजरी पंचस्थ की है तथा मुख्यरथ गज आकृति में है। शिखर की अनुपमेय सज्जा बेजोड़ चैत्य गवाक्ष द्वारा की गई है। कर्णस्थ में ग्यारह भूमि अमलकाएँ सुन्दर

पच्चीकारी का उदाहरण है। केन्द्रीय रथ विशाल स्कन्ध के रूप में अमलिका, केन्द्रिका, छोटी अमलिका और इसके बाद में कलशों द्वारा प्रदर्शित है। लघु उरुश्रृंग यहाँ नक्काशीदार रथिका की मूल मंजरी के आधानुरूप बने प्रतीत होते हैं- ऐसा यहाँ देखने पर स्वतः ही ज्ञात होता है। इनमें इन श्रृंगों पर उरुश्रृंग बने हैं, जो कर्णों से छोटे हैं। सभी श्रृंग प्रदर्शित हैं, जो समानान्तर रूप में दो पंक्तियों में बेजोड़ पच्चीकारी से निर्मित हैं। जंघाओं की क्रियान्वित आकृति शिल्प से नियोजित है, जबकि भद्रों का निर्माण जैन देव मूर्तियों से दिखाई देता है। भद्रों की शिल्पाकृतियों के मुकुट, तोरंग तथा कीर्तिमुखों से निर्मित है। इनमें जैनदेव, यक्ष-यक्षिणी व विद्या देवियों की मूर्तियाँ बनी हैं। प्रतिरथ के कर्णों पर दिक्पाल बने हुए हैं। मंदिर में कुछ स्थानों पर कच्छपाघात की शिल्पाकृतियाँ द्विआयामी कतारों में दिखाई देती हैं जो जंघाओं और स्तम्भ शकों को दैविक सजावट से द्वार की ओर ले जाती हुई हैं। इस प्रकार प्राचीन भारतीय कला स्थापत्य की यह धरोहर आज भी सांस्कृतिक प्रतिष्ठा संजोये हुए है।

जैन परंपरानुसार यह मंदिर पूरा ही परकोटे से रक्षित है। इसके परिसर में 2000 भक्तों के एक साथ बैठने की व्यवस्था है। इसमें एक विशाल कलायुक्त वेदी है। जिस पर जैन मुनि बैठकर प्रवचन करते हैं। इसी के निकट बरामदे में उत्तर की ओर सेठों की चाँदी की एक सुन्दर वेदी बनी हुई है, जो कलात्मक दृष्टि से सुन्दरता तथा धार्मिक भाव लिये हुए है। इसका निर्माण यहाँ की प्रतिष्ठित फर्म सेठ बिनोदीराम बालचन्द के समाजसेवी सेठ नेमीचन्द व सेठानी लक्ष्मीदेवी ने करवाया था। उन्होंने इस रजत वेदिका पर जैन तीर्थकरों की मूर्तियाँ स्थापित कर भव्य समारोह किया था। प्राचीनकाल में इस मंदिर की अत्यधिक ख्याति थी। अनेक श्रावक और जैन मुनि यहाँ आते थे। इस मंदिर में कई जैन मूर्तियाँ स्थापित हैं, जो जैनधर्म के मूलसंघ, सरस्वतीगच्छ, बलात्कारगण के भट्टारक सकलकीर्ति व उनके शिष्यों द्वारा प्रतिष्ठित है। इन मूर्तियों के नीचे दुर्लभ लेख उत्कीर्ण हैं, जो बलात्कारगण की ईडरशाखा के हैं।¹¹ इन लेखों को स्वयं लेखक ने भी बड़े परिश्रम से लेंस की सहायता से पढ़ा है। इनका विवरण इस प्रकार है¹²—

1. संवत् 1490 वर्षे माघवदी 12 गुरौ भट्टारक सकलकीर्ति हूमड़ दोशी मेधा श्रेष्ठी अर्चीत।

2. संवत् 1492 वर्षे वैशाख वदी सोमे श्री मूलसंघे भट्टारक श्री पद्मनंदि देवास्तत्पट्टे, भट्टारक श्री सकलकीर्ति हूमड़ जातीय.....

3. संवत् 1504 वर्षे फागुन सुदी 11 श्री मूलसंघे भट्टारक श्री सकलकीर्ति देवास्तत्पट्टे, भट्टारक श्री भुवनकीर्ति देवा हूमड़ जातीय श्रेष्ठि खेता भार्या लाख तयो पुत्रा...

4. संवत् 1535 पोषवदी 13 बुधे श्री मूलसंघे भट्टारक श्री सकलकीर्ति भट्टारक श्री भुवनकीर्ति, भट्टारक श्री ज्ञानभूषण गुरूपदेशात् हूमड़ श्रेष्ठि पद्मभार्या भाऊ सुत आसा भ. कडू सुत्कान्हा भा. कुंदेरी भ्रातधना भा. वहहनु एते चतुर्विंशतिका नित्य प्रणमंति।

5. यहाँ प्रतिष्ठित एक तीर्थकर पार्श्वनाथ मूर्ति पर संवत् 1620 वैशाखसुदी 9 बुध

श्री मूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुन्दकुन्दाचार्याम्नाये भ. श्री पद्मनन्दि देवास्तत्पट्टे सकलकीर्ति देवास्तत्पट्टे सुमतिकीर्ति गुरूपदेशात्, हुबड जातीय मंदिर गौत्रे संघवी देवा भा. देवाभदे तत्सुत संघवी भार्या परवत् भार्या परमलदे तत्प्रातृ सं. हीरा भा. कोडमदे तत्प्रातृ सं. हरष भा. करमादे सुत लहुआ भा. मिन्ना, भ्रातृ लाडण भा. ललितादे सुतं थापर सं. जेमल भा. जेताही भ्रा. डूंगर भा. धानदे भ्रा. जगमा सं. हीआ, बलादे एतै, सह संघवी जीवादो सागवाड़ा वासूव नित्यं प्रणमंति। (ज्ञातव्य है कि यह तीर्थंकर मूर्ति सागवाड़ा जिला बांसवाड़ा में प्रतिष्ठित हुई थी और विवेच्य मंदिर में अभी प्रतिष्ठित है)

संदर्भ-

1. जैन, के. सी.- अनेकान्त वर्ष 15, अंक 6, पृ. 279-282
2. अनेकान्त- वर्ष 13 पृ. 24
3. चन्दाप्रभु मंदिर झालरापाटन के जैन पुराणी से प्राप्त जैन तीर्थ के एक प्राचीन ग्रंथ से साभार, पं. 143
4. (1) अनेकान्त- वर्ष 12, पृ. 125
(2) उक्त- वर्ष 13, पृ. 281
5. वरदा- वर्ष 17, अंक 1, जनवरी-मार्च 1974, पृ. 9
6. पं. गोपाललाल व्यास (प्रथम क्यूरेटर, झालावाड़ राज्य संग्रहालय, 1915 ई.) के हस्तलिखित लेख से साभार
7. टाड जेम्स- एनाल्स एण्ड एण्टीक्विटीज, भा- 3, पृ. 1789
8. वरदा- पूर्वोक्त
9. (1) प्रोग्रेस रिपोर्ट ऑफ द आर्कियालॉजिकल (वेस्टर्न सर्कल) 1904-05 ई., पृ. 32-33
(2) ढोढीयाल, बी. एन.- झालावाड़ डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, 1964 ई., पृ. 288
10. यू. पी. शाह, एम. ए. ठाके (सं.)- जैन आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर- 1976, पं. 247-248
11. जोहरापुरकर विद्याधर- भट्टारक संप्रदाय, पं. 132-33
12. जैन बलभद्र- भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ, भाग-4 (इन लेखों को बरसों पूर्व यद्यपि श्री जैन ने रेखांकित किया परन्तु लेखक ललित शर्मा ने भी स्वयं इन्हें परखा, देखा, पढ़ा है, लेखक यहीं का मूल निवासी है।

- जैकी स्टूडियो,
१३ मंगलपुरा स्ट्रीट,
झालावाड़-३२६००१
(राजस्थान)

अध्यात्म विकास के आयाम गुणस्थान और परिणाम

डॉ. ज्योतिबाबू जैन

गुणस्थान एवं ध्यान :-

गुणस्थान का संबंध गुण से है सहभुवो गुणा¹ साथ में होने वाले गुण है या जिनके द्वारा एक द्रव्य की दूसरे द्रव्य से पृथक् पहचान होती है वह गुण है

गुण्यते पृथक्क्रियते द्रव्यं द्रव्याद्यैस्ते गुणाः।²

अर्थात् जिसके द्वारा द्रव्य की पहचान होती है वह गुण है जो द्रव्य की संपूर्ण अवस्थाओं में पाये जाने वाले गुण है। अनेक मिली हुई वस्तुओं में किसी एक वस्तु को पृथक् करने वाले हेतु को लक्षण (गुण) कहते हैं।³

शक्ति, लक्षण, विशेष, धर्म, गुण, स्वभाव प्रकृति और शील ये शब्द एकार्थवाची हैं।⁴ इस प्रकार गुण शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में भिन्नता है। ध्यान या परिणाम की अवस्था गुणस्थान है- जैसे-जैसे ध्यान में एकाग्रता के साथ विशुद्धि बढ़ती जाती है वैसे-वैसे गुणों के स्थान बढ़ते जाते हैं।

अर्थात् आत्मा के उदयादि परिणामों की गुणात्मक अवस्था, दशा अथवा स्थान को गुणस्थान कहते हैं।⁵

गुणस्थान से शून्य अथवा ध्यान से शून्य अवस्था कभी किसी जीव की नहीं होती वह किसी न किसी ध्यान के साथ गुणस्थान में रहता है-

संसार में जीव मोहनीय कर्म के उदय उपशम आदि अवस्थाओं के अनुसार उत्पन्न हुये ध्यान रूप परिणामों, भावों या अवस्थाओं को गुणस्थान कहते हैं।

जेहि दु लखिखज्जंते उदयादिसु संभवेहि भावेहि।

जीवा ते गुण-सण्णा णिद्धिट्ठा, सव्वदरिसीहि॥⁶

आचार्य देवसेन ने भाव संग्रह में औदयिक, पारिणामिक, क्षायोपशमिक, औपशमिक और क्षायिक भावों के साथ शुभ-अशुभ शुद्ध भावों का योग निर्दिष्ट किया है। ये शुभ-अशुभ और शुद्ध भाव कर्मों के उदय, उपशम, क्षयोपशम होने पर जिन अवस्थाओं को प्राप्त होते हैं उन परिणामों की अवस्थाएँ ही चौदह गुणस्थान हैं।

जो जीव कर्मों को नष्ट कर गुणास्थानातीत हो जाते हैं वे सिद्ध या मुक्त जीव हैं।⁷

१. मिथ्यात्व गुणस्थान

मिथ्यात्व कर्म के उदय से जिन जीवों के औदयिक भावों का उदय होता है वे सभी जीव मिथ्यात्व गुणस्थान में स्थित हैं, मिथ्यात्व कर्म के उदय से इन जीवों के परिणाम

विपरीत हो जाते हैं पित्तज्वर के रोगी के समान अपने हित अहित को नहीं जान पाते। यह मिथ्यात्व पाँच प्रकार का है।

1 विपरीत मिथ्यात्व 2 एकांत मिथ्यात्व 3 विनय मिथ्यात्व 4 संशय मिथ्यात्व 5 अज्ञान मिथ्यात्व⁸

मिथ्यात्व गुणस्थान में अशुभ ध्यान एवं उसका फल

मिथ्यात्व के उदय ये यह जीव अनादि काल से चारों गतियों में अनेक शरीर धारण करता हुआ और विभिन्न प्रकार के कष्टों को भोगता हुआ इस संसार में परिभ्रमण करता है यह जीव प्रबल मिथ्यात्व के कारण हमेशा आर्त और रौद्र ध्यान करता रहता है।⁹

इन अशुभ ध्यानों के कारण यह जीव एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करता है अनादि से अनंत काल तक परिभ्रमण समाप्त नहीं कर सकेगा।

यह जीव धर्म के स्वरूप को न समझने के कारण नरक तिर्यच गति को प्राप्त होंगे।

यदि किसी प्रकार शुभ योग से मनुष्य गति प्राप्त हो जाती है तो अशुभ कर्मों के उदय से श्रेष्ठ कुल-जाति-देश-आयु प्राप्त न होने से क्षुद्र मनुष्य होकर भी दुःखी रहता है।

यदि किसी प्रकार उत्तम देश, उत्तम कुल, उत्तम आयु, आरोग्य शरीर आदि प्राप्त भी कर लेता है तो भी आर्तरौद्र ध्यान के कारण एवं मिथ्यामार्ग में प्रवर्तन करता हुआ सच्चे मार्ग को प्राप्त नहीं कर पाता।¹⁰

२ सासादन गुणस्थान और परिणाम

सम्यक्दर्शन के छूट जाने के बाद जब तक मिथ्यात्व गुणस्थान प्राप्त नहीं होता है तब तक का काल सासादन गुणस्थान कहा जाता है।

जिस प्रकार कोई पुरुष पर्वत से गिरता है परंतु अभी पृथ्वी पर नहीं आया वह न तो पर्वत पर कहा जा सकता है और न पृथ्वी पर किंतु मध्य में माना जाता है इसी प्रकार सम्यक्त्व से पतित जीव को मिथ्यात्व गुणस्थान प्राप्त नहीं हुआ तब तक उसके सासादन गुणस्थान कहा जाता है।¹¹

तत्त्वसार में अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ कषायों में किसी एक के उदय होने पर प्रथमोपशम सम्यक्त्व से पतित हुआ जीव जब तक मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं होता, तब तक की मध्यवर्ती अवस्था सासादन गुणस्थान की कही है।¹²

गोम्मटसार में जब प्रथमोपशम सम्यक्त्व एवं द्वितीयोपशम सम्यक्त्व की स्थिति कम से कम एक समय, अधिक से अधिक छह आवली प्रमाण शेष रहती है, तब तक जीव के अनंतानुबंधी कषाय के चार भेदों में से किसी एक भेद का उदय आ जाने से सम्यक्त्व की विराधना हो जाने से आत्मा की अवस्था नीचे गिरती है, और जब तक मिथ्यात्व भूमि का स्पर्श नहीं करती तब तक वह अवस्था सासादन गुणस्थान की कही है।¹³

आसादन से तात्पर्य विराधना से है अर्थात् इस गुणस्थान में जीव सम्यक्त्व की विराधना करता है और 'असन' का अर्थ है नीचे गिरना अर्थात् यह जीव मिथ्यात्व भूमि की ओर

नीचे गिरता है इसलिए इस गुणस्थान को सासादन कहा है।

इस गुणस्थानवर्ती जीव प्रथम गुणस्थान से द्वितीय गुणस्थान में नहीं आते बल्कि चतुर्थ आदि गुणस्थान से कषायों के उदय के कारण जब कोई जीव नीचे गिरने लगता है तब इस गुणस्थान में आता है। इसलिए यह गुणस्थान उत्थान का नहीं बल्कि पतन का है। मिथ्यात्व भूमि के स्पर्श से पूर्व इसमें सम्यक्त्व का अल्पाभास सा होता है। जैसे सूर्य अस्त के उपरांत रात्रि का पूर्ण अन्धकार होने के पूर्व की अवस्था।

इस गुणस्थान में जीव की अवस्था छह आवली मात्र है। इस गुणस्थान में दर्शनमोहनीय के उदय, क्षय एवं क्षयोपशम का अभाव होने से केवल पारिणामिक¹⁴ भाव ही होते हैं।

३ मिश्रगुणस्थान और परिणाम

जिस अवस्था में जीव के सम्यक् और मिथ्या अर्थात् सम्यक्मिथ्यात्व रूप परिणाम होते हैं वह मिश्र गुणस्थान है।

जिस प्रकार खच्चर जाति का गधा गधी से उत्पन्न न होकर घोड़ी से उत्पन्न होता है। गधा-घोड़ी से उत्पन्न होने वाली यह तीसरी जाति है। इस प्रकार इस मिश्र गुणस्थान में सम्यक्त्व और मिथ्यात्व दोनों के मिले हुये तीसरी जाति के परिणाम होते हैं। इस गुणस्थान में रहने वाले जीव देश संयम और सकल संयम धारण नहीं कर सकते।¹⁵

मिश्र गुणस्थानवर्ती जीव के आयु बन्ध का अभाव एवं मरण का अभाव होता है यह जीव या तो सम्यक्दर्शन धारण कर मर सकता है अथवा मिथ्यात्व गुणस्थान में जाकर मर सकता है।

इस गुणस्थान में जीव के आर्तध्यान और रौद्रध्यान का ही चिन्तन चलता है। सम्यक् मिथ्यात्व रूप परिणामों के कारण सम्यक् एवं मिथ्या सभी देवों की आराधना करता है सभी धर्मों को समान मानता है गुण-अवगुण के भेद का ज्ञान नहीं होता।¹⁶

४ अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान और परिणाम

जिसका श्रद्धान सम्यक् होने पर भी अभी पाँच पापों का एकदेश त्याग भी न होने से संयम रहित है वह अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान है।

“णो इंदिएसु विरदो जीवे थावर-तसे वापि।

जो सद्दहदि जिणुत्तं सम्माइट्ठी अविरदो सो॥ १७

अर्थात् जो जीव इन्द्रियों के विषयों से विरत न होने के साथ त्रस स्थावर जीवों की हिंसा से भी विरत नहीं हैं परन्तु जो जिनदेव कथित तत्त्वों पर श्रद्धान रखता है वह अविरत सम्यक्दृष्टि है।

इस गुणस्थान में मोहनीय कर्म की क्षय, क्षयोपशम, उपशम आदि स्थिति के अनुसार क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक तीनों प्रकार के परिणाम होते हैं।¹⁸

यद्यपि अविरत सम्यक्दृष्टि जीव इन्द्रियों से विरत नहीं होता और न त्रस स्थावर से विरत होता है तथापि सम्यक्दर्शन के प्रगट होने से उसके प्रशम, संवेग, अनुकम्पा,

आस्तिक्य आदि गुणों के साथ निःशंकित आदि गुणों से युक्त होकर अंतरंग में संयम धारण करने के परिणामों में उद्यमी होता है। धर्म ध्यान की प्राप्ति हेतु आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय धर्मध्यानों का अभ्यास करता है। इस प्रकार के परिणामों से युक्त जीव अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान वाला होता है।

५ विरताविरत गुणस्थान और ध्यान

जो जीव त्रस हिंसा का त्याग कर देता है तथा स्थावर जीवों की हिंसा से अविरत है वह जीव एक ही समय में विरत और अविरत या विरताविरत गुणस्थान वाला है।¹⁹

इस गुणस्थान में विरताविरत रूप परिणाम एक साथ किस प्रकार होते हैं इस विषय में गोम्मटसार जीवकांड में कहा है-

जिनेन्द्र देव के वचनों पर अद्वितीय श्रद्धान रखने वाला जीव एक ही समय में त्रस हिंसा की अपेक्षा विरत और स्थावर हिंसा की अपेक्षा अविरत होता है इसलिए उसको एक ही समय में विरताविरत कहते हैं।²⁰ अर्थात् विरत और अविरत दोनों ही धर्म भिन्न-भिन्न कारणों की अपेक्षा से हैं। अतएव सहावस्थान दोष नहीं।

विरताविरत गुणस्थान में ध्यान:-

विरताविरत गुणस्थान में आर्तध्यान रौद्रध्यान और भद्रध्यान ये तीन प्रकार के ध्यान आचार्य देवसेन ने माने हैं एवं बहुत आरम्भ एवं परिग्रहवान होने से धर्मध्यान का निषेध भी किया है।²¹

आर्तध्यान

इष्ट पदार्थ के वियोग होने से उसके संयोग का चिन्तन करना प्रथम आर्तध्यान है, अनिष्ट पदार्थ के संयोग होने पर उसके वियोग का चिन्तन अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान है, रोग होने पर उसे दूर करने का चिन्तन तीसरा आर्त ध्यान है और निदान चौथा आर्त ध्यान है। आर्त ध्यान से पापों का संचय एवं तिर्यच गति की प्राप्ति होती है।²²

रौद्र ध्यान :-

कषायों की तीव्रता से रौद्रध्यान होता है यह हिंसानन्द, मृषानन्द (झूठ में ध्यान आनन्द मानना) स्तेयानन्द (चोरी में आनन्द मानना) एवं (परिग्रह संचय में आनन्द मानना) परिग्रहानन्द रूप रौद्र ध्यान इन चार प्रकार से होता है। रौद्र ध्यान का फल नरक गति है।

जो गृहस्थ व्यापारादि इन्द्रियों, विषयों में संकल्प विकल्प करते रहते हैं उनके आर्तध्यान एवं जिनके तीव्र मोहनीय कर्म का उदय होता है उनके रौद्रध्यान होता है।²³

भद्र ध्यान

इन आर्त रौद्र ध्यानों के फल को सम्यक् ज्ञानी उपशम परिणामों से समाप्त कर देता है जिसे आचार्य देवसेन ने भद्र ध्यान कहा है-

“भद्रदस्स लक्खणं पुण धम्मं चित्तेइ भोय परिमुक्को
चिंतिय धम्मं सेवइ पुणरवि भोए जहिच्छाए॥”²⁴

अर्थात् भोगों का सेवन करता हुआ भी जो धर्म ध्यान धारण करता है उसे भद्र ध्यान कहा है।

आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाक विचय और संस्थान विचय रूप चार प्रकार का धर्म ध्यान है परंतु यह धर्मध्यान मुख्यता से प्रमाद रहित सातवें गुणस्थान में होता है किन्तु विरताविरत पाँचवें गुणस्थान में और प्रमत्त संयत छठे गुणस्थान में उपचार से होता है।²⁵

पंचम विरताविरत गुणस्थान में निरालंब धर्मध्यान का निषेध

धर्म ध्यान के अन्य प्रकार से दो भेद आचार्य देवसेन ने किये हैं (1) सालंब (2) निरालंब। **सालंब** - एक आलंबन सहित पाँच परमेष्ठी के स्वरूप चिंतवन रूप सालंब धर्म सालंब धर्मध्यान होता है।

निरालंब - दूसरा जो गृहस्थी त्याग कर जिनलिंग धारण कर (मुनिदीक्षा) कर लेता है एवं मुनि होकर भी अप्रमत्त नाम के सातवें गुणस्थान में पहुँच जाता है तब उसी के निरालंब ध्यान होता है गृहस्थ अवस्था में निरालंब ध्यान कभी संभव नहीं।²⁶

इसका कारण है कि गृहस्थों के सदाकाल बाह्य आभ्यंतर परिग्रह परिमित रूप से रहते हैं साथ ही अनेक प्रकार के आरंभ होने से गृहस्थ शुद्ध अवस्था का ध्यान नहीं कर सकता।

यदि कोई गृहस्थ शुद्ध आत्मा का ध्यान करना चाहता है तो उसका ध्यान ढेंकी के समान है जिस प्रकार ढेंकी धान कूटने के बाद भी उससे कोई लाभ नहीं होता उसका परिश्रम व्यर्थ है।

इस प्रकार गृहस्थों के निरालंब ध्यान एवं शुद्ध आत्मा का ध्यान परिश्रम मात्र है। इस प्रकार पंचम गुणस्थान में निरालंब शुद्ध आत्मा का निश्चल ध्यान कभी नहीं हो सकता।²⁷

इस गुणस्थानवर्ती जीवों को आलंबन सहित ध्यान धारण योग्य है।²⁸

६. प्रमत्तसंयत गुणस्थान और परिणाम

प्रमत्तसंयत गुणस्थान में औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक तीनों प्रकार के परिणाम होते हैं तथा पन्द्रह प्रमाद भी इसी गुणस्थान तक होते हैं इसलिए यह गुणस्थान प्रमत्त संयत कहा जाता है।²⁹

पूर्व के गुणस्थानों में पापों का सर्वथा त्याग न होने से प्रमाद भी रहता है परंतु प्रमत्त संयत गुणस्थान में पापों का सर्वथा त्याग हो जाता है परंतु प्रमाद अब भी उपस्थित रहता है इसलिए इस अवस्था को प्रमत्त संयत (प्रमाद सहित) कहा जाता है।

महाव्रती साधु जो सकल मूलगुणों से युक्त होकर भी व्यक्त और अव्यक्त प्रमाद में निवास करता है वह चित्रल आचरण वाला प्रमत्त संयत है।

जिस प्रमाद में स्वयं को स्पष्ट अनुभव होता है वह व्यक्त प्रमाद है एवं जिसका स्वयं को स्पष्ट अनुभव न हो वह अव्यक्त प्रमाद है। इस प्रकार की अवस्था के कारण प्रमत्त संयत गुणस्थानवर्ती के आचरण को चित्रल आचरण कहा है।³⁰

पन्द्रह प्रकार के प्रमादों का वर्णन भावसंग्रह में किया है चार विकथा, चार कषाय,

पांच इन्द्रियाँ, निद्रा और प्रणय इन प्रमादों के कारण चारित्र और ध्यान में शुद्धता, स्थिरता नहीं होती है।

प्रमत्त संयत गुणस्थान में मुनि धर्म ध्यान का चिंतन करते हैं परंतु नोकषाय के उदय होने से उनके आर्तध्यान भी हो जाता है। फिरभी रत्नत्रय की साधना एवं स्वाध्याय के कारण वे उस आर्तध्यान का उपशम कर देते हैं।

निदान नाम का आर्तध्यान इस अवस्था में नहीं होता यदि होता है तो गुणस्थान से पतन हो जाता है। प्रमाद की अवस्था में जब तक निश्चल ध्यान नहीं होता तब तक वे मुनि अपनी निन्दा करते रहते हैं।³¹

9. अप्रमत्त संयत गुणस्थान में धर्म ध्यान

प्रमाद रहित अवस्था अप्रमत्त है संयत के साथ जिन जीवों के प्रमाद नहीं पाया जाता वे ध्यान में स्थित रहते हैं और उपशम अथवा क्षपक श्रेणी के सन्मुख है वह अप्रमत्त संयत है।

इस गुणस्थान में औपशमिक भाव, क्षायिक भाव और क्षायोपशमिक तीनों भावों के साथ नियम से धर्मध्यान होता है।³²

अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में जब संज्वलन और नोकषायों का मन्द उदय होता है उस समय वह साधु बाहर से निरतिचार सकलचारित्र के धारक होते हैं और अंतरंग में किसी एक सम्यक्त्व के साथ रूपातीत धर्म ध्यान में स्थित इन्द्रियों के विषय एवं तीव्र संज्वलन कषाय के विजेता होते हैं।³³

इस गुणस्थान का काल अन्तर्मुहूर्त होने से साधक छठे सातवें गुणस्थान में प्रवर्तन करते रहते हैं।

इस गुणस्थान को ध्यान, ध्याता, ध्येय और ध्यान का फल इन चार अधिकारों में वर्णित किया है।

ध्यान- चित्त का निरोध करना ध्यान है अर्थात् चित्त से अन्य चिंतनों का त्याग कर किसी एक पदार्थ का चिंतन ध्यान है। उसके चार भेद हैं।

1. पिण्डस्थ 2. पदस्थ 3. रूपस्थ 4. रूपातीत³⁴

ध्याता-ध्यान को करने वाला ध्याता होता है।

जो आत्मा और परमात्मा को साधता है वह साधु है। जो साधु चेतनादि भावों से उपयुक्त होकर अपने आत्मा को ध्याता है उस अनुभव को संवेदन कहते हैं। जो स्वयं होते अर्थात् अपने आप को जाने उसे चेतना कहते हैं। संवेदन और चेतना संवेदनचेतनादि कहलाते हैं। ऐसे संवेदनचेतनादि गुणों से युक्त आत्मा ध्याता है।³⁵

ध्येय- जिसका ध्यान किया जाता है वह ध्येय है। ध्येय तीन प्रकार का है -

1. अक्षर 2. रूप 3. रूपातीत

अक्षर- पंचपरमेष्ठी के वाचक अक्षरों का उच्चारण अक्षर ध्यान कहलाता है।

रूप- पंचपरमेष्ठी के स्वरूप का ध्यान करना रूप ध्यान कहलाता है।

रूपातीत- जो रत्नत्रय स्वरूप निरालंब ध्यान किया जाता है और रत्नत्रय से युक्त है तथा इसी कारण जो शून्य होकर भी शून्य नहीं है वह रूपातीत ध्येय है।³⁶

निश्चयनय के कथन में ध्यान, ध्याता, ध्येय में भिन्नता नहीं है।

आत्मा, अपने आत्मा को, अपने आत्मा में, अपने आत्मा के द्वारा, अपने आत्मा के लिए, अपने ही आत्मा हेतु से ध्याता है।³⁷

इस प्रकार कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण ये षट् कारक रूप परिणत आत्मा ही निश्चयनय की दृष्टि से ध्यान स्वरूप है।

अप्रमत्त अवस्था से धर्म ध्यान का फल

मोह के मूल इष्ट अनिष्ट बुद्धि का अभाव एवं चित्त की स्थिरता ही ध्यान है। ऐसे ध्यान का साक्षात् फल निराकुल मोक्ष सुख है।³⁸ प्रसन्न चित्त रहना, धर्म से प्रेम करना, शुभ उपायों में रहना, उत्तमशास्त्रों का अभ्यास करना, चित्त स्थिर रखना, जिनाज्ञा के अनुसार प्रवृत्ति करना ये सभी ध्यान के फल हैं।

भावसंग्रह में ध्यान के तीन प्रकार के फल बताये हैं -

१. वर्तमान भव में प्राप्त होने वाला फल :-

ध्यान के प्रभाव से अतिशय गुण प्राप्त हो जाते हैं। जैसे हजारों कोस दूर के पदार्थ को देख लेना, दूर के शब्द सुन लेना इन्द्रिय ज्ञान की वृद्धि एवं आदेश करने की शक्ति प्रकट हो जाती है। ध्यान से ज्ञान की पूर्णता, ऋद्धियाँ यति पूजा एवं केवलज्ञान होने पर जिन पूजा की प्राप्ति भी हो जाती है।³⁹

२. परलोक सम्बन्धी फल :- स्वर्गों में उत्पन्न होकर इन्द्रपद, अहमिन्द्र पद, लौकान्तिक पद आदि की प्राप्ति होना परलोक सम्बन्धी ध्यान का फल है।⁴⁰

३. समस्त कर्मों का क्षय :-

ध्यान के अंतिम फल आठ प्रकार के हैं -

1. औदारिक आदि शरीरों का नाश, 2. सिद्ध स्वरूप की प्राप्ति, 3. तीन लोक प्रभुत्व 4. अनन्त वीर्य की प्राप्ति, 5. सम्यग्ज्ञान, 6. सूक्ष्मत्व, 7. अगुरुलघुत्व, 8. अव्याबाध दर्शन इन आठ गुणों की प्राप्ति होने से लोकाग्र में स्थिर हो जाना⁴¹ अर्थात् सम्पूर्ण कर्मों को नष्ट कर पूर्ण शुद्धता को प्राप्त हो जाना ध्यान का तीसरा फल है।

इस प्रकार अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में धर्म ध्यान के सालंब एवं निरालंब दोनों प्रकार के ध्यानों की मुख्यता रहती है। इस गुणस्थान में छः आवश्यकों की आवश्यकता नहीं होने से ध्यान में लगा हुआ मन निरन्तर अत्यंत स्थिर हो जाता है।

८ अपूर्वकरण गुणस्थान एवं परिणामों की स्थिति-

संज्वलन और नो कषायों के मन्दतर उदय होने पर अधःकरण परिणामों की प्रवृत्ति में अन्तर्मुहूर्त काल तक स्थित रह कर प्रतिसमय अपूर्व-अपूर्व विशुद्धि वाले परिणामों के धारण

करने से वे ही अप्रमत्त संयत अपूर्वकरण परिणामों में प्रवृत्ति स्वरूप अष्टम गुणस्थानवर्ती होते हैं।⁴²

सातवें गुणस्थान में स्थित ध्यानी दो प्रकार के मार्गों का अवलम्बन लेता है क्षपक श्रेणी और उपशम-श्रेणी। कर्मों को नष्ट करते हुए क्षपक श्रेणी एवं कर्मों के उपशम से उपशम श्रेणी होती है। उपशम श्रेणी से ग्यारहवें गुणस्थान तक पहुँचकर कर्मोदय होने पर नीचे के स्थानों में आ जाते हैं और क्षपक श्रेणी से कर्मों का क्षय कर बारहवें गुणस्थान के अंत में केवलज्ञान प्राप्त करते हैं।

अपूर्वकरण गुणस्थान और ध्यान:- अपूर्वकरण गुणस्थान में प्रथम शुक्लध्यान दोनों श्रेणी वाले जीवों के होता है। वह शुक्ल ध्यान तीन प्रकार है:-

1 पृथक्त्व 2 सवितर्क 3 सवीचार ⁴³

पृथक्त्व ध्यान:- ध्यान में स्थित मुनि जिस ध्यान में द्रव्य की पर्यायों एवं गुणों को पृथक्-पृथक् जानते हैं वह ध्यान पृथक्त्व ध्यान है।⁴⁴

सवितर्क ध्यान:- वितर्क से तात्पर्य श्रुतज्ञान है अर्थात् जो ध्यान सदा काल श्रुत ज्ञान के साथ रहे वह सवितर्क ध्यान है।

सवीचार ध्यान :- योग पदार्थ और शब्दों का बदलना वीचार कहलाता है। वीचार सहित ध्यान सवीचार है- जिस ध्यान में चिंतन किये हुये पदार्थों व उनको करने वाले शब्दों का चिंतन मन से, वचन से, काय से या क्रम बदल कर अर्थात् कभी काय से या कभी मन से या कभी वचन से चिंतन किया जाता है अर्थात् जिसमें योग बदलते ही पदार्थ और उनके वाचक शब्द भी बदलते रहते हों वह सवीचार ध्यान है।⁴⁵

यह ध्यान कर्म वृक्ष को काटने के लिये बिना धार वाली कुल्हाड़ी के समान है जो देर से कर्मों का नाश करता है।

इस गुणस्थान में कर्मों का क्षय या उपशम होने पर जो अपूर्व परिणाम होते हैं वैसे अपूर्व परिणाम पूर्व में कभी नहीं हुए इसलिए यह गुणस्थान अपूर्वकरण है।⁴⁶

९ अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में परिणामों की स्थिति :- अपूर्वकरण के समान इस गुणस्थान में उत्तरोत्तर जो परिणामों की शुद्धता होती जाती है वह शुद्धता वृद्धि को प्राप्त होती है कम नहीं होती इसलिये यह गुणस्थान अनिवृत्ति करण है। जिसमें परिणामों की स्थिति बढ़ती रहे एवं निवृत्त न हो और बढ़ती ही चली जाय वह अनिवृत्तिकरण है।⁴⁷

इस गुणस्थान में औपशमिक भाव और क्षायिक भाव दोनों श्रेणी के अनुसार होते हैं उपशम श्रेणी वाले के उपशम एवं क्षपक श्रेणी वाले के क्षायिक भाव होते हैं। अनिवृत्तिकरण में ध्यान की अत्यन्त निर्मलता के साथ पहला पृथक्त्व वितर्क वीचार नाम का शुक्लध्यान होता है।

इस गुणस्थान की विशेषता है कि इस गुणस्थान में एक समय में जितने जीव स्थित होते हैं उन सभी के परिणाम समान होंगे एवं वे परिणाम निवृत्ति रूप नहीं होते।⁴⁸

१० सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान और परिणाम :-सूक्ष्म सांपराय से तात्पर्य सूक्ष्म कषाय से है जहाँ मात्र सूक्ष्म लोभ का उदय शेष है जिससे चित्त सूक्ष्म अशुद्धता से युक्त होता है वह सूक्ष्मसांपराय है।

इस गुणस्थान में औपशमिक श्रेणी वाले के औपशमिक एवं क्षपक श्रेणी वाले के क्षायिक भाव होते हैं। तीनों भेद वाला प्रथम शुक्ल ध्यान होता है।⁴⁹

जिस प्रकार कुसुमल में रंगे हुए वस्त्रों में लाली अत्यन्त सूक्ष्म होती है इसी तरह इस गुणस्थान में लोभ कषाय अत्यन्त सूक्ष्म होती है।

११ उपशांत कषाय गुणस्थान और परिणाम:- मोह की समस्त प्रकृतियों के उपशम से उपशांत कषाय गुणस्थान होता है इस गुणस्थान में क्षपक श्रेणी वाले नहीं आ सकते जो प्रारंभ से उपशम श्रेणी पर आरूढ़ है वही इस गुणस्थान के पात्र बनते हैं।

इस गुणस्थान में पृथक्त्व वितर्क शुक्ल ध्यान एवं औपशमिक भाव ही होते हैं। गुणस्थान के अंत में मोहनीय की समस्त प्रकृतियां जो उपशांत थीं वे उदय में आ जाती हैं जिससे ग्यारहवें उपशांत गुणस्थान से नीचे पतन हो जाता है।⁵⁰

१२ क्षीणमोह गुणस्थान में ध्यान :-समस्त मोहनीय कर्म के क्षय से क्षीण मोह गुणस्थान होता है जैसे शुद्ध स्फटिक मणि में रखा हुआ जल शुद्ध निर्मल हो जाता है इसी तरह जिसकी कषायें पूर्णरूप से नष्ट हो गई हैं ऐसे क्षीण कषाय गुणस्थान में स्थित मुनि के परिणाम सदाकाल निर्मल रहते हैं एवं उन मुनियों के क्षायिक भाव ही होते हैं।⁵¹

क्षीण मोह गुणस्थान में एकत्व वितर्क नाम का दूसरा शुक्ल ध्यान वितर्क अर्थात् श्रुतज्ञान सहित होता है। किसी एक योग से होने वाले ध्यान में वीचार का संक्रमण नहीं होता मणिरत्न की शिखा के समान निश्चल वीचार रहित ध्यान होता है।⁵²

ध्यान में स्थित मुनि बारहवें गुणस्थान के उपान्त्य समय में अपने प्रवाहित ध्यान के द्वारा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन घातिया कर्मों का नाश कर पूर्ण निर्मल केवलज्ञान प्रगट करते हैं। यह केवलज्ञान लोक-अलोक को एक साथ प्रकाशित करने वाला होता है। इस ज्ञान में कोई उपद्रव नहीं होता और वह ज्ञान फिर कभी भी नष्ट नहीं होता अनंत काल तक बना रहता है।⁵³

१३ सयोग केवली गुणस्थान में ध्यान की अवस्था :- जिन के केवलज्ञान रूपी सूर्य की किरणों के समूह से अज्ञान अंधकार नाशक, क्षायिक सम्यक्त्व ज्ञान, चारित्र, दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य इन नौ लब्धियों की प्राप्ति होने से जिन्हें परमात्मा या जिन संज्ञा प्राप्त हो गई है वह ज्ञान की पूर्णता सयोग केवली गुणस्थान की है।⁵⁴

तेरहवें गुणस्थानवर्ती जिन के शुद्ध क्षायिक भाव विकल्प रहित और निश्चल होते हैं। इस गुणस्थान में सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति तीसरा शुक्ल ध्यान होता है। इस गुणस्थानवर्ती जीव के प्रदेशों का परिस्पंदन अत्यन्त सूक्ष्म होने से जो शुभ कर्मों की वर्गणाएँ आती हैं वे उसी समय चली जाती हैं आत्म प्रदेशों में वे कर्मवर्गणाएँ रुकती नहीं हैं। इसका कारण है कि उन केवली भगवान के रागद्वेष का सर्वथा अभाव होने से उनके कर्मों का बंध नहीं होता।⁵⁵

इस गुणस्थान की स्थिति जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से जितने वर्ष की आयु में केवलज्ञान हुआ उतने वर्ष कम एक करोड़ पूर्वा⁵⁶

१४ अयोग केवली गुणस्थान में ध्यान की स्थिति:- जहाँ योगों का अभाव हो गया है वह अयोग है और केवलज्ञान होने से केवली है अर्थात् जो योग रहित होकर भी केवली है वह अयोग केवली गुणस्थान है।

जिस योगी के कर्मों के आने के द्वारा रूप आस्रव का सर्वथा अभाव हो गया है तथा जो सत्त्व और उदयरूप अवस्था को प्राप्त कर कर्मों की रज से सर्वथा मुक्त होने के सम्मुख है।⁵⁷ उस योग रहित केवली को अयोग केवली कहते हैं।

इस गुणस्थान में समस्त योगिक क्रियाओं का अभाव हो जाने से चौथा व्युपरत क्रिया निवृत्ति नाम का शुक्ल ध्यान होता है एवं क्षायिक और शुद्ध भाव होने से भगवान् निरंजन और वीतरागी होते हैं।

जिस प्रकार का ध्यान सयोगी गुणस्थान में होता है वैसा ध्यान न होकर उपचार से ध्यान माना जाता है कर्मों का नाश बिना ध्यान से नहीं होता इस अपेक्षा से उपचार से ध्यान माना है क्योंकि चौदहवें गुणस्थान में अघातिया कर्मों का नाश होता है।⁵⁸

ध्यान की अवस्था, ध्याता की स्थिति, ध्यान योग्य ध्येय पदार्थों के विकल्प से सभी मन सहित जीवों के होते हैं लेकिन सयोगी एवं अयोगी अवस्था में मन का अभाव होता है इस अपेक्षा से तेरह चौदह गुणस्थान में ध्यान नहीं होता।⁵⁹

इस प्रकार ध्यानों का विभिन्न दृष्टियों से अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि गुणस्थानों का ध्यान से अविनाभाव संबंध है। धर्म ध्यान के बिना अध्यात्म विकास के सोपान गुणस्थानों पर आरोहण संभव नहीं होता और शुक्ल ध्यान के बिना श्रेणी आरोहण कर कर्म क्षय करके अरिहंत अवस्था को प्राप्त नहीं कर सकता और अंतिम शुक्ल ध्यान के अभाव में मोक्ष अवस्था प्राप्ति नहीं हो सकती।

इस प्रकार आचार्य देवसेन एवं विभिन्न दृष्टियों के अवलोकन से निष्कर्ष निकलता है कि ध्यान के बिना गुणस्थान नहीं और गुणस्थान के बिना ध्यान नहीं।

संदर्भ :-

1. आलापपद्धति सू.92
2. वही 93
3. न्यायदीपिका 3/78 व्यतिकीर्णवस्तुव्यावृत्तिहेतुलक्षणम्।
4. पंचाध्यायी गाथा 478
5. धवला पु. 1 गाथा 114/161 ध. 1-1-8 गा. 114/161
6. भाव संग्रह गा. 8-11
7. वही गा. 12,13
8. वही गा. 16
9. भाव संग्रह- 166-168
10. वही 169-171

11. भाव संग्रह-गा .197
12. तत्त्वसार पृष्ठ 15
13. गोम्मटसार- जीवकाण्ड गा .19
14. भाव संग्रह -गा .197
15. भावसंग्रह- गा . 199
16. वही- 200-201
17. तत्त्वसार टी . 1/13
18. भावसंग्रह गा . 260
19. भावसंग्रह गा .251
20. आ .नेमीचन्द्र गो .जी .गा . 31
21. भावसंग्रह गा .357
22. वही 359
23. भावसंग्रह 363
24. वही 365
25. वही- 371
26. भावसंग्रह गा .374 एवं 381
27. वही 384 से 386
28. वही 388
29. भावसंग्रह-600
30. वही तत्त्वसार- टीका श्लोक 16
31. भावसंग्रह 603
32. भावसंग्रह- 614, 615
33. तत्त्वसार
34. वही भावसंग्रह 619
35. तत्त्वसार- गा . 44 ही
36. भावसंग्रह 631, 632
37. प . दौलतराम छहढाला 3/2 (पर द्रव्यनतै.....)
38. प . आशाधार- अन . धर्माभूत 1/144 (इष्टनिष्ठार्थ..... प्रका . भारतीय ज्ञानपीठ-दिल्ली
39. भावसंग्रह- 634, 635
40. वही- 636
41. वही- 637-638
42. तत्त्वसार- टी .1/16
43. भावसंग्रह- 642-643
44. वही- 644
45. वही- 646
46. वही- 648
47. भावसंग्रह- 649
48. वही- 650-651
49. भावसंग्रह- 652-653
50. वही- 656
51. भावसंग्रह 661-622

- 52. वही- 663
- 53. वही- 665
- 54. गो . जी .- 63-64/तत्त्वसार टी . श्लो . 19
- 55. भावसंग्रह- 669-670
- 56. वही- 678
- 57. गो . जी . गा . 65
- 58. भावसंग्रह 681-682
- 59. वही- 683

- २१ महावीर भवन सर्वरतु
विलास उदयपुर (राज.)
मो. 09414234793

सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टि

सम्माइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहदि।

सद्दहदि असम्भावं अजाणमाणो गुरुणियोगा॥२७॥ गो.जी.का.

सम्यग्दृष्टि जीव उपदिष्ट प्रवचन का नियम से श्रद्धान करता है। वह गुरु के नियोग से कहे गये असद्भूत पदार्थ का श्रद्धान करता है तो भी उसका सम्यग्दर्शन नहीं गिरता क्योंकि वह तो उसको भी परमागम का उपदेश समझकर श्रद्धान करता है। परन्तु

सुत्तादो तं सम्मं दरिसिज्जंतं जदा ण सद्दहदि।

सो चेव हवइ मिच्छाइट्ठी जीवो तदो पहुदी॥२८॥ गो.जी.का.

सूत्र (आगम) से समीचीन रूप से दिखलाये गये उस अर्थ का जब वह जीव श्रद्धान नहीं करता है, उस समय से यह जीव मिथ्यादृष्टि हो जाता है। अर्थात् उस पदार्थ को आगम में प्रमाण सहित गलत दिखाये जाने पर भी यदि वह उससे श्रद्धान नहीं छोड़ता है तो वह उसी समय से मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

ग्रन्थ-समीक्षा

-डॉ. आनन्द कुमार जैन

ग्रन्थ का नाम- अहिंसा-विश्वकोष, प्रथम संस्करण-2010,
संपादक-श्री नन्दकिशोर आचार्य, मूल्य-1500, प्रकाशक-प्राकृत भारती अकादमी,
मुद्रक-सांखला प्रिंटर्स, आई.एस.बी.एन. नं. 978-81-89698-93-5

प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर ने एक बार पुनः अपनी चिरपरिचित शैली का प्रकाशन किया है, जिसका नाम अहिंसा-विश्वकोष है। श्री नन्दकिशोर आचार्य कृत यह महनीय कार्य श्लाघ्य है, जिसका लाभ अहिंसा-प्रेमियों को निश्चित ही होगा। लगभग आठ सौ पृष्ठीय यह कृति कई लेखकों के ससन्दर्भ चिंतनात्मक शोध-कार्य का नवनीत है, जिसकी उपयोगिता सार्वकालिक है।

इसमें अहिंसा पर विभिन्न दृष्टिकोण से विचार किया गया है कि पौराणिक, ऐतिहासिक, वैज्ञानिक, सांस्कृतिक, आधुनिक, मनोवैज्ञानिक, पाश्चात्य, धार्मिक, अनुसंधानात्मक इत्यादि कई रीतियों का सम्मिश्रण है। पूर्णतया गद्यात्मक शैली की यह रचना अहिंसा के संपूर्ण पक्षों को स्वयं में समेटे है। ऐतिहासिक के साथ-साथ श्रुतपरंपरा से प्राप्त प्रागैतिहासिक काल से लेकर इक्कीसवीं शताब्दी तक के प्रमुख ग्रंथों एवं विद्वानों के दृष्टिकोण को संपादक ने इसमें सुनियोजित विधि से प्रस्तुत किया है। इतना ही नहीं अपितु इसमें प्रसिद्ध चिंतकों जैसे श्री नन्दकिशोर आचार्य, आचार्य महाप्रज्ञ, प्रो. पी.सी. जैन, प्रो. अखतरुल वात्से, डॉ. तारा डागा, डॉ. धर्मचन्द जैन, सा. वामहोपाध्याय विनयसागर, डी. आर. मेहता, प्रो. सामदोग रिनपोचे, प्रो. प्रेम सुमन जैन, जस्टिस पानाचन्द जैन के लेखों का समुचित संग्रह दृष्टव्य है। कुछ उभरती नई प्रतिभाओं को भी इसमें मौका मिला है जैसे वन्दना कुण्डलिया, सुप्रिया पाठक इत्यादि।

संपादक ने अनेक विषयों पर स्वयं की वर्तनी का प्रभावक प्रयोग किया है साथ ही हिन्दी प्रेमियों के लिये कई अंग्रेजी लेखों का सरस हिन्दी रूपांतरण भी दिया है जैसे लास्से नार्डलुंड, ईथान मिलर, विलियम बास्करन, महात्मा गाँधी, रुडी यस्मा आदि।

इस संकलन की कुछ मौलिक विशेषतायें हैं जिसको प्रकाशित करना पाठक वर्ग के लिए आवश्यक है- यथा अहिंसा को धर्म विशेष से मुक्त करके विश्व-धर्म के रूप में स्थापित किया है। अहिंसा न केवल वेदों का, न केवल जैन या अन्य किसी की अधिकृत संपत्ति है अपितु सभी ने किसी न किसी रूप में चाहे आंशिक हो या पूर्ण, इसका महत्त्व स्वीकारा है। दूसरा बिन्दु यह है कि प्रायः इस प्रकार के ग्रंथों में विषय पुनरुक्ति का दोष

होता है जो कि इसमें अल्प रूप में भी परिलक्षित नहीं होता है। तृतीय विशेषता यह है कि विषय कलेवर पर्याप्त होने के कारण पाठक को अन्य किसी ग्रंथ को जरूर देखना चाहेगा, जो कि अपेक्षित नहीं है, इतना अवश्य है कि संदर्भ की जिज्ञासा से वह किसी ग्रंथ को जरूर देखना चाहेगा, जो कि अपेक्षित भी है। चौथी विशेषता यह है कि पारंपरिक विधा को छोड़कर, जिसके कारण अधिकांश भाग संदर्भ से ही परिपूरित हो जाता है, इसमें लेखकों ने मात्र उन संदर्भों को आधार बनाकर स्वयं के शब्द दिये हैं, जिससे यह संकलन संपुष्ट होकर लेखकों के मौलिक चिंतन का पिटक बन गया है। इसी प्रकार के कोश अपरिग्रह, अनेकान्त, स्याद्वाद आदि विषयों पर भी निर्मित होने चाहिए।

पुस्तक की हार्ड बाउंड जिल्द इसकी आयु प्रदाता है, इसके पृष्ठ भी उच्च तकनीक से निर्मित होने से टिकाऊ हैं। जल्द ही इसे पुस्तकालयों का सौभाग्य बनना चाहिए जिनसे पाठकगण पर्याप्त लाभ ग्रहण कर सकें। यदि इसका अंग्रेजी रूपांतरण हो सके तो यह अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विद्वत्-भोग्य हो सकेगी।

प्राकृत-अध्ययन शोध केन्द्र
राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान (मानित विश्वविद्यालय)
जयपुर परिसर, जयपुर (राज.)

दृढ़निश्चयी: आचार्य शान्तिसागर महाराज

पिता ने कहा कि यदि मुनि ही बनना है तो मेरी मृत्यु के बाद बनना, उसके पूर्व नहीं। सहज स्वीकार कर लिया कि ठीक है। मन में किंचित् भी भय नहीं कि आज वैराग्य है, कल रहे, न रहे, कल आयु बचे, न बचे, जो उत्तम है, उसे कल पर न टालो, अभी कर लो। किन्तु नहीं, स्व के प्रति आश्वस्त। काल की ओर से निश्चिंत। कितनों के भीतर पलती है यह आश्वस्तता/यह निश्चिंतता? निश्चित ही बिरलों के भीतर ही।

जिनको स्त्री का स्पर्श तो दूर, स्त्री की कल्पना भी स्खलित हो जाने को महान कारण भासती है, उनके लिए तो इस बाल ब्रह्मचारी का जीवन परीकथाओं के सदृश है। यह बाल ब्रह्मचारी अर्द्ध यात्रा में थक गई एक वृद्धा को अपने कांधे पर लाद शिखर जी की वंदना करवाता है। मात्र वृद्ध को ही नहीं, अपितु एक क्लान्त पुरुष को राजगिरि की। मानो पीठ पर स्त्री हो या पुरुष इससे इसे कोई अंतर ही नहीं पड़ता। दोनों के प्रति एक ही भाव/ एक से भाव। दोनों ही जीव और दोनों को ही आवश्यकता इस समय एक उपकारी की। ऐसा सहज, स्वाभाविक, निसर्गज ब्रह्मचर्य निश्चित ही संसार में दुर्लभ है। उनका गृहस्थ जीवन भी कठोर स्वानुशासन का उत्तम व दुर्लभ उदाहरण रहा।

वीर सेवा मंदिर

महावीर जयन्ती के अवसर पर अनुमोदित प्रस्ताव पर पं. जुगलकिशोर मुख्तार ने 21 अप्रैल सन् 1929 को समंतभद्राश्रम की स्थापना की। इस आश्रम से अनेकान्त मासिक शोध पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया। लगभग एक वर्ष बाद इस संस्था का नाम बदल कर वीर सेवा मंदिर कर दिया गया। वहाँ से शोध संस्थान के रूप में जैन साहित्य की विभिन्न शोध प्रवृत्तियों का अनुसंधान और प्रकाशन होने लगा। जैन साहित्य और इतिहास के सम्बन्धों में अन्वेषण करने वाली यह एक प्रमुख संस्था है। 17 जुलाई सन् 1954 में वीर सेवा मन्दिर वर्तमान भवन का शिलान्यास दरियागंज, दिल्ली में सम्पन्न हुआ। 12 जुलाई सन् 1957 को इसका लोकार्पण किया गया, संस्था का समृद्ध पुस्तकालय एवं सर्वश्रेष्ठ ग्रंथों का भंडार विद्वानों के अनुसंधान हेतु 28 जुलाई 1961 को समाज को समर्पित किया गया। इस संस्था के स्थापना काल में निम्न सदस्यों का विशेष योगदान रहा जिनमें पं. जुगलकिशोर मुख्तार, बाबू छोटेलाल जैन, नंदलाल जैन सरावगी, साहू शान्ति प्रसाद जैन, सेठ मिश्री लाल जैन, राय बहादुर दयाचंद जैन, राय साहब उलफतराय जैन, लाला राजकिशन जैन, श्री पन्नालाल जैन, श्री रघुवीर दयाल जैन, श्री जुगलकिशोर जैन कागजी, श्री प्रेमचन्द्र जैन जैना वॉच, राजवैद पं. महावीर प्रसाद जैन, श्री मकखनलाल जैन 'ठेकेदार', श्रीमती जयवंती देवी जैन, श्री छादामी लाल जैन आदि प्रमुख हैं। वर्तमान में ग्रंथालय में प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, अंग्रेजी एवं उर्दू आदि भारतीय भाषाओं की सात हजार से अधिक प्राचीन एवं नवीन ग्रंथों का संग्रह है। इस पुस्तकालय में 167 हस्तलिखित ग्रन्थ भी हैं जिनमें ज्योतिष, आयुर्वेद व इतर धर्म शास्त्रों के विषय गर्भित हैं। इसके अतिरिक्त पुस्तकालय में ताडपत्रों पर काटों से उकरे गए वसन्ततिलक, राजा विज्जल कथा एवं धन्यकुमार चरित आदि हस्तलिखित ग्रन्थ भी सुरक्षित हैं। इस पुस्तकालय में दिगम्बर ग्रंथों के अतिरिक्त श्वेताम्बर जैन आगम ग्रंथ, वैदिक एवं बौद्ध साहित्य के अनेक महत्त्वपूर्ण मुद्रित ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं। संस्था के द्वारा महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का प्रकाशन समय-समय पर किया जाता रहा है। जिनमें मुख्यतः पुरातन जैन वाक्य सूची, जैन लक्षणावली व अंग्रेजी भाषा में बाबू छोटेलाल जैन द्वारा रचित जैन बिबिलियोग्राफी (दो भाग) है। संस्था के द्वारा 50 से भी अधिक ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। संस्था के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अनेकान्त शोध पत्रिका का निरन्तर प्रकाशन किया जा रहा है। संस्था की साहित्यिक गतिविधियों को मूर्त रूप प्रदान करने में पं. पद्मचन्द्र शास्त्री का विशेष योगदान रहा है। समय-समय पर अनेक आचार्यों और मुनि महाराजों का आशीर्वाद एवं प्रेरणा संस्था को प्राप्त होता रहा है। यह संस्था और ग्रंथागार जनहित के साथ-साथ शोधार्थियों को भी उपयोगी सिद्ध होते रहे हैं। वीर सेवा मन्दिर पुस्तकालय का अनेक भारतीय और विदेशी अनुसंधानकर्ता अपने अनुसंधान हेतु लाभ लेने आते रहते हैं। यहाँ आने वाले शोधार्थियों के लिए संस्था में जाति समुदाय का भेदभाव किए बिना ठहरने और पढ़ने की निःशुल्क व्यवस्था की जाती है। जैन साहित्य और इतिहास के सम्बन्धों में अन्वेषण करने वाली यह एक प्रमुख संस्था है।